महाभारत की श्रौत
तथा
स्मार्त पृष्ठभूमि

डॉ० इन्दु शर्मा

महाभारत की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि

(यम-नियम-विधान)

डॉ० इन्दु शर्मा
प्रोफेसर
प्राच्य विद्या विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१९९७

महाभारत विश्वकोष के नाम से प्रसिद्ध है। कृष्णद्वैपायन व्यास ने इसे पंचम वेद स्वीकार किया है। यह सर्वथा सत्य है। इसमें व्यास ने वेदप्रतिपादित यम-नियम-विषयक रहस्य का सरलीकरण, तत्सम्बन्धी उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का विश्लेषण और स्मार्त साहित्य में उपलब्ध इनके सैद्धान्तिक विवेचन का स्पष्टीकरण करने का सफल प्रयास किया है तथा आख्यान शैली के माध्यम से इन्हें चरितार्थ करने की प्रेरणा दी है। वस्तुतः ये जीवन-मूल्य सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकता से युक्त हैं। इनके पालन द्वारा समाज में फैले हुए वैमनस्य के विष का निवारण सर्वथा संभव है।

प्रस्तुत कृति में महाभारत में प्रतिपादित यम-नियम-विधान की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि की गवेषणा के माध्यम से यही सिद्ध करने की चेष्टा की गई है आज विश्व जिन ज्वलन्त समस्याओं से ग्रस्त है, उनका निदान उन सामाजिक अनुशासनों और वैयक्तिक संयमों के पालन द्वारा पूर्णतया संभव है, जो हमारी संस्कृति में यम-नियमों के नाम से प्रसिद्ध हैं। साधन तो लक्ष्य के पथ को प्रशस्त करने वाले होते हैं परन्तु इनकी प्राप्ति साधना द्वारा ही संभव है। मेरा विश्वास है कि मेरा यह प्रयास अपने उद्देश्य में सफल होगा।

मूल्य : ५०० रुपये

महाभारत की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि

(यम-नियम-विधान)

डॉ० इन्दु शर्मा
प्रोफेसर
प्राच्य विद्या विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
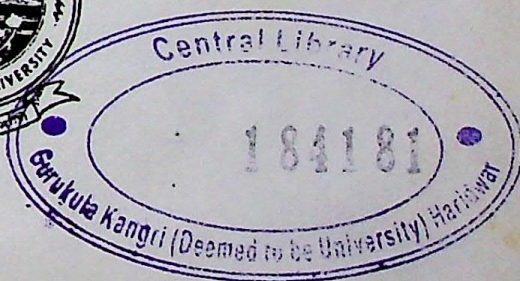
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१९९७

प्रकाशक : डॉ० ईश्वर सिंह चौहान
कुल-सचिव
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र।

मुद्रक : मुनीन्द्र कुमार मौद्गिल,
प्रबन्धक
मुद्रण एवं प्रकाशन
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र।

प्रथम संस्करण : १९९७

मूल्य : ५०० रुपये

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर

आचार्य श्री ब्रह्मगोपाल भादुड़ी जी

को

सादर समर्पित

गुरु ब्रह्मा है सत्संकल्प के संचार के श्रेय से।
विष्णु है उत्तम कर्म सद्व्यवहार के श्रेय से।।
सभी भूतों का हितचिन्तन गुरु को शिव बनाता है।
गुरु परब्रह्म है तो आत्मवत् व्यवहार के श्रेय से।।

इन्दु शर्मा

दो शब्द

महात्मा बुद्ध का अमर सिंहनाद **'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, 'संघं शरणं गच्छामि'** उसी लक्ष्य को समर्पित है, जिसकी ओर वेदोक्त **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** निर्दिष्ट है। वस्तुतः सामाजिक समत्व, संघभावना, सांमनस्य तथा धर्म का आश्रय ही मानव-जीवन के सत्पथ का आधार है। इनका कार्यान्वयन वैयक्तिक संयमों एवं सामाजिक अनुशासनों के पालन पर ही निर्भर करता है। प्राणी-प्राणी में अभेद की स्थापना, अंश-अंशी सम्बन्ध की प्रतिष्ठा एवं अभयदान के माध्यम से अभयप्राप्ति का प्रयत्न हमारे देशवासियों के जीवन का लक्ष्य रहा है। हमारा सारा प्राच्य साहित्य इन्हीं जीवन-मूल्यों को सरलता, सर्वग्राह्यता, बोधगम्यता एवं व्यवहार्यता प्रदान करने को समर्पित रहा है। हमारी संस्कृति धर्म को न तो विशिष्ट पूजापद्धति मानती है और न ही धर्म विविध सम्प्रदायों में विभाज्य स्वीकार किया गया है। हमारे यहाँ धर्म का सच्चा पर्याय एक ऐसी जीवन-पद्धति है, जो मनुष्य को निर्भीकतापूर्वक पूर्णत्व-प्राप्ति की ओर सतत अग्रसर कराने में समर्थ हो, जिससे मानव सच्चे अर्थों में अपने स्रष्टा परम पुरुष नारायण का सच्चा अंश सिद्ध हो सके। इसके लिए उसे एक विशिष्ट आचार-संहिता का आश्रय लेना पड़ता है। इस आचार-संहिता का आदि स्रोत वेद हैं, जिनमें यह आचार-संहिता सूत्ररूप में उपलब्ध है। उपनिषद् इसी के समर्थक संकेतों से सम्पन्न हैं। स्मार्त साहित्य में इसी आचार-संहिता को यम-नियमों के रूप में अपनाया गया है। वहाँ इनका सैद्धान्तिक विवेचन भी किया गया है। इनके पालन को पुरस्कार्य और अवहेलना को हीन योनि में जन्म के भय से ग्रस्त दर्शाया गया है। रामायण में यही आचार-संहिता मर्यादा के रूप में

प्रतिष्ठित हुई है। इनका पालन उत्कृष्ट सिद्ध किया गया है और अवहेलना निकृष्ट। युगान्तर में जब इनके लोप का भय उत्पन्न हुआ तो महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ने इन्हीं सनातन जीवन-मूल्यों को व्यवहार्य सिद्ध करने के लिए इन्हें समस्त विषादहारक घोषित किया। वस्तुतः वेदाचार हमारे समस्त प्राच्य साहित्य की आचारविषयक सुदृढ पृष्ठभूमि सिद्ध होता है।

डॉ. इन्दु शर्मा ने इस विषय की गवेषणा में उपर्युक्त समस्त तथ्यों का विश्लेषणात्मक अन्वेषण किया है। एतदर्थ वे हमारे हार्दिक साधुवाद की पात्र हैं। उनका यह प्रयास धर्म के सामाजिक पक्ष के महत्त्व को उजागर करता है। मेरा विश्वास है कि यदि डॉ. इन्दु शर्मा इसी तल्लीनता से इस पथ पर अग्रसर रहीं तो भारतीय जनमानस प्राच्य साहित्य में उपलब्ध जीवनविधियों से अवगत ही नहीं होगा अपितु आज की समस्याओं के निदान में उनका आश्रय लेने को भी श्रेयस्कर मानेगा। आज के युग की सभी समस्याएं मानव की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आचारगत एवं वृत्तिविषयक संकीर्णताओं की देन हैं, जबकि हमारी संस्कृति के अनुसार मानवजीवन का श्रेय प्राथमिकताओं के विस्तार में निहित हैं, संकोच में नहीं। इसका अभिप्राय, मनसा, वाचा, कर्मणा सभी के प्रति आत्मवत् व्यवहार करना है। यही वेदाचार है और यही आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता। निस्संदेह **'महाभारत की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि'** यह रचना इसी सनातन निधि के प्रक्षालन का प्रयास सिद्ध होती है। यह सुनिश्चित है कि इसका महत्त्व गवेषणार्थियों की जिज्ञासा-तुष्टि तक सीमित न होकर विद्वत्समाज के मनस्तोष तक व्यापक होगा।

धर्मचन्द्र जैन
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
प्राच्य विद्या विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

दिनांक : फरवरी १७, १९९७

आत्मिकी

प्रगति के दक्ष का यज्ञ सभ्यता के शिव का निरादर करके निर्विघ्न सम्पन्न होना असंभव है। यह किसी पौराणिक गाथा का सार न होकर युगों के अनुभव के निकष पर स्वर्णिम रेखा छोड़ देने वाली सत्य उक्ति है। मानव-जीवन का उद्देश्य यदि उदरम्भरिता, पारिवारिक सम्पन्नता, जाति अथवा सम्प्रदाय विशेष के कल्याण के लिए अन्य प्राणियों के प्रति भेद की भावना एवं उन्हें विपन्न करके निज जाति अथवा सम्प्रदाय विशेष को सम्पन्न करना होता तो स्रष्टा उसे चेतना के वरदान से कभी युक्त न करता। उपर्युक्त तीनों गुण तो अन्य सृष्टियों में भी विद्यमान हैं। पाषाण अपनी आकार-वृद्धि के सामर्थ्य से युक्त हैं। वृक्ष जड़ों से शक्ति ग्रहण करके अपने महास्कन्ध, उपस्कन्धों, शाखाओं तथा पत्तें को समृद्ध करने में समर्थ हैं। अपने समूह की वर्चस्व-प्राप्ति के लिए अपनी ही जाति के अन्य क्षेत्र के पशुओं के प्रति घात-प्रतिघात की योग्यता तो पशुओं में भी विद्यमान है। फिर मनुष्य और अन्य सृष्टियों में अन्तर कैसा? चेतना का यह वरदान मनुष्य को सभी के प्रति शिष्ट कथन, सद्व्यवहार, लोकमंगलसाधक प्रशस्त कर्मानुष्ठान तथा सार्वभौमिक मंगलहित बौद्धिक योगदान को उसके जीवन का उद्देश्य सिद्ध करता है। वस्तुतः यही हमारी संस्कृति के अमरत्व का प्राणतत्त्व है और यही हमारी सुदृढ, सनातन परम्परा का आधार-स्तम्भ। अनादिकाल से ही विविध विधाओं द्वारा स्वान्तःसुखाय रची गई साहित्यिक रचनाएं अनायास ही बहुजन-सुखाय सिद्ध होती रही हैं। साहित्यकार हो अथवा मूर्तिकार, सर्जन दोनों का धर्म है। यह बात अन्य कलाओं पर भी लागू होती है। साहित्य का सम्बन्ध बहुसंख्यक जनसमुदाय से है। लोकमंगल की साधना के लिए अपने बहुमूल्य जीवनशोणित को गद्य अथवा पद्य का आश्रय देकर हमारे साहित्यकार जनमानस को अधोगति के गर्त में गिरने से बचाने के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहे हैं। हमारे यहां सृष्टि के उत्पत्ति के सभी वर्णनों

का उद्देश्य मनुष्य में सर्वजनोपयोगी संस्कारों का प्रादुर्भाव रहा है। हमारे आदि मनीषी **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** में अदम्य विश्वास के समर्थक थे। इसीलिए वेदचतुष्टय में पुरुषसूक्त का सर्जन हुआ। उन्होंने समस्त विश्व को एकपितृजात, एकगर्भजात अन्योन्य अभेदयुक्त सम्पन्न दर्शाकर मात्र पारम्परिक रक्तसान्निध्य को ही सिद्ध नहीं किया, अपितु अंश-अंशी में स्वेच्छित विसर्जन के संभाव्य के लिए उन साधनों का भी प्रावधान किया, जो उसे इसी जीवन में मात्र अभयदान दिलाने में ही समर्थ नहीं, अपितु उसके समस्त संशयों के निराकरण कराने में भी सक्षम है।

वेदों का प्रतिपाद्य विषय प्राणी के पूर्णत्व के साधन जुटाना ही नहीं, अपितु विविध साधनों द्वारा व्यष्टि और समष्टि तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में साम्य सिद्ध करना है। इसका उद्देश्य मनुष्य की प्राथमिकताओं के उत्तरोत्तर विकास को उसके जीवन का लक्ष्य घोषित करना है। व्यष्टि और समष्टि दोनों को पंच भूतों से युक्त दर्शाकर स्थूलतया उनकी समानता सिद्ध की गई है। पुरुष के शरीर के विभिन्न अंगों से मात्र मानव जाति के वर्ण-चतुष्टय को ही प्रादुर्भूत नहीं दिखाया गया, अपितु जीव और ब्रह्म की समानता के लिये विराट् पुरुष के विविध अंगों से मनुष्य की पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा ग्यारहवें मन की उत्पत्ति भी दर्शायी गई है। उन्हीं अंगों से विविध देवताओं को उत्पन्न दर्शाकर व्यष्टि और समष्टि में पूर्ण साम्य सिद्ध करने का सफल प्रयास किया गया है। पुरुष द्वारा तीनों को व्याप्त दर्शाकर उसे मोक्ष का स्वामी घोषित किया गया है–

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।

(ऋग्वेद, १०.९०.२)

पुरुष को मात्र सृष्टि का कारण तथा कर्ता ही स्वीकार नहीं किया गया, अपितु उसे समस्त कलाओं, ज्ञान-विज्ञान तथा मन्वन्तरों का अधिष्ठान भी स्वीकार किया गया है। तदनुसार ही वह ज्ञानात्मा पुरुष, विज्ञानात्मा पुरुष, मन्वन्तरात्मा पुरुष के नाम से प्रसिद्ध है। इसी का अनुगमन करते हुए पुराणकारों ने उसे लिङ्गात्मा पुरुष, राशि-आत्मा पुरुष, देवात्मा पुरुष नारात्मा पुरुष, यक्षात्मा पुरुष, गन्धर्वात्मा पुरुष एवं पुराणात्मा पुरुष स्वीकार किया है। पुरुष को उत्पत्ति और लय का अधिष्ठान दर्शाकर मनुष्य के **'अहम्'** के **'सर्वम्'** में विलय को उसके जीवन का लक्ष्य घोषित करने का मनोवैज्ञानिक सफल प्रयास किया गया है। अहम् के केन्द्र के उत्तरोत्तर

संकोच के लिए जहाँ प्राणी से शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर–प्रणिधान के सतत निर्वाह का अनुरोध किया गया है, वहीं उसकी प्राथमिकताओं में विस्तार के लिए उससे आग्रह किया गया है कि वह दूसरों से व्यवहार करते समय अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को अपने परम आश्रय मानता रहे। इन सभी के पालन द्वारा वेद के **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** के संकेत का कार्यान्वयन सुलभ, सरल, सुगम और व्यवहार्य होना स्वाभाविक है। हंमारी संस्कृति में आत्मवत् व्यवहार को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। हमारे विश्वास के अनुसार धर्म से अभिप्राय अपने को प्रतिकूल लगने वाले विचार, उच्चार तथा व्यवहार को दूसरों के प्रति न अपनाना है। इन आधारभूत परामर्शो का उद्गम-स्थान वेद है। इनके उत्तरवर्ती काल में लोकप्रिय न रहने का दोष वैदिक गुह्यता को जाता है और इन्हें लुप्त न होने से बचाने का श्रेय ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना को। जब कभी हमारी संस्कृति के इन बहुमूल्य रत्नों के युगपरिवर्तन की धूल से धूसरित होने की आशंका उत्पन्न हुई है, तब-तब इनके प्रक्षालन के लिए इन्हें युगानुकूल प्रासंगिकता प्रदान करना हमारे मनीषियों का धर्म रहा है। प्राणियों (मानव जाति) द्वारा इनका अतिक्रमण युगक्षय का कारण माना जाता रहा है। मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतियों, धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों, योगशास्त्रों तथा उपजीव्य काव्यों की रचना का उद्देश्य भी अपने युग की जनता को इनके महत्त्व से अवगत कराकर इनके कार्यान्वयन के लिए प्रेरित करना है। **'महाभारत की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि'** की गवेषणा का प्रेरणा-स्रोत भी यही है, क्योंकि आज के युग में एक बार फिर से इन जीवन-रत्नों के पुनःप्रक्षालन की आवश्यकता एक ज्वलन्त समस्या का रूप लेकर हमसे दो-चार है। आज का मनुष्य प्रगति की दृष्टि से तो अन्तरिक्ष और चन्द्रलोक-विजयी है, परन्तु सांस्कृतिक निधियों और मानवोपयोगी आचार-संहिता से विपन्न रहने के कारण विषादग्रस्त है। महाभारत में विषाद-परिहार के एक नहीं, अनेक साधन प्रतिपादित हैं। संजय के मुख से युधिष्ठिर की स्पष्टवादिता धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों के भावी दुरन्त के विषाद से ग्रस्त कर देती हैं। परिणामतः अपने विषाद के परिहार के लिए वे विदुर को आमन्त्रित करते हैं। विदुर उन्हें सीधे और सरल शब्दों में मानव-जीवन का उद्देश्य और इसकी पूर्ति के साधनों से अवगत कराते हैं। उद्योगपर्व में संकलित धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद को विदुर-गीता की संज्ञा देना अतिशयोक्ति नहीं। परन्तु खेद तो इस बात का है कि

जन-साधारण धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद के नैतिक, सामाजिक और धार्मिक महत्त्व से पूर्णतया अपरिचित है। महाभारत का जो अंश श्रीमद्‌भगवद्गीता के नाम से विश्वख्याति को प्राप्त हुआ, वह भीष्मपर्व की अध्याय संख्या २३ से ४० तक संकलित है। इसका उद्देश्य कृष्ण द्वारा अर्जुन को विषादमुक्त कर कर्तव्यनिष्ठ बनाना है। इसका मुख्य विषय भी पूर्वप्रतिपादित धर्मलक्षणों के निर्वाह को संशय-राहित्य और मोक्ष का साधन सिद्ध करना है। गीता की बढ़ती हुई लोकप्रियता के परिणामस्वरूप जनसाधारण महाभारत के केवल इसी अंश से अवगत है। परन्तु उन्हें यह पता नहीं कि महाभारत अपने आप में समस्त विश्व की विषाद-हारिणी अमृत-संजीवनी है। इसका महत्त्व गीतोपनिषद् की रचना द्वारा, उपनिषदों के तत्त्व-ज्ञान एवं विविध शास्त्रोक्त पूर्णत्व-प्राप्ति के मार्गों की अनेकता में एकता स्थापित करने तक व्यापक है। श्रीकृष्ण ने मानवाचार के लिए वांछित वैयक्तिक संयमों और सामाजिक अनुशासनों को स्वयं से उत्पन्न दर्शाकर उन्हीं लोगों को भगवन्मना स्वीकार किया है, जो उन धर्म-लक्षणों के निर्वाह को अपने जीवन का अंग मानते हैं। महाभारत में युद्धोपरान्त युधिष्ठिर को इतने व्यापक विषाद से ग्रस्त दर्शाया है कि कृष्ण स्वयं को उसके विषाद के परिहार में समर्थ नहीं मानते और उसे भीष्म की शरण लेने का परामर्श देते हैं। महाभारत का यह अंश शान्तिपर्व के नाम से प्रसिद्ध है। यह भीष्म के अनुभवजन्य विशद विवेकज ज्ञान का अमरकोश है। इसमें समस्त धर्मों का सैद्धान्तिक विवेचन ही उपलब्ध नहीं होता, अपितु विविध आख्यानों के माध्यम से उनके पालनजन्य महत्त्व का प्रतिपादन भी उपलब्ध होता हैं। भीष्म ने युधिष्ठिर के विषाद-परिहार के लिए जिस राजधर्म, आपद्धर्म तथा विविध आख्यानों के माध्यम से वर्णाश्रम धर्म एवं विश्वविख्यात विवेकज ज्ञानियों के अनुभवप्रसूत मोक्षधर्म की चर्चा की है, उन सभी के पालन का मूल उन्हीं वैयक्तिक संयमों और समाजिक अनुशासनों के निर्वाह में निहित दर्शाया है, जिन्हें वे मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म-मर्यादाएँ मानते हुए उन्हें धर्मलक्षणों के नाम से अभिहित करते हैं। ये हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। महाभारत के ये अंश कारणवश व्यापक रूप में जनसाधारण तक प्रेषित नहीं हो पाए। तदनुसार ही इस परिशीलन में इन पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। व्यास ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनका मुख्य उद्देश्य वेद के गुह्य ज्ञान को सरलीकरण, सर्वग्राह्यता और सर्वबोधगम्यता से युक्त करना है। यही स्वीकारोक्ति महाभारत को एक समृद्ध श्रौत तथा सम्पन्न स्मार्त पृष्ठभूमि से युक्त सिद्ध करती है और

यही इस परिशीलन का मुख्य विषय है।

आज के युग में सबसे बड़ी समस्या यह है कि हमारी प्राथमिकताएँ भौतिक लोलुपता के कारण विस्तृत होने की अपेक्षा संकुचित होती जा रही है। मानव उत्तरोत्तर पाषाणोन्मुखी होता जा रहा है। परिशीलन मात्र बौद्धिक व्यायाम नहीं होता। उसका उद्देश्य विविध उत्तरवर्ती अनुसन्धानकर्ताओं के लिए गवेषणात्मक सन्दर्भ-सामग्री के प्रावधान तक सीमित न होकर उसके द्वारा प्रस्तुत तथ्यों की जनोपयोगिता तक व्यापक होता है। शोध का अभिप्राय विविध शोध-संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में उपलब्ध पुस्तकों की संख्या में वृद्धिमात्र न होकर अपने परिशीलनजन्य तथ्यों को जनसाधारण तक प्रेषित करना तथा उनके जीवनपथ को सुगम और सरल बनाने का सत्प्रयास है। तदनुसार ही मैं इस विषय के परिशीलन के लिए प्रेरित हुई हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरा यह अक्षुण्ण प्रयास भौतिकता के अन्धे अनुकरण द्वारा लगाई गई भेदविषयक दावानल को सड़क तक आने से रोकने में सर्वथा सफल होगा।

जिस प्रकार रासायनिक प्रयोग किसी वनस्पति विशेष के शताब्दियों से अवहेलित रोगनिवारक और कीटनाशक गुणों को पुनः उपादेय ओर योग्यतायुक्त सिद्ध करने में समर्थ होते हैं, उसी प्रकार साहित्यिक परिशीलन भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण होते हैं। महाभारत एक ऐसा महाकाव्य है, जो कई कारणों से जनसाधारण तक पहुँच प्राप्त नहीं कर सका। वस्तुतः इसके लिए वे शास्त्रदस्यु और शास्त्रव्यापारी दोषी हैं, जिनके बारे में व्यास का मत है कि वेद भी उनका सुधार नहीं कर सकता। इसके रचनाकाल के बाद से ही लोगों की इसमें प्रतिपादित जीवनसामग्री के बारे में उत्सुकता कम होती चली गई। इसके दो कारण थे। एक तो इसका बृहदाकार, दूसरा इसकी अल्पोपलब्धि। कालान्तर में पौराणिक साहित्य की रचना हुई, जिसके परिणामस्वरूप इसका एक अंश हरिवंश-पुराण के नाम से प्रसिद्ध हुआ और महाभारत उत्तरोत्तर अवहेलना तथा अनदेखी का शिकार होता चला गया।

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या संस्थानों की स्थापना के परिणामस्वरूप जब महाभारत के नैतिक पक्ष आचारसंहिता-विषयक सामग्री, धर्म विश्लेषण तथा तत्त्वज्ञान-सरलीकरण जैसी विशिष्टताएं प्रकाश में आईं तो इसका अध्ययन उन संस्थानों में अपने चिरवांछित गौरव को पुनः प्राप्त करने लगा। तो भी महाभारत के पात्रों के बारे में शोध भले ही हुए हों अथवा इसमें प्रतिपादित

नैतिक मूल्यों और आख्यानों की गवेषणा भले ही हुई हो, जिनका विशद वर्णन इसमें उपलब्ध होता है, तो भी इसकी श्रौत तथाा स्मार्त पृष्ठभूमि विषयक गवेषणा लगभग शून्य के बराबर है। किसी भी देश की सुषुप्त, आलस्यग्रस्त, कर्तव्यविमुख, किंकर्तव्यविमूढ, विषादग्रस्त तथा पलायनवादी वृत्ति की ओर अग्रसर जनता को झकझोरने का श्रेष्ठ माध्यम उस काल में रचा गया साहित्य होता है। चाहे वह मौलिक सर्जनात्मक साहित्यिक योगदान हो अथवा लोकमंगलसाधक परिशीलन का प्रयास। किसी भी उत्तरदायी लोकतांत्रिक देश के बुद्धिजीवियों का परम कर्तव्य उस देश के लोकमंगल की साधना के प्रति बौद्धिक योगदान है। यह मात्र विशेष उपयोगी वार्ता, काव्य-गोष्ठी, विशिष्ट समस्या-परिचर्चा या विषय विशेष सम्बन्धी विशिष्ट ग्रन्थों की रचना तक सीमित न होकर उस सारे क्षेत्र के योगदान तक व्यापक है, जिसमें बौद्धिक योगदान की सभी विधाएँ सम्मिलित हैं। परिशीलन इसका अपवाद नहीं है। यदि यह प्रयास हिंसा का विकल्प अहिंसा, परिग्रह का विकल्प अपरिग्रह, लोलुपता का विकल्प सन्तोष एवं मिथ्या आडम्बर का विकल्प सत्य, भेद का विकल्प अभेद, सम्प्रदाय का विकल्प सम्प्रदायनिरपेक्षता तथा गुटवाद का विकल्प गुटनिरपेक्षता के आचरण में निहित सिद्ध करने में समर्थ हो सके, तो मानव जाति बढ़ते हुए मानसिक तनाव, अशान्ति तथा युद्ध की विभीषका के भय से मुक्त कराई जा सकती है। मेरा यह प्रयास इसी दायित्व की पूर्ति को समर्पित है।

इन्दु शर्मा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

प्ररोचना

हमारा समस्त वेदोत्तर साहित्य **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** मे अदम्य विश्वास की अभिव्यक्ति को समर्पित है। वेदचतुष्टय के अनुसार मनुष्य के वाचिक और कायिक कार्यकलाप विचाराश्रित होते हैं। ऋषियों ने स्पष्टतया कहा है–

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति,
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति,
यत्कर्मणा करोति, तदभिसंपद्यते।

इस विश्वास के अनुसार मानव की समस्त उपलब्धियाँ उसके मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों पर आश्रित हैं। जब तक हम मनसा, वाचा, कर्मणा किसी श्रेष्ठ लक्ष्य के प्रति समर्पित नहीं हो जाते, तब तक हमारे लिए कोई भी उपलब्धि संभव नहीं। इन तीनों का ऐक्य ही मनुष्य में मानवता का परिचायक है। वेदचतुष्टय में मनुष्य के इसी त्रिविध परिष्कार के साधनों का प्रावधान उपलब्ध होता है। वस्तुतः सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के लिए शिष्टाचार का निर्वाह परम आवश्यक है। इसीलिए वह अपने समस्त संशयों के निराकरण के लिए सतत प्रयत्नरत रहता है। यदि उसकी मानसिकता दूषित हो, वाणी अशुद्ध हो और कार्यकलाप स्वार्थ के प्रति समर्पित हों तो उसके लिए अभ्युदयलाभ और निःश्रेयस की प्राप्ति असंभव है। वेदों में संशयराहित्य अंश-अंशी सम्बन्ध में अदम्य विश्वास में निहित स्वीकार किया गया है। यह विश्वास सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार द्वारा ही प्राप्य है। इसका आश्रय परिवारविषयक, जातिविषयक, प्रदेशविषयक, सम्प्रदायविषयक, राष्ट्रविषयक एवं विश्वविषयक सभी समस्याओं का एकमात्र समाधान है। यजुर्वेद में प्राणी से आग्रह किया गया है कि वह संशयराहित्य

के लिए अनुभव से अपनी आत्मा को सभी की आत्मा में स्थित और सभी की आत्मा को अपनी आत्मा में उपस्थित देखे। इसके लिए वेदचतुष्टय में प्राणिमात्र के लिए जो आचार-संहिता सूत्ररूप में प्रतिपादित हुई है, कालान्तर में वह यम-नियमों के रूप में प्रतिष्ठित हुई। वेदों में इसका उल्लेख समस्त यमों और नियमों को देवगुण दर्शाकर किया गया है। इनमें प्राणी के मानसिक, वाचिक और कायिक परिष्कार का सुनियोजन उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद को 'स्तुतिवेद' माना जाता है। इसमें उपलब्ध विविध स्तुतियाँ सभी देवों को यम.नियमों का रक्षक घोषित करती हैं। स्तुति द्वारा प्राप्त उत्तरोत्तर तन्मयता प्राणी को स्तुत्य को हृदयस्थ कराने की क्षमता से युक्त कराती है। स्तुत्य का हृदयस्थ होना तभी संभव है जब प्राणी तद्रूप.प्राप्ति हेतु स्तुत्य की समस्त योग्यताओं से युक्त होने का संकल्प ले। वेदों का उद्देश्य मनुष्य के आध्यात्मिक स्तर को आधिदैविक स्तर तक विकसित करना है। पुरुषसूक्त में पिण्ड और ब्रह्माण्ड एवं जीव तथा ब्रह्म के साम्य का जो प्रतिपादन हुआ है, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नरत रहना ही मानवजीवन का लक्ष्य है। यजुर्वेद में इसके लिए अविद्या तथा विद्या के समन्वय एवं संभूति तथा असंभूति के समन्वित आश्रय का परामर्श दिया गया है। मानवजीवन को जीने योग्य बनाने के लिए प्राणी से जिन मर्यादाओं के निर्वाह की अपेक्षा की गई है, उनका उद्देश्य समस्त जीवों में अंश-अंशी सम्बन्ध में विश्वास को व्यवहार्य सिद्ध करना है। वेदों में सविता देव से अनुरोध किया गया है कि वे प्राणियों को समस्त दुरिताओं से बचाएं और भद्रताओं से युक्त करें। वेदों में उपलब्ध विविध पदों में जीवनोपयोगी भद्रताओं तथा निषिद्ध दुरिताओं का जो उल्लेख हुआ है, उसे सातवलेकर ने यजुर्वेद के ३६वें अध्याय के सुबोध भाष्य में सूचीबद्ध किया है। ये मनुष्यों के लिए वेदोक्त कर्तव्याकर्तव्य निर्देश हैं। वेदों में सूत्ररूप में प्रतिपादित आचार.संहिता हमारी संस्कृति की सनातन निधि है। वेदोत्तर समस्त साहित्य में पुनः पुनः इसी को अपनाने का आग्रह उपलब्ध होता है। कृष्णद्वैपायन व्यास ने महाभारत को वेदों की गुह्यता के सरलीकरण के प्रयास की संज्ञा दी है। उन्होंने वेदाचार को महाभारत के माध्यम से व्यवहार्य दर्शाकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वेदप्रतिपादित आचार.संहिता सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक प्रासंगिकता से सम्पन्न है। इसे व्यवहृत करना ही मानवजीवन का परम उद्देश्य है। यह अभ्युदयसाधक होने के साथ.साथ निःश्रेयसलाभदायक भी है। इसी आधार पर **"महाभारत की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि"** शीर्षक के

अन्तर्गत महाभारत में वेदाचार.संस्तुति के परिशीलन का यथायोग्य प्रयास किया गया है।

हमारी साहित्यिक परम्परा के अनुसार साहित्य का चरम उद्देश्य कान्तासम्मत उपदेश के माध्यम से जनमानस का विषाद.परिहार रहा है। हमारे साहित्य की विशिष्टता उन मर्यादाओं के सतत पालन में निहित है, जो काव्यशास्त्र.परम्परा के श्रीगणेश से पहले भी विद्यमान थीं। हमारे सभी ग्रन्थों का समारम्भ मंगलाचरण से स्वीकार किया जाता है, जो हमारे ग्रन्थों के प्रणयन को लोकमंगल की साधना के प्रति समर्पित दर्शाता है। तुलसी ने इसी सत्य को व्यक्त करते हुए लिखा है **"कीरति मणिति भूति मलि सोई, सुरसरि सम सबका हित होई।"** हमारे मनीषी करुणा के महासागर रहे हैं। उनके लिए निरपराध क्रौञ्च की नृशंस हत्या एक महाकाव्य के सर्जन का स्रोत बनी। कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास को 'व्यास' पद से अलंकृत करने का श्रेय उनके द्वारा किए गए वेदों के व्यास को जाता है। हमारा विवेच्य विषय महाभारत से सम्बन्धित है। अतः इस बात की चर्चा कि व्यास एक गद्दी है अथवा व्यक्तिविशेष, तर्कसंगत नहीं लगती। हमारा सम्बन्ध महाभारत के रचनाकार कृष्णद्वैपायन व्यास तक ही सीमित है क्योंकि उनकी रचना महाभारत ही हमारे परिशीलन का विषय है।

महाभारत का व्युत्पत्तिविषयक परिशीलन इसे **'संग्रामे प्रयोजनं योद्धृभ्यः'**[1] के आधार पर कौरवों.पाण्डवों के युद्ध से सम्बद्ध सिद्ध करता है। दोनों भरतवंशी थे। इसलिए वे 'भारत' के नाम से अभिहित हुए। भरतवंश के वीरों के युद्ध को भारत की संज्ञा दी गई। व्यास ने आदिपर्व में महाभारत के माहात्म्य.वर्णन में स्वयं इस महाकाव्य को महाभारत कहा है–

अह्ना यदेनश्चाज्ञानात्प्रकरोति नरश्चरन्।
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते।।[2]

विण्टरनिट्ज के अनुसार भी महाभारत का मुख्य विषय भारतों के महायुद्ध का वर्णन है।[3] व्यास ने स्वयं महाभारत की जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार यह विशाल महाकाव्य चारों वेदों से अधिक विस्तृत है–

चत्वार एकतो वेदा भारतं चैकमेकतः।
समागतैः सुरर्षिभिस्तुलामारोपितं पुरा।।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं ततोऽधिकम्।
महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।।[4]

इस कथन में महाभारत का महाभारतत्व इसके बृहदाकार में निहित दर्शाया गया है जबकि वास्तव में इसका महाभारतत्व त्रिलोकीविषादहारिणी उस अमृतसंजीवनी में निहित है जो इसमें विविध धर्मों के प्रतिपादन के लिए संजोयी गई है। तदनुसार ही व्यास का विश्वास है कि महाभारत शब्द के सत्यार्थ का ज्ञान प्राणियों को समस्त पापों से मुक्त कर देता है। इसमें उपलब्ध जीवनोपयोगी चतुष्फलप्राप्ति के साधन इसे मात्र महाकाव्य के क्षेत्र तक सीमित नहीं रखते, अपितु विश्वकोश की संज्ञा का पात्र बनाते हैं। विण्टरनिट्ज ने इसके महत्त्व से प्रभावित होकर कहा है– In reality one can speak of Mahabharata as an epic and as a "poem" only in a very restricted sense. Indeed, in a certain sense the Mahabharata is not at all a poetic product, but rather, an entire literature.[५] यह कथन यह सिद्ध करता है कि महाभारत का वर्ण्य विषय मात्र इतिहासवर्णन, पुराणाख्यान तथा युद्धवर्णन तक सीमित न होकर तद्युगीन जीवन के समस्त क्षेत्रों तक व्यापक है। व्यास ने स्वयं स्वीकार किया है कि सभी प्राणियों के स्थान, सभी रहस्य, वेद, योगशास्त्र, विज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्म, अर्थ और काम के वर्णन करने वाले ग्रन्थों का सार तथा इस संसार में रहकर सुखपूर्वक जीना–इन सभी बातों का वर्णन इस महाग्रन्थ में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ को सांसारिक शास्त्र तथा मोक्षशास्त्र दोनों ही कहा जा सकता है।[६] व्यास ने महाभारत में जिन विषयों का उल्लेख किया है, उनका वर्णन आदिपर्व में उपलब्ध होता है। ये विषय हैं–वेदों का रहस्य, उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, अंग.उपांगों की व्याख्या, इतिहास और पुराण का विकास, त्रिकाल का निरूपण, जरा, मृत्यु, भय, व्याधि, भाव.अभाव का विचार, त्रिविध धर्म और आश्रम का विवेचन तथा वर्णधर्म आदि। व्यास की यह स्वीकारोक्ति स्वतः सिद्ध कर देती है कि महाभारत का रचनोद्देश्य राजाओं के इतिहास का वर्णन अथवा युद्धचित्रण नहीं था। ये तो मात्र इसके प्रतिपाद्य विषय को लोकप्रियता प्रदान करने के साधन थे। इसका साध्य मनोरंजक कथा के माध्यम से जनमानस में धर्म के प्रति असीम निष्ठा, अदम्य विश्वास तथा उसके पालन के लिए अडिग साहस फूंकना था।

विश्व का इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि सभी युद्धों के मूल में पूर्वनिर्धारित मर्यादाओं का अतिक्रमण छिपा होता है। बहुधा युद्ध स्त्री, श्री और राज्य (भूमि) के लिए लड़े जाते हैं। यदि समाजरूपी पुरुष मर्यादित

रहने के लिए दृढप्रतिज्ञ हो तो युद्ध की विभीषिका की आशंका ही समाप्त हो जाती है। महाभारतकार ने कौरवपक्ष द्वारा किए गए मर्यादा के अतिक्रमण को जघन्य दुष्परिणाम से बचाने के लिए धृतराष्ट्र के विषाद के परिहार हेतु विदुर के जिस नीतिकथन और हितोपदेश का सुनियोजन महाभारत में किया है, उसमें विश्व की समस्त समस्याओं का कारणान्वेषण अनायास ही उपलब्ध हो जाता है। विदुर के इस कथन में मात्र राजोचित धर्म की ही व्याख्या उपलब्ध नहीं होती, अपितु सनत्सुजात द्वारा आख्यात वर्णाश्रम धर्म की चर्चा भी उपलब्ध होती है। यदि महाभारत का उद्देश्य मात्र इतिहासवर्णन तथा युद्धचित्रण होता तो उद्योगपर्व जैसी आपत्कालीन स्थिति में धर्मलक्षणों की चर्चा को पर्याप्त स्थान उपलब्ध होना असंभव था। इससे पूर्व पाण्डुपुत्रों के वनवास के समय मार्कण्डेय द्वारा किया गया राजधर्म, वर्णाश्रमधर्म और सामान्यधर्मविषयक उपदेश उन सभी विशिष्ट लक्षणों से सम्पन्न है जिनके बिना शिष्टाचार का यथेष्ट पालन असंभव है। आरण्यकपर्व का समापन यक्ष.युधिष्ठिर.संवाद से होता है। यह आख्यान प्रश्नोत्तर शैली में धर्मजिज्ञासा की शान्ति को समर्पित है। युधिष्ठिर धर्मपुत्र हैं और यक्ष स्वयं धर्म हैं। इस छोटे से आख्यान में जीवन के अनेक बड़े.बड़े सत्यों की गुत्थी सुलझाई गयी है। इसकी पराकाष्ठा धर्म द्वारा उद्घोषित वह स्वीकारोक्ति है, जिसके अनुसार यश, सत्य, दम, शौच, कोमलता, लज्जा, धीरता, दान, तप और ब्रह्मचर्य धर्म के शरीर हैं तथा अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच तथा प्रमादराहित्य उसकी प्राप्ति के द्वार।[७]

भीष्मपर्व में संकलित कृष्ण-अर्जुन-संवाद इसका प्राणतत्त्व है। इसका उद्देश्य अर्जुन के विषाद को परिहारित कर उसे कर्तव्योन्मुखी बनाना है। कृष्ण.अर्जुन.संवाद अध्याय संख्या २३ से ४० तक उपलब्ध होता है। यह अंश स्वतन्त्ररूपेण श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है। इन अठारह के अठारह अध्यायों को योग शीर्षक के अन्तर्गत बद्ध किया गया है जो इस प्रकार है– अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञानविज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्या-राजगुह्ययोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, गुण-त्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग, दैवासुरसंपद्विभागयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग, मोक्षसंन्यासयोग। कृष्ण-अर्जुन-संवाद में मानवजीवन के प्रेय और श्रेयःसाधक साधनों का जो प्रावधान उपलब्ध होता है, उसके सुनियोजन के लिए उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का आश्रय लिया गया है। यही कारण है कि

श्रीमद्भगवद्गीता 'गीतोपनिषद्' के नाम से भी प्रसिद्ध है। यद्यपि इसकी प्रचारस्थली युद्धभूमि, उद्देश्य अर्जुन को युद्धोन्मुखी बनाना तथा धर्मयुद्ध को हिंसारहित यज्ञ घोषित करना है तो भी इस उपदेश में अहिंसा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। इसमें मनु द्वारा प्रतिपादित धर्मसम्बन्धी यम.नियमों को दैवी सम्पत्ति तथा ईश्वरप्रादुर्भूत दर्शाया गया है एवं उनके पालन को ईश्वरप्रियता का मूल घोषित किया गया है। गीता में उपनिषदों के एक नहीं, अनेक मन्त्र कियद् अंश में परिवर्तित होकर उद्धृत हुए हैं। उदाहरणतया–

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।

(कठोपनिषद्, २.२.७.)

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।

(भीष्मपर्व, २.२६.)

यह तुलनात्मक उद्धरण बालगंगाधर तिलक के गीता के बहिरंगविषयक परिशीलन से उद्धृत है। गीता में कपिल के सांख्यशास्त्र को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टि से गीता को दिया गया गीतोपनिषद् नाम ही सार्थक सिद्ध नहीं होता, अपितु उपनिषद् भीष्मपर्व की सुदृढ पृष्ठभूमि भी सिद्ध होते हैं। महाभारत आद्यन्त औपनिषदिक पृष्ठभूमि से सम्पन्न है।इनमें जिन मुख्य उपनिषदों के आंशिक पुनरुद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे हैं– बृहदारण्यक, छान्दोग्य, मुण्डक, कठ, श्वेताश्वतर, महानारायण, नृसिंह-तापिनी, गोपालतापिनी तथा रामतापिनी।[८]

अठारह दिन के युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना के संहार तथा अपने सभी स्वजनों, बन्धुओं एवं सम्बन्धियों के वियोग से युधिष्ठिर इतना आतुर हो उठता है कि किसी भी मूल्य पर अपना राज्याभिषेक नहीं चाहता। यहां तक कि भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी तथा कृष्ण तक द्वारा दी गई राज्याभिषेक.सम्बन्धी मन्त्रणा उसे स्वीकृत नहीं। इस समस्या का कोई समाधान न देखकर श्रीकृष्ण उसे भीष्म से परामर्श लेने के लिए उद्यत करते हैं। यहीं से महाभारत के अनन्य अंश शान्तिपर्व का समारम्भ होता है। शान्तिपर्व का प्रतिपाद्य विषय युधिष्ठिर के विषाद का परिहार तथा उसका राज्याभिषेक है। इस पर्व में संकलित सामग्री ही महाभारत को विश्वकोष की संज्ञा का सच्चा पात्र बनाती है। इसकी अध्याय संख्या ३५३ है। इसमें भीष्म ने अपने जीवन के समस्त विवेकज ज्ञान का निचोड़ समो दिया है।

जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं, जिसकी इसमें चर्चा न हुई हो। यह पर्व आद्यन्त विशिष्ट विवेकज ज्ञानियों के उपदेशों, अनुभवी सन्तों के अनुभव के सारगर्भित प्रवचनों तथा धर्मप्रवर्तकों के मतों की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है। इसमें कपिल जैसे सांख्य दार्शनिकों, याज्ञवल्क्य एवं मनु जैसे धर्मप्रवर्तकों, बलि, प्रह्लाद, जनक, मंकि तथा दत्तात्रेय आदि महान् अनुभवी ज्ञानियों के अनुभव के सार का सारांश उपलब्ध होता है। इसका समारम्भ युधिष्ठिर को दी गई राजधर्म की शिक्षा से होता है। इसका सम्बन्ध केवल राजा के कर्तव्यों का निरूपण नहीं, अपितु मन्त्रियों, सभासदों, अन्य अधिकारियों तथा प्रजाजनों के कर्तव्याकर्तव्यों के विश्लेषण तक व्यापक हैं। इस पर्व में प्रजाजनों द्वारा किसी धार्मिक मर्यादा के उल्लंघन के लिए राजा को दोषी दर्शाकर राजा द्वारा यमों के सदा सर्वदा एवं सर्वत्र निर्वाह के निरीक्षण, परीक्षण और सर्वेक्षण को राजधर्म घोषित किया गया है। राजधर्म के अन्तर्गत ही मनु के जन्म से पूर्व की अराजकतायुक्त अवस्था की चर्चा भी इसी पर्व में उपलब्ध होती है। मनु को इन्द्र द्वारा अभिषिक्त दर्शाकर उसे प्रजाजनों के हित और मंगल के दायित्व के निर्वाह से युक्त किया गया है। जबकि प्रत्युत्तर में प्रजा नियमपालन की सौगन्ध लेकर राज्य की रक्षा, हितचिन्तन तथा लोकमंगल की साधना के लिए कृतसंकल्प होती दर्शायी गयी है। राजधर्म के अन्तर्गत राजा से प्रजाजनों द्वारा यम-नियमों के निर्वाह के आश्वासन को ही निश्चित नहीं किया गया, अपितु राजा के अपने लिए भी उन सभी का पालन वाञ्छित दर्शाया गया है। राजधर्म के अन्तर्गत ही इसमें कुछ सन्दर्भ वर्णाश्रमधर्म के भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें पूर्व चर्चित पर्वों की भांति उनकी संस्तुति उपलब्ध होती है। राजा के लिए अपने चित्त पर विजय उसके जीवन की प्रथम आवश्यकता दर्शायी गयी है–

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून्।।[६]

भीष्म ने राजा के लिए कटुतारहित होकर धर्मकार्यों में प्रवृत्ति, आस्तिकतायुक्त स्नेहपूर्ण व्यवहार, अनिष्ठुर आचरण द्वारा धनोपार्जन, दीनतारहित प्रियकथन, स्वप्रशस्ति.निवृत्ति, निर्भय होकर निष्ठुर आचरण से निवृत्ति, दाता होकर कुपात्र को दान न देने के संकल्प, दुष्ट अनार्यों के साथ सन्धि न करने, बन्धुजनों के साथ झगड़ा न करने, झूठे के निकट अपना प्रयोजन न कहने, नीच पुरुष का आश्रय न लेने, भली-भांति परीक्षण तथा निरीक्षण के बिना दण्ड न देने तथा लोभियों को धन न देने आदि को

राजधर्म घोषित किया है। राजा द्वारा अस्तेय का पालन राजधर्म का अंग दर्शाया गया है–

कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजानुतिष्ठति।
न स धर्मं न चाप्यर्थं परिगृह्णाति बालिशः।।[१०]

व्यास के अनुसार राजा को आपत्कालीन अवस्था में भी अधर्म का आश्रय नहीं लेना चाहिए। इस अवस्था में यम.नियमों के पालन में थोड़ी सी ढील तो दी गई है, उनके अतिक्रमण का परामर्श नहीं दिया गया। राजधर्म-विवेचन के अन्तर्गत दुर्वृत्ति के प्रादुर्भाव के कारणान्वेषण के साथ-साथ उनकी निवृत्ति के साधनों का उल्लेख शान्तिपर्व की अनन्यता सिद्ध होता है। भीष्म के अनुसार लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है और इसकी निवृत्ति के लिए क्षमा का आश्रय जरूरी है। उनके अनुसार इसका उद्दीपन परदोषदृष्टि पर आश्रित है। उन्होंने काम का अधिष्ठान संकल्प स्वीकार किया है। इसकी उत्पत्ति अनिष्ट वस्तुओं के दर्शन में स्वीकार की गई है और निवृत्ति तत्त्वज्ञान में। विवित्सा (कार्य के आरम्भ में व्यग्रता) का जन्म धर्मविरोधी शास्त्रों के अध्ययन से स्वीकार किया गया है और इसकी निवृत्ति भी तत्त्वज्ञान द्वारा संभव दर्शायी गयी है। शोक का जनक वियोग माना गया है। इसकी निवृत्ति इसकी व्यर्थता के आभास में स्वीकार की गई है। उनके अनुसार अकर्तव्य में प्रवृत्ति का मूल कारण क्रोध और लोभ है। इससे निवृत्ति के लिए सब जीवों के प्रति दया ही परम आश्रय है। मात्सर्य की उत्पत्ति सत्त्व के त्याग और अनिष्ट विषयों की सेवा में स्वीकार की गई है। इसकी निवृत्ति साधुओं की संगति द्वारा संभव दर्शायी गयी है। मद की उत्पत्ति देहधारी प्राणियों में कुल की मर्यादा, विद्या तथा ऐश्वर्य के अभिमान से दर्शायी गयी है। इसका परिहार ज्ञान में निहित दर्शाया गया है। इससे पूर्व उद्योगपर्व में भी कहा गया है कि अपण्डित के लिए जो गुण मद का कारण बनते हैं पण्डित के लिए वे ही दम के साधक होते हैं। ईर्ष्या का अधिष्ठान काम और संघर्ष स्वीकार किया गया है। इसका परिहार विवेकशील बुद्धि के आश्रय में निहित माना गया है। कुत्सा (परनिन्दा) की उत्पत्ति समाज से च्युत लोगों के द्वेषपूर्ण और असम्मत वचनों को सुनकर होती है और उपेक्षा से इसकी निवृत्ति। असूया का जन्म बलवान् शत्रु से प्रतिकार की अयोग्यता के आभास में स्वीकार किया गया है और इसकी निवृत्ति करुणाभाव में मानी गई है। कृपा की उत्पत्ति अनाथ पुरुषों के दर्शनों में स्वीकार की गई है और इसकी निवृत्ति धर्मनिष्ठ पुरुषों के उदारभाव के ज्ञान में।[११] इस परिचर्चा में प्राणियों से सद्वृत्तियों के अपनाने

का ही आग्रह उपलब्ध नहीं होता, अपितु विविध दुर्वृत्तियों के कारणान्वेषण का प्रावधान भी उपलब्ध होता है। वैदिक संहिताओं में देवताओं से प्राणियों को दुरिताओं से निवृत्त रखने और भद्रतोन्मुखी बनाने की जो कामना की गई है, व्यास ने उसी का अनुकरण करते हुए प्राणियों को उन सद्‌गुणों से अवगत कराने की चेष्टा की है जिनका पालन उन दुरिताओं की निवृत्ति में सहायक सिद्ध होता है।

भीष्म ने युधिष्ठिर की धर्मजिज्ञासा की शान्ति तथा जनमानस में यम-नियमों के पालन के सत्संस्कारों के प्रादुर्भाव के लिए समस्त आश्रयों का अवलम्बन लिया है। सख्य गुणावगुण विश्लेषण इनमें से एक है। इसमें भी दुरिताओं के परिहार और भद्रताओं के ग्रहण का ही परामर्श उपलब्ध होता है। भीष्म ने लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, धूर्त, शठ, क्षुद्र, पापी, शंकालु, आलसी, दीर्घसूत्री, अनिष्ट, निष्ठुर, गुरुस्त्रीगामी, विपत्तिग्रस्त बन्धुओं को त्यागने वाले, दुष्टात्मा, लज्जारहित, पापदर्शी, नास्तिक, वेदनिन्दक, जनसमाज में स्वेच्छाचारी, झूठे, इन्द्रियपरतन्त्र, द्वेषी, असावधान, चुगलखोर, नष्टबुद्धि, मत्सरी, पापी, अशुद्धचित्त, नृशंस, मित्रापकारी, स्तेयी, नीचबुद्धि, क्रोधी, विपरीतदृष्टि, मद्यप, क्रूर, दयारहित, कठोर, मित्रद्रोही तथा प्राणिहिंसारत लोगों को[१२] मित्रता के अयोग्य घोषित करके मात्र युधिष्ठिर को ही इन दुरिताओं से निवृत्त रहने का परामर्श नहीं दिया, अपितु जनसाधारण को भी इनसे निवृत्त रहने का परामर्श दिया है। इनमें से अधिकतर यम-नियमों के यथेष्ट निर्वाह में बाधक स्वीकार की गई हैं। इसके विपरीत जिन भद्रताओं का पालन प्राणियों को धर्मोन्मुखी बनाता है उन्हें आदर्श मित्र के गुणों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[१३] व्यास का मत है कि वही मित्र श्रेष्ठ है जो सुवर्ण और लोष्ट में समदर्शी हो, सुहृदों के विषय में कुटिलतारहित हो, शास्त्रज्ञान के अभिमान से रहित हो, प्रारब्ध से प्राप्त हुए विभूषणों में सन्तुष्ट हो और कुटुम्बीजनों का संग्रह करते हुए सदा स्वामी के कार्यों में तत्पर रहे–

लोष्टकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्स्वशठबुद्धयः।
ये चरन्त्यनभीमाना निसृष्टार्थविभूषणाः।
संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा।।[१४]

शान्तिपर्व के पूर्वार्ध (राजधर्मनिरूपण एवं आपद्धर्मवर्णन) में व्यास ने राजा के लिए जो कर्तव्याकर्तव्य निश्चित किए हैं, वे प्राणियों में यम-नियम-पालन की प्रेरणा का स्रोत ही नहीं बनते, अपितु राजा के स्वेच्छाचार पर अंकुश लगाने में भी समर्थ सिद्ध होते हैं। वह युग भले ही

राजतन्त्र का युग रहा हो तो भी उसमें गणतन्त्रीय मर्यादाओं के पालन को राजधर्म घोषित करके राजतन्त्र में गणतन्त्र की प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया है। व्यास ने यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हमारे धर्मप्रवर्तकों द्वारा अनादिकाल से प्रतिष्ठित धर्मलक्षणों के निर्वाह के बिना मनुजोचित किसी भी धर्म का यथेष्ट पालन संभव नहीं।

शान्तिपर्व का उत्तरार्ध मोक्षधर्मपर्व के नाम से प्रसिद्ध है। इसके शीर्षकमात्र से यह सिद्ध हो जाता है कि इसमें मनुष्य के लिए निःश्रेयससाधक साधनों का प्राधान्य मिलना स्वाभाविक है परन्तु यदि ऐसा होता तो व्यास को श्रीमद्भागवतपुराणरूपी परमहंससंहिता रचने की आवश्यकता ही अनुभव न होती। मोक्षधर्म में प्रतिपादित विविध धर्म जनसाधारणोपयोगी हैं। इसकी विशिष्टता उनके महत्त्व को विशिष्ट विवेकजज्ञानियों के माध्यम से व्यक्त कराने में निहित है। इस उपपर्व का समारम्भ व्यास द्वारा दी गई मोक्षधर्म की जिस परिभाषा से होता है, उसके अनुसार वेदों में सर्वत्र सब आश्रमों के लिए स्वर्गसाधक फल की प्राप्ति कराने वाली तपस्या का विधान है। आश्रमधर्म के निर्वाह में सत्यस्वरूप परमात्मविषय के श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तपस्या के द्वारा ज्ञानरूप फल की प्राप्ति इस जीवन में ही दीख पड़ते हैं। धर्म के द्वार अनेक प्रकार के हैं। इस लोक में उनकी समस्त क्रिया कभी निष्फल नहीं होती–

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया।। [१५]

इस पर्व में कामनाक्षय को सुख कां मूल स्वीकार करके उपनिषत्साहित्य में उपलब्ध तृष्णापरिहार-विषयक मान्यताओं को समर्थन ही नहीं दिया गया, अपितु उनका अनुकरण करते हुए श्रौत साहित्य को महाभारत की सुदृढ पृष्ठभूमि भी सिद्ध किया गया है। मोक्षधर्मपर्व में संकलित पिङ्गल गीता के अनुसार नैराश्य ही परम सुख है।[१६] उपनिषदों में यह तथ्य पूर्वसमर्थित है। इनके अनुसार मनुष्य कामना के जिस जिस अंश को छोड़ देता है उसी ओर से सुखी हो जाता है। मोक्षधर्मपर्व में यमनियम-संस्तुति को जो पराकाष्ठा उपलब्ध होती है वह समूचे प्राच्य साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। मंकि गीता में तृष्णाक्षय की जो प्रशस्ति उपलब्ध होती है वह तृष्णाक्षयरूपी सुख को इहलौकिक कामसुख एवं स्वर्ग में उपलब्ध दिव्य महान्

सुखों से सोलह गुणा अधिक दर्शाती है।[१७] यह धारणा सर्वथा उपनषिदानुप्रेरित है। इसके अनुसार तृष्णाक्षयजन्य आनन्द दिव्य देवगन्धर्वानन्द से भी श्रेयस्कर है। मोक्षधर्मपर्व में एक नियम के अतिक्रमण को दूसरे के पालन में बाधा का कारण दर्शाकर व्यास ने सभी नियमों को परस्पराश्रित ही सिद्ध नहीं किया, अपितु इनके समग्र निर्वाह को धर्म दर्शाया है–

सोपधं निकृतिः स्तेयं परिवादोऽभ्यसूयता।
परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा।।
एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते।
यस्त्वेतान्नाचरेद्विद्वांस्तपस्तस्याभिवर्धते।।[१८]

आत्मसाक्षात्कार की योग्यता को जितेन्द्रियता में निहित दर्शाकर व्यास ने श्रौत साहित्य की उसी मान्यता का अनुमोदन किया है जिसके लिए कठोपनिषद् में रथ के रूपक का प्रयोग किया गया है।[१९] इस पर्व में सांख्य तथा योग की ऐक्य सिद्धि दोनों में धर्मलक्षणों के साम्याश्रित दर्शायी गयी है। ये लक्षण हैं– सत्य, अग्निपरिचर्या, शुद्धाहार, एकान्तवास, विषयों में दोषदर्शन, जितेन्द्रियता, शान्ति, अनसूया तथा परिमित भोजन। इस उल्लेख का अभिप्राय मोक्षविषयक विविध साधनों की भिन्नता में लक्ष्यविषयक एकता की सिद्धि के प्रयास तक सीमित न होकर इस विश्वास की प्रतिष्ठा तक व्यापक है कि हमारे यहाँ उपलब्ध सभी मतों की मूलभूत अपेक्षाएं (तत्साधक यम-नियम) समान हैं। इतना ही नहीं, इसमें यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि हमारे सभी मत अनादिकाल से इन्हीं मूलभूत अपेक्षाओं की प्रासंगिकतासिद्धि तथा उपादेयता की प्रतिष्ठा को समर्पित रहे हैं। महाभारत में पुनः पुनः भगवान् वासुदेव को सब वेदों का आदिमूल प्रणव, सत्य, दान, यज्ञ, तितिक्षा, जितेन्द्रियता एवं आर्जव स्वीकार किया गया है।[२०] वस्तुतः इस उल्लेख में पुरुषसूक्त में विश्वास का समर्थन करते हुए श्रौत साहित्य को महाभारत की पृष्ठभूमि स्वीकार किया गया है। इसकी अनन्यता श्रीकृष्ण को अक्षय, अव्यक्त, अमृत और शाश्वत ब्रह्म स्वीकार करने में निहित है। मोक्षधर्मपर्व में विविध धर्मप्रवर्तकों, विवेकज ज्ञानियों, अनुभवसम्पन्न योगियों, विशिष्ट तत्त्ववेत्ताओं तथा प्रख्यात दार्शनिकों के माध्यम से जिस प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक धर्म की चर्चा कराई गई है, उसकी नींव यम. नियमों के निर्वाह पर आधारित सिद्ध की गई है। इसका सारभूत विवेचन

इस प्रकार है कि यम-नियम-निर्वाह ही सुख का मूल है–

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत्।
यश्चैनं परमं धर्मं सर्वभूतसुखावहम्।
दुःखान्निसरणं वेद स तत्त्वज्ञः सुखी भवेत्।। [२१]

यजुर्वेद में मानवजीवन का पूर्णत्व **"सोऽहम्"** के स्वाभाविक उच्चारण की पात्रता में निहित स्वीकार किया है। व्यास ने इसमें अदम्य निष्ठा व्यक्त करते हुए इसकी योग्यता बुद्धि द्वारा संकल्पात्मक मन तथा मन से मनरूपी शब्द आदि विषयों के निग्रह में स्वीकार की है।[२२] व्यास का उद्देश्य एक ऐसे समाज के स्वप्न को साकार करना था जिसमें मनुष्य दायित्वोन्मुखी हो, दायित्व को अधिकार पर प्राथमिकता दे और व्यक्ति पर समाज को। उनका मात्र धर्म का आश्रय लेने का आग्रह भी इसी सत्य को समर्पित है कि धर्म मूल भी है और लक्ष्य भी। मानवजीवन में इसका पालन आद्यन्त एवं नितान्त आवश्यक है। इसके बिना न तो अभ्युदयसिद्धि संभव है और न ही निःश्रेयसलाभ।

इन्द्र-नमुचि-संवाद में परमात्मा के चिन्तन में सभी प्रयोजनों की सिद्धि दर्शाकर ईश्वर-प्रणिधान के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।[२३] असितदेवल तथा जैगीषव्य के संवाद में मनीषिलक्षण-विवेचन के अन्तर्गत मनीषिधर्म की जो प्रतिष्ठा हुई है, उसके अनुसार उसके लिए जितेन्द्रियता, मनसा, वाचा, कर्मणा अपराधराहित्य, ईर्ष्याराहित्य, हिंसाराहित्य, द्वेषराहित्य, निन्दाराहित्य तथा सर्वभूतहितचिन्तन का निर्वाह अनिवार्य दर्शाया गया है।[२४] यह भी यम-नियमों का परिष्कृत रूप है। व्यास ने मनीषिधर्म के निर्वाह को भी यम-नियमों के निर्वाह द्वारा ही संभव दर्शाया है। आश्रमधर्म को मोक्षलाभदायक दर्शाकर इसके निर्वाह के लिए शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान यथेष्ट दर्शाया गया है,[२५] जो व्यास की श्रौत तथा स्मार्त धर्म में निष्ठा का ही परिचायक नहीं, अपितु उनके आश्रय को महाभारत की पृष्ठभूमि भी सिद्ध करता है। व्यास ने गृहस्थ की जिन चार प्रकार की वृत्तियों का विधान किया है, वे हैं–पर्याप्त मात्रा में धान्यसंग्रह, परिमित धान्यसंग्रह, धान्यसंग्रह को केवल एक दिन के व्यय तक सीमित रखना तथा शिलोञ्छ वृत्ति का अवलम्बन करके जीविका निर्वाह करना। इन सभी प्रकार की वृत्तियों के लिए जिन यम-नियमों के निर्वाह को उचित माना गया है, वे हैं– पहली श्रेणी के लिए

यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान-प्रतिग्रह आदि षड्कर्मों का अवलम्बन, दूसरी श्रेणी के लिए अध्ययन, यजन और दान आदि तीन कर्मों में रति, तीसरी श्रेणी के लिए दान और अध्ययन इन दो कर्मों में रति तथा चतुर्थ श्रेणी के लिए केवल प्रणव-उपासना में रति आवश्यक दर्शायी गयी है।[२६] इस माध्यम से व्यास ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मनसा, वाचा, कर्मणा अपरिग्रह का पालन मनुष्य के पूर्णत्वपथ को प्रशस्त करने में सहायक सिद्ध होता है। व्यास ने यम-नियमों के स्वेच्छित पालन को मोक्ष का राजमार्ग दर्शाकर इन्हें महाभारत में संस्तुत सभी धर्मों का मूल घोषित किया है–

यमेषु चैवात्मगतेषु न व्यथेत्स्वशास्त्रसूत्राहुतिमन्त्रविक्रमः।
भवेद्यथेष्टा गतिरात्मयाजिनो न संशयो धर्मपरे जितेन्द्रिये।।[२७]

व्यास ने औपनिषदिक विश्वासों को निजयुगीन प्रासंगिकता से युक्त करने के जो प्रयास किए हैं, उनमें से एक परब्रह्म को लिङ्गातीत, सुखदुःखातीत एवं त्रिकालव्याप्त दर्शाना है।[२८] इससे अभिप्राय मात्र ब्रह्मविषयक औपनिषदिक मान्यताओं में निष्ठा व्यक्त करना ही नहीं, अपितु उपनिषत्साहित्य में संस्तुत मोक्षधर्म की सशक्त पृष्ठभूमि सिद्ध करना है। यजुर्वेद में जहाँ अनुभव से समस्त आत्माओं में अपनी आत्मा को स्थित तथा सभी आत्माओं को अपनी आत्मा में उपस्थित देखने की योग्यता को संशयराहित्य की संज्ञा दी गई है, व्यास ने इसी योग्यता को देवों में सम्मान का स्रोत घोषित किया है–

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः।
देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः।। [२९]

जाजलि-तुलाधार-संवाद के माध्यम से यही सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि आत्मतत्त्वज्ञता मनुष्य के व्यवहार पर आश्रित है, उसके द्वारा विहित आश्रमविषयक बाह्याचार पर नहीं। महाभारत में इसके एक नहीं, दो उदाहरण उपलब्ध होते हैं। आरण्यकपर्व के ब्राह्मण तथा धर्मव्याध के संवाद में भी इसी सत्य को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है। आश्रमधर्म-संस्तुति में ब्रह्मचर्य आश्रम के यथेष्ट पालन को ऋषिलोक में वास का साधक दर्शाया गया है, गृहस्थ को स्वर्गलोक में वास का, वानप्रस्थ को ब्रह्मलोक में वास का तथा संन्यास को मोक्षलाभ का।[३०] वस्तुतः इस माध्यम से चारों आश्रम पूर्णत्वप्राप्ति के चार चरण घोषित किए गए हैं। इन सभी में वैयक्तिक संयमों और सामाजिक अनुशासनों की अपरिहार्यतासिद्धि के माध्यम से व्यास ने समूचे विश्व को कर्तव्योन्मुखी एवं पूर्णत्वोन्मुखी बनाने

का सफल प्रयास किया है। मानवजीवन में अदोषदृष्टि के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दूसरे का जो कार्य देखकर निन्दा करनी होती है, मनुष्य स्वयं उस निन्दनीय कर्म को न करे। जो पुरुष दोषदर्शी है और स्वयं वही निन्दित कर्म करता है तो वह निन्दनीय है।[३१] व्यास ने जीवन में धर्म को सर्वोपरि मानते हुए इसी सत्य में निष्ठा व्यक्त की है कि धर्मविपरीत कर्म यदि लौकिक दृष्टि से महान् फल भी प्रदान करे तो भी मनुष्य उसका सेवन न करे।[३२] यह उक्ति व्यास की यम-नियम-निर्वाह में असीम निष्ठा की द्योतक है। वह किसी भी अवस्था में इनके अतिक्रमण के पक्ष में नहीं है। व्यास का विश्वास है कि जो सदा पूर्णरूप से रागरहित होकर क्रोध को जीतता है और सदाचार का पालन करता है वह विषयों में लिप्त रहकर भी पापयुक्त नहीं होता।[३३] सदाचार से अभिप्राय यम-नियम-निर्वाह है। हंस-साध्यगण-संवाद में क्रोधी पुरुषों में क्रोध न करने वाले, क्षमाहीनों में क्षमावान्, मनुष्येतर प्राणियों से सदाचारयुक्त मनुष्य और मूर्खों से ज्ञानी को प्रशंसनीय तथा श्रेष्ठ माना गया है।[३४] आचार श्रेष्ठता का ही द्योतक नहीं, अपितु प्रशंसा का भी मूल है। आचार से अभिप्राय ऐसे कर्मों में प्रवृत्त होना है जो अपने प्रतिकूल न जान पड़े। अपने प्रति प्रतिकूल लगने वाले व्यवहार को अन्य प्राणियों के प्रति न करना ही धर्म है। ऐसा करने से सभी यम तथा सभी नियम स्वयं विहित हो जाते हैं। इसी आधार पर वेद, तपस्या और त्याग के फल का पात्र वही आदमी माना गया है जिसका मन असत् से निवृत्त और सदा सावधान है। क्रोध को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु माना गया है। यह एक ऐसा दोष है जो मनुष्य के यज्ञ, दान, तपस्या और होम आदि कर्मों को निष्फल कर देता है।[३५] इस उक्ति के माध्यम से भी व्यास ने प्राणियों में सद्वृत्तियों के प्रादुर्भाव और दुर्वृत्तियों के परिहार के संस्कार जगाकर वेदोक्त मान्यताओं में आस्था जगाई है। वैदिक स्तुतियों में क्रोध को राक्षस दर्शाकर विविध देवों से इसके परिहार की कामना की गई है।

महाभारत में उपलब्ध यजुर्वेदोक्त विद्या-अविद्या का स्पष्टीकरण करते हुए अविद्या के अनुकरण को नाना योनियों में जन्म का कारण माना गया है, जबकि विद्या के अनुकरण को ब्रह्मलाभ का।[३६] यह चर्चा महाभारत में मोक्षधर्मप्रतिष्ठा के प्रयास को वैदिक समर्थन से सम्पन्न घोषित करती है। व्यास ने इसके लिए वसिष्ठ-करालजनक-संवाद का आश्रय लिया है जो इसे अनन्यता से युक्त करता है। मोक्षधर्मपर्व में संस्तुत धर्म को प्रचाराश्रित न दर्शाकर आचाराश्रित दर्शाया है। तदनुसार ही इसमें इसकी व्याख्या के

लिए अनेक धर्मप्रवर्तकों के अनुभवों के सार का आश्रय लिया गया है क्योंकि अनुभूत तथ्य सर्वाधिक बोधगम्य होता है। उसका उदाहरण हमारे समक्ष उपस्थित होने के नाते हमारी समस्त शंकाओं का तात्कालिक समाधान संभव होता है। व्यास ने इसे मुख्य आश्रय मानकर मोक्षधर्मविषयक समस्त सन्दर्भों को त्रिकालविख्यात अनुभवी सन्तों तथा विवेकज ज्ञानियों के माध्यम से ही व्यक्त कराया है। याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद में वेदोक्त पुरुषसूक्त के अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदैवत स्वरूप की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। इसके अनुसार व्यक्तिपुरुष अध्यात्म सिद्ध होता है, समाजपुरुष अधिभूत और विश्वपुरुष अधिदैवत। यह उद्धरण पिण्ड और ब्रह्माण्ड तथा व्यष्टि और समष्टि में साम्यसिद्धि को समर्पित है। इसमें मानवशरीर, समाजशरीर और देवशरीर (विश्वशरीर) में इन्द्रियगत समानता सिद्धि के आधार पर मानव का पूर्णत्व अधिदैवत रूप की प्राप्ति में निहित दर्शाया गया है। इस वर्णन के अनुसार पादेन्द्रिय अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत तथा विष्णु अधिदैवत।[३७] हस्तेन्द्रिय अध्यात्म है, कर्तव्य अधिभूत तथा इन्द्र अधिदैवत।[३८] वाक् अध्यात्म है, कर्तव्य अधिभूत तथा अग्नि अधिदैवत।[३९] इसी प्रकार मनुष्य की अन्य कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा मन का प्रकृति और पुरुष में साम्य दर्शाकर प्राणी को उसके चरम लक्ष्य से अवगत कराया गया है। महाभारत के मोक्षधर्मपर्व में वेदोक्त पुरुषसूक्त को गुह्यता से मुक्त कराकर सरल और ग्राह्य बनाने का जो प्रयास उपलब्ध होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः व्यास ने महाभारत की रचना युगान्तर की धूलि से धूसरित वैदिक जीवनमूल्यों के प्रक्षालन हेतु की थी। अतः इस महाग्रन्थ का श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि से सम्पन्न होना स्वाभाविक है।

हमारे यहाँ मनुष्य के लिए कर्तव्याकर्तव्य के आग्रह के लिए कर्मविषयक त्रिगुण-विवेचन की दीर्घ परम्परा विद्यमान है। इसके अनुसार समस्त उत्कृष्ट कर्म यदि स्वेच्छापूर्वक किए जाएं तो सात्त्विक कर्म कहलाते हैं और यदि सकाम किए जाएं तो राजस कर्म। वस्तुतः इससे अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि कर्म का उत्कर्ष संकल्पाश्रित है। याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद में इसकी विशद चर्चा उपलब्ध होती है, जिसके अनुसार स्मार्त धर्म में प्रतिपादित यम-नियम सत्त्व गुण दर्शाए गए हैं।[४०] इसका अभिप्राय प्राणियों में इनके पालन की उत्कृष्ट इच्छा का प्रादुर्भाव कराना है। व्यास ने स्वाध्याय का निर्वाह वेदाध्ययन द्वारा आत्मपरिचय की प्राप्ति में निहित स्वीकार किया है।[४१] वास्तव में इससे अभिप्राय स्वाध्याय को उभयार्थक ही

दर्शाना नहीं, अपितु वेदाध्ययन को आत्मपरिचय की प्राप्ति का परम साधन घोषित करना है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जो वेद जानने वाला पुरुष अवेद्य प्रकृति और वेद्य पुरुष का दर्शन नहीं करता वह मूढबुद्धि मनुष्य केवल ज्ञान का भार ढोने वाला है–

तथा वेद्यमवेद्यं च वेदविद्यो न विन्दति।
स केवलं मूढमतिर्ज्ञानभारवहः स्मृतः।।[४२]

व्यास ने धर्मलक्षणों के निर्वाह को मोक्षसाधक माना है, कोरे आश्रम आश्रय को नहीं। उनका विश्वास है कि जो गृहस्थी यम-नियमों का पूर्णरूपेण पालन करते हैं उनके लिए मोक्षलाभ निश्चित है किन्तु यदि संन्यासी कामद्वेष से दम्भी है तो वह गृहस्थ के सदृश है अर्थात् मुक्ति का पात्र नहीं है।[४३] उनका विश्वास है कि मुक्ति ज्ञानाश्रित है, अकिञ्चनता अथवा किञ्चनताश्रित नहीं।[४४]

व्यास ने नास्तिकों को त्याज्य घोषित करते हुए प्राणी की मृत्युञ्जयता काम, क्रोध तथा विषयासक्ति से निवृत्त रहकर सन्तोषपूर्वक धर्माचरण में निहित दर्शायी है।[४५] व्यास ने उस धन को व्यर्थ बताया है जिसका दान अथवा उपभोग न किया जाए, उस बल को व्यर्थ बताया है जो शत्रुओं के पराभव में समर्थ न हो, उस शास्त्रज्ञान को व्यर्थ बताया है, जो धर्म के आचरण में सहायक न हो, उस आत्मा को व्यर्थ बताया है जो जितेन्द्रिय न हो।[४६] वस्तुतः व्यास समस्त विश्व को धर्म के मूर्तिमान् रूप में परिणत करने के उत्कट इच्छुक थे। उन्होंने प्राणियों के लिए शास्त्रनिर्दिष्ट सभी मार्गों को लक्ष्य की एकता से सिद्ध किया है और यह लक्ष्य है–पारस्परिक अभेद की पराकाष्ठा की अनुभूति, जो समस्त शान्तियों का प्राणतत्त्व है। उन्होंने पुनः पुनः यही कहा है कि वेद उसी प्राणी की सहायता में समर्थ हो सकते हैं जो उन्हें व्यवहृत करने की चेष्टा करें। शब्दज्ञान का संचय तथा स्तोत्रों की तन्मयरहित-कण्ठस्थता ही मानवजीवन का लक्ष्य नहीं। इसका लक्ष्य शब्दब्रह्म के शास्त्रोक्त ज्ञान के माध्यम से परब्रह्म के साक्षात्कार का विवेकज ज्ञान है। जबकि स्तुति का चरम लक्ष्य स्तुत्य को हृदयस्थ कर सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार है। उन्हें इस बात का अदम्य विश्वास है कि इन्द्रियासक्ति दोष की जननी है और इन्द्रियसंयम सिद्धि का जनक। इन्द्रियसंयम में सभी वैयक्तिक संयमों का पालन स्वभावतः हो जाता है। महाभारत की विशिष्टता पुनः पुनः अपने आग्रहों को विविध माध्यमों से व्यक्त करके प्राणी के

मानसपटल पर उन्हें अंकित करने और उनका पालन कराने की योग्यता से युक्त होने में निहित है। व्यास ने यह विधा मात्र यम-नियम-विधान में ही नहीं अपनाई। अपितु अन्य उन सभी शिष्ट परम्पराओं, सनातन विश्वासों और शाश्वत सत्यों की महत्त्वप्रशस्ति में भी अपनाई है जो महाभारत को महाभारत की सच्ची संज्ञा का पात्र बनाते हैं।

व्यास ने नियमनिर्वाह को ही आश्रमधर्मपरायणता कहा है। उनके अनुसार जिसे चित्तशुद्धि ब्रह्मचर्य आश्रम में ही प्राप्त हो जाती है उस विपश्चित् पुरुष को अन्य तीनों आश्रमों से क्या प्रयोजन है–

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः।
त्रिष्वाश्रमेषु कोऽन्वर्थो भवेत्परमभीप्सतः।।[४७]

नियमपालन को मोक्ष का प्राणतत्त्व घोषित करते हुए व्यास ने कहा है कि मनुष्य मोहिनी ईर्ष्या, कामना और लोभ का त्याग करके अपने तपोबल से मन को आत्मा में संयुक्त करके मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। तपस्या को मोक्ष का मूल घोषित करते हुए उन्होंने कहा है–सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ तथा जीवन-मृत्यु के प्रति समदृष्टि ब्रह्मलाभ में सहायक है।[४८] इससे यह सिद्ध हो जाता है कि महाभारतकार ने यम-नियम-परम्परा को विशदता, व्यापकता तथा अनुकार्यता ही प्रदान नहीं की, अपितु मानवजाति को उनके अनुपालन का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष अनुरोध भी किया है। धर्मशास्त्रकारों ने इसके लिए केवल दो ही साधन अपनाए थे। इनके पालन को पुरस्कार्य दर्शाकर प्राणियों में इनके अनुकरण की प्रेरणा करना तथा इनसे निवृत्ति को हीन योनि में जन्म का कारण अथवा नरकभोग के दुष्परिणाम से युक्त दर्शाकर इनकी अवहेलना से मनोवैज्ञानिक भय का संयोजन। जबकि व्यास ने आख्यान तथा दृष्टान्त शैली का आश्रय लेकर जनमानस के समक्ष इनके मूर्तिमान् आदर्श प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है। इनकी व्याख्या के लिए अनन्यतम धर्मप्रवर्तकों, विवेकज ज्ञानियों एवं भुक्तभोगियों के अनुभव के निष्कर्ष का उद्धरण किया है। शुक तथा नारद के संवाद में नारद द्वारा दी गई यम-नियम-संस्तुति यह सिद्ध करती है कि नारद की भक्ति की पराकाष्ठा और शुक के ज्ञान की गरिमा का मूल तत्रोक्त यम-नियमों के पालन में ही निहित है।[४९] नारद ने संसाररूपी नदी को जिस बुद्धिरूपी नौका से पार होने योग्य दर्शाया है, क्षमा उसका चप्पू है, धर्म उसको स्थिर करने की रस्सी।[५०] व्यास ने प्रज्ञा, सुनीति अथवा पौरुष द्वारा उस प्राणी का

परित्राण असंभव स्वीकार किया है जो सुख-दुःख में विपर्यासग्रस्त हो--

सुखदुःखविपर्यासो यदा समुपद्यते।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम्।। [५१]

व्यास ने यम-नियम-संस्तुति के लिए स्मार्त विधा का भी आश्रय लिया है। स्मार्त साहित्य में यम-नियमों के पालन को मोक्षसाधक, शतवर्षीय जीवनलाभदायक, स्वर्गप्राप्ति का द्वार तथा देवयोनि में जन्म का कारण दर्शाकर जनमानस को इनके पालन के लिए उद्यत किया है। यहाँ तक कि याज्ञवल्क्यस्मृति का अध्याय विभाजन इसके सर्वथा अनुकूल है। इसमें तीन अध्याय उपलब्ध होते हैं जो आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय तथा प्रायश्चित्त अध्याय के नाम से प्रसिद्ध हैं। मनु ने भी मनुस्मृति में विविध धर्मलक्षणों के अतिक्रमण के लिए राजदण्ड, नरकयातना तथा हीन योनि मे जन्म की आशंका में निष्ठा व्यक्त की है। महाभारत में इस विधा का अनुकरण अनुशासनपर्व में किया गया है। अनुशासनपर्व में जिन ब्राह्मणों को पंक्तिदूषक कहा गया है, उनमें से मुख्य वे हैं जो यम-नियमों का पालन नहीं करते।[५२] प्रतिग्रह को निषिद्ध घोषित करते हुए संयम को तपस्या की सुरक्षा का मुख्य साधन माना गया है और दर्शाया गया है कि लोभ करने से ब्राह्मण का तपस्यारूपी धन नष्ट हो जाता है।[५३] अनुशासनपर्व में युधिष्ठिर को दिए गए बहुधा उपदेश उनके अपने अनुभव का सार है। उनके अनुसार अहिंसा का पालन समस्त यज्ञदानों, तीर्थस्नानों तथा अन्य दानों में श्रेष्ठतर है--

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु चाप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया।। [५४]

अनुशासनपर्व में उपलब्ध धर्मपालननिर्देश सर्वथा स्मृतिसम्मत हैं। इसके अन्तर्गत जो राजधर्म, आश्रमधर्म तथा वर्णधर्म की चर्चा उपलब्ध होती है उस पर स्मृतियों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।[५५] यम-नियमों से युक्त प्राणियों को कर्मबन्धन से मुक्त तथा स्वर्गगामी दर्शाकर स्मृतिकारों की भाँति व्यास ने प्राणियों में यम-नियमों को पुरस्कार्य दर्शाकर उनके पालन के संस्कार जगाए हैं। इस वर्णन की विशेषता इसके महेश्वराख्यात होने में निहित है।[५६] अनुशासनपर्व का सदाचार वर्णन पूर्णतया स्मार्त शैली में हुआ है। इसमें विविध कर्मों के लिए अथवा भिन्न भिन्न प्रकार की अनासक्ति के लिए विशिष्ट तिथियाँ निर्दिष्ट की गई हैं। उदाहरणार्थ अनुशासनपर्व दोनों पक्षों की अमावस्या, पौर्णमासी, चतुर्दशी और अष्टमी को ब्रह्मचर्य व्रत के निर्वाह का निर्देश देता है। इसमें सदाचारवर्णन भी स्मार्त

विधि से किया गया है। तदनुसार ही सदाचारपालन को शतवर्षीय जीवन का स्रोत तथा इसके विरोध को आयुक्षय का कारण एवं नरकताडना से दण्डनीय माना गया है। इसमें सदाचारश्लाघा के लिए जो विधि अपनाई गई है उसी का अवतरण पौराणिक साहित्य में उपलब्ध होता है। इसके सदाचारवर्णन में पर्यावरणसंरक्षण के निर्देश भी उपलब्ध होते हैं, जो आज भी प्रासंगिकता से युक्त हैं।[५८] इस पर्व में उपलब्ध सम्पत्तिविभागवर्णन भी स्मार्तपरम्परा का अनुकरण ही सिद्ध होता है।[५९] अनुशासनपर्व का तिर्यक्- योनिविधान लगभग याज्ञवल्क्यस्मृति का पुनरुद्धरण जान पड़ता है। इसमें विविध निकृष्ट कर्मों के लिए अगले जन्म में विविध हीन योनियों को भोगना अवश्यम्भावी दर्शाया गया है। हीन योनि का विधान मात्र अधर्मयुक्त पुरुषों के लिए हुआ है। इसका विस्तृत वर्णन यह सिद्ध करता है कि जिस प्रकार मनु तथा याज्ञवल्क्य ने अल्पज्ञों में धर्म के संस्कार जगाने के लिए अधर्मजन्य दुष्परिणामों का मनोवैज्ञानिक आश्रय लिया है, उसी का अनुकरण व्यास ने भी किया है।

महाभारत में यम-नियम-संस्तुतिविषयक विहंगावलोकन से यह सिद्ध हो जाता है कि महाभारतकार ने महाभारत में समाज के प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों के लिए पूर्णत्वप्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करने का सफल प्रयास किया है। इस रचना में उन्होंने महासागर को गागर में बांधकर यह सिद्ध कर दिया है कि किसी भी विषय की सर्वग्राह्यता के लिए व्याख्या की विशदता इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती जितनी कि उसकी सर्वबोधगम्यता के लिए प्रयुक्त की गई युक्तियाँ। उनके अनुभव की व्यापकता, दृष्टिकोण की भव्यता, अभिव्यञ्जना शैली की अनन्यता एवं संकल्प ने इस ग्रन्थ को एक ऐसे महारत्नों के सागर का रूप दे दिया है जिसमें शुद्ध मानसिकता से युक्त प्राणी पहली ही डुबकी में कोई अनबिद्ध रत्न ढूंढने में समर्थ हो जाता है। इसी भाव से अनुप्रेरित होकर मैंने महाभारत के यम-नियम-विधान की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि पर गवेषणात्मक प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

हमारी संस्कृति में जिन पाँच यमों और पाँच नियमों का पालन अपरिहार्य माना गया है उनके नाम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। महाभारत में इनका उल्लेख लगभग सभी मानवाचारसम्बन्धी पर्वों में व्यापक रूप में उपलब्ध होता है। हो सकता है कि मेरी लेखनी से तद्विषयक कई सन्दर्भ अस्पृष्ट भी रह गए हों, क्योंकि मेरा आशय महाभारत में यम-नियम वर्णन नहीं, अपितु महाभारत में संस्तुत यम-नियमों की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि की

गवेषणा है। यह प्रयास तेरह अध्यायों में निबद्ध है। इसका श्रीगणेश आत्मिकी से होता है जिसमें मैंने अपने विषय की प्रेरणाविषयक उत्कंठा का कारणान्वेषण करने की सफल चेष्टा की है। वस्तुतः जिस प्रकार आज के युग में किए जाने वाले आयुर्वेदौषधि के रोगनिवारक शक्तिविषयक प्रयोगों के परिणामस्वरूप हमारी चिरकाल से अवहेलित अमृतसंजीवनी विष्णुरूपा नीम अपनी चिरविस्मृत प्रतिष्ठा को प्राप्त करने में समर्थ हो गई है, उसी प्रकार हमारी सनातन संस्कृति में निर्दिष्ट सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक भेदविषयक, वर्गविषयक एवं भौगोलिक सीमाविषयक समस्याओं का समाधान उन वैयक्तिक संयमों और सामाजिक अनुशासनों की पुनःप्रतिष्ठा और कार्यान्वयन में मिलना संभव है जो युगान्तर की धूल तथा भौतिकतावादजन्य संकीर्ण दृष्टिकोण की धूल से उत्तरोत्तर धूलिधूसरित होते चले गए। आज के युग की प्रदूषित मानसिकता का मुख्य कारण भी यही है। जब कभी सभ्यता को प्रगति की दासी की भूमिका निभानी पड़ती है तो मनुष्यता विनाश के कगार पर आ खड़ी होती है। आज की परिस्थितियाँ भिन्न नहीं। प्राणी की प्राथमिकताएं उत्तरोत्तर संकोच को प्राप्त होती जा रही हैं। आज के ध र्म को उदर धर्म की संज्ञा देना अतिशयोक्ति नहीं। मेरे विचार से यदि आज की प्रगतिभ्रान्त मानवता हमारी सनातन संस्कृति के अक्षय वट की शरण ले तो उसका प्रगतिजन्य समस्याओं द्वारा उत्पन्न समस्त परिताप स्वयं शान्त हो जाएगा। प्रथम अध्याय का सम्बन्ध इसकी प्ररोचना से है, जिसमें ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का संक्षिप्त परिचय उपलब्ध होता है। दूसरे अध्याय का नाम विषयप्रवेश है, जिसमें यम-नियमों के अवतरण, उनकी व्युत्पत्तिविषयक व्याख्या, क्रमविषयक औचित्य तथा उनके संक्षिप्त स्वरूप का विवेचन किया गया है। अध्याय संख्या तीन से सात तक यमों का क्रमबद्ध विवेचन तथा महाभारत में संस्तुत यमों की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि की गवेषणा उपलब्ध होती है। अध्याय संख्या आठ से बारह तक नियमों का क्रमबद्ध वर्णन, श्रौत तथा स्मार्त साहित्य में एवं महाभारत में उनकी महत्त्वप्रशस्ति की चर्चा उपलब्ध होती है। अन्तिम अध्याय का विषय उपसंहार है, जिसमें वर्ण्यविषयसम्बन्धी निष्कर्ष और आज के युग में इसकी उपादेयता का संक्षिप्त उल्लेख उपलब्ध होता है। मेरा विश्वास है कि मेरा यह प्रयास आज के युग में फैलती हुई विषमताविषयक, भेदविषयक, आस्थाविषयक तथा नैतिकताविषयक समस्याओं के फफोलों पर शीतल चन्दन के लेप का काम करेगा।

सन्दर्भ

१. अष्टाध्यायी, ४.२.५६.
२. आदिपर्व, ५६.३०.
३. हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० २६७.
४. आदिपर्व, १.२०८–२०६.
५. हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ० २६६.
६. आदिपर्व, १.४६–४८.
७ यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम।।
अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचमत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ।। आरण्यकपर्व, २६८,७–८.
८. गीता, कर्मयोग रहस्य, पृ० ५३३.
६. शान्तिपर्व, ६६.४.
१०. वही, ७२.७.
११. वही, १५७.७ १७.
१२. शान्तिपर्व, १६२.६–१५.
१३. वही, १६२.१८–२१.

१४. वही, १६२.२३.
१५. शान्तिपर्व, १६८.२.
१६. सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम्।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला।। वही, १६८.५१.
१७. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।। वही, १७१.५१; तैत्तिरीयोपनिषद्, २.८.
.. शान्तिपर्व, १८५.१७–१८.
१६. न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियेषु विभागशः ।
तत्र तत्र विसृष्टेषु दुर्जयेष्वकृतात्मभिः।। वही, १८७.५६, कठोपनिषद्, १.३.३–६.
२०. वासुदेवः सर्वमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं दानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम्।। वही, २०३.८.
२१. वही, २०८.६.७.
२२. धृतिमानात्मवानबुद्धिं निगृहीयादसंशयम् ।
मनो बुद्धया निगृहीयाद्विषयान्मनसात्मनः ।। वही, २०८.१७.
२३. यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तदैवास्य प्रसीदन्ति सर्वार्था नात्र संशयः।। वही, २१६.७.
२४. वही, २२२.१२–१५.
२५. गृहस्थो ब्रह्चारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
यथोक्तकारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ।। वही, २३४.१७.
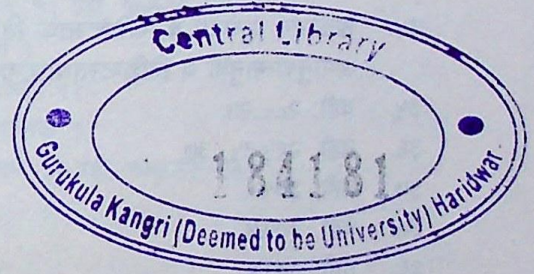
२६. शान्तिपर्व, २३५.२–४.

२७. वही, २३६.२६.

२८. नैव स्त्री न पुमानेतन्नैव चेदं नपुंसकम्।
अदुःखमसुखं ब्रह्म भूतभव्यभवात्मकम्।। वही, २४२.२२.

२६. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ।। वही, २५४.३२; यजुर्वेद, ४०.६.

३०. देवयाना हि पन्थानश्चत्वारः शाश्वता मताः ।
तेषां ज्यायःकनीयस्त्वं फलेषूक्तं बलाबलम् ।। वही, २६०.१४.

३१ परेषां यदसूयेत न तत्कुर्यात्स्वयं नरः ।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ।। वही, २७६.२३.

३२. धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ।। वही, २८२.८.

३३. वीतरागो जितक्रोधः सम्यग्भवति यः सदा ।
विषये वर्तमानोऽपि न स पापेन युज्यते ।। वही, २८७.१०.

३४. अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्टस्तथा तितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषान्मानुषो वै विशिष्टस्तथाज्ञानाज्ज्ञानवान्वै प्रधानः।। वही, २८८.१५.

३५. वही, २८८.२७.

३६. वही, २६५.३५, ३७.

३७. वही, ३०१.१.

३८. वही, ३०१.४.

३६. वही, ३०१.५.

४०. वही, ३०१.१७–२०.

४१. साङ्गोपाङ्गानि यदि पञ्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः।। वही, ३०६.४८.

४२. तथा वेद्यमवेद्यं च वेदविद्यो न विन्दति ।
स केवलं मूढमतिर्ज्ञानभारवहः स्मृतः ।। वही, ३०६.५०.

४३. यमे च नियमे चैव द्वेषे कामे परिग्रहे।
माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुम्बिभिः।। वही, ३०८.४१.

४४. आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति कैंचन्ये नास्ति बन्धनम्।
कैंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते।। वही, ३०८.५०.

४५. कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ।। वही, ३०६.१६.

४६. धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते बलेन किं येन रिपून्न बाधते।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्किमात्मना यो न जितेन्द्रियोवशी।। वही, ३०६.६१.

४७. वही, ३१३.२७.

४८. वही, ३१३.२८.

४६. शान्तिपर्व, ३१६.५–१६.

५०. क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटाकराम् ।
त्यागवाताध्वगां शीघ्रां बुद्धिनावा नदीं तरेत् ।। वही, ३१६.३६.

५१. वही, ३१८.१.

५२. अनुशासनपर्व, ६०.६–७.

५३. प्रतिग्रहे संयमो वै तपो धारयते ध्रुवम् ।
तद्धनं ब्राह्मणस्येह लुभ्यमानस्य विस्रवेत् ।। वही, ६४.३१.

५४. वही, ११७.३६.

५५. वही, १२८.४६.

५६. वही, १३२.६–१४.

५७. ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्रातिलङ्घिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ।।
विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ।। वही, १०७.११–१२.

५८. पुरीषमूत्रे नोदीक्षेन्नाधितिष्ठेत्कदाचन ।
उदक्यया च संभाषां न कुर्वीत कदाचन ।।
नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात्कदाचन ।। वही, १०७.२२–२३.

५९. वही, १०८.१२–१३.

द्वितीय अध्याय
विषय-प्रवेश

श्रौत साहित्य

भारतीय संस्कृति की सनातनता का श्रेय इसकी सुदृढ़, सशक्त, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक प्रासंगिकता से सम्पन्न आधारशिला श्रुतिभगवती को जाता है। इस साहित्य में विश्व की समस्त समस्याओं के समाधान के साधन उपलब्ध हैं। इसका श्रीगणेश साहित्यात्मा पुरुष द्वारा अन्य सृष्टि की भाँति इसकी सृष्टि से स्वीकार किया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख मिलता है–'जिस प्रकार चारों ओर से रखी हुई गीली लकड़ी में अग्नि से पृथक् धुआं निकलता है, ठीक उसी प्रकार इस महान् सत्ता से श्वास के रूप में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण तथा उपनिषद् आदि प्रादुर्भूत हुए।[1] शतपथब्राह्मण ने वेदों का निस्सरण स्रोत अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न मोक्ष से पुनरावर्तित तपःपूत ऋषियों की समाधि स्वीकार किया है–**'तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।**[2] वेदोत्तर साहित्य वेदप्रशस्ति को समर्पित सिद्ध होता है। याज्ञवल्क्य ने वेद को समस्त सत्य विद्याओं का निधान माना है।[3] उनके अनुसार अन्य समस्त विद्याएं इन्हीं से विकसित हुई हैं। मनु ने इसका अक्षरशः समर्थन करते हुए वेद को पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन चक्षु सिद्ध किया है–

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।।[4]

सायणाचार्य के अनुसार वेद का वेदत्व इसी में है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध एवं अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है।[5] इससे अभिप्राय वेद को ज्ञानचक्षु सिद्ध करना है।

वेद

वैदिक संहिताओं का विहंगावलकोन वेद को 'यथा नाम तथा गुण' की सार्थकता से युक्त सिद्ध करता है। मानवजीवन के क्षेत्र का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं जो इनमें संकलित सामग्री से अस्पृष्ट रह गया हो। इनमें समस्त विश्व की पूर्णत्वप्राप्ति के लिए सार्वभौमिक साधनों का सुनियोजन उपलब्ध होता है। ये मानव की अन्तर्बाह्य शक्तियों को विकास का चरमोत्कर्ष प्रदान करने में समर्थ हैं। इनका प्रणयन मनुष्य के समग्र परिष्कार के लिए हुआ है। इसी आधार पर याज्ञवल्क्य ने वेदत्रयी के अन्तर्गत आने वाले ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद को वाग्वेद, मनोवेद तथा प्राणवेद की संज्ञा दी है– **'त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः।**[६] यह धारणा भी यजुर्वेद से निःसृत है। यजुर्वेद में इसके लिए वेदचतुष्टय की शरण लेने का आग्रह उपलब्ध होता है, जो प्राणी में वाणी और बल, ऐक्य और बल तथा प्राणशक्ति के बल को स्थिरता से युक्त करने में समर्थ है। तदनुसार ही वाणी द्वारा ऋग्वेद की, मन द्वारा यजुर्वेद की, प्राण द्वारा सामवेद की एवं श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा चक्षुर्वेद (अथर्ववेद) की शरण लेने का आग्रह उपलब्ध होता है–

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ।[७]

ऐतरेयब्राह्मण में स्पष्टतया लिखा है कि वैदिक संहिताओं का लक्ष्य मनुष्य की वाणी तथा मन को सुसंस्कृत करना है। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद द्वारा वाणी पर संस्कार होकर एक भाव सुसंस्कृत होता है और अथर्ववेद द्वारा मन पर संस्कार होकर दूसरा भाग सुसंस्कृत होता है।[८] अथर्ववेद में किए जाने वाले कर्मों के हेतु आत्मिक शौच, मानसिक सन्तोष, बौद्धिक कुशाग्रता, चित्तसम्बन्धी एकाग्रता तथा अहंकार का परिहार अनिवार्य है। तदनुसार ही अथर्ववेद को मनुष्य के मन को सुसंस्कृत करने की योग्यता से युक्त दर्शाया गया है। शतपथब्राह्मण के अनुसार वेदाध्ययन मनुष्य को अविनाशी तथा अक्षय लोक प्राप्त कराने में सर्वथा समर्थ है। इसमें इस कथन का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है कि धन से परिपूर्ण पृथ्वी के दान करने से जितना फल प्राप्त होता है, वेदों के अध्ययन से उससे भी बढ़कर अविनाशी तथा अक्षय लोक को मनुष्य प्राप्त करता है।[९] वेद **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के स्वप्न के कार्यान्वयन का सर्वप्रथम प्रयास सिद्ध होते हैं। इनकी अनन्यता इनकी सांकेतिकता में निहित है। इनमें प्राणी के वाचिक, मानसिक, दैहिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए समस्त कर्तव्यों तथा अकर्तव्यों को देवगुण एवं

देवशत्रुता दर्शाकर प्राणियों में उनके पालन तथा निषेध का मनोवैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण उपलब्ध होता है। इनमें साम्प्रदायिक सहिष्णुता, एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा, जीव और ब्रह्म में सम्बन्ध की स्थापना तथा प्राणियों में संघसमर्थक संस्कारों के प्रादुर्भाव को समर्पित विविध प्रसंग उपलब्ध होते हैं। कहीं **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** के संकेत का सुनियोजन उपलब्ध होता है, तो कहीं **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** के रहस्योद्‌घाटन का।

वेद की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके स्वीकार की गई है। यह इसे ज्ञान का पर्यायवाची सिद्ध करती है। सिद्धान्तकौमुदी में 'विद्' धातु के स्वीकृत चार अर्थों के अनुसार वेद वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण का पर्याय, धर्म एवं ब्रह्म का समानार्थक, 'विद्' धातु से 'अच्' प्रत्यय लगाकर धर्म एवं ब्रह्म के विचार का द्योतक तथा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति का लाभार्थक सिद्ध होता है–

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्।।[१०]

दयानन्दभाष्य में वेद की व्याख्या इन शब्दों में उपलब्ध होती है–**'विदन्तिजानन्ति, विद्यन्तेभवन्ति, विन्तेविचारयति, विन्दन्तेलभन्ते सर्वे मनुष्याः सत्विद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति, ते वेदाः'**।[११] दयानन्द के अनुसार वेद मनुष्यों को सत्य विद्या का ज्ञान ही नहीं देते अपितु प्राप्त भी करवाते हैं। वाचस्पत्यम् में भी वेद की व्युतपत्ति **'विद् अच् घञ् वा'** से स्वीकार की गई है। तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार **'वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं तद् वेदस्य वेदत्वम्'**[१२] ही वेद की व्याख्या है। तैत्तिरीयब्राह्मण में **'वेदिर्देवेभ्यो निलायत'। तां वेदेनान्विन्दन्। वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीम्'**[१३] का उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में वेद की याज्ञिक अर्थप्रक्रिया का समर्थक सिद्ध होता है। अमरकोश के अनुसार **'विदन्ति धर्मादिकमनेनेति वेदः'**[१४] ही वेद है। वेद को धर्म के ज्ञान का स्रोत मानने वाली परिभाषाएं इस प्रकार हैं–**'विन्दत्यनेन धर्मं वेदः'**।[१५] **'विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति वेदः'**।[१६] **'निःश्रेयसकराणि कर्माण्यावेदयन्ति वेदाः'**।[१७] **'वेदयतीति वेदः।'**[१८] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार वेद वे ग्रन्थ हैं, जिन पर प्रत्यक्ष आदि से सिद्ध न होने वाले परन्तु शब्द प्रमाण से विहित कर्मों के उपदेश की समाप्ति होती है।[१९] अन्यत्र वेद को इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए अलौकिक उपायों को बतलाने वाला ग्रन्थ माना गया है।[२०] वेद की व्युत्पत्तिविषयक

परिभाषाएं एवं शास्त्रीय परिभाषाएं इन्हें समग्र ज्ञान का अनन्त कोश सिद्ध करती हैं।

वैदिक वाङ्मय के वैशिष्ट्य का प्रमाण इसके भाष्यविषयक विविधार्थ से स्वयं सिद्ध हो जाता है। वेदमनीषियों ने ऋचाओं, कण्डिकाओं तथा मन्त्रों को अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अर्थमण्डित किया है।वेदमन्त्रों में अर्थभेद के जो मुख्य कारण स्वीकार्य हैं, वे हैं–क्रियाओं द्वारा विविधार्थ वहन तथा वेदमन्त्रों में निज रुचि-तुष्टि हेतु उन मान्यताओं का अन्वेषण, जिनकी गवेषणा परिशीलक का मुख्य विषय रही हो। तदनुसार ही वेदमन्त्रों को कल्पवृक्षवत् विविधार्थदायक स्वीकार किया गया है। धात्वर्थ को दृष्टि में रखते हुए 'देव' शब्द विविध अर्थों का द्योतक है। यह सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवताओं का पर्याय ही नहीं, अपितु माता-पिता, आचार्य, अतिथि, विद्वद्गण एवं इन्द्रियों आदि का भी बोधक है। इसी प्रकार यज्ञ से अभिप्राय मात्र सुगन्धित पदार्थों का होम ही नहीं, अपितु यह आत्मयज्ञ, शिल्पयज्ञ और कृषि आदि अन्य यज्ञों का भी वाचक है। इतना ही नहीं, वेद में धनवाचक शब्द भी विविधार्थ द्योतक है। इसका क्षेत्र मात्र भौतिक धन तक सीमित न होकर विद्याधन, राज्यधन, मानसिक सम्पदा एवं आत्मिक सम्पदा तक व्यापक है। वैदिक संहिताओं में संकेतित अंस्, रप्स्, दुरित्, रिष्टि, रक्षस्, वृत्र तथा यातुधान आदि शब्द मात्र वैयक्तिक दोषों के ही सूचक नही अपितु सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रों के दोषों को भी इंगित करते हैं। वेदों की गुह्यता का मुख्य कारण भी यही है। जिस प्रकार विविध रंगों के शीशे से बने जलपूर्ण घटों में सूर्य का प्रतिबिम्ब घट का रंग ग्रहण करता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार भाष्यकार की रुचि के अनुसार वेदमन्त्रों का भी अर्थ वैविध्ययुक्त हो जाता है। वेदार्थप्रक्रिया का विवेचन ऋचाओं को विविधार्थ युक्त सिद्ध करता है। आधिदैविक प्रक्रिया में वेद का अर्थ सृष्टि की उत्पत्ति एवं तद्गत पदार्थों के गुणपरक होता है। आध्यात्मिक प्रक्रिया में मन्त्रों का अर्थ शरीरविज्ञान, आत्मविज्ञान एवं परमात्माविषयक होता है। आधियाज्ञिक प्रक्रिया में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त सम्पूर्ण यज्ञरूपी कर्मकाण्ड ही मन्त्रों के अर्थ का विषय है। यास्क के अनुसार **'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह–याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा'** ही त्रिविध वेदार्थ द्योतन है। यह अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ है। दुर्गाचार्य भी इसी वेदार्थ के समर्थक हैं। हरि स्वामी का मत है कि अधियज्ञविषयक मन्त्र ही आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ का वहन करते हैं। वेदार्थ की चतुर्थ प्रक्रिया व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया है। मानवसमाज से सम्बद्ध

अर्थ को प्रधानता देकर वेद के व्यावहारिक अर्थ का उद्‌घाटन ही व्यावहारिक अर्थप्रक्रिया माना जाता है। वेद का सर्वप्रथम स्कन्दस्वामी द्वारा स्वीकार किया जाता है। इसका प्रमाण सायण, देवराजयज्वा, आत्मानन्द तथा वेंकटमाधव प्रभृति विद्वानों द्वारा किए गए भाष्यों में स्कन्दस्वामी के उद्धरण से स्वयं सिद्ध हो जाता है। नारायण को दूसरा भाष्यकार माना जाता है। नारायण नाम के भाष्यकार पांच हैं। नारायण के अतिरिक्त चार अन्य नाम हैं– आश्वलायन श्रौतवृत्तिकार नारायण, गोभिल गृह्यवृत्तिकार नारायण, आश्वलायन गृह्यविवरणकर नारायण तथा शांखायन गृह्यभाष्य का कर्ता नारायण। उद्‌गीथ तीसरे भाष्यकार हैं। अन्य भाष्यकारों के नाम हैं–हस्तामलक, वेंकटमाधव, भट्‌टगोविन्द, लक्ष्मण, धानुष्कयज्वा, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, सायण, रावण, मुद्‌गिल, भरतस्वामी, वरदराज, देवस्वामी भट्‌टभास्कर, उवट, हरदत्त, सुदर्शनसूरि तथा दयानन्द सरस्वती। सुबोध भाष्यकारों में दाभोदरपाद सातवलेकर की गणना प्रमुख भाष्यकारों में आती है। इनके भाष्य में वेद की व्यावहारिक अर्थप्रक्रिया का प्राधान्य उपलब्ध होता है। इन्होंने वेदमन्त्रों के भावार्थ को युगीन आवश्यकता-अनुकूलता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। परिशीलनाधीन **'महाभारत की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि'** सातवलेकरकृत सुबोध भाष्याश्रित है। इसमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थों का मणिकाञ्चन संयोग इसके वैशिष्ट्य को सिद्ध करता है। वेदमन्त्रों की गुह्यता के सरलीकरण का सफल प्रयास सातवलेकर जी की विलक्षण बुद्धि की तीक्ष्णता का ही परिचायक नहीं, अपितु उस समाजभावना एवं राष्ट्रभावना का भी द्योतक है, जिसकी प्राणियों में जागृति आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इसका श्रेय उनकी परम आस्तिकता एवं वैदिक मान्यताओं में विशिष्ट आस्था को प्राप्त है। उनका सुबोध भाष्य उस लोकहित को समर्पित है, जो वेदों का प्रतिपाद्य विषय है। इनके भाष्य में ऋचाओं का सदर्थ उपलब्ध होता है, अनर्थ नहीं। उन्होंने वेद के उस विश्वास का यथार्थ उद्‌घाटन किया है जो व्यष्टि और समष्टि में समभावना को मानवजीवन के पूर्णत्व का परिचायक घोषित करता है। संहिताओं में रहस्यमयी उक्तियों के सविस्तार भांवार्थ-विवेचन के माध्यम से वे वैदिक ज्ञान को लोकप्रिय ही नहीं, लोकग्राह्य बनाने में भी समर्थ रहे हैं। प्रत्येक संश्लिष्ट सूक्त अथवा अध्याय के अन्त में उसका विस्तृत सुबोध भाष्य दिया गया है। वे वेद को पढ़ने और सुनने का ही विषय नहीं मानते, अपितु जीने का विषय मानते हैं। आज के युग में वैदिक मान्यताओं को आचारान्वित करना ही आज की सबसे बड़ी आवश्यकता

है। महाभारत में पुनः पुनः इसी सत्य पर बल दिया गया है। व्यास ने महाभारत की रचना करके इसी संकल्प की पूर्ति की है। यही तथ्य आज के युग में महाभारत में प्रतिपादित वैदिक संहिताओं के सरलीकरण की उपादेयता को स्वयं सिद्ध करता है। संश्लिष्ट मान्यताओं की व्याख्या करते समय उत्तरवर्ती साहित्य के सम्बन्धित सन्दर्भों का उल्लेख वैदिक मान्यताओं की सार्वकालिक प्रासंगिकता को ही सिद्ध नहीं करता, अपितु आज के युग में उनके कार्यान्वयन की आवश्यकता को भी स्पष्ट करता है। आगामी अध्यायों में महाभारत में प्रतिपादित यमनियम-विधान पूर्णतया तद्विषयक वैदिक मान्यताओं का समर्थन, अनुमोदन एवं संवर्धन सिद्ध होता है। महाभारतकार ने पुनः पुनः धर्मविषयक वैदिक मान्यताओं में अपनी असीम निष्ठा व्यक्त की है। वेद महाभारत की श्रौत पृष्ठभूमि का आधारतत्त्व सिद्ध होते हैं।

उपनिषद्

वेद के अन्तर्गत वेद-वेदांग ही नहीं, अपितु उन पर लिखे गए अनेक व्याख्यात्मक ग्रन्थ भी आते हैं। इनमें से एक ग्रन्थसमुच्चय ब्राह्मणग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध है। इनके दो भाग हैं। १. शुद्ध ब्राह्मण–जिनमें वेदमन्त्रों की व्याख्या तथा कर्मकाण्ड प्रतिपादित हैं। २. आरण्यक–जिनमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन पाया जाता है। इसी चिन्तन का चरमोत्कर्ष आरण्यकग्रन्थों के उपनिषद् खण्ड में प्राप्त होता है। प्रत्येक ब्राह्मण के अन्त में आरण्यक परिशिष्ट के रूप में जुड़ा हुआ है तथा प्रत्येक आरण्यक के अन्त में उसका उपनिषद् सम्बद्ध है।[२१] सिद्धान्ततः प्रत्येक उपनिषद् किसी न किसी वैदिक शाखा के ब्राह्मण से सम्बद्ध है–**'एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।**[२२]

व्युत्पत्ति एवं निर्वचन

उपनिषद् पद का अर्थ एवं निर्वचन उसके मूल धात्वर्थ पर ध्यान दिए बिना असंभव है। उप तथा नि उपसर्गपूर्वक षद्लृ (सद्) धातु से क्विप् प्रत्यय का प्रयोग करने से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। षद्लृ धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है।[२३] (क) विशरण अर्थात् नाश होना (ख) गति अर्थात् प्राप्त होना, **'गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति'** (ग) अवसादन अर्थात् शिथिल होना। सद् धातु के साथ आदि में उप तथा नि उपसर्गों का प्रयोग करके अन्त में क्विप् प्रत्यय का योग किया जाता है। अर्थात् उप+नि+सद+क्विप्=उपनिषद्। उपनिषद् शब्द की सिद्धि के पश्चात् उपनिषद् की व्युत्पत्ति अथवा निर्वचन निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–**उप ब्रह्मसामीप्यम्**

नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद्।" अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्म का सामीप्य या समीपता (नि) निश्चित रूपेण प्राप्त हो, उसे उपनिषद कहा जा सकता है।[२४] यह निर्वचन ब्रह्मज्ञान को ब्रह्म की सामीप्यप्राप्ति का एकमात्र साधन सिद्ध करता है। यही ब्रह्मविद्या के नाम से भी प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में जो विद्या अथवा ज्ञान ब्रह्म का सामीप्य अथवा साक्षात्कार कराने में समर्थ हो, वही उपनिषद् है। तदनुसार ही उस विद्या अथवा ज्ञान का प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् तत्त्वज्ञान के अनन्य कोशों के नाम से प्रख्यात हैं। उपनिषद् के इस निर्वचन में केवल गति अर्थ का प्रतिपादन होता है।

षद्लृ धातु का दूसरा अर्थ है – 'विशरण' अर्थात् नाश होना। ब्रह्म की सामीप्यप्राप्ति के परिणामस्वरूप विशरण अज्ञान के नाश का द्योतक है। तदुपरान्त जन्म और मृत्यु के बन्धन का शिथिल पड़ जाना ही षद्लृ धातु के अवसादन अर्थ का परिचायक सिद्ध होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या का प्रथम चरण ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए कृतसंकल्प होना है। दूसरा चरण इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ब्रह्मप्राप्ति हेतु अज्ञान के विनाश की प्रयत्नशीलता का सूचक है। इसकी पराकाष्ठा ईश्वर के साक्षात्कार के उपरान्त जन्म और मृत्यु के बन्धन की शिथिलता में निहित है। वस्तुतः इससे अभिप्राय हृदय की समस्त ग्रन्थियों के नाश के परिणामस्वरूप अज्ञान का सर्वथा परिहार है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।[२५]

ऐतरेयारण्यक में उप तथा नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु का बैठने के अर्थ में प्रयोग हुआ है। यह उपनिषद् को शिष्य का शिक्षाग्रहणार्थ गुरु के समीप बैठने का वाचक सिद्ध करता है। यह शिक्षा साधारण शिक्षा न होकर ब्रह्मविद्या की शिक्षा है। जिन उपनिषदों में प्रयुक्त यह शैली उपनिषद् को इस अर्थ का द्योतक घोषित करती है, उनमें से प्रमुख हैं–प्रश्नोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, केनोपनिषद् एवं कठोपनिषद् आदि। श्वेताश्वतरोपनिषद् में उपनिषद् का अर्थ रहस्यमय सिद्धान्त तथा गुह्यविद्या भी स्वीकार किया गया है– **'यद्वेदगुह्योपनिषत्सुगूढं तदब्रह्म वेदयते ब्रह्मयोनिम्।'**[२६] इसका समर्थन उपनिषदों में उपलब्ध **'इति रहस्यम्,' 'इति उपनिषदम्'** के पुनः पुनः प्रयोग में मिलता है। यह उपनिषदों में ब्रह्म, जीव एवं जगत् के वर्णन की नितान्त रहस्यमयता का द्योतक है। इसी आधार पर डॉ. जयदेव वेदालंकार ने उपनिषद् के स्थान

पर रहस्य शब्द के प्रयोग को आश्चर्य की बात नहीं माना।[२७] आचार्य शंकर उपनिषद् को षद्लृ धातु से निष्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार भी उपनिषद् ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक सिद्ध होता है।[२८] यह मत ब्रह्म को उपनिषदों का प्रतिपाद्य ही नहीं, जिज्ञासित वस्तु भी सिद्ध करता है। आचार्य शंकर ने तैत्तिरीयोपनिषद् के भाष्य में इसी मत का समर्थन करते हुए उपनिषद् का अर्थ विद्या ही लिया है। ब्रह्म के समीप ले जाने वाली होने के कारण अथवा उसमें श्रेय ब्रह्म की उपस्थिति के कारण विद्या ही उपनिषद् है। उस विद्या का प्रतिपादक होने के कारण ग्रन्थ का नाम भी उपनिषद् है।[२९] उपर्युक्त निर्वचनसम्बन्धी विवेचन से जो निष्कर्ष निकलता है, उसके अनुसार जिस विद्या से जन्म और मृत्यु का तथा संसार के बन्धन अथवा अज्ञान का उच्छेद होता है, उसी का नाम उपनिषद् है।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय

उपनिषत्साहित्य को दिया गया अन्य नाम वेदान्त है। डा. भोखनलाल आत्रेय के अनुसार "वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद् कहलाता है। अतएव इसको वेदान्त (वेदों का अन्त) कहते हैं। यह साहित्य दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।"[३०] डा. एस. राधाकृष्णन् के अनुसार–"The Upanishads form concluding portion of the vedas and are therefore called the vedants or the end of the vedas, a denomination which suggests that they contain the essence of the Vedic teachings."[३१] उनका मत है कि उपनिषद् उस नींव का रूप हैं, जिसके ऊपर भारतीय दर्शनशास्त्र और धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं। उपनिषदों की गणना भारतीय साहित्य में शीर्षस्थान को प्राप्त प्रस्थानत्रयी में आती है। उसमें इन्हें प्रथम स्थान प्राप्त है। इनका प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म के स्वरूप, आत्मा के परिचय, परलोक के रहस्य, उपासना की विधि, उपासना द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति, सृष्टि के रहस्य, आत्मा और परमात्मा के दर्शन के उपाय तथा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के साधनों का सुनियोजन है। इनका क्षेत्र यहीं तक सीमित न होकर परा और अपरा विद्या के साथ कर्मवाद, ज्ञान की गरिमा, अद्वैत की भावना तथा विश्वबन्धुत्व की भावना के निदर्शन तक व्यापक है। ब्लूमफील्ड ने समस्त भारतीय चिन्तन, जिसमें बौद्ध धर्म भी सम्मिलित है, को उपनिषदों से निःसृत स्वीकार किया है।[३२] उपनिषद् भारतीय संस्कृति के ज्योति स्तम्भ हैं। ये मात्र दर्शन ग्रन्थ ही नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों, जीवनमूल्यों तथा नैतिक मानदण्डों के भी अनन्य कोश हैं। इनमें रचनाकालीन

सामाजिक संगठन के वर्णन के साथ-साथ कोरे वेदपाठ, जन्मगत वर्णव्यवस्था, हिंसात्मक यज्ञवाद तथा आडम्बरशील जीवन का कटु निषेध भी उपलब्ध होता है। अतः इनमें वैयक्तिक आचार को संयमित करने तथा सामाजिक व्यवस्था को अनुशासित करने के लिए वांछित यम-नियमों का उल्लेख उपलब्ध होना स्वाभाविक है।

उपनिषद् : वर्गीकरण

उपनिषदों के चार मुख्य वर्गीकरण सर्वमान्य हैं। इनमें से सर्वप्रथम मैक्डानल द्वारा तिथिक्रम की दृष्टि से अन्तःसाक्ष्य के आधार पर किया गया वर्गीकरण है। इसके अनुसार प्राचीनतम वर्ग में पूर्वापर क्रम से बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकि उपनिषद् आते हैं। द्वितीय वर्ग में कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण उपनिषद् आते हैं। तृतीय वर्ग के अन्तर्गत प्रश्न, मैत्रायणी तथा माण्डूक्य हैं। चतुर्थ वर्ग में परवर्ती आथर्वण उपनिषदों का उल्लेख मिलता है। पाल डॉयसन का वर्गीकरण इस प्रकार है– (क) प्राचीन गद्य उपनिषद–बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि तथा केन। (ख) प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषद्–केन, कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक तथा महानारायण। (ग) उत्तरकालीन गद्य उपनिषद्–प्रश्न, मैत्रायणी, माण्डूक्य आदि। (घ) उत्तरकालीन अथर्वण उपनिषद्–वैष्णव, शाक्त तथा शैव आदि। शान्तिस्वरूप त्रिपाठी का वर्गीकरण वर्णित विषय के क्रमिक विकास पर आश्रित है। (१) (क) उपासनाप्रधान ज्ञानप्रतिपादक उपनिषद् –बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् (ख) आचारप्रधान ज्ञानप्रतिपादक उपनिषद्–तैत्तिरीयोपनिषद्, कौषीतकि उपनिषद् (ग)सृष्टिवक्ताविकासवादी उपनिषद्–ऐतरेयोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् (२) निवृत्ति ज्ञानवादी उपनिषद्–मुण्डकोपनिषद्, कठोपनिषद्, केनोपनिषद्, ईशोपनिषद् (३) पूर्वकालीन समन्वित साधनाप्रधान उपनिषद्–श्वेताश्वतरोपनिषद्, मैत्रायण्युपनिषद् (४) उत्तरकालीन धर्मसाधना प्रधान उपनिषद्–वेदान्त उपनिषद्, योग उपनिषद्, शैव उपनिषद्, शाक्त उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद् तथा अन्य छोटे उपनिषद्।[33] शान्तिस्वरूप द्वारा किया गया वर्ण्य विषय के क्रमिक विकास पर आश्रित वर्गीकरण उपनिषदों में वर्णित उपासना, आचार, सृष्टि के विकास, निवृत्ति ज्ञान, समन्वित साधना एवं धर्मसाधना को उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय घोषित करता है। इन सभी की उपलब्धि समाज के यमन और व्यक्ति के नियमन द्वारा ही संभव है। उपनिषत्साहित्य में मनुष्य के मन, वाणी, कर्म और ज्ञान

को सुसंस्कृत करने के लिए जिन साधनों का प्रावधान उपलब्ध होता है उनमें यम-नियम-निर्वाह की महत्त्वसिद्धि स्वभावतः अन्तर्निहित सिद्ध होती है। षद्लृ धातु द्वारा व्यक्त तीनों अर्थ भी इसी तथ्य के समर्थन को समर्पित हैं कि उपनिषत्साहित्य का रचनोद्देश्य मानव जीवन के समग्र परिष्कार के माध्यम से उसे ब्रह्मसाक्षात्कार कराकर उसके मोक्ष का पथ प्रशस्त करना है। इसके लिए उसे एक ऐसी आचार-संहिता का आश्रय लेना आवश्यक है जो उस पथ में आने वाली बाधाओं के परिहार में सर्वथा सक्षम हो। ये बाधाएं उसकी इन्द्रियविषयक वासनाओं की वृद्धि के परिणामस्वरूप उपस्थित होती है। इनके परिहार का एकमात्र साधन यम-नियमों का पालन है। व्यास ने इसी को भगवद्भाव की प्राप्ति का साधन सिद्ध किया है। अतः वेदों की भाँति उपनिषद् भी महाभारत की श्रौत पृष्ठभूमि सिद्ध होते हैं।

श्रौत तथा स्मार्त साहित्य में अन्तर

लेखन परम्परा का श्रीगणेश साहित्य के प्रादुर्भाव के पर्याप्त समय के पश्चात् हुआ है। इससे पूर्व मानवजीवन की अभीष्ट अपेक्षाओं की पूर्ति के साधनों का एक पीढी से दूसरी पीढी को अन्तरण श्रोत्रेन्द्रियाश्रित रहा है। उस समय विवेकज ज्ञानी एवं महर्षि अपने पूर्वजों से प्राप्त तथा निजी अनुभवजन्य ज्ञान को शिष्यों को कण्ठस्थ करा देते थे। अतः गुरु द्वारा शिष्य को, तदनन्तर उक्त शिष्य के द्वारा अपने शिष्य को सुनाकर कण्ठस्थ करा दिया जाने वाला साहित्य श्रुति साहित्य के नाम से आख्यात है। यह श्रौत साहित्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्निहित ग्रन्थों में वेद तथा तत्सम्बन्धी ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् स्वीकार किए जाते हैं। स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् ऋषिप्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है।[३४] उमेशचन्द्र पाण्डेय के अनुसार स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवणपरम्परा के विषय से स्पष्ट भेद किया जा सकता है। स्मृति सीधे स्मरणशक्ति पर प्रभाव डालती है। उसके लिए किसी विशेष शिक्षा अथवा साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती।[३५] गौतम और बौधायन के अनुसार स्मृति वेद के जानने वालों का स्मरण है।[३६] मनु के अनुसार–**"श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।**[३७] मनु के द्वारा किया गया यह अन्तर श्रौत और स्मार्त साहित्य को भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित करने में सहायक सिद्ध होता है। पी. वी. काणे के अनुसार "स्मृति का तात्पर्य वेद-वाङ्मय से इतर ग्रन्थो–यथा पाणिनीय व्याकरण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रों महाभारत, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति और अन्य ग्रन्थो से है।"[३८] पी. वी. काणे द्वारा किया गया स्मार्त

साहित्य का यह विश्लेषण स्मार्त साहित्य के क्षेत्र को पर्याप्त व्यापकता से सम्पन्न करता है।

स्मृति : व्युत्पत्ति एवं संख्या

महत्त्व की दृष्टि से स्मार्त साहित्य श्रौत साहित्य के बाद दूसरे स्थान पर आता है। स्मृति की व्युत्पत्ति स्मृ___ तथा क्तिन् के योग से हुई है। इसका तात्पर्य स्मरण एवं प्रत्यस्मरण आदि से है। वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार सामान्य अर्थ में स्मृति एवं धर्मशास्त्र में कोई भेद नहीं है।[३९] स्मृतियों की कोई निश्चित संख्या उपलब्ध नहीं। याज्ञवल्क्य के अनुसार धर्मशास्त्रप्रणेताओं की संख्या २० है–

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती।।
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः।।[४०]

पी. वी. काणे का मत है कि मनुस्मृति में उनके अपने अतिरिक्त जिन छः स्मृतिकारों का उल्लेख मिलता है वे हैं–अत्रि, उतथ्य के पुत्र, भृगु, वसिष्ठ, वैखानस एवं शौनक। उन्हीं के एक अन्य उद्धरण के अनुसार गौतमस्मृति में केवल मनु का उल्लेख मिलता है और वसिष्ठस्मृति में पाँच स्मृतियों का। मार्कण्डेयस्मृति में धर्मशास्त्र के जिन आठ प्रणेताओं का उल्लेख उपलब्ध होता है उनके नाम हैं–मनु, गौतम, कश्यप, वेदव्यास, शंखलिखित तथा कात्यायन।[४१] आपस्तम्ब के अनुसार धर्मशास्त्रकारों की संख्या दस है–एक (किसी ऋषि विशेष के लिए उल्लिखित है), कण्व, कुणिक, कुत्स, कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यगणि, श्वेतकेतु तथा हारीत। बौधायन के अनुसार हारीत, ओपजङ्घनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मनु तथा मौद्गल्य ही मुख्य स्मृतियां हैं।[४२] शंख के मत में मनु, विष्णु, यम, दक्ष, उशनस आपस्तम्ब, अंगिरा, अत्रि, बृहस्पति, वसिष्ठ, कात्यायन, पराशर, व्यास, शंखलिखित, संवर्त्त, गौतम, शातातप, हारीत, प्राचेतस ये सभी धर्मप्रवर्तक ऋषि थे। स्मृतियों की संख्या के विषय में याज्ञवल्क्य और शंख में पूर्ण मतैक्य उपलब्ध होता है। भारद्वाजस्मृति में जिन ऋषियों को धर्मप्रवर्तक माना गया है वे हैं–भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, शाण्डिल्य, रोहित, क्रतु, हारीत, गौतम, गर्ग, शंख, शातातप, अंगिरा, मार्कण्डेय, माण्डव्य, कपिल, नारद, शुक्र, जमदग्नि, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र तथा पराशर।[४३] पराशरस्मृति में वसिष्ठ, कश्यप, गार्गी, गौतमी, चौशस, अत्रि, विष्णु, अंगिरस, अक्ष, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, शंख, कात्यायन

तथा प्राचेतस के नामों का उल्लेख है।[४४] पैठीनसि ने ३६ स्मृतिकारों का उल्लेख किया है, वे हैं–मनु, अंगिरा, व्यास, गौतम, अत्रि, उशनस, यम, वसिष्ठ, दक्ष, संवर्त्त, शातातप, पराशर, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत, शंख, कात्यायन, भृगु, प्रचेता, नारद, योगी, बोधायन, पितामह, सुमन्तु, कश्यप, बभ्रु, पैठीनसि, व्याघ्र, सत्यव्रतो, भारद्वाज, गार्ग्य, वार्ष्ययणि, जाबालि, जमदग्नि, लौगाक्षि तथा ब्रह्म।[४५]

उपर्युक्त संख्यावैविध्य यह सिद्ध करता है कि कालक्रम के साथ स्मृतियों की संख्या वृद्धि को प्राप्त होती रही। वस्तुतः स्मृतिग्रन्थ अलग-अलग समय पर और संभवतः अलग-अलग स्थानों पर लिखे जाते रहे। इसके परिणामस्वरूप निबन्धकारों के समय तक स्मृतियों की संख्या १०० के लगभग हो गई है।[४६]

स्मृतियों का प्रतिपाद्य विषय

स्मृतियों की गणना धर्मग्रन्थों में आती है। इनका मुख्य विषय धर्म का सैद्धान्तिक विवेचन तथा तद्विषयक कर्तव्याकर्तव्य के समर्थन एवं निषेध का निदर्शन है। मनु मुख्य स्मृतिकार माने जाते हैं। उन्होंने स्मृति में धर्मविषयक निर्देशों का प्रतिपादन वेद को अखिल धर्म का मूल मानकर किया है। उनके द्वारा यम-नियमों की संख्या का क्रमनिर्धारण, तद्विषयक व्रत एवं महाव्रत निरूपण, तदुपरान्त विविध वर्ण तथा आश्रम धर्मों के पालन का निदर्शन एवं राजोचित मर्यादासंस्थापन इस स्मृति की विशिष्टता को स्वतः सिद्ध कर देता है। उन्होंने धर्म के प्रत्येक अंग को विशदता, सरलता, सुगमता, व्याख्यात्मकता एवं सर्वग्राह्यता प्रदान करने का सफल प्रयास इन मान्यताओं की श्रौत पृष्ठभूमि के आश्रय में रहकर किया है। महाभारत में व्यास ने स्वयं स्वीकार किया है कि धर्म की जो दस मर्यादाएं मनु द्वारा पालनीय स्वीकार की गई है, महाभारत में उन्हीं को धर्म के दस लक्षण स्वीकार कर प्राणियों से उनके पालन का कान्तासम्मत आग्रह किया गया है। व्यास के इस कथन से महाभारत में प्रतिपादित धर्म स्मार्त पृष्ठभूमि से सर्वथा सम्पन्न सिद्ध होता है। जहाँ तक यम-नियमों के निर्वाह की महत्ता के स्पष्टीकरण तथा इनके अतिक्रमणजन्य दुष्परिणामों के प्रतिपादन का सम्बन्ध है, उसमें समस्त स्मृतियों का पूर्ण मतैक्य उपलब्ध होता है। इसकी विशद चर्चा स्मार्त साहित्य में यम-निदर्शन तथा स्मार्त साहित्य में नियम-निदर्शन इन शीर्षकों के अन्तर्गत आगामी अध्यायों में की गई है। महाभारत में प्रतिपादित सभी यमों तथा नियमों का लक्षणविवेचन एवं उनके निर्वाह में बाधक विविध दोषों का विवेचन सर्वथा स्मार्त साहित्य

के अनुकूल है। इतना ही नहीं, व्यास ने विविध संवादों के माध्यम से दो प्रमुख स्मृतिकारों मनु तथा याज्ञवल्क्य के अपने-अपने धर्मानुभवों को उन्हीं के मुख से व्यक्त करवाकर महाभारत में दिए गए उनके योगदान के प्रति अपना अनुग्रह ही व्यक्त नहीं किया, अपितु स्वयं को उनका समर्थक और अनुमोदक भी सिद्ध किया है।

इस परिशीलन का मुख्य विषय महाभारत में प्रतिपादित यम-नियम-विधान की श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि की गवेषणा है तो भी अपनी यम-नियम-परम्परा की श्रृंखला को सातत्य तथा प्राच्य साहित्य में इसके निर्वाह की सत्यता की सिद्धि के लिए रामायण में उपलब्ध सभी यमों तथा नियमों के प्रतिष्ठापक सन्दर्भों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। क्योंकि यह प्राच्य वाङ्मय के ग्रन्थक्रम के सर्वथा अनुकूल है। यह कोई व्यवधान न होकर योगदान है।

धर्म : स्वरूप एवं महत्त्व

भारतीय संस्कृति में धर्म मात्र उपासनापद्धति का परिचायक नहीं। न ही यह इसके लिए बहुधा प्रयुक्त Religion का समानार्थक है। भारतीय धर्म की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से स्वीकार की गई है। इसका मूल अर्थ है– **'ध्रियते लोका अनेन' अथवा 'धरति लोकं वा'** अर्थात् जिसके कारण लोक का धारण होता है अथवा जो लोक को धारण करता है। इस दृष्टि से भारतीय धर्म लोकधारक सिद्ध होता है। इस अर्थ में यह संगठनसमर्थक नियमों का सूचक है। इसका समर्थन करते हुए वी. वी. काणे ने कहा है– The writers on Dharmashastras meant by Dharma not a creed or religion but a mode of life or a code of conduct, which regulates a man's work and activities as a member of society and as an individual and was intended to bring about the gradual development of a man to enable him to reach what was deemed to be to goal of human existence.[४७] महाभारतकार ने स्पष्टतया कहा है कि धारण करने के कारण धर्म कहलाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण संयुक्त है, वह धर्म है यह निश्चय है–

धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।[४८]

इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत है–In the Sanskrit language Religion goes by the name of Dharma which in the derivative meaning implies the principle of relationship that holds us

firm, and in its technical sense means the virtue of a thing, the essential quality of it.[४९] धर्म के जो अन्य अर्थ उपलब्ध होते हैं, वे हैं–उपासना, परम्परा से रूढ़ भिन्न-भिन्न जातियों अथवा सम्प्रदायों के आचार, विधान, संविधान, रूढ़ि, व्यवहार, नैतिक सदाचार, सत्कर्म, कर्तव्य, न्याय निष्पक्षता, पवित्रता, नीति, प्रकृति, स्वभाव, प्रमुख वैशिष्ट्य पद्धति प्रकार, साम्य, यज्ञ तथा भक्ति आदि। भारतीय मनीषियों की दृष्टि में धर्म के अन्तर्गत भेद में अभेद का सुनियोजन ही इसकी विशिष्टता का परिचायक है। कहीं **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्'** की चर्चा है तो कहीं **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का उल्लेख है, अन्यत्र **'वासुदेवः सर्वम्'** का मन्तव्य। ये सभी कथन मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, अन्तरिक्षस्थित तारे और ग्रह तथा अचर सृष्टि अर्थात् वनस्पति, मिट्टी, पत्थर एवं असीमित आकाश आदि सभी में परम तत्त्व को व्याप्त सिद्ध करते हैं। यह विश्वास आज भी विद्यमान है। विश्वविख्यात वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसु ने इसमें निष्ठा व्यक्त करते हुए कहा है–They who see but one in all the changing manifoldness of the universe unto them belongs the eternal truth unto none else, unto none else.[५०] वैज्ञानिक अद्वैतवाद के अनुसार पदार्थ एवं चेतना या ऊर्जा परस्पर परिवर्तनीय हैं और तत्त्वतः एक हैं। यह अद्वैतवाद वेदप्रतिपादित धर्म का वैज्ञानिक समर्थन है, क्योंकि उनकी तत्त्वतः एकता परम तत्त्वविषयक एकता की परिचायक है।[५१] हमारा धर्म निवृत्तिलक्षण भी है और प्रवृत्तिलक्षण भी। निवृत्तिलक्षण धर्म के अन्तर्गत ज्ञानयोग का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। इस धर्म में स्वीकार किया गया है कि परमात्मा अनादि, अनन्त और अव्यक्त सत्य है। स्वामी विवेकानन्द ने निवृत्तिमार्ग से प्राप्त ज्ञान का महत्त्व दर्शाते हुए कहा था–अमृतानन्द के भागी तुम परमात्मा के पुत्र हो। तुम धरती पर स्थित देवता हो। अपने देवत्त्व को पहचानो। वह शुद्ध ज्ञान से सभव है।[५२] ज्ञानयोग की पराकाष्ठाप्राप्ति के लिए इन्द्रियदमन आवश्यक है। तदनुसार ही हमारे यहाँ यम-नियमों का विधान उपलब्ध होता है, जो आज तक प्रचलित है। **'सोऽहम्'** के स्वाभाविक उच्चारण के लिए प्राणियों से आत्मा को देखने, सुनने, मनन करने और जानने का आग्रह किया गया है, क्योंकि उसे देखने, सुनने, मनन करने और जानने पर सब कुछ समझ में आ जाता है–**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञातं इदं सर्वं विदितम्।** निवृत्ति मार्ग का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त है जो शम दम, विवेक, वैराग्य, उपरति और तितिक्षा को प्राप्त कर चुके हैं। इसमें यम-नियम निर्वाह भी सम्मिलित है।

प्रवृत्तिलक्षण धर्म में धर्मसम्मत सकाम **कर्म** को मान्यता दी गई है। यही **साधना** है, जो नियमपालन के बिना असंभव है। नियम वैयक्तिक संयम हैं। इनका आश्रय मनुष्य को मानवता-विरोधी उन दुराग्रहों से मुक्त रखता है जो काम, क्रोध, लोभ मोह, मद और मत्सर के नाम से प्रसिद्ध हैं। संयमों का पालन न करना ही अविद्या है। मनुष्य का चरम विकास निवृत्ति और प्रवृत्ति के समन्वय में ही स्वीकार किया गया है। प्रवृत्तिलक्षण धर्म के अन्तर्गत कर्मयोग की विशद चर्चा उपलब्ध होती है। इसके लिए जो बन्धक अनिवार्य हैं, वे हैं (क) कर्म के प्रति अनासक्ति (ख) कृतित्व में अभिमानराहित्य (ग) कर्मफल के प्रति अनासक्ति (घ) सदा सर्वदा कर्म करते हुए आत्मसमर्पण। इस दृष्टि से निवृत्तिलक्षण धर्म तथा प्रवृत्तिलक्षण धर्म दोनों का लक्ष्य परमात्मा से तादात्म्य है। इस शताब्दी के महर्षि अरविन्द ने कहा है–And in practice the lower in us must exist for the higher in order that the higher also may in us must exist for the lower to draw it nearer to its own altitudes.[५४] वस्तुतः हमारी संस्कृति पलायनवादी न होकर पुरुषार्थवादी है। यह पुरुषार्थ वैयक्तिक उदरम्भरिता, धनलोलुपता, ऐन्द्रिक वासनातुष्टि, वर्चस्व की अनधिकारप्राप्ति एवं प्रभुत्व के अहंकारजन्य दुरिताओं के आश्रय में निहित न होकर एक ऐसे संयमित आचार और अनुशासित व्यवहार में निहित है जो व्यक्ति को समाज में समान भाव से देखे जाने, समान रूप से सम्मान योग्य समझे जाने तथा समान महत्त्व से युक्त माने जाने की योग्यता से युक्त करता है। तदनुसार ही वेद में कामना की गई है कि सभी एक विचार से मिलकर रहें, परस्पर प्रेम से वार्तालाप करें, सभी के मन समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। इस मन्त्र में इहलौकिक वैभव प्राणियों द्वारा एकमत होकर ज्ञानसम्पादन करते हुए ईश्वर की उत्तम उपासंना में निहित दर्शाया गया है। अगले मन्त्र में प्रार्थनासाम्य, परस्पर मिलापसाम्य, विचारों के आदान-प्रदान का साम्य, मन, अन्तःकरण तथा चित्तसाम्य की चर्चा उपलब्ध होती है। तीसरे मन्त्र में पूर्णरूपेण संगठित होने की सामर्थ्य संकल्पविषयक एकता, विचारविषयक एकता और बुद्धिविषयक एकता में निहित स्वीकार की गई है–

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समान मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रममि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि व।
समानमस्तु वो मनः यथा व सुसहासति।।[५५]

हमारे यहाँ मनुष्य का पूर्णत्व प्रवृत्तिमूलक धर्म और निवृत्तिमूलक धर्म के समन्वय में स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद में इस समन्वय को मृत्यु से परित्राण और अमृतत्व का साधन घोषित किया है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।[५६]

नियमों का प्रतिपादन वैयक्तिक आचार के परिष्कार के लिए हुआ है। इनका निर्वाह व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों के साथ आदर्श सम्बन्ध स्थापित करने की योग्यता से युक्त करने में समर्थ है। समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार के लिए यमों के पालन को अनिवार्य दर्शाया गया है। इनका कार्यान्वयन ही सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक शान्ति का परम स्रोत है। तदनुसार ही आचार (यम-नियमों के पालन) को धर्म का मूल कहा गया है। सभी व्यक्तियों को इससे युक्त रहने का आग्रह किया गया है। आरण्यकपर्व में शिष्टाचार के लक्षणों का विशद वर्णन मिलता है। उसके अनुसार शिष्टाचारी के लिए स्वेच्छाचार से निवृत्ति तथा स्वाध्याय में रति, गुरुसेवा, सत्य कथन, अक्रोध, दान,[५७] त्याग, सत्य, धर्माचरण,[५८] अक्रोध परनिन्दाराहित्य, अमात्सर्य, शुद्ध स्वभाव, शम, शौच, इन्द्रियनिग्रह,[५९] आस्तिकता, ब्राह्मणपूजा, शील,[६०] क्षमा, सत्य, सरलता, शौच,[६१] दया तथा अहिंसा[६२] आदि का पालन अनिवार्य है। इसकी पुष्टि लोकसम्मत साधु के लक्षण-विवेचन में उपलब्ध होती है। साधु से अभिप्राय सदाचारयुक्त प्राणी है–

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम्।
अद्रोहो नातिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः।
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः।
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसत्कृताः।।[६३]

अन्यत्र उपरिलिखित लक्षणों को सज्जनों के लक्षण दर्शाकर मानवजीवन में सदाचार के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। सदाचारी के लिए इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति को सुलभ दर्शाकर प्राणियों में इसके प्रादुर्भाव के संस्कार जगाए गए हैं। सदाचार को धर्म मानते हुए कहा गया है–

प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति।
तस्य धर्मादवाप्तेषु धनेषु द्विजसत्तम।
तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान्पश्यति यत्र वै।[६४]

व्यास द्वारा की गई सदाचारसंस्तुति यम-नियमों के निर्वाह की उसी

परम्परा का अनुमोदन तथा समर्थन सिद्ध होती है, जो इसके सम्बन्ध में स्मार्त साहित्य में विद्यमान है। वस्तुतः नियमन और यमन के बिना न तो वैयक्तिक सुख ही संभव है और न ही जागतिक शान्ति।

पुरुषसूक्त में एक नहीं तीन पुरुषों का उल्लेख उपलब्ध होता है जो व्यक्तिपुरुष, मानव समाजरूपी पुरुष तथा विश्वपुरुष के नाम से अभिहित किए जा सकते हैं। मानवसमाजरूपी पुरुष के लिए राष्ट्रपुरुष का भी प्रयोग किया जा सकता है और विश्वपुरुष के लिए अखिल मानव समाजरूपीपुरुष का। व्यक्तिपुरुष और मानवसमाजरूपी पुरुष के अंगों में साम्यसिद्धि के माध्यम से वैदिक मनीषियों ने मानव और समाज को परस्पर आश्रित सिद्ध किया है। मानवसमाजरूपी पुरुष के चार मुख्य अवयवों का वर्णन इस प्रकार है–ब्राह्मण इसका मुख हैं, क्षत्रिय इसकी भुजाएँ, वैश्य इसके ऊरु तथा शूद्र इसके पाँव हैं–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।[६५]

अर्थात् ज्ञानी, शूर, कृषक, व्यापारी और कर्मचारी ही मानवसमाजरूपी पुरुष के चार मुख्य अवयव हैं। वस्तुतः इससे यही सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि जिस प्रकार मानवशरीर की शक्ति और सामर्थ्य के लिए सभी अवयवों में सहकारिता और सहभाव अनिवार्य है, उसी प्रकार मानवसमाजरूपी शरीर के अवयवों में। अन्यथा समाज की सुव्यवस्था, प्रगति, सद्भावना, सौहार्द एवं शान्ति की सुचारुता असम्भव है, क्योंकि जब तक ज्ञानी, शूर व्यापारी तथा कर्मचारियों का उत्तम सहकार्य नहीं होगा, समाज में लोकमंगल की साधना का स्वप्न साकार नहीं हो सकता। जिस प्रकार शरीर के विविध अंगों के सहकार्य में ही स्वस्थ शरीर संभव है, उसी प्रकार मानव समाजरूपी पुरुष के लिए भी सुव्यवस्थित, सुनियोजित तथा सुप्रयासयुक्त सहकार्य अनिवार्य है। हमारी संस्कृति व्यक्ति और समाज के परस्पर आश्रित होने में विश्वास रखती है। परन्तु जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के बिना मानसिक स्वास्थ्यलाभ संभव नहीं, उसी प्रकार व्यक्ति का चारित्रिक स्वास्थ्य एवं आचारसौष्ठव समाज की आदर्श व्यवस्था पर आश्रित है। स्वस्थ समाज के लिए व्यक्ति द्वारा विहित शिष्टाचार अनिवार्य है। व्यक्ति और समाज में वही सम्बन्ध है, जो बूंद और समुद्र में है। जिस प्रकार समुद्र का विराटत्व विविध अनन्त बूंदों के योगदान द्वारा ही संभव है, उसी प्रकार समाज की सुव्यवस्था वैयक्तिक योगदान पर आश्रित है। हमारा विश्वास है कि व्यक्ति

का समाज के प्रति समर्पित होना तथा समाज का व्यक्तिरक्षक होना ही अभीष्ट है। तदनुसार ही यम-नियमों के निर्धारण में हमारे यहाँ पहले यमों का उल्लेख मिलता है, तदुपरान्त नियमों का। यमों के सेवन को सदा सर्वदा अनिवार्य दर्शाया गया है जबकि नियमों के नित्य सेवन को नहीं। यमनिर्वाह की महत्ता इस सत्य से स्वयं सिद्ध हो जाती है कि मनु ने यमों का सेवन न करते हुए केवल नियमों का सेवन करने वाले को पतित घोषित किया है–

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्।[६६]

वस्तुतः यमों को मानवसमाजरूपी पुरुष की रीढ की हड्डी का स्थान प्राप्त है। इनका पालन ही सामाजिक सुव्यवस्था, सहकारिता, प्रगति, लोकमंगल तथा शान्ति का प्राणतत्त्व है। तदनुसार ही ये वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म तथा मोक्षधर्म का मूल घोषित किए गए हैं। व्यास ने समस्त धर्मों के पालन के लिए इनके निर्वाह को अनिवार्य घोषित किया है। उनके अनुसार इनका अतिक्रमण सभी के लिए पाप है–

मर्यादा नियताः स्वयंभुवा या इहेमा प्रभिनत्ति दशगुणा मनोनुगत्वात्।
निवसति भृशमसुखं पितृविषयविपिनमवगाह्य स पापः।।[६७]

उपरिलिखित विवेचन यमों को ऐसे सामाजिक अनुशासन घोषित करता है जो एक आदर्श समाज की आधारशिला कहे जा सकते हैं। मानवसमाजरूपी भवन की दृढता, स्थिरता, भव्यता, सौन्दर्य तथा विशिष्टता यमरूपी आधारशिला के सशक्त, स्वेच्छित तथा सतत निर्वाह पर ही आश्रित है। श्रौत साहित्य में इनके विषय में संकेत तो उपलब्ध होते हैं, परन्तु स्पष्ट निर्धारण एवं संख्याक्रम उपलब्ध नहीं होता। यमों के संख्याक्रम के निर्धारण एवं इनके समर्थन का स्पष्ट उल्लेख स्मार्त साहित्य में उपलब्ध होता है। इनके समर्थन के लिए इनके अतिक्रमण के निषेध के भी प्रसंग मिलते हैं, जो इनके अतिक्रमण को नरक का द्वार, तिर्यक् योनि में जन्म का कारण तथा विविध आधि-व्याधियों का मूल दर्शाते हैं। यह वह माध्यम है जो इनकी अवहेलना को सर्वथा असंभव सिद्ध करता है क्योंकि जो प्राणी पुरस्कार से प्रोत्साहित नहीं होते, वे दण्ड के भय से अवश्य डरते हैं।

यम

समस्त समाज द्वारा समुचित रूप से पालनीय अनुशासनों का धर्मशास्त्रीय नाम यम है। यम धातु उभयार्थक है। यम धातु से अप् प्रत्ययान्त 'यमः' की व्युत्पत्ति स्वीकार की जाती है। इसके अनुसार यम उपरमण का

साधन सिद्ध होता है। वस्तुतः उपरमण के जो साधन हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों से हटाने वाले हैं, वे यम कहलाते हैं। पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार इनकी संख्या पाँच है। ये हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। **'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।'**[६८] पाराशर संहिता में इनकी संख्या में संवर्धन के परिणामस्वरूप जिन दस यमों का पालन सर्वदा अपरिहार्य माना गया है, वे हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, सरलता, मिताहार तथा पवित्रता।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयाऽऽर्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश।।[६९]

पौराणिक युग तक युग की आवश्यकता के अनुसार यमों की संख्या बढ़कर बारह हो गई। यह वृद्धि इनकी सार्वकालिक अपरिहार्यता की द्योतक है। श्रीमद्भागवतपुराण में इनका उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध होता है–

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम्।।[७०]

व्यास ने जिन दस धर्मलक्षणों को मनुनिर्दिष्ट धर्ममर्यादाओं के नाम से अभिहित किया है, वे मनु द्वारा निर्दिष्ट पाँच यमों तथा पाँच नियमों का समुच्चय हैं। तदनुसार ही इस परिशीलन में केवल पाँच ही यमों का विवेचन किया गया है जो इस प्रकार हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। इनका संक्षिप्त परिचय देना स्वाभाविक सा जान पड़ता है, क्योंकि इनका विशद वर्णन आगामी अध्यायों में हुआ है।

अहिंसा से अभिप्राय हिंसा दुर्वृत्ति से निवृत्ति है। इसका पालन प्राणी द्वारा अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन एवं निकृष्ट कर्म का सर्वथा परिहार है। समाज में रहकर पशुवृत्ति का अनुकरण पारस्परिक वैमनस्य, वैर, घृणा तथा मात्सर्य का मूल कारण है। पशुवृत्ति से अभिप्राय अकारण अथवा कारणवश दूसरों के प्रति वैचारिक, वाचिक तथा कायिक घात-प्रतिघात है। संमाज को इस दुरिता से मुक्त रखने के लिए हमारे मनीषियों ने यमों में अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया है और इसे त्रिविध पालनीय दर्शाया है। इसका क्षेत्र हिंसा से वैयक्तिक निवृत्ति तक सीमित न होकर किसी भी प्रकार की हिंसासमर्थक अनुमति देना अथवा स्पष्ट एवं अस्पष्ट रूप से उसका कारण बनने तक व्यापक है। शिक्षार्थ प्रताड़ना, रोगनिवारणार्थ उपचार, सुधार तथा प्रायश्चित्तार्थ दण्ड देना हिंसा स्वीकार नहीं किए जा सकते। परन्तु जब ये सब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदि की मनोवृत्तियों से मिश्रित

हों तो हिंसा हो जाते हैं। जघन्यतम हिंसा प्राणों का शरीर से वियोग करना मानी गई है। अहिंसा को समस्त यम-नियमों का मूल घोषित करके सभी अन्य यम-नियम इसकी सिद्धि तथा इसको निर्मल बनाने को समर्पित हैं। अहिंसा की पराकाष्ठा सब भूतों को (अपनी) आत्मा में ही देखने और समस्त भूतों में भी अपनी आत्मा को ही देखने की योग्यता में निहित दर्शायी गयी है–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।[७१]

अहिंसा को दिए गए सर्वप्रथम स्थान का औचित्य सिद्ध करते हुए पातञ्जल योगप्रदीप में कहा गया है–'जिस प्रकार सारे क्लेशों का मूल अविद्या है, उसी प्रकार सारे यमों का मूल अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकार की है। (क) शारीरिक–किसी प्राणी का प्राणहरण करना अथवा अन्य प्रकार से शारीरिक पीड़ा पहुँचाना (ख) मानसिक–मन को क्लेश देना (ग) आध्यात्मिक–अन्तःकरण को मलिन करना।[७२] सामान्य भाषा में आध्यात्मिक हिंसा के स्थान पर वाचिक हिंसा की चर्चा उपलब्ध होती है। अहिंसा कायरता की पर्यायवाची नहीं। अपनी दुर्बलता के कारण भयभीत होकर अत्याचारियों के अत्याचार सहन करना, अपनी धन सम्पत्ति को चोर डाकुओं से हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार, देश, समाज अथवा धर्म को दुर्जनों द्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं बल्कि हिंसापोषक कायरता रूपी महापाप हैं। इसका समर्थन ऋग्वेद और अथर्ववेद में एक स्वर में किया गया है–

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्।।[७३]

अहिंसा यम के स्वाभाविक निर्वाह के लिए हर समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारा जीवन प्राणिमात्र के लिए सुखदायी और कल्याणकारी हो। कोई कार्य ऐसा न होने पाए जिससे किसी को किसी भी प्रकार का दुःख पहुंचे।

सत्य का निर्वाह अहिंसा की भाँति मानव और समाज दोनों के लिए अनिवार्य है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। शरीर से उसका निर्वाह शारीरिक सत्य है। वाणी से उसका कथन वाचिक सत्य और मन से उसका चिन्तन मानसिक सत्य है। व्यास ने सत्य को परिभाषित करते हुए लिखा है–"अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो और जैसा सुना हो वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना।" दूसरे पुरुष में अपने बोध के अनुसार ज्ञान कराने में

कही हुई वाणी यदि धोखा देने वाली, भ्रान्ति कराने वाली अथवा ज्ञान कराने में असमर्थ न हो और सब प्राणियों के उपकार के लिए प्रवृत्त हुई हो और जिससे किसी प्राणी का नाश, पीड़ा अथवा हानि न हो, वह सत्य है। यदि इस प्रकार भी कही हुई वाणी प्राणियों का नाश करने वाली हो तो वह सत्य नहीं, बल्कि इस पुण्याभास पुण्य के प्रतिरूप पाप से महान् दुःख को प्राप्त होगा इसलिए अच्छी प्रकार परीक्षा करके सब प्राणियों के हितार्थ सत्य बोले।[७४] व्यास का यह कथन मनु की सत्यविषयक मान्यता **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'** का अक्षरशः अनुरणन है। महाभारत में सत्यसंस्तुति करते हुए कहा गया है कि यदि हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाए तो सत्य ही अधिक रहेगा। महाभारत में असत्य के सर्वथा निषेध का प्रावधान उपलब्ध होता है। इसके अनुसार जो लोग इस जगत् में स्वार्थ के लिए, परार्थ के लिए या हंसी में भी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस विवेचन से जो निष्कर्ष निकलता है, उसके अनुसार सत्य के सम्बन्ध में इन बातों का ध्यान रखना अनिवार्य है। आवश्यकतानुसार बोले, अनावश्यक बातें न करे। असत्य, कटु अथवा दूसरे के लिए कष्टकारी शब्द न बोले। पारस्परिक द्वेष बढाने की बात न करे। चुगली न करे। किसी को ऐसा वचन न दे जिसको पूरा न कर सके। जिसको जो वचन दिया हो उसको पूरा करना चाहिए। समय का पूरा ध्यान रखना चाहिए। दूसरों से सम्बन्धित सारे कार्य ठीक समय पर हों।

अस्तेय स्तेय का विपरीतार्थक है। स्तेय से अभिप्राय अन्यायपूर्वक किसी के धन, द्रव्य अथवा अधिकार आदि का हरण है। राजा के द्वारा प्रजा को नागरिक अधिकारों से वंचित करना, ऊँचे वर्ण वालों अथवा धनपतियों का नीचे वर्ण वालों अथवा निर्धनों के सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों को छीनना स्तेय है। इसका क्षेत्र केवल यहीं तक सीमित नहीं है, अपितु अधिकारीगणों द्वारा रिश्वत लेने, दुकानदारों द्वारा निश्चित या उचित मूल्य से अधिक दाम लेने, कम तोलने तथा चीजों में मिलावट करने तक व्यापक है। इसका मूल कारण लोभ तथा राग है। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु का लोभ तथा उसमें राग ही स्तेय है और इसका त्याग अस्तेय। इस दृष्टि से स्तेय का क्षेत्र व्यापक सिद्ध होता है। सामान्यतया स्तेय से अभिप्राय चौरकर्म है। चौरकर्म से अभिप्राय स्वामी की अनुपस्थिति में किसी वस्तु का हरणमात्र नहीं, अपितु संकीर्ण हृदय, तथाकथित ऊँची जाति कहलाने वाले समृद्धिशाली तथा अपने को धर्म का ठेकेदार समझने वाले जो लोग नीची जाति अथवा

निर्धन वर्ग के धार्मिक, सामाजिक तथा नागरिक अधिकारों का हनन करते हैं, वे भी स्तेयग्रस्त हैं। इतना ही नहीं, लोभी जमींदारों द्वारा किसानों से अत्याचार द्वारा धनप्राप्ति, फैक्ट्री मालिकों द्वारा कामगारों का शोषण, लोभी साहूकारों द्वारा ब्याज की अनुचित वसूली, धोखेबाज व्यापारियों द्वारा मिलावट, लोभी वकीलों द्वारा झूठे केस लड़वाना, वैद्यों द्वारा रोगी का ध्यान न देकर केवल फीस का लोभ करना भी स्तेय है। वस्तुतः स्तेय हमारे राष्ट्रव्यापी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा नैतिक भ्रष्टाचार का मूल है। इससे निवृत्ति हमारी समस्त समस्याओं का समाधान सिद्ध हो सकती है। आज के युग में इसका निर्वाह सर्वाधिक आवश्यक है। वस्तुतः धर्म तब तक धारण संयुक्त नहीं हो सकता जब तक देश में सक्रिय राष्ट्रव्यापी स्तेयविरोधी आन्दोलन का आश्रय न लिया जाए। हमारे प्राच्य साहित्य की सभी रचनाओं में अलोभ को धर्म का अंग माना गया है। यहाँ तक कि अस्तेय के निर्वाह के बिना ब्रह्मचर्य (जितेन्द्रियता) का निर्वाह असंभव माना गया है। महाभारत में इसके अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में स्तेय के मूल लोभ को पाप का अधिष्ठान घोषित किया गया है। इसे शठता का मूल कारण, क्रोध, काम, मोह, माया, अभिमान, गर्व, पराधीनता, अक्षमा, निर्लज्जता, श्रीनाश, धर्महीनता, चिन्ता, अकीर्ति, अन्याय, कुकर्म में प्रवृत्ति, कटुविद्या, सब जीवों में अविश्वास, सबके विषय में असम्मान, द्रोह, अयुक्त व्यवहार, परधनहरण, परनारीगमन, वचन और मन के आवेग, परनिन्दाप्रवृत्ति, इन्द्रियपरतन्त्रता, उदरम्भरिता, मृत्यु के भयंकर वेग, ईर्ष्या, मिथ्या व्यवहार, दुर्निवारय रागवेग, दुःसह श्रोत्रवेग, नीचता, स्वप्रशंसा, मत्सरता, पाप तथा दुष्कार्य में प्रवृत्ति का जनक दर्शाया गया है।[७५] महाभारत में उपलब्ध स्तेय का व्यापक निषेध मानवजीवन में अस्तेय के निर्वाह की आवश्यकता को स्वयं सिद्ध कर देता है।

ब्रह्मचर्य मानवजीवन का प्रथम आश्रम ही नहीं, जीवनपर्यन्त निर्वाह्य यम भी है। आश्रम के रूप में इसकी आयु सीमा मानवजीवन के प्रथम २५ वर्ष है। वास्तव में ब्रह्मचर्य मनुष्य की बाह्यान्तर शक्तियों के संचय का स्रोत है। मानव की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा नैतिक आदि सभी शक्तियां ब्रह्मचर्याश्रित हैं। २५ वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचारी रहने के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश से ब्रह्मचर्य आश्रम सम्पन्न हो जाता है। परन्तु यम के रूप में इसका पालन पूरा नहीं होता। यम के रूप में ब्रह्मचर्य से अभिप्राय जितेन्द्रियता का निर्वाह है। अन्य सभी इन्द्रियों के निरोधपूर्वक उपस्थेन्द्रिय के संयम का नाम ही ब्रह्मचर्य है। इसके पालन के लिए अभक्ष्य-भक्षण, कामोद्दीपक दृश्यों के दर्शन

तथा कामोत्तेजक वार्ताओं के श्रवण से निवृत्ति अनिवार्य है। इसका पालन मनुष्य में देवतुल्य शक्तियों का संचार करने में सर्वथा समर्थ है। ब्रह्मचर्य को सर्वोपरि तप स्वीकार किया गया है और ऊर्ध्वरेता पुरुष को मनुष्य के रूप में देवता माना गया है–

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः।।[७६]

इन्द्रियानासक्ति का क्षेत्र मात्र कामवासनानिवृत्ति तक सीमित नहीं और न ही मात्र वीर्यसंरक्षण है। वास्तव में इससे अभिप्राय सर्वप्रकारेण इन्द्रियतृष्णा से निवृत्ति है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य में सद्वृत्तियों का प्रादुर्भाव स्वाभाविक हो जाता है। वह दैहिक बल से ही समृद्ध नहीं होता, अपितु उसकी स्मरण, मनन, चिन्तन, संकल्प तथा समर्पण शक्तियां भी अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेने में समर्थ हो जाती हैं। यमों में इसका परिगणन मनुष्य में नियमों के यथेष्ट निर्वाह की योग्यतासिद्धि के लिए हुआ है। महाभारत में इस यम के निर्वाह का मूर्तिमान् रूप देवव्रत-गंगापुत्र भीष्म हैं, जो इसके पालन को मृत्युञ्जयता का साधक सिद्ध करते हैं। इसी के परिणामस्वरूप वे उत्तरायण के आगमन तक शरशय्या पर प्रसन्नतापूर्वक विश्राम करने में समर्थ रहे। इसके पालन में अस्तेय का पालन स्वयं अन्तर्निहित हो जाता है क्योंकि जब हम किसी वस्तु की कामना ही नहीं करेंगे तो मन में उसके अनधिकार ग्रहण की इच्छा का उदय ही पूर्णतया असंभव है।

अपरिग्रह परिग्रह का विपरीतार्थक है। धन-सम्पत्ति, भोग-सामग्री अथवा अन्य वस्तुओं को अपनी आवश्यकता से अधिक केवल अपने ही भोग के लिए स्वार्थदृष्टि से संचय करना ही परिग्रह है। इससे निवृत्ति ही अपरिग्रह है। प्राणियों में इसके निर्वाह के संस्कार सर्वप्रथम वैदिक संहिताओं में जगाए गए। यजुर्वेद में उपलब्ध **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** का अमर उपदेश भारतीय संस्कृति में इस यम के निर्वाह के आग्रह का श्रीगणेश सिद्ध होता है। इस व्रत के यथार्थ रूप से पालन के अभाव में ही धनसम्पत्ति का ठीक-ठीक विभाग नहीं होता। किसी के पास सैकड़ों मकान खाली पड़े हैं और किसी के पास सोने के लिए छोटी सी झोंपड़ी भी नहीं है। किसी के पास अनाज का अतुल भण्डार है, तो कोई भूखा मर रहा है। दूसरे शब्दों में कंजूसीपूर्वक संग्रह ही परिग्रह है। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की समस्या का मूल है। तदनुसार ही हमारी संस्कृति में आरम्भ से ही इस दुर्वृत्ति के निषेध की चर्चा होती रही है। इसका निर्वाह समाज से समस्त विसंगतिविषयक, विषमताविषयक,

अभावविषयक तथा असमानताविषयक समस्याओं का समाधान करने में सर्वथा समर्थ है। तदनुसार ही महाभारत में इसके समर्थन का तथा परिग्रह के निषेध का उल्लेख उपलब्ध होता है।

यमविषयक संक्षिप्त परिचय इसके क्रमनिर्धारण को सर्वथा उचित घोषित करता है। अहिंसा सभी यमों का अधिष्ठान सिद्ध होती है। अन्य सभी यमों के निर्वाह की योग्यता अहिंसा के समग्र निर्वाह में अन्तर्निहित सी प्रतीत होती है। तदनुसार ही मनु तथा व्यास ने एक स्वर होकर अहिंसा को परम धर्म घोषित किया है। अहिंसा को सर्वोपरि सिद्ध करने का सफलतम प्रयास महाभारत में उपलब्ध होता है। इसके अनुसार जिस प्रकार हाथी के पदचिह्न में अन्य पशुओं के पदचिह्न स्वंय समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार अहिंसा धर्म के निर्वाह में अन्य धर्मों का पालन स्वीकार किया जाना चाहिए। यमों का संक्षिप्त परिचय जिस अन्य तथ्य से अवगत कराता है, वह यह है कि इनका प्रतिपादन मानवसमाजरूपी पुरुषशरीर की आरोग्यता, स्वास्थ्य तथा सुचारुता के लिए हुआ है। पारस्परिक सद्भाव, सहकार्य, सद्व्यवहार, सद् चिन्तन एवं सत्संकल्प ही मानव समाजरूपी पुरुष के अंगों को समान रूप से सुदृढ और सशक्त बनाए रखने में समर्थ है। वास्तव में सभी यम अन्योन्याश्रित ही नहीं, परस्पर समाहित भी हैं–

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे।।
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
अमृतः स नित्यं वसति योऽहिंसां प्रतिपद्यते।।[७७]

नियम

नियम की व्युत्पत्ति भी 'यम' धातु के नियमन अर्थ से स्वीकार की गई है। इसके अनुसार **'यम्यते नियम्यते चित्तम् अनेन इति यमः'** अर्थात् चित्त का नियन्त्रण करने वाले साधन ही नियम हैं। जिस प्रकार यमों का लक्ष्य सामाजिक परिष्कार है, उसी प्रकार नियमों का उद्देश्य वैयक्तिक, वैचारिक, मानसिक तथा कर्मविषयक परिष्कार है। पहले कहा जा चुका है कि व्यक्तित्व और समाज परस्पराश्रित हैं। स्वस्थ शरीर की उपयोगिता मानसिक स्वास्थ्य पर आश्रित हैं। जिस प्रकार शारीरिक विकारों का मूल मस्तिष्कीय विकार होते हैं, उसी प्रकार सामाजिक दुष्कृत्य और दुरिताएं वैयक्तिक चारित्रिक दोषों से जन्म लेते है। एक मछली द्वारा सारे तालाब को

गंदा कर देने की लोकोक्ति तथा खरबूजे को देखकर खरबूजे के रंग बदलने वाला मुहावरा इसी सत्य पर आधारित है। जिस प्रकार किसी भी सयंत्र को सुचारु रूप से काम करने के लिए इसमें प्रयुक्त सभी कलपुर्जों का कार्यकुशल होना आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक सुव्यवस्था तथा शान्ति के लिए उसमें रहने वाले सभी मनुष्यों का शिष्टाचार युक्त होना। शिष्टाचार व्यक्तित्व पर समाज को प्राथमिकता देने द्वारा ही संभव है। इसके लिए व्यक्ति के स्वेच्छाचार का परिहार अनिवार्य है। स्वेच्छाचार से निवृत्त रहने के लिए कुछ वैयक्तिक संयमों का पालन स्वाभाविक है। ये वैयक्तिक संयम प्राच्य साहित्य में नियमों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें वैयक्तिक धर्म की संज्ञा भी दी जाती है। पातञ्जल योगदर्शन में इनकी संख्या पाँच स्वीकार कीगई है। इनके नाम हैं–शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान–**'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'।** यद्यपि इन सभी का विशद वर्णन आगामी अध्यायों में किया गया है तो भी विषयप्रवेश में इनका संक्षिप्त परिचय स्वाभाविक है।

शौच शुद्धि का पर्याय है। इसके दो मुख्य प्रकार स्वीकार किए गए हैं जो बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच के नाम से प्रसिद्ध हैं। बाह्य शौच से अभिप्राय शरीर की शुद्धि है। शरीर की शुद्धि मात्र शरीर के अंगों को मृत्तिका, जल आदि से शुद्ध रखने तथा पात्र, वस्त्र एवं स्थान को पवित्र रखने तक सीमित न होकर शुद्ध, सात्त्विक तथा नियमित आहार से शरीर को सात्त्विक, नीरोग तथा स्वस्थ रखने एवं बस्ती, धौति, नेति तथा औषधि से शरीरशोधन करने तक व्यापक है। आभ्यन्तर शौच मानसिक शौच के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके लिए ईर्ष्या, अभिमान, घृणा और असूया आदि से निवृत्त रहना, दुर्विचारों का शुद्ध विचारों द्वारा परिहार तथा शुद्ध व्यवहार से दुर्व्यवहार का पराभव करना ही आन्तरिक शौच है। दूसरे शब्दों में शारीरिक शौच दैहिक मालिन्यराहित्य का द्योतक है और मानसिक शौच मनोमालिन्यराहित्य का। यह नियम अहिंसा की भाँति समस्त नियमों के पालन की योग्यताप्राप्ति का मूल है। तदनुसार ही इसे नियम-क्रमनिर्धारण में प्रथम स्थान उपलब्ध है। समूचा प्राच्य साहित्य इसके निर्वाह की आवश्यकता के स्पष्टीकरण को समर्पित है। मनु द्वारा निर्दिष्ट बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच के साधनों का वर्णन सचमुच सराहनीय है–

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।।[७८]

प्राणियों द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच के निर्वाह को सामाजिक सुव्यवस्था का मूल दर्शाकर इसकी वैयक्तिक तथा सामाजिक अपेक्षा सिद्ध की गई है।

सन्तोष से अभिप्राय सामर्थ्यानुसार उचित प्रयत्न के पश्चात् जो फल मिले अथवा जिस अवस्था में रहना पड़े उसमें प्रसन्नचित्त बने रहना और सब प्रकार की तृष्णा से निवृत्त रहना है। मनु ने सन्तोष को सुख का मूल स्वीकार किया है–

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।।[७९]

वस्तुतः सन्तोष से अभिप्राय प्रयत्नजन्य न्यूनाधिक प्राप्ति में तुष्टि है। कुछ भी प्राप्त न होने पर इसे दैव का न्याय मानकर इसे सहर्ष सहन कर लेना ही सन्तोष है। इसका प्रमाण हमें वनगमन के समय राम के खेदराहित्य से उपलब्ध हो जाता है। क्योंकि वे अपने वनवास के लिए कैकेयी अथवा दशरथ को दोषी नहीं मानते, अपितु दैव का न्याय कहकर मुस्करा देते हैं। सामान्यतः सन्तोष के तीन प्रकार स्वीकार किए जाते हैं, जो मानसिक, वाचिक तथा कायिक के नाम से प्रसिद्ध हैं। मानसिक सन्तोष का अमर परामर्श हमें यजुर्वेद के सार्वकालिक और सार्वभौमिक प्रासंगिकता से युक्त उस सिंहनाद में स्वतः उपलब्ध हो जाता है, जिसमें सभी प्राणियों से उपलब्ध साधनों का त्यागपूर्वक भोग करने और लोभ न करने की बात कही गई है। वाचिक सन्तोष वाक्चापल्य से निवृत्ति में निहित है। अथर्ववेद में इसके लिए **'वाचं वदतु शान्तिवाम्'** तथा **'वाचं वदत भद्रया'** का उपदेश दिया गया है। वस्तुतः कटुवचननिषेध तथा प्रियवादिता ही वाचिक सन्तोष के लक्षण हैं। कायिक सन्तोष सत्कर्मानुष्ठान, दुष्कर्मनिवृत्ति तथा ब्रह्मचर्य के पालन में निहित है। सन्तोष को परम सुख सिद्ध करने के एक नहीं अनेक प्रयास उपलब्ध होते हैं। इस परिशीलन में सन्तोष के समग्र निर्वाह की चर्चा की गई है उसका मानसिक, वाचिक तथा कायिक वर्गीकरण नहीं किया गया, क्योंकि सन्तोष का समग्र निर्वाह इन तीनों के संयुक्त निर्वाह द्वारा ही संभव है–

सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्।।[८०]

तप से अभिप्राय शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन का उचित रीति और अभ्यास से वशीकरण है। सामान्य भाषा में तप द्वन्द्वसहनशीलता है। इसका आशय भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक तथा मान-अपमान आदि द्वन्द्वों का

सहन है। सन्तोष की तरह तप भी मानसिक, वाचिक तथा कायिक भेदों से युक्त है। मानसिक तप हिंसात्मक, क्लिष्ट तथा अपवित्र विचारों से निवृत्ति है। वस्तुतः जिन दुरिताओं का परिहार सत्संकल्प एवं सद् चिन्तन के प्रादुर्भाव में सहायक हो, उनसे निवृत्त रहने का प्रयत्न ही मानसिक तप है। वाचिक तप से अभिप्राय वाक्-संयम है अर्थात् केवल सत्य, प्रिय और आवश्यकतानुसार दूसरों का यथायोग्य सम्मान करते हुए बोलना ही वाचिक तप है। वाक्-संयम के लिए मौन का आश्रय यथेष्ट दर्शाया गया है। किन्तु यह तभी लाभदायक है जब इसे वाक्-संयम के प्रयत्न का योग प्राप्त हो। शारीरिक तप से अभिप्राय शीतोष्ण-सहनशीलता, क्षुधातृषा वहनशक्ति तथा इन्द्रियसंयम का उपार्जन है। अथर्ववेद में शारीरिक तप को शक्तिसंवर्धन का मूल दर्शाया गया है–

शं तप माति तपो अग्ने मा तन्वं तपः।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यदधरः।।[८१]

अथर्ववेद के 'मातृभूमि' सूक्त में तप को पृथ्वी की धारक शक्ति घोषित किया गया है।[८२] वस्तुतः जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि में तपकर शुद्धता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार मनुष्य विविध द्वन्द्वरूपी अग्निपरीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर उस चारित्रिक जाज्वल्य से सम्पन्न हो जाता है जो समाज में सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना की क्षमता से युक्त हो।

स्वाध्याय नियम विविधार्थ द्योतक है। इसका क्षेत्र वेदाध्ययन तक सीमित न होकर प्रणवजप तथा आत्मचिन्तन द्वारा विवेकज ज्ञान के प्रयत्न तक व्यापक है। पातञ्जल योगप्रदीप में वेद-उपनिषद् आदि तथा योग और सांख्य के अध्यात्मसम्बन्धी विवेकज्ञान उत्पन्न करने वाले सत्शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन तथा ओंकारसहित गायत्री आदि मन्त्रों के जाप को स्वाध्याय स्वीकार किया गया है।[८३] स्वाध्याय का चरम लक्ष्य मानवजीवन को शब्दब्रह्म के ज्ञान के माध्यम से परब्रह्म के साक्षात्कार की योग्यता से युक्त करना है। जब तक अध्ययनजन्य ज्ञान चरितार्थ नहीं होता तथा शास्त्राख्यात गुण कर्म में परिणत नहीं होता, तब तक स्वाध्याय सार्थक नहीं हो सकता। प्रणवजप का अन्तिम लक्ष्य भी स्तुति के माध्यम से स्तुत्य से तादात्म्यप्राप्ति है। वस्तुतः स्वाध्याय के लिए मात्र बाह्यान्तर शौच का निर्वाह तथा सन्तोष का आश्रय ही वांछित नहीं, अपितु जप के लिए वांछित मानसिक एकाग्रता के बाधक द्वन्द्वों का परिहार भी आवश्यक है। स्वाध्याय वह साधन है जो प्राणी को वेदाध्ययन के माध्यम से ब्रह्म के शब्दाख्यात रूप का परिचय कराकर उसे हृदयस्थ करने

के लिए प्रयत्नशील होने को प्रेरित करता है। स्वाध्याय का आश्रय प्राणी को आत्मचिन्तनजन्य आत्मज्योति तथा आत्मसाक्षात्कार की योग्यता से युक्त कराने में सर्वथा समर्थ है, किन्तु इसके लिए कामनाओं का परिहार आवश्यक है–

यदा संहरते कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदात्मज्योतिरात्मा च आत्मन्येव प्रसीदति।।[८४]

ईश्वरप्रणिधान से अभिप्राय फलसहित समस्त कर्मों का स्वेच्छित ईश्वरार्पण है। व्यास ने ईश्वरप्रणिधानजन्य सुख को मोक्षसुख के समकक्ष स्वीकार किया है। यह संस्तुति ईश्वरप्रणिधान को नियमों में सर्वोपरि घोषित करती है। ईश्वरप्रणिधान की पराकाष्ठा-अभिव्यक्ति स्तोता के उस संकल्प से व्यक्त होती है, जिसके अनुसार वह अपने सभी कर्मों को ईश्वर की प्रेरणा का परिणाम मानता है तथा फलेच्छा से या निष्कामभाव से वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उन्हें ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है–

कामतोऽकामतो वापि यत् करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्।।[८५]

नियमपरिगणना में इसको अन्तिम स्थान पर इसलिए रखा गया है कि जब तक मनुष्य पाँचों यमों तथा इससे पूर्व क्रमित नियमों का पूर्ण पालन नहीं कर लेता तब तक उसे ईश्वर की कृपा का आभास नहीं होता। शौच, सन्तोष तथा तप की भाँति ईश्वरप्रणिधान भी मानसिक, वाचिक तथा कायिक स्वीकार किया गया है। मानसिक ईश्वरप्रणिधान निष्काम भावना में निहित दर्शाया गया है। याज्ञवल्क्य का विश्वास है कि सच्चा ब्रह्मार्पण कर्तापन के भाव को त्यागने और संन्यास भावना का चिन्तन करने में निहित है–

नाहं कर्ता सर्वमेतन्मनसा कुरुते तथा।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।।[८६]

वाचिक ईश्वरप्रणिधान से अभिप्राय वाक्-शक्ति के समग्र व्यापार को परोपकार तथा अज्ञानान्धकार के निवारण हेतु प्रयोग करना है। ईश्वरस्तुति को ईश्वरार्पित कर देना भी इसी के अन्तर्गत आता है। तदनुसार ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पुनः पुनः यही परामर्श दिया है कि जो कार्य वह करे, जो कुछ वह भक्षण करे, वह सभी कुछ उसके (परमेश्वर के) ही अर्पण करे। कायिक ईश्वरप्रणिधान के स्वरूप का निरूपण करते हुए व्यास ने कहा है–'शय्या पर हो या आसन पर स्थित हो अथवा मार्ग में चलता हुआ हो, स्वस्थ अर्थात् अपने

में स्थित हो तथा जिसके संशय आदि वितर्क जाल क्षीण हो गए हों, ऐसा साध
क संसार के बीज का क्षय करने की इच्छा से नित्ययुक्त हुआ अमृतयोग का भागी होता है।[८७]

हमारे सभी धर्मप्रवर्तकों ने यमों के पालन को सदा सर्वदा सर्वत्र अपरिहार्य माना है। इनके लिए जाति, देश, काल तथा भौगोलिक सीमा को कोई बन्धन स्वीकार नहीं किया। यह उनके सार्वभौमिक और सार्वकालिक पालन की अपेक्षा को स्वयं सिद्ध कर देता है– **'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।'**[८८] इनके पालन को वैयक्तिक तथा सामाजिक शान्ति, समृद्धि एवं कल्याण का स्रोत माना गया है। इनके अतिक्रमण को युगक्षय का कारण घोषित किया गया है। वस्तुतः व्यक्तिशरीर और समाजशरीर का स्वास्थ्य और समृद्धि इसके समस्त अवयवों के स्वास्थ्य और योग्यता पर आश्रित है। आज के युग में प्रगति के अन्धे अनुकरण के परिणामस्वरूप किया गया इन मर्यादाओं का अतिक्रमण ही विश्वव्यापी समस्याओं का मूल कारण है। संसार में फैली हुई भंयकर अशान्ति का समूल विनाश तथा समस्त भेदविषयक समस्याओं का एकमात्र समाधान समूचे विश्व को इसके दायित्वों से अवगत कराकर यमों के यथार्थ रूप से पालन के लिए उद्यत करना है। यम का अर्थ ही शासन और व्यवस्था का रक्षण है। तदनुसार ही इस परिशीलन में इन्हें सामाजिक अनुशासनों की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जहाँ तक नियमो का सम्बन्ध है, वे मनुष्य को उसके वैयक्तिक दायित्वबोध से परिचित कराकर उसके व्यक्तित्व को उस शिष्टता से युक्त कराने में समर्थ हैं, जो उसे समाज में एक आदर्श नागरिक के कर्तव्यों का निर्वाह करने की योग्यता से युक्त करते हैं। आदर्श नागरिक ही आदर्श समाज का आधारस्तम्भ है। यमों तथा नियमों के पालन से सम्बन्धित जो कतिपय भ्रान्तियाँ हैं, उनका निराकरण आगामी अध्यायों में इनके विशद वर्णन में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः योग का क्षेत्र मात्र हठयोग, ध्यानयोग, साधनायोग तक सीमित न होकर पुरुषार्थयोग, कर्मयोग, जनकल्याणयोग तथा विश्वहितचिन्तनयोग तक विस्तृत है। तभी योग के बिना कर्मकौशल असंभव दर्शाया गया है यम-नियमों के समुच्चय का निर्वाह योगसिद्धि का अभिन्न अंग माना गया है। इस परिशीलन का उद्देश्य मानवजाति में दायित्वबोध की प्रेरणा जगाकर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के स्वप्न को साकार करने के लिए अक्षुण्ण योगदान है। मुझे आशा है कि यह परिशीलन जनमानस में वांछित संस्कार जगाने में

सहायक सिद्ध होगा–

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन्।।
स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्माणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः।।[८६]

सन्दर्भ

१. स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुवयाख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि। बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.२.१०
२. शतपथब्राह्मण, ११.५.२३.
३. न वेदशास्त्रादन्यत्तु किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निस्सृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात्।। बृहदारण्यकोपनिषद : एक अध्ययन, पृष्ठ २ से उद्धृत
४. मनुस्मृति, १२.६४.
५. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका,सायणाचार्य
६. बृहदारण्यकोपनिषद्, १.५.५.
७. यजुर्वेद, ३६.१.
८. तद्वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुरुते। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति। ऐतरेयब्राह्मण, ५.३३.
६. यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेनपूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं चाक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।। शतपथब्राहण, ११.५.६.१.
१०. सिद्धान्तकौमुदी, चुरादिगण, पृष्ठ ४२१,
११. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, दयानन्द
१२. तैत्तिरीयसंहिता, १.४.२०.
१३. तैत्तिरीयब्राह्मण, ३.३.६.१०.
१४. अमरकोश, १.५.३.
१५. अभिधानचिन्तामणि, हेमचन्द्र, पृष्ठ १०६,
१६ मनुस्मृति, २.६.
१७. आपस्तम्ब परिभाषासूत्र, १.३३. (कपर्दिस्वामीकृत टीका)
१८. वही, १.३३. (हरदत्तकृत वृत्ति)
१६. शब्दार्थमारम्भमाणानां तु कर्मणा समाम्नाय समाप्तौ वेद शब्दः।
आपस्तम्बधर्मसूत्र, २.४.८ १२.

२०. इष्ट प्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः। वैदिक साहित्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ ४।
२१. उपनिषदों में काव्यतत्त्व, डॉ कृष्णकुमार धवन, पृ० १.
२२. मुक्तिकोपनिषद्, १.१४.
२३. षदलृ विशरणगत्यवसाद्नेषु। धातुपाठ, पाणिनि।
२४. बृहदारण्यकोपनिषद : एक अध्ययन, डॉ. मनुदेव बन्धु, पृ० ३.
२५. मुण्डकोपनिषद्, २.८.
२६. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५.६.
२७. उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, डॉ. जयदेव वेदालंकार, प्रथम अध्याय
२८. सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप् प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तु विषया विद्योच्यते। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादिवत्। कठोपनिषद्, शांकरभाष्य
२९. उपनिषदिति विद्योच्यते, तच्छीलिनां गर्भजन्मजरा निशातनात्तदवसादनाद् वा ब्रह्मणो वा उपनिगमयितृत्वात् उपनिषण्णं वा अस्यां परं श्रेय इति। तदर्थत्वात् ग्रन्थोऽप्युनिषत्।। तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य।
३०. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ५८.
३१. इण्डियन फिलासफी, दूसरा संस्करण।
३२. द रिलीजन ऑफ द वेद, पृष्ठ, ५१.
३३. बृहदारण्यकोपनिषद : एक अध्ययन डॉ० मनुदेव बन्धु, पृ० १०–११.
३४. याज्ञवल्क्यस्मृति (अनुवादक, उमेशचन्द्र पाण्डेय, पृ० २७.)
३५. अल्फ्रेक्ट वेवर, भारतीय साहित्य (अनुवादक उगेशचन्द्र पाण्डेय), इलाहाबाद, १९६८, पृ.११.
३६. गौतमस्मृति, १.२; बौधायनस्मृति १.१.३.
३७. मनुस्मृति, २.१०.
३८. पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग१, पृ० ४०.
३९. वसिष्ठधर्मसूत्र, १.४.६.
४०. याज्ञवल्क्यस्मृति, १.४.५.
४१. मार्कण्डेयस्मृति, स्मृतिसन्दर्भ, (कलकत्ता) भाग–६, पृ. ६३.
४२. इन्ट्रोडक्शन टु द बृहस्पतिस्मृति, पृ० ८८ फुटनोट
४३. भारद्वाजस्मृति १.३.५.
४४. पराशरस्मृति, १.१२–१६.
४५. स्मृतिचन्द्रिका, पृ० १, वीरमित्रोदय, परिभाषाप्रकाश, पृ० १५.
४६. स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, डॉ०, राजदेव दूबे, पृ० ३
४७. P.V. Kane, History of Dharmashastras, Volume II, page II
४८. कर्णपर्व, ६६.५८.
४९. Rabindranath Tagore : Religion of man, page 143-144.
५०. R. K. Dass Gupta, Scientist as sage, Magazine Section, Statesman weekly dated March 6, 1977.

५१. हिन्दू धर्म : मानव धर्म, पृष्ठ २४.
५२. वही, पृष्ठ ४१. से उद्धृत।
५३. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.५.६.
५४. हिन्दू धर्म : मानव धर्म, पृ० ६६.
५५. ऋग्वेद १०.१६१. २–४.
५६. यजुर्वेद, ४०.१४.
५७. न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम्।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम्।।
गरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मञ्शिष्टाचारेषु नित्यदा।। आरण्यकपर्व, १६८.५६–६०.
५८. ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्म्यं पन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः।। वही, १६८.६४.
५९. अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहंकारमत्सराः।
ऋजवः शमसंपन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते।।
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः।
गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्त्युत।। वही, १६८.७३–७४.
६०. आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः।
श्रुतवृत्तोपसंपन्नाः ते सन्तः स्वर्गगामिनः।। वही, १६८.७७.
६१. पारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम्।
क्षमा सत्यार्जवं शौचं शिष्टाचारनिदर्शनम्।। वही, १६८.७६.
६२. सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा।
परुषं न प्रभाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः।। वही, १६८.८०.
६३. वही, १६८.८७-८८.
६४. वही, २००.४४.
६५. यजुर्वेद, ३१.११.
६६. मनुस्मृति, ४.२०४.
६७. शान्तिपर्व, ३०६.२६.
६८. पातञ्जल योगदर्शन, २.३०.
६९. पाराशर संहिता
७०. श्रीमद्भागवतपुराण, ५.१६.३३.
७१. यजुर्वेद, ४०.६.
७२. पातञ्जलयोग प्रदीप, पृष्ठ ३७४.
७३. ऋग्वेद १.१५४.३; अथर्ववेद, १८.२.१७.
७४. पातञ्जल योगप्रदीप, पृष्ठ ३७० से उद्धृत।
७५. शान्तिपर्व, १५२.२–१०.
७६. पातञ्जलयोगप्रदीप, पृष्ठ ३७१.
७७. शान्तिपर्व २३७.१८–१६.

७८. मनुस्मृति, ५.१०६.
७६. वही, ४.१२.
८०. वेदों में योगविद्या, पृ० २४८ से उद्धृत।
८१. अथर्ववेद १८.२.३६. (दयानन्दभाष्य)
८२. सत्यं ब बृहदृमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवी धारयन्ति। अथर्ववेद, १२.१.१.
८३. पातञ्जल योगप्रदीप, पृ० २७५.
८४. शान्तिपर्व, १६८.४०.
८५. पातञ्जलयोगप्रदीप, पृष्ठ २७६ से उद्धृत।
८६. वेदों में योगविद्या से उद्धृत, पृ० २५८.
८७. शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽयुक्तोऽमृतगोगभागी।। व्यासभाष्य, २.३२.
८८. पातञ्जल योगदर्शन, २.३१.
८६. पातञ्जल योगप्रदीप, पृष्ठ ३८६ से उद्धृत।

तृतीय अध्याय

अहिंसा

भारतीय संस्कृति का अमरत्व विश्वविख्यात है। इसका श्रेय इसके अनुयायियों द्वारा उस सशक्त, समृद्ध, लोकमंगलसमर्पित, लोकसंग्राहक और त्यागयुक्त परम्परा के निर्वाह को जाता है, जो प्राचीन न होकर सनातन है तथा विशेष युगोपयोगी न होकर शाश्वत है। यह परम्परा सामान्य से सामान्य प्राणी में भी धमनियों में रक्त की भाँति सदा सर्वदा प्रवाहमान रही है। यह ऐसा अमृत सिद्ध हुई है, जिसे युगक्षय के सर्पदंश विषासक्त करने में समर्थ नहीं हो पाए। जब कभी इस परम्परा के लोप की आशंका उत्पन्न हुई, तभी हमारे मनीषी इसे नए परिवेश प्रदान करने के लिए कृतसंकल्प हो उठे। उन्होंने परम्परा से प्राप्त जीवनमूल्यों को युग की आवश्यकता के अनुकूल संवर्धित तो किया है, संशोधित नहीं। यही हमारी परम्परा के सनातन होने का प्रमाण है। हम समूचे विश्व को एकगर्भजात, एकपितृजात, अन्योन्य अभेदयुक्त, रक्तसान्निध्यसम्पन्न और अंश-अंशी सम्बन्ध के साम्य से युक्त मानते रहे हैं। तदनुसार ही हमारा जीवन अनादिकाल से अनुशासन एवं संयमबद्ध रहा है। हमारी परम्परा न तो वैयक्तिक सामर्थ्य के असीम संचय को जीवनलक्ष्य मानती रही है और न ही उदरलोलुपता हेतु पारस्परिक सौहार्द, समभाव और सवांद के परिहार को। तदनुसार ही हम **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** के यथाशक्ति कार्यान्वयन में रत रहे हैं। इसी में दक्षता की प्राप्ति को मानवजीवन का पूर्णत्व स्वीकार करते रहे हैं। हमारे यहाँ प्रगति सभ्यता की अनुगामिनी रही है, सहगामिनी अथवा अग्रगामिनी नहीं। इस सहकारिता को जनसाधारण के लिए अनुकार्य बनाने के लिए जो वैयक्तिक संयम और अनुशासन अनुकार्य माने गए, प्राणियों में उनके अनुकरण के संस्कार

जगाने के लिए हमारे मनीषी युगानुकूल विविध अवलम्बनों का संयोजन करने में सर्वदा समर्थ रहे हैं। वैदिक संहिताओं को मानव के साशन तथा अनशन पूर्णत्व का साधक स्वीकार किया जाता है। किसी भी प्राणी के उत्थान का श्रेष्ठतम साधन उसके मन में सच्ची श्रद्धाशक्ति का प्रादुर्भाव है। स्तुति श्रद्धा के प्रादुर्भाव के लिए अनन्यतम साधन स्वीकार की जाती है। स्तुति का क्षेत्र स्तोता के गुणकथन अथवा स्तोत्र के कण्ठस्थ होने तक सीमित न होकर स्तुत्य को हृदयस्थ कर लेने तक व्यापक है। स्तुत्य का विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होना स्वाभाविक है। ऋग्वेद की विविध देवस्तुतियों में सभी देवों को उन गुणों से युक्त दर्शाया गया है, जिनका आश्रय विश्व के सुव्यवस्थित, सुनियोजित, सकुशल तथा सतत संचालन के लिए अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में वैदिक ऋषियों ने मानवाचारविषयक सभी अभीष्ट मान्यताओं को स्तुतिपदों के रूप में संकेतित करने का प्रयास किया है। प्राणी द्वारा किसी भी गुण का पुनः पुनः कथन उसे व्यवहृत करने के संस्कार जगाता है। वस्तुतः स्तुति द्वारा आत्मबोध की योग्यताप्राप्ति ही ऋग्वेद का प्रतिपाद्य विषय है। क्योंकि यह मात्र 'स्तुतिवेद' के नाम से ही आख्यात नहीं, अपितु 'सुविचार वेद' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

वैदिक संहिताओं के प्रादुर्भाव का लक्ष्य प्राणी के समग्र परिष्कार द्वारा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में साम्य स्थापित करना है। इस परिष्कार का श्रीगणेश वैचारिक परिष्कार से होता है, क्योंकि मन, वाणी, शरीर और बुद्धि परस्पर आश्रित हैं। जब तक सत्संकल्प का प्रादुर्भाव नहीं होता, तब तक स्तुति के प्रति श्रद्धा जाग्रत नहीं होती और न ही सत्कर्म के प्रति प्रेरणा सुलभ होती है। सत्संकल्प का कार्यान्वियन ही सद् ज्ञान का जनक है। तदनुसार ही हमारे आदिग्रन्थ वेद सुविचार वेद (ऋग्वेद), प्रशस्त कर्मवेद (यजुर्वेद), सदुपासना वेद (सामवेद) तथा ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) के नाम से प्रसिद्ध हैं। मानव-जीवनोपयोगी कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं जो इनमें संकलित न हो। इनका समुच्चय विश्व ज्ञानकोश के नाम से प्रसिद्ध है। अतः इनमें समाहित समस्त ज्ञान का सूत्ररूप होना स्वाभाविक है। वेदोत्तर काल में वेदों को सर्वग्राह्यता और सर्वबोधगम्यता से सम्पन्न करने के जो प्रयास किए गए, वे इनमें प्रतिपादित कुछ अंशों के याज्ञिक, यौगिक और आध्यात्मिक महत्त्व के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना में सहायक सिद्ध हुए। ये ग्रन्थ ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों के नाम से आख्यात हैं। उपनिषदों में वेदों के अध्यात्म पक्ष का प्राधान्य होते हुए भी उनमें मनुष्यों को अभीष्ट जीवनमूल्यों

को व्यवहृत करने का परामर्श उपलब्ध होता है। कालान्तर में वेदोक्त मान्यताओं के लोप की आशंका उत्पन्न हुई, जो स्मार्त साहित्य की रचना का प्रेरणास्रोत सिद्ध हुई। परिणामतः वेदोक्त धर्म (कर्तव्याकर्तव्य संकेत) वैदिक धर्म के नाम से आख्यात हुए तथा स्मृतिग्रन्थों मे निर्दिष्ट (कर्तव्याकर्तव्य) स्मार्त धर्म के नाम से जाने गए। इस साहित्य में मानवोपयोगी अभीष्ट जीवनमूल्यों के प्रतिपादन के साथ-साथ उनका सैद्धान्तिक विवेचन भी उपलब्ध होता है। वस्तुतः इसी साहित्य में जनोपयोगी सामाजिक अनुशासनों तथा वैयक्तिक संयमों को धर्म के लक्षण घोषित करते हुए यमों और नियमों के नाम से प्रतिष्ठित किया गया।

यम की व्युत्पत्ति उपरम अर्थ वाली 'यम'[१] धातु से अप् प्रत्ययान्त से स्वीकार की गई है। इससे अभिप्राय उपरमण के वे साधन हैं, जो मनुष्य को निषिद्ध कर्मों से हटाते हैं। इस धातु का नियमन के अर्थ में प्रयोग **'यम्यते नियम्यते चित्तम् अनेन इति यमः'** के रूप में भी हुआ है। यह भी यमों को मनुष्य के चित्तनियन्त्रण में सहायक सिद्ध करता है। पातञ्जल योगदर्शन में इनकी संख्या पाँच निर्धारित की गई है–**'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'**[२] वस्तुतः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह सर्वप्रथम निर्धारित यम हैं। कालान्तर में इनकी संख्या संवर्धन को प्राप्त होती रही। पाराशर संहिता के अनुसार यमों की संख्या दस है। इसके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, सरलता, मिताहार तथा पवित्रता आते हैं।[३] यमों का सम्बन्ध मनुष्य के समाज के प्रति व्यवहार से है। स्मार्त साहित्य में यमों के सदा-सर्वदा सेवन का निर्देश उपलब्ध होता है, जो इन्हें सतत अपरिहार्य सिद्ध करता है। मनुस्मृति के यमनिरूपण के अनुसार अक्रूरता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रियदमन, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता और सरलता का पालन ही यमों का पालन है।[४] याज्ञवल्क्यस्मृति में निर्धारित यमों के नाम हैं– ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, अकल्कता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य तथा जितेन्द्रियता।[५] जीवन की जो मान्यताएँ उत्तरोत्तर संवर्धन को प्राप्त होती रहीं, उनकी अपरिहार्यता स्वयं सिद्ध हो जाती है। श्रीमद्भागवतपुराण में यमों की संख्या १२ स्वीकार की गई है–

अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम्।।[६]

हमारी संस्कृति में वैयक्तिक संयमों (नियमों) का सुनियोजन मनुष्य

की भाव तथा व्यवहारभूमि को उर्वरता प्रदान करने के लिए हुआ है। वस्तुतः वैयक्तिक परिष्कार ही सामाजिक सद्व्यवहार का जनक है। यम और नियमों का योग मनुष्य के पूर्णत्वपथ को प्रशस्त करने का एकमात्र साधन है। तदनुसार ही प्राणी से यमों के सदा सर्वदा पालन का आग्रह उपलब्ध होता है। वैदिक संहिताओं के अनुसार मानवजीवन का उद्देश्य अपनी आत्मा को सबकी आत्मा में उपस्थित मानकर जीवननिर्वाह करना है। यह तभी संभव हो सकता है जब उसका आचरण सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार से युक्त हो। उसको इस योग्यता से युक्त करने के लिए ही उसके जीवनपथ को यम-नियम रूपी दीपशिखाओं से प्रशस्त करने का सफल प्रयास किया गया है।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में प्राणी विश्वेदेवों से दुरिताओं के परिहार और भद्रताओं की प्राप्ति की कामना करता है–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।[७]

वस्तुतः इससे अभिप्राय प्राणी को भयरहित, शंकारहित, उद्वेगरहित तथा शान्तियुक्त जीवन जीने की सामर्थ्य प्रदान करना है। यह तभी संभव है जब सभी का व्यक्तिगत आचार संघसमर्थक, संघपोषक और संघसमर्पित हो। इसके लिए सद्व्यवहार का समग्र निर्वाह अपरिहार्य है। यह दूसरों के प्रति सत्कथन, सत्संकल्प, सत्कर्म और सद्भाव द्वारा ही संभव है। वेदों में इनके लिए प्राणियों द्वारा जो भद्रताएँ अनुकार्य मानी गई हैं, वे हैं–**स्वंचः** (एक होकर समुदाय अथवा संघ बनाकर उच्च बनने के लिए उत्तम मार्ग का अनुसरण), **स्वध्वरः** (हिंसारहित उच्च कर्म करना), **स्वप्नस्** (उत्तम प्रशस्ततम कर्म करना), **स्वमिष्टिः** (उत्तम श्रेष्ठ इच्छा धरना), **स्विष्टम** (उत्तम इच्छा करना), **सूक्तम्** (उत्तम भाषण करना), **सुकृतम्** (उत्तम कर्म करना), **सुचेतस्** (उत्तम चित्त धारण करना), **सुमनः** (उत्तम मन बनाना) तथा **सुव्रतम्** (उत्तम व्यवहार करना)।[८] इन सभी भद्रताओं का प्रादुर्भाव मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा के पालन द्वारा ही संभव है। मनुष्य को इस योग्यता से युक्त करने के लिए वेद में जिन विविध दुरिताओं के निषेध के संकेत उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं–**दुर्ध्या** (दुष्ट विचार), **दुरुक्तम्** (दुःखदायक कथन), **दुरोकम्** (अहितकारी परिणामयुक्त कर्म), **दुर्मन्मन्** (दुःसंकल्प), **दुवर्तुः** (दुर्व्यवहार), **दुर्विदत्रः** (दुष्ट स्वभाव एवं दुर्भावयुक्त), **दुश्चित्तम्** (असद् चिन्तन), **दुर्वाचः** (बुरा भाषण) तथा **दुर्हार्दः** (जिसका हृदय बुरा है)। मनुष्य का वैयक्तिक

कल्याण, सम्पन्नता, शान्ति, अभय एवं सुख दूसरों के कल्याणचिन्तन, सम्पन्नताप्रयत्न, शान्तिप्रयास, अभयाश्वासन तथा सुखसिद्धि पर आश्रित हैं। तदनुसार ही अहिंसा को यमों में प्रथम स्थान प्राप्त है। वस्तुतः अहिंसा से अभिप्राय मानव द्वारा दुर्वृत्तियों से निवृत्ति और सद्वृत्तियों का अनुकरण है। जब मानवमन आसुरीवृत्तियों से आवृत हो जाता है तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार आदि के वशीभूत होकर दूसरों को कष्ट देने के लिए सन्नद्ध हो जाता है। उसकी यह वृत्ति ही हिंसा वृत्ति है, जो आसुरी वृत्ति के नाम से भी प्रसिद्ध है। इससे निवृत्ति मनुष्य में सात्त्विकता, शान्ति, श्रद्धा, प्रेम और उत्साह का प्रादुर्भाव कराने में सर्वथा समर्थ है। यह आचरण ही अहिंसा वृत्ति स्वीकार किया गया है।

वेदों में अहिंसाविषयक संकेत

जिस प्रकार मानसिक और बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए कायिक स्वास्थ्य अनिवार्य है, उसी प्रकार परिष्कृत समाज के लिए परिष्कृत व्यक्तित्व। व्यक्तित्व का परिष्कार उसके मानसिक, वाचिक और कायिक परिमार्जन द्वारा ही संभव है। इसके परिणामस्वरूप वह सत्संकल्प, सत्कर्म, सद्-चिन्तन और लोकमंगलसाधक ज्ञान के महत्त्व से ही अवगत नहीं होता, अपितु इसे चरितार्थ करने में प्रयत्नरत भी हो जाता है। सामान्यतः अहिंसा का जो मानसिक, वाचिक तथा कायिक विवेचन उपलब्ध होता है, वह इसी सत्य पर आश्रित है। इसके किसी एक अंग (मानसिक, वाचिक तथा कायिक) का ही कार्यान्वयन पर्याप्त नहीं, अपितु इसके समग्र निर्वाह के व्रत का पालन ही अहिंसाचार है। तदनुसार ही इस अध्याय में तीनों प्रकार की अहिंसा को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत सीमित रखने का प्रयास किया गया है। वैदिक संहिताओं में त्रिविध अहिंसा के पालन के जो संस्कार जगाए गए हैं, उनमें अहिंसासमर्थक और हिंसानिषेधक संकेतों का प्रावधान हुआ है। तदनुसार ही अग्नि को हिंसारहित तथा प्रशस्त कर्म का अधिपति कहा गया है।[10] इससे पूर्व हिंसा को राक्षस की संज्ञा से अभिहित करते हुए इन्द्र से अनुरोध किया गया है कि वह वज्र द्वारा उसका प्रतिकार करे। हिंसा के विनाश की कामना कुवृत्तियों और कुकृत्यों के उन्मूलन तथा उत्कृष्ट वृत्तियों के प्रादुर्भाव के लिए की गई है। यजुर्वेद में इष्ट के लिए **'हरसे'**[11] पद का प्रयोग दुष्टता के हरण की आवश्यकता का द्योतक है। **'हरसे'** से अभिप्राय हिंसारहित आचरण को देवगुण घोषित करना है। ऋग्वेद में मानसिक हिंसावृत्ति के अनुगामी मनुष्यों को **'ब्रह्मद्विषः'**[12] और **'द्रुहः'**[13] कहा गया है।

मनुष्य के वाचिक परिष्कार के लिए जिस शक्ति की स्तुति उपलब्ध होती है, वह वाणी की देवी सरस्वती है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इसका आह्वान उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार भूमि, सरस्वती और वाणी को सुखदायिनी शक्तियाँ स्वीकार किया गया है।[१४] ऋग्वेद के स्तुतिमन्त्रों में पुनः पुनः हिंसकों को अहिंसकों से दूर रखने की कामना की गई है। अहिंसावृत्ति का पालन मनुष्य के लिए सांसारिक वैभवप्राप्ति का कारण दर्शाया गया है–

स रत्नं मर्त्यो वसु विश्वं तोकमुतत्मना। अच्छा गच्छत्यस्तृतः।।[१५]

ऋग्वेद में लगभग सभी देवों को अहिंसा गुण से युक्त दर्शाया गया है। जिस इन्द्र के वज्र से हिंसकों के विनाश की कामना की गई है, वही इन्द्र अहिंसा से युक्त दर्शाया गया है।[१६] अग्नि की विविध स्तुतियों में उसे हिंसारहित यज्ञों का सम्राट् घोषित किया गया है।[१७] अहिंसासमर्थक पदों में **'अध्वरः'**[१८] **'अघन्ये'**[१९], **'मा हिंसीः'**[२०] आदि पद आते हैं। ऋग्वेद में स्तुति की सार्थकता उसके अहिंसायुक्त होने में स्वीकार की गई है–

अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः।
विद्याम् यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः।।[२१]

यजुर्वेद में उपलब्ध प्रजाओं की कायिक हिंसा का निषेध प्रशस्त कर्म का अहिंसायुक्त होना स्वाभाविक सिद्ध करता है।[२२] रुद्र से की गई एक कामना में उसे प्राणियों का रक्षक घोषित किया गया है और उससे अनुरोध किया गया है कि वह मनुष्यों तथा जगत् के पशुओं की हिंसा न करे।[२३] एक अन्य मन्त्र में प्राणी कामना करता है कि उसकी जिह्वा कल्याणकारी भाषण की शक्ति से युक्त हो। मन दुर्विचार से निवृत्त हो। अंगुलियाँ आनन्ददायक हों।[२४] वस्तुतः इस माध्यम से त्रिविध अहिंसायुक्त विचार, उच्चार और व्यवहार से ही मानव द्वारा कल्याणचिन्तन, कल्याणकथन और कल्याणकर्म का निर्वाह संभव दर्शाया गया है। इससे अगले मन्त्र में हाथों के उत्तम कर्मानुष्ठान में सक्षम होने की कामंना की गई है।[२५] अन्ततः विशेष शक्तियों से सम्पन्न ग्यारह-ग्यारह देवों के तीन त्रिकों (३३ देवों) से अपने समस्त गुणों से प्राणी की रक्षा करने का अनुरोध किया गया है।[२६] एक मन्त्र में जीवघातियों, कुत्सिताचारियों, चंचल चित्त वालों, कृपणों और समस्त बुराईयों को दूर करने की कामना की गई है–

अति निहो अति स्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यं सहवीरां रयिं दाः।।[२७]

यजुर्वेद में जीवन का पूर्णत्व **'सोऽहम्'** के स्वाभाविक स्वस्फुरण की पात्रता में निहित दर्शाया गया है। **'सोऽहम्'** से अभिप्राय व्यष्टि एवं समष्टि, पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड और जीव तथा ब्रह्म में साम्यानुभूति है, जो भेद के सर्वथा परिहार द्वारा ही संभव है। जब तक प्राणी में भेद विद्यमान रहता है तब तक वह संशयराहित्य के महत्त्व से अवगत नहीं होता। तदनुसार ही यजुर्वेद में संशयराहित्य तभी सुलभ दर्शाया गया है जब प्राणी वास्तव में अनुभव से सब भूतों को अपनी आत्मा में देखने में समर्थ और अपनी आत्मा को सब भूतों में उपस्थित स्वीकार करने में सक्षम हो जाता है। यह सब तभी संभव है, जब प्राणी सभी के प्रति आत्मवत् व्यवहार की योग्यता से युक्त हो। वस्तुतः इस माध्यम से अहिंसा के समग्र निर्वाह को मानवजीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य घोषित किया गया है।

अथर्ववेद का विहंगावलोकन इसमें अहिंसाविषयक संकेतों के प्रावधान के प्राधान्य का समर्थक सिद्ध होता है। इसके एक सूक्त में पारिवारिक अभेद की स्थापना का मूल पारस्परिक सांमनस्य तथा शान्तिपूर्वक वार्तालाप दर्शाया गया है–

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।।[२८]

इस सूक्त में एकता अभेद, अविद्वेष तथा संगठित पुरुषार्थ में निहित दर्शायी गयी है। इसके लिए सुहृदयता तथा सांमनस्य का पालन आवश्यक घोषित किया गया है। 'एकता' सूक्त का क्षेत्र परिवार तक सीमित न होकर विश्वव्यापी एकता तक विस्तृत है। इसका मूल अहिंसा के त्रिविध पालन में निहित दर्शाकर अथर्ववेद में प्राणियों के ज्ञानात्मक परिष्कार के लिए अहिंसाव्रत के पालन का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। 'शत्रुदमन' सूक्त में इन्द्र और सोम से की गई एक स्तुति में कुत्सिताचारियों के विनाश के लिए की गई कामना हिंसा के निषेध को समर्पित है।[२९] यह स्तुति 'शत्रुदमन' सूक्त के प्रथम मन्त्र में उपलब्ध होती है। वस्तुतः यह सारा सूक्त समस्त दुरिताओं को मनुष्य के शत्रु घोषित करने को समर्पित है। इस स्तुति में

यजुर्वेद की सविता देव से की गई दुर्वृत्तियों के परिहार और सद्‌वृत्तियो प्रादुर्भाव की भावना का अनुरणन उपलब्ध होता है। 'संघटना का उपदेश सूक्त में एकता की भाँति प्राणियों के लिए संघटना हेतु ज्ञानसाम्य, सम्बन्धसाम्य, संस्कारसाम्य, विचारसाम्य, व्रतसाम्य, चित्तसाम्य, संकल्पसाम्य और मननसाम्य के सतत निर्वाह का अनुरोध किया गया है।[30] वास्तव में यह सूक्त ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त का पुनरुद्धरण है। यजुर्वेद में इसका अभिप्राय संकल्पविषयक अभेद के लिए अहिंसा के समग्र निर्वाह की अपेक्षा सिद्ध करना है। अथर्ववेद में इसका उद्देश्य त्रिविध अहिंसा के पालन को संगठन का मूल दर्शाना है। अन्य वेदों की भाँति अथर्ववेद में भी हिंसावृत्ति के निषेध के संकेत मिलते हैं। 'दुष्टों का नाश' सूक्त में जो वृत्तियाँ मनुष्य को हिंसा के कुमार्ग की ओर ले जाती हैं, उनसे युक्त प्राणियों को दुष्ट घोषित किया गया है। वे हैं–**दुर्हार्दः** (दुष्ट हृदय वाला), **असु-तृप** (जो दूसरे के प्राणों की बलि लेकर तृप्त होता है), **भंगुरावत्** (जो दूसरों का सत्यानाश करता है), **हिंस्रः** (जो हिंसा करता है), **शफा-रुज्** (अपनी लातों के प्रहारों से जो दूसरों को मारता है), **रिषः** (हिंसक), **यातुधानः** (दूसरों को यातना देने वाले), **दुरेवः** (दुष्ट मार्ग पर चलने वाला), **वाचास्तेनः** (जो वाणी का चोर है), **मूरदेवः** (महाहिंसक) तथा **मिथुनाशपातः** (दूसरों को गालियां देने वाले)।[31] 'अभयम्' सूक्त में हिंसा से निवृत्ति एवं अविद्वेष के प्रादुर्भाव को अभय का मूल दर्शाया गया है–

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवं छग्धि तव त्वं न ऊतिमिर्वि द्विषो वि मृधो जहि।।[32]

'मेधा' सूक्त में बृहस्पति से की गई एक स्तुति में स्तोता के मानसिक छिद्र तथा वाणीविषयक छिद्र के परिहार की कामना की गई है। भावतः यह मानसिक और वाचिक हिंसावृत्ति से निवृत्ति की कामना सिद्ध होती है। वस्तुतः इससे अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि मनुष्य की मेधा शक्ति का संवर्धन अहिंसा के त्रिविध पालन के बिना असंभव है।

वैदिक संहिताओं में अहिंसासमर्थक तथा हिंसानिषेधक संकेतों के परिशीलन से जो निष्कर्ष निकलता है उसके अनुसार अहिंसा का समग्र निर्वाह उन समस्त शान्तियों की प्राप्ति का मूल मन्त्र है, जिनकी प्राप्ति का साधनसुनियोजन वैदिक संहिताओं का प्रतिपाद्य विषय स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः वेद प्राणी के लिए पूर्णत्व के समर्थक हैं। जिस संशयराहित्य की

प्राप्ति को उन्होंने मानवजीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया है, उसकी प्राप्ति सार्वभौमिक अहिंसा के समग्र निर्वाह द्वारा ही संभव है। क्योंकि प्राणी को आत्मवत् व्यवहार की सामर्थ्य प्राप्त कराने वाला एकमात्र साधन किसी के भी प्रति अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन, द्वेषभाव और अकल्याणकारी कर्म से सर्वथा निवृत्ति है। ये संकेत भारत में अहिंसासमर्थक परम्परा के सूत्रपात सिद्ध होते हैं। उत्तरवर्ती समस्त भारतीय साहित्य में अहिंसा को दिया गया समर्थन, इसका महत्त्वप्रतिपादन, इसे जीवन का मूलमन्त्र घोषित करने का समस्त प्रयास एवं इसे परम धर्म घोषित करने की समस्त चेष्टाएँ वेदों में उपलब्ध अहिंसाविषयक संकेतों के समर्थन, अनुमोदन, संवर्धन तथा सरलीकरण को समर्पित हैं। इतना ही नहीं, भारत के स्वतंत्रता संग्राम में लिया गया अहिंसा का परम आश्रय इसे सार्वकालिक और सार्वभौमिक प्रासंगिकता से युक्त सिद्ध करता है। महाभारत में उपलब्ध अहिंसा-संस्तुति सर्वथा तद्विषयक वैदिक मान्यताओं के अनुकूल है।

उपनिषदों में अहिंसाविषयक परामर्श

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय मानव को तत्त्वज्ञान से सम्पन्न कराकर उसके **'अहम्'** को **'सर्वम्'** में स्वेच्छित प्रणिधान की योग्यता से युक्त करना है। अध्यात्म पक्ष के प्राधान्य से युक्त होते हुए भी इस साहित्य में प्राणिमात्र में अभेदसंस्थापक परामर्श उपलब्ध होते हैं। इनके अनुसार विश्व अन्योन्य अभेद से युक्त है। प्राणियों में पारस्परिक रक्तसान्निध्य एवं अंश-अंशी सम्बन्ध में विश्वास तथा सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार वे साधन हैं, जिनके आधार पर विश्व में पारिवारिक पारस्परिकता, सहकारिता, सहिष्णुता, सांमनस्य तथा सद्भावना की उपलब्धि सर्वथा संभव है। उसके लिए जो साधन यथेष्ट दर्शाए गए हैं, वे हैं–यजुर्वेद द्वारा प्रतिपादित सद्वृत्तियों में प्रवृत्ति और दुर्वृत्तियों से निवृत्ति। उपनिषदों के अनुसार प्रेयासक्ति समस्त भेदों की जननी है और श्रेय में अभिरुचि समस्त भेदविषयक समस्याओं का समाधान। समस्त उपनिषत्साहित्य ब्रह्म को मानव की हृदय रूपी गुफा में स्वीकार करता है। इससे साक्षात्कार चित्तवृत्तियों के निरोध के माध्यम से ही संभव दर्शाया गया है। कहीं इसके लिए रथ के रूपक का आश्रय लिया गया है,[३४] तो कहीं यजुर्वेद और ऋग्वेदप्रतिपादित स्तुतियों के माध्यम से प्राणियों की श्रवणशक्ति, वाक्शक्ति तथा दृष्टिशक्ति के कल्याणकारी होने की कामना करते हुए आयुपर्यन्त ईश्वर के प्रति समर्पित रहने का संकल्प लिया गया है।[३५] उपनिषदों में मनुष्य के मानसिक, वाचिक और कायिक

परिष्कार के लिए वे ही साधन यथेष्ट दर्शाए गए हैं, जो वैदिक संहिताओं में सूत्र रूप में विद्यमान हैं। संक्षिप्ततः उपनिषदों में उपलब्ध श्रेयसाधक परामर्श, अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन एवं अकल्याणकारी कर्म के निषेध का प्रावधान उपलब्ध होता है।

कठोपनिषद् में विविध दुर्वृत्तियों में आसक्ति को मनुष्य द्वारा श्रेयलाभ मे बाधक दर्शाते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार वर्षा का जल नीचे की ओर बहकर विभिन्न वर्ण, आकार तथा गन्ध को धारण करके पर्वत के चारों ओर बिखर जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्य एक ही परमात्मा से उत्पन्न विभिन्न स्वभाव वाले देव, असुर तथा मनुष्य आदि को परमात्मा से भिन्न मानकर उनकी उपासना करता है, उसे भी बिखरे हुए जल की भाँति विविध देवासुर आदि लोकों में भटकना पड़ता है। वह ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता–

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु धावति।।[३६]

यह मानवजीवन में अहिंसा के समग्र निर्वाह की स्वाभाविकता को स्वयं सिद्ध कर देता है। अभेदबुद्धि तब तक सुलभ नहीं जब तक प्राणी अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन एवं अनिष्ट कर्म में प्रवृत्ति से सर्वथा निवृत्त नहीं हो जाता। कठोपनिषद् में अहिंसा के समग्र निर्वाह को ब्रह्मप्राप्ति का साधन दर्शाने का परामर्श इसे योग का परम अंग और परम धर्मलक्षण सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ है। छान्दोग्योपनिषद् में अक्षय फलदायक आत्मयज्ञरूपी उपासना की व्याख्या में तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन को आत्मयज्ञ की दक्षिणा दर्शाकर आत्मज्ञता (आत्मबोध) के लिए अहिंसा के समग्र निर्वाह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[३७] आरुणिकोपनिषद् के संन्यास आश्रमविवेचन में ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह एवं सत्य की प्रयत्नपूर्वक रक्षा का परामर्श प्राणिमात्र में अहिंसा के समग्र निर्वाह को स्वाभाविक सिद्ध करता है।[३८] कृष्णोपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय परब्रह्म कृष्ण के अवतार के साथ-साथ धर्म की पुनर्स्थापना हेतु समस्त सद्वृत्तियों और दुर्वृत्तियों के मानव एवं मानवीय रूप में अवतरित होने का वर्णन है। इसमें सत्यभामा को अहिंसा एवं पृथ्वी का अवतार घोषित किया गया है और रोहिणी को दया का। दुर्वृत्तियों में कंस को अघासुर, महाव्याधि और कलि का अवतार दर्शाया गया है। यह धर्म की पुनर्स्थापना के लिए अहिंसा की आवश्यकता को स्वयं सिद्ध कर देता है।[३९] प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में प्राणाग्निहोत्र यज्ञ की

सिद्धि अहिंसा की पत्नी सयाज एवं इष्टका के रूप में स्वाभाविक स्वीकृति में निहित दर्शायी गयी है।[४०] इससे अभिप्राय अहिंसा के आचरण को प्राणाग्निहोत्र यज्ञ की सिद्धि का मूल घोषित करना है। जब तक प्राणी सभी के प्रति अनिष्टं चिन्तन, अनिष्ट कथन एवं अनिंष्ट आचार से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, उसके **'अहम्'** का **'सर्वम्'** में स्वेच्छित विसर्जन असंभव है।

सद्वृत्तियों के समर्थन को सर्वग्राह्यता प्रदान करने के लिए हमारे यहाँ तद्विरोधी दुर्वृत्तियों के निषेध की सुदीर्घ और सुदृढ जो परम्परा मिलती है, उसमें हिंसा के निषेध का अन्तर्निहित होना स्वाभाविक है। वेदों की भाँति उपनिषदों में भी अहिंसा का द्विविध समर्थन उपलब्ध होता है। इनमें अहिंसा के समर्थन के लिए हिंसा के निषेध के जो परामर्श उपलब्ध होते हैं, उपनिषदों में अहिंसाविषयक परामर्शों के विवेचन के लिए उन पर दृष्टिपात यथेष्ट है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार अहिंसायुक्त अग्निहोत्र कर्म के दर्श नामक यज्ञ, पौर्णमास यज्ञ तथा आग्रायण कर्म से युक्त होना स्वाभाविक है। अग्निहोत्र के लिए चातुर्मास्य नामक यज्ञ का याजन भी अपेक्षित है। अग्निहोत्र में अतिथिसत्कार एवं समय पर आहुत्यार्पण तथा बलिवैश्वदेव नामक कर्मानुष्ठान वांछित है। इसके लिए शास्त्रविधि की अवहेलना निषिद्ध घोषित की गई है। इससे अन्यथा होने पर अग्निहोत्री के सातों लोकों के नाश की आशंका की गई है।[४१] ऐतरेयोपनिषद् में आत्मभाव (समभाव) को हिंसा के परिहार का मूल दर्शाते हुए कहा गया है कि जब गर्भ स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है तब वह उसका अपना अंग बन जाता है। यह गर्भ उसके लिए पीड़ादायक सिद्ध नहीं होता।[४२] वस्तुतः तब तक हम दूसरों के प्रति किए गए घात-प्रतिघात को अपने प्रति किया गया घात-प्रतिघात, दूसरों के प्रति किए गए अनिष्ट चिन्तन को अपने प्रति किया गया अनिष्ट चिन्तन और दूसरों के प्रति कहे गए अनिष्ट कथन को अपने स्वयं के विरुद्ध कहा गया अनिष्ट कथन अनुभव नहीं करते, तब तक हममें त्रिविध अहिंसाभाव का प्रादुर्भाव असंभव है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में शिव की एक स्तुति में शिव से अनुरोध किया गया है कि वह अपने बाण को कल्याणमय बना ले और जीवसमुदायरूप जगत् की हिंसा न करे–

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्।।[४३]

वास्तव में यह मन्त्र यजुर्वेद के २६वें अध्याय के तीसरे मन्त्र का

यथारूप उद्धरण है। यह उपनिषत्साहित्य में उपलब्ध हिंसाविषयक परामर्शों को तत्सम्बन्धी वैदिक संकेतों का अनुमोदन सिद्ध करता है। महानारायणोपनिषद् में **'मा नो हिंसीज्जातवेदो गामश्वं पुरुषं जगत्'** के माध्यम से वही भाव अभिव्यक्त किया गया है, जो श्वेताश्वतरोपनिषद् में शिव को समर्पित स्तुति में विद्यमान है।[४४] इसी सत्य का अक्षरशः अनुमोदन नीलरुद्रोपनिषद् के उस मन्त्र में मिलता है, जिसमें स्तोता शिव से जगत् की हिंसा न करने का अनुरोध करता है।[४५] सार्वभौमिक मंगलकामना की सिद्धि की योग्यताप्राप्ति के लिए त्रिविध अहिंसायुक्त व्यवहार अपरिहार्य है। यही सार्वभौमिक अहिंसा का सच्चा स्वरूप है। अहिंसा के समग्र निर्वाह के लिए मन का शिवसंकल्प से युक्त होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि कल्याणकारी कथन और कल्याणसाधक कर्म दोनों ही का जनक कल्याणचिन्तन स्वीकार किया जाता है। तदनुसार ही उपनिषत्साहित्य में यजुर्वेदोक्त शिवसंकल्प की प्राप्ति की अपेक्षा का यथावत् पुनरुद्धरण उपलब्ध होता है। इसमें मन के शिवसंकल्प से युक्त होने की योग्यतासिद्धि के लिए कठोपनिषद् में अख्यात रथ के रूपक का आश्रय लिया गया है। मन को शरीररूपी रथ का सारथि दर्शाकर उसकी योग्यता जितेन्द्रियता में निहित दर्शायी गयी है। वस्तुतः मन तभी शिवसंकल्प से युक्त हो सकता है, जब वह इन्द्रियासक्ति से पूर्णतया मुक्त हो।[४६] बृहदारण्यकोपनिषद् में हिंसानिषेधक परामर्श के अनुसार राजा द्वारा की गई ब्राह्मणहिंसा योनि के नाश का कारण मानी गई है।[४७] हिंसा से अभिप्राय अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट देने का मानसिक, वाचिक तथा कायिक दुस्साहस है। हिंसायुक्त आचरण मात्र दूसरों के लिए ही भय का कारण नहीं बनता, अपितु दूसरे के अहित की चिन्ता दुष्चिन्तक के अपने मन में तज्जन्य भय की आशंका को भी जन्म देती है। उपनिषदों में अहिंसा के समग्र निर्वाह को अभया शान्ति का मूल मन्त्र, सावित्री शान्ति का प्राणतत्त्व, गायत्री शान्ति का अधिष्ठान, वैष्णवी शान्ति का स्रोत और जागतिक शान्ति का आधार तत्त्व दर्शाया गया है।

स्मृतियों में अहिंसा-निदर्शन

भारतीय परम्परा में यम-नियम-विधान के सूत्रपात का श्रेय स्मार्त साहित्य को जाता है। इस साहित्य का क्षेत्र मात्र स्मृतियों तक सीमित न होकर उन समस्त योगदर्शनों, धर्मशास्त्रों एवं धर्मसूत्रों तक व्यापक है, जिनमें भारतीय सनातन धर्म का सैद्धान्तिक विवेचन तथा विश्लेषण उपलब्ध होता है। स्मार्त धर्म के यमविधान में अहिंसा को शीर्ष स्थान प्राप्त

है। मनु मुख्य स्मृतिकार माने गए हैं। उनके द्वारा निर्धारित धर्म आज भी मानवधर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसकी वर्तमान काल में प्रासंगिकता इस सत्य से स्वयं सिद्ध हो जाती है कि भारतीय न्यायालयों में आज भी कुछ न्यायविषयक शंकाओं के समाधान के लिए मनुस्मृति को प्रमाण-रूप में उद्धृत किया जाता है। मनु द्वारा किया गया हिंसा-अहिंसा का विवेचन भले ही कुछ प्रतिपरिशीलकों के लिए भ्रान्तिकारक सिद्ध हुआ हो, तो भी वे अहिंसा के महान् समर्थक सिद्ध होते हैं। उनके यमप्रतिपादन में अहिंसा की प्रथम यम के रूप में प्रतिष्ठा इसे स्वयं सिद्ध कर देती है। उनके अनुसार जो अहिंसक जीवों का अपने सुख की इच्छा से वध करता है, वह जीता हुआ तथा मरकर भी कहीं पर सुखपूर्वक उन्नति नहीं कर सकता।[४८] उनके अनुसार अहिंसा का समग्र पालन अनायास आनन्दप्राप्ति का मूल स्रोत है–

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन।।[४६]

वे मांसाहार त्याग को देवसन्तुष्टि, परम दानशीलता और सर्वदा तपस्यानिर्वाह के समकक्ष स्वीकार करते हैं।[५०] इससे पूर्व मनु ने आचार्य, वेदाख्याता, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण और तपस्वियों के प्रति प्रतिकूल आचरण को हिंसा घोषित करके इसे निषिद्ध दर्शाया है।[५१] यह मनु के अहिंसाविषयक सैद्धान्तिक विवेचन को वेदसंगत व्यापकता प्रदान करता है। मनु ने परपीडन में प्रवृत्ति को हिंसा का पर्याय दर्शाकर अहिंसाविषयक निदर्शन को व्यापकता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है।[५२] मनु ने वृक्षसृष्टि के विरुद्ध की गई हिंसा को दण्डनीय दर्शाकर अहिंसा को सार्वभौमिकता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है।[५३] इस उक्ति में वृक्षसृष्टि के प्रति अहिंसायुक्त व्यवहार को पर्यावरण-संरक्षण का श्रेष्ठतम साधन दर्शाया गया है। अहिंसक पशु-पक्षियों के विरुद्ध की गई हिंसा को दण्डनीय दर्शाकर मनु ने प्राणियों में अन्य जीवों के प्रति अहिंसासमर्थक संस्कार जगाने का सफल प्रयास किया है।[५४] मनु ने वाचिक और कायिक हिंसा को पाप घोषित करके जनसाधारण से इससे निवृत्त रहने का आग्रह किया है।[५५] मनु ने हिंसावृत्ति से निवृत्ति के लिए इस आचरण से युक्त प्राणियों के अपर जन्म में अपंग होने का भय प्रस्तुत करके अहिंसा का समर्थन किया है।[५६] उन्होंने वृक्षहिंसा कों उपपातक घोषित करके प्राणियों में इसके निषेध के संस्कार जगाने में सफलता प्राप्त की है।[५७] मनु ने इस

जन्म में हिंसावृत्ति में रति को अपर जन्म में हीन योनि में उत्पत्ति का कारण दर्शाकर इसके निषेध को सार्थकता प्रदान की है।[५८]

याज्ञवल्क्य ने किसी भी धर्म के आचरण में किसी भी आश्रम को कारण नहीं माना। उन्होंने प्राणियों को परामर्श दिया है कि वे दूसरों के लिए ऐसा कुछ भी न करें जो अपने को रुचिकर न लगता हो–

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत्।।[५९]

याज्ञवल्क्य ने प्राणियों को आयु, बुद्धि, वाणी, वेष, शास्त्रज्ञान तथा कर्म के उपयुक्त ऐसी जीवनवृत्ति स्वीकार करने का परामर्श दिया है, जो टेढी और मत्सरयुक्त न हो।[६०] इस कथन में अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन और दुष्कर्म के परिहार को मनुष्य की आयु, बुद्धि, आर्थिक सम्पन्नता, वाक्शक्ति, वेषभूषा, शास्त्रज्ञता और प्रशस्त कर्मानुष्ठान में सामर्थ्यप्राप्ति का स्रोत दर्शाया गया है। यतिधर्मनिरूपण में याज्ञवल्क्य ने यतियों के लिए जितेन्द्रियतालाभ, राग-द्वेषराहित्य तथा समस्त प्राणियों को अभयदान में प्रवृत्ति वांछित दर्शायी है।[६१] यह प्राणियों द्वारा आजीवन अहिंसा के समग्र निर्वाह में रत रहने का निर्देश है। गौतम ने हिंसा से निवृत्ति को पापों से मुक्ति का साधन दर्शाकर जनसाधारण में इसके निषेध के संस्कार जगाने में सफलता प्राप्त की है।[६२] औशनस ने प्रियचिन्तन, प्रियकथन और कल्याणकारी कर्म को मानवाचार का मूल मन्त्र घोषित किया है।[६३] इसी स्मृति के आश्रम धर्म-विवेचन में ब्रह्मचारी के लिए हिंसा में रति त्याज्य दर्शायी गयी है।[६४] वसिष्ठ ने अपने अहिंसा-निदर्शन में अहिंसा के त्रिविध निर्वाह को अभया शान्ति का मूल सिद्ध किया है।[६५] वसिष्ठ ने यतिधर्म के निर्वाह के लिए हिंसा और अनुग्रह के परिहार को यथेष्ट दर्शाया है।[६६] शातातपस्मृति में जीवहिंसा को पाप घोषित किया गया है और इसे विविध रोगों का कारण दर्शाया गया है।[६७]

स्मृतियों में अहिंसा-निदर्शन के माध्यम से प्राणियों के पूर्णत्वप्राप्ति के पथ को जो सुगमता, सरलता तथा समतलता प्रदान करने का प्रयास किया गया है, वह सर्वथा वेदसम्मत होने के नाते वेद को अखिल धर्म का मूल घोषित करता है। स्मृतिकारों ने अहिंसा-निदर्शन में परम्परागत शैली का निर्वाह किया है। अहिंसा में प्रवृत्ति की महत्त्वप्रशस्ति तथा अन्यथा आचरण को दुष्परिणाम से युक्त दर्शाकर अहिंसा के समग्र निर्वाह को परम धर्म

सिद्ध करने का सफल प्रयास स्मार्त साहित्य की अनन्यता सिद्ध होता है। इसके पालन में सौहार्द, सांमनस्य, समभाव और सद्व्यवहार को लभ्य दर्शाकर इसे एक व्यापक जनानुरोध का रूप दिया गया है।

रामायण में अहिंसा-प्रतिष्ठा

रामायण का अध्ययन इसे वाल्मीकि के मन में निरपराध क्रौञ्च की निर्मम निषाद द्वारा अकारण हत्याजन्य अन्तर्द्वन्द्वजनित शोकजन्य रोष के परिणामस्वरूप ऋष्योचित मर्यादाओं के अतिक्रमण (निषाद के प्रति अनिष्ट चिन्तन तथा अनिष्ट कथन) का परिणाम सिद्ध करता है। इसके सोपान को इस प्रकार छन्दोबद्ध किया जा सकता है–

करुणा की तरल नींव पर है आधारित वीर रस का स्तम्भ।
शोकजन्य रोष से ही परिहारित होता आत्मदम्भ।।
जब छिन्नमिथुन क्रौञ्चवध पर सृष्टि होती है मर्माहत।
तब कवि-हृदय में होता है एक महाकाव्य का समारम्भ।।

वाल्मीकि-रामायण का यह सोपान ही इसे मर्यादा-प्रतिष्ठा की महागाथा सिद्ध करता है। जब निषाद द्वारा निरपराध क्रौञ्च के प्रति किए गए घातक कर्म के अनौचित्य के विरुद्ध महर्षि वाल्मीकि का मन उद्वेलित हो उठा, तो वे इतने विह्वल हो उठे कि अपने ऋषिधर्म की मर्यादाओं का अतिक्रमण तक करने के लिए विवश हो उठे। छिन्नमिथुन क्रौञ्च की मार्मिक चीत्कार के उपरान्त समूचा तपोवन कवि के इस अन्तर्नाद से गूँज उठा–

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।[६८]

वस्तुतः अहिंसा की प्रतिष्ठा और हिंसा का निराकरण रामायण की रचना का कारण ही नहीं, लक्ष्य भी है। राम का समस्त जीवन ऋषियों के परित्राण और कुत्सिताचारियों के पराभव को समर्पित सिद्ध होता है। वाल्मीकि के मर्यादानिरूपण की अनन्यता राम को मर्यादा का एक ऐसा मूर्तिमान् रूप सिद्ध करने में निहित है, जिसके परिणामस्वरूप वह आज भी मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम से अभिहित किए जाते हैं। रामायण में प्रतिपादित मर्यादाओं की सार्वकालिक और सार्वभौमिक प्रासंगिकता वर्तमान में सभी देशों में इसकी बढती हुई लोकप्रियता से स्वयं सिद्ध हो जाती है। प्राच्य साहित्य में गीता के पश्चात् रामायण दूसरी प्राच्य रचना है, जिसका अनुवाद विश्व की बहुत सी विश्वव्यापी प्रामाणिकता को प्राप्त भाषाओं में हो

चुका है। रामायण कान्तासम्मत मधुर वाणी में वाल्मीकि का दार्शनिक उपदेश सिद्ध होती है। नारद द्वारा किया गया राम का संक्षिप्त गुणकथन उन्हें जितेन्द्रिय, क्रोधजित् एवं परनिन्दा से निवृत्त घोषित करता है। अयोध्याकाण्ड का समारम्भ राम के राजोचित गुणकथन से होता है। उन्हें किसी के प्रति अनिष्ट चिन्तन,[६९] अनिष्ट कथन[७०] तथा अमंगलकारी निषिद्ध कर्म[७१] से सर्वथा निवृत्त दर्शाकर वाल्मीकि ने राम को अहिंसा की समग्रता का मूर्तिमान् रूप सिद्ध किया है। वाल्मीकि ने राम में धर्म का एक नहीं अपितु समस्त लक्षणों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आदि यम तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान आदि नियम) को प्रतिष्ठित दर्शाकर जनसाधारण में इनके आचरण के संस्कार जगाने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। रामायण में प्रतिष्ठित समस्त मर्यादाएँ स्मार्त साहित्य में उपलब्ध धर्मलक्षणों, उपनिषत्साहित्य में प्रतिपादित धर्मपरामर्शों तथा संहिताओं में सुनियोजित धर्मसंकेतों का अनुमोदन सिद्ध होती हुई अहिंसा व्रत के निर्वाह को भारत की अनन्यतम सनातन परम्परा घोषित करती हैं।

महाभारत में अहिंसा-संस्तुति

कृष्णद्वैपायन व्यास ने प्रत्येक विषय की व्याख्या में वेदों के अनुगमन एवं सरलीकरण के संकल्प को सत्य सिद्ध किया है। महाभारत में प्रवृत्तिमूलक धर्म का विवेचन एवं विश्लेषण स्मृतियों की भाँति वेदों को अखिल धर्म का मूल मानकर किया गया है। वास्तव में हमारी समस्त प्राच्य साहित्यिक रचनाएँ प्राणियों में धर्मविषयक जागरूकता के प्रादुर्भाव को समर्पित सिद्ध होती हैं। इनमें प्रतिपादित मानवोपयोगी जीवनसाधन एक सुदृढ, सुदीर्घ और सनातन परम्परा से युक्त हैं। महाभारत के रचनाकाल में जब इन मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा की आवश्यकता अनुभव हुई तो इसके महानायक श्रीकृष्ण पुनः पुनः अवतरित होकर धर्म की संस्थापना, साधुओं के परित्राण और दुष्कृतों के विनाश के लिए कृतसंकल्प हो उठे। एक ऐसे युधिष्ठिर का जन्म हुआ, जो समस्त संकटों को झेलता हुआ धर्म के पथ पर निर्बाध अग्रसर होने के लिए कृतसंकल्प सिद्ध हुआ। महाभारत में विवेचित धर्म का स्वरूप इसकी वैयक्तिक **(धारयति इति धर्मः)** तथा सामाजिक **(ध्रियते लोका अनेन इति धर्मः)** परिभाषाओं के निकर्ष पर स्वर्णिम रेखा अंकित करने में सर्वथा समर्थ है।

आदिपर्व में अहिंसा का समर्थन भीम द्वारा राक्षसों को दी गई उस

धमकी में उपलब्ध हो जाता है, जिसमें वे राक्षसों को मनुष्यों को कभी न मारने का आदेश देते हैं।[७२] अहिंसा का पालन मानव में क्षमारूपी सद्वृत्ति के प्रादुर्भाव का कारण माना जाता है। क्षमाप्रशस्ति में व्यास ने इसे धर्म, वेद, श्रुति, ब्रह्म, सत्य, भूत-भविष्य, तप, पवित्रता तथा जगत्-धारिणी शक्ति की संज्ञा दी है।[७३] इतना ही नहीं, इसे तेजस्वियों का तेज, तपस्वियों का ब्रह्म, सत्यवानों का सत्य, दानशीलों का दान तथा यशस्वियों का यश दर्शाकर अहिंसायुक्त आचरण को मानवजीवन की श्रेष्ठतम निधि सिद्ध किया है।[७४] कृष्णोपनिषद् में रोहिणी को दया का अवतार दर्शाया गया है तथा सत्यभामा को अहिंसा का। व्यास ने इसका अनुकरण करते हुए दया को परम धर्म घोषित करके अहिंसा की आवश्यकता स्पष्ट की है। सम्प्रदायविषयक अहिंसा का जो समर्थन महाभारत में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। व्यास ने उसी धर्म को धर्म माना है जिसका आचरण दूसरे धर्म के विनाश का कारण न बने। उनके अनुसार धार्मिक संकीर्णता कुधर्म है–

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।।[७५]

महाभारत में क्षमाप्रशस्ति के माध्यम से प्राणियों में अहिंसाव्रत के निर्वाह के जो सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, उनके अनुसार क्षमा ब्राह्मण के गुणों में से एक दर्शायी गयी है।[७६] इस गुण से वियुक्त ब्राह्मण को ब्राह्मण नहीं स्वीकार किया गया और इस गुण से युक्त शूद्र को शूद्र नहीं माना गया।[७७] व्यास ने मनु की भाँति हिंसा में प्रवृत्ति को तिर्यक् योनि में जन्म का कारण दर्शाया है।[७८] व्यास के अनुसार सत्य, दम, जितेन्द्रियता, तप, दान तथा अहिंसाव्रत का निर्वाह एवं धर्म को नित्य मानना मनुष्य की श्रेष्ठता के चिह्न हैं। उनके अनुसार मनुष्य की श्रेष्ठता जाति अथवा कुलाश्रित न होकर चरित्राश्रित है।[७९] व्यास ने अहिंसा के त्रिविध व्रत का निर्वाह करने वाले को ब्राह्मणप्रिय के पद से विभूषित किया है।[८०] इससे अभिप्राय अहिंसा के समग्र निर्वाह को सर्वप्रियता का मूल दर्शाना है। व्यास द्वारा प्रतिपादित लोकसम्मत साधुलक्षणों का विवेचन अहिंसा को साधुलक्षण दर्शाकर इसे श्रेष्ठतम चारित्रिक योग्यता सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ है–

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम्।
अद्रोहो नातिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः।।
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः।
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसत्कृताः।।[८१]

मानवजीवन की सफलता सबके प्रति मित्रवत् व्यवहार एवं अहिंसा के समग्र निर्वाह में निहित दर्शाकर व्यास ने अहिंसा को मानवजीवन की अनन्य विशिष्टता सिद्ध किया है।[८२] पुण्यशालीनता की प्राप्ति के लिए धर्म के समस्त लक्षणों को वांछित दर्शाकर व्यास ने यम-नियमों की परम्परा के निर्वाह में अदम्य विश्वास व्यक्त किया है। ये लक्षण हैं—सत्य, कोमलता, अक्रोध, दान, दम, शम, अविद्वेष, अहिंसा, शौच तथा इन्द्रियनिग्रह।[८३] आरण्यक पर्व में अहिंसाविवेचन व्यास की अहिंसा में निष्ठा का परिचायक ही नहीं, अपितु उनके द्वारा इस व्रत के निर्वाह को जनसाधारण में व्यवहार्य सिद्ध करने के प्रयास का भी द्योतक सिद्ध होता है।

उद्योगपर्व की अनन्यता धृतराष्ट्र के विषाद के परिहार के लिए विदुर द्वारा दिए गए हितोपदेश एवं नीतिकथन तथा सनत्सुजात-आख्यान के माध्यम से किए गए आश्रम तथा वर्णधर्मविवेचन की उस श्लाघनीयता में निहित है, जो सर्वजनविषादहारक कान्तासम्मत उपदेश सिद्ध होती है। इसके लिए भी कृष्णद्वैपायन व्यास ने वैदिक मान्यताओं का आश्रय लिया है। विदुर तथा धृतराष्ट्र के संवाद में अदोषदृष्टि, सरलता, पवित्रता, सन्तोष, प्रियवचनकथन, इन्द्रियदमन, सत्य भाषण तथा अहिंसाव्रत के निर्वाह से वियुक्त प्राणी को दुरात्मा कहा गया है। विदुर द्वारा प्रिय भाषण का समर्थन और कटु कथन का निषेध उनके ऋग्वेद में संकेतित **'अद्रोघवाचः'** में विश्वास का द्योतक है।[८४] कटु वचन को मर्मघातक दर्शाकर इसे कर्णि, नालीक तथा नाराच नामक बाणों से अधिक घातक दर्शाया गया है।[८५] अहिंसा के समग्र निर्वाह के लिए अनिष्ट चिन्तन और दुष्ट व्यवहार को त्याज्य दर्शाया गया है, जबकि कल्याणकारी कर्म को अभीष्टसिद्धि का साधक—

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः।।[८६]

हिंसा के निषेध तथा अहिंसा के समर्थन के लिए किसी के घर में आग लगाने वाले, विष देने वाले, सोमरसविक्रेता, शस्त्रनिर्माता, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, भ्रूणहत्यारे, गुरुस्त्रीगामी, मद्यप ब्राह्मण, कटुस्वभाव से युक्त मनुष्य, निरर्थक वक्ता, नास्तिक, वेदनिन्दक एवं शरणागत के हत्यारे को ब्रह्महत्यारा घोषित किया गया है।[८७] उद्योगपर्व के उत्तम, मध्यम तथा अधम पुरुष विश्लेषण के अनुसार सर्वभूतहितचिन्तक, कोमल तथा जितेन्द्रिय पुरुष उत्तम है। झूठी सान्त्वना न देने वाला, देने की प्रतिज्ञा के

अनुसार देने वाला, अपराधी में भी ऐश्वर्य देखने वाला पुरुष मध्यम स्वीकार किया गया है। जबकि विविध दोषों से दूषित, कलंकित एवं क्रोधवश दूसरों के अहित में रत पुरुष को अधम माना गया है।[८८] इस विश्लेषण के माध्यम से अहिंसा के समग्र निर्वाह में प्रवृत्त प्राणी को उत्तम दर्शाया गया है तथा अन्यथा आचरण से युक्त प्राणी को अधम। विदुर द्वारा किए गए आश्रम धर्म-विवेचन में वानप्रस्थाचारी के लिए जो विचार, उच्चार, आहार और व्यवहार श्रेष्ठ दर्शाया गया है,[८९] वह सर्वथा स्मार्त आश्रमधर्म के अनुकूल है। इसके पालन में अहिंसा का समग्र निर्वाह अनायास ही हो जाता है। व्यास ने धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद में शास्त्रनिषिद्ध कर्म को मानवजीवन के नाश का कारण दर्शाकर मात्र स्मार्त धर्म को निज युगीन प्रासंगिकता से ही युक्त नहीं किया, अपितु उसमें प्राणियों की निष्ठा को अपेक्षित दर्शाकर अहिंसा के समग्र पालन को वांछित भी दर्शाया है।[९०] विदुर ने निन्दनीय आचार, दोषदृष्टि, अधर्मप्रवृत्ति, दुष्टकथन और क्रोध को अनर्थ संकटों का गर्त दर्शाकर प्राणियों को इनसे निवृत्त रहने का आग्रह किया है।[९१] उद्योगपर्व में याज्ञवल्क्य द्वारा निर्दिष्ट धर्मविषयक मान्यता का अक्षरशः अनुमोदन उपलब्ध होता है–

न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते।।[९२]
नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः।
अतो यदात्मनोऽपथ्य परेषां न तदाचरेत्।।[९३]

दोनों के अनुसार सच्चा धर्म उसी कर्म में प्रवृत्त रहने में निहित है, जो मनुष्य के अपने लिए हितकर हो (जो अपने प्रतिकूल जान पड़े उसे दूसरों के प्रति भी न करे) दोनों ही इसके विपरीत आचरण को अधर्म स्वीकार करते हैं। इससे अहिंसा किसी के भी प्रति अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन तथा दुर्व्यवहार से निवृत्ति सिद्ध होती है। विदुर ने झूठ बोलकर उन्नति करने, चुगलखोरी और गुरु पर मिथ्या दोषारोपण को ब्रह्महत्या दर्शाकर जनसाधारण को वाचिक हिंसा से निवृत्त रहने का आग्रह किया है।[९४] सनत्सुजात ने जिन बारह दोषों को त्याज्य दर्शाया है, वे हैं–काम, क्रोध, लोभ, मोह, वाद-विवाद की इच्छा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या तथा निन्दा।[९५] इस विवेचन में वेदोक्त दुर्वृत्तियों के परिहार एवं सद्वृत्तियों के ग्रहणविषयक आग्रह स्पष्टतया अनुरणित होते हैं। सनत्सुजात ने जिन बारह सद्वृत्तियों को ब्राह्मण के महाव्रतों की संज्ञा दी है वे हैं–धर्म,

सत्य, इन्द्रियनिग्रह, मत्सरता का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, अदोषदृष्टि, यज्ञ, दान, धैर्य और शास्त्रज्ञान।[६६] उद्योगपर्व में अहिंसासंस्तुति का विवेचन इसे सर्वथा वेदसम्मत और स्मृत्यानुमोदित सिद्ध करता है। महाभारत में जिस प्रकार सभी धर्मलक्षणों की संस्तुति क्षेत्रविशेष में निपुण तथा विवेकज ज्ञानियों के अनुभव के सारकथन के माध्यम से की गई है, उसी प्रकार उद्योगपर्व में अहिंसासंस्तुति के लिए अहिंसा के प्रवृत्तिमूलक महत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए विदुर के नीति-उपदेश का आश्रय लिया गया है तथा इसके निवृत्तिमूलक महत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए विवेकज ज्ञान से सम्पन्न सनत्सुजात के तत्त्वज्ञान का।

भीष्मपर्व की अध्याय संख्या २३ से लेकर ४० तक कृष्ण-अर्जुन-संवाद का जो अंश समूचे विश्व में श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है, वह गीतोपनिषद् के नाम से भी आख्यात है। इसकी अनन्यता एवं मौलिकता इसी सत्य में निहित है कि जहां उपनिषदों का क्षेत्र मनुष्य के निःश्रेयसविषयक पूर्णत्व प्राप्ति के साधनों के प्रावधान तक सीमित है, वहाँ गीतोपनिषद् में अभ्युदय और निःश्रेयस (प्रवृत्तिमूलक धर्म तथा निवृत्तिमूलक धर्म) का समन्वय ही नहीं, सामंजस्य भी अपेक्षित दर्शाया गया है। श्रीकृष्ण-अर्जुन संवाद का प्रतिपाद्य विषय अर्जुन के विषाद के परिहार तक सीमित नहीं है। इसका उद्देश्य उसे किंकर्तव्यविमूढता के गर्त से निकालकर निष्काम कर्म निष्ठा के शिखर पर पहुँचाना है। इसमें श्रीकृष्ण ने पूर्वप्रतिपादित धार्मिक मान्यताओं को मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति का पुट देकर प्राणिमात्र के लिए जिस उत्कृष्ट आचार-संहिता का प्रतिपादन किया है, वह सर्व-आश्रमधर्म एवं सर्व-वर्णधर्मानुकूल ही नहीं, उनके द्वारा अनुकार्य भी है। इसके प्रत्येक अध्याय को योग की संज्ञा देकर उसमें योग का व्यवहारपरक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। इसके अन्तर्गत उत्कृष्ट मानवाचार साधनों का स्पष्टीकरण जिन विविध योगों के पालन में संभव दर्शाया गया है, वे हैं—विषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञान-विज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगुह्ययोग, विभूति-योग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग, देवासुर-सम्पत्तिविभागयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग तथा मोक्ष-संन्यासयोग। गीता में प्रतिपादित योगदर्शन के सारांश के अनुसार जीव का परमात्मा के साथ सर्वदा सर्वथा अभेद अनुभव करते रहना और उसके कारण सब जीवों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना ही परम योग है।

तदनुसार ही भीष्मपर्व में योगसाधना की पराकाष्ठा सर्वत्र आत्मौपम्य दृष्टि की प्राप्ति के माध्यम से सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार में निहित दर्शायी गयी है–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि दुःखं स योगी परमो मतः।।[९७]

वस्तुतः भीष्मपर्व में कृष्ण-अर्जुन-संवाद का प्रतिपाद्य विषय पिण्ड और ब्रह्माण्ड में साम्यसिद्धि के आधार पर वसुधा को परिवारवत् व्यवहार से सम्पन्न करना है। इसमें पुनः पुनः यही कहा गया है कि मनुष्य दूसरों के प्रति वही व्यवहार करे जो उसके अपने प्रतिकूल न हो। इस माध्यम से हिंसा से निवृत्ति का परम साधन दूसरों के प्रति अनिष्ट चिन्तन को अपने प्रति अनिष्ट चिन्तन, उनके प्रति अनिष्ट कथन को अपने प्रति अनिष्ट कथन तथा उनके प्रति दुर्व्यवहार को अपने प्रति दुर्व्यवहार मानकर चलने से ही संभव है। जिस प्रकार वेदों में विविध सद्वृत्तियों को देवगुण दर्शाकर प्राणियों से उनके पालन का सांकेतिक आग्रह उपलब्ध होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अहिंसाभाव को ईश्वरप्रादुर्भूत दर्शाकर प्राणियों द्वारा उसके निर्वाह की अपरिहार्यता सिद्ध की है।[९८] भगवान् श्रीकृष्ण ने ईश्वरप्रियता सबके प्रति वैरराहित्य, सबके प्रति मैत्री एवं करुणापूर्ण व्यवहार, ममताराहित्य, अहंकारराहित्य तथा सन्तोष के निर्वाह और क्षमा के पालन में निहित दर्शायी है।[९९] भीष्मपर्व में वेदोक्त सद्वृत्तियों को ज्ञान और दुर्वृत्तियों को अज्ञान घोषित किया गया है। जो सद्वृत्तियाँ ज्ञान घोषित की गई हैं, उनके नाम हैं– दम्भराहित्य, अहिंसा, क्षमा, नम्रता, गुरुसेवा, स्थिरता, मनोनिग्रह, जितेन्द्रियता, अहंकारराहित्य, जन्म, मरण, जरा तथा रोग के प्रति दोषदृष्टि, आसक्तिराहित्य, प्रिय-अप्रिय के प्रति समभाव, ईश्वर की योगयुक्त अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्तवास, अध्यात्मज्ञान में निष्ठा तथा तत्त्वज्ञान के प्रति नित्य दृष्टि। इससे अन्यथा आचरण को अज्ञान स्वीकार किया गया है।[१००] अहिंसा को ज्ञान के अन्तर्निहित स्वीकार कर भीष्मपर्व में ज्ञानप्राप्ति के लिए इसका आश्रय अभीष्ट दर्शाया गया है। इस विश्लेषण में **'सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव'** को सरलीकरण और सर्वग्राह्यता प्रदान करने का प्रयास व्यास की वेदोक्त धर्म में अनन्य निष्ठा का ही परिचायक नहीं, अपितु उनके सनातन धर्म की पुनर्स्थापना के संकल्प की दृढता का भी द्योतक है। श्रीकृष्ण द्वारा किए गए दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के विश्लेषण के अन्तर्गत अहिंसा को दैवी सम्पत्ति ही स्वीकार नहीं किया गया, अपितु इसे शीर्षस्थान देकर इसे समस्त सद्वृत्तियों

की जननी भी दर्शाया गया है।[१०१] इसका लक्ष्य मानव जीवन में अहिंसाव्रत के निर्वाह की अनन्यता सिद्ध करना है। भीष्मपर्व में अहिंसा को तप घोषित करके इसके निर्वाह को सभी धर्मों में अपरिहार्य दर्शाया गया है।[१०२] इस पर्व में अहिंसा के समर्थन के लिए हिंसा के निषेध का उल्लेख करते हुए त्रिगुणविवेचन में हिंसायुक्त कर्म को तामसिक कर्म घोषित किया गया है–

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।[१०३]

स्मार्त धर्म के अनुसार सात्त्विक आचार ही परम आचार माना गया है। इससे अन्यथा आचार अनिष्ट स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार हिंसक कर्म को तामसिक मानकर उसे निषिद्ध घोषित किया गया है, उसी प्रकार हिंसक स्वभाव को राजसी दर्शाकर सदाचारियों से इससे निवृत्त रहने का परामर्श दिया गया है।[१०४] भीष्मपर्व में प्रतिपादित अहिंसा-संस्तुति की विशिष्टता इसके परम ब्रह्म श्रीकृष्ण के मुख से आख्यात होने में निहित है। इस पर्व में अहिंसा की व्यवहारविषयक अनन्यतासिद्धि के लिए व्यास ने इसे मात्र योगसिद्धि का आधार ही नहीं दर्शाया, अपितु दैवी सम्पत्ति तथा ईश्वरप्रादुर्भूत भी दर्शाया है, जो इस व्रत के निर्वाह को सर्वयोगव्यापक सिद्ध करता है। इसके बिना न तो ज्ञानोपलब्धि संभव दर्शायी गयी है और न ही ईश्वरप्रियता। अहिंसा को सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार का मूल दर्शाकर इसे परम धर्म की सच्ची भक्ति का परम स्रोत एवं परम योग भी दर्शाया गया है–

आत्मन्येवापि मनसः सर्वथा विनिवेशनम्।
अयं गुह्यतमः श्रेष्ठः परो योगतमः स्मृतः।।

महाभारत में शान्तिपर्व को अनन्यतम महत्त्व प्राप्त है। इसकी रचना का उद्देश्य युद्धजन्य शोकग्रस्त युधिष्ठिर के विषाद का परिहार है। इसमें विविध आश्रयों से मानवजीवनोपयोगी विविध धर्मों का विवेचन और विश्लेषण उपलब्ध होता है। यह पर्व जीवनविषयक वैदिक मान्यताओं से ही युक्त नहीं, अपितु औपनिषदिक तत्त्वज्ञानविषयक सामग्री से भी सम्पन्न है। इसमें धर्मलक्षणों की जो विशद व्याख्या उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें जिन विविध धर्मों का संग्रह विद्यमान है, वे हैं–विविध अनुभवी मनीषियों द्वारा व्यक्त राजधर्म, विविध विशेषज्ञों द्वारा निर्दिष्ट आपद् धर्म तथा विश्वप्रख्यात अनुभवी योगियों, विवेकज ज्ञानियों एवं धर्मशास्त्रियों द्वारा निरूपित मोक्षधर्म। श्रेष्ठ मानव-आचार-संहिता (जनसाधारण के लिए उपयोगी प्रवृत्तिमूलक तथा निवृत्तिमूलक धर्म) की व्याख्या उपर्युक्त धर्मों के निरूपण

मे अन्तर्निहित है। इसमें मानवधर्मविषयक यम-नियमों का विशद विवेचन एवं विश्लेषण स्वाभाविक है। व्यास ने इसमें मनु द्वारा प्रतिपादित यम-नियमों तथा याज्ञवल्क्य द्वारा विवेचित धर्मलक्षणों को धर्ममर्यादा घोषित किया है। उन्होंने इन मर्यादाओं के अतिक्रमण को यमभवनरूपी वन में अवगाहन की संज्ञा दी है, जो प्राणियों द्वारा मनु द्वारा प्रतिपादित यम-नियमों को सदा सर्वदा निर्वाह्य घोषित करता है–

मर्यादा नियताः स्वयंभुवा य इहेमा प्रभिनत्ति दशगुणा मनोनुगत्वात्।
निवसति भृशमसुखं पितृविषयविपिनमवगाह्य स पापः।।[१०५]

इन मर्यादाओं का क्रमनिर्धारण इस प्रकार है–शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान (नियम) एवं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (यम)। व्यास ने इनके सदा सर्वदा निर्वाह को ही मानव आचार-संहिता का लक्ष्य सिद्ध किया है। यमों में अहिंसा को सर्वोपरि दर्शाने के लिए उसे यमगणना में प्रथम स्थान से अलंकृत किया गया है। शान्तिपर्व में अहिंसा-संस्तुति के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। इसे समस्त धर्मों का मूल घोषित करने तथा परम धर्म सिद्ध करने का जो प्रयास शान्तिपर्व में हुआ है, उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

व्यास द्वारा किए गए राजधर्मविवेचन के अनुसार शरणागत की पुत्रवत् रक्षा तथा धर्ममर्यादा का पालन राजा का परम धर्म घोषित किया गया है।[१०६] यह अहिंसा व्रत के पालन को राजधर्म का एक अंग सिद्ध करता है। राजा द्वारा मिथ्या कथन से निवृत्ति स्वभावतः जनप्रिय कर्मों में प्रवृत्ति तथा काम, क्रोध एवं द्वेषवश धर्म का त्याग न करने का संकल्प भी राजधर्म स्वीकार किए गए हैं।[१०७] युधिष्ठिर को सदा सर्वदा अधर्म से निवृत्त रहने का परामर्श देते हुए व्यास ने स्पष्टतया कहा है कि जैसे पृथ्वी में बोए हुए बीज का फल तत्काल नहीं मिलता, उसी प्रकार पाप भी तुरन्त फलित नहीं होता। परन्तु जब वह फल प्राप्त होता है, तब शाखा और मूलपर्यन्त सब भस्म कर देता है–

नाधर्मश्चरितो राजन्सद्यः फलति गौरिव।
मूलान्यस्य प्रशाखाश्च दहन्समनुगच्छति।।[१०८]

इस माध्यम से व्यास ने प्राणियों से सदा सर्वदा धर्माश्रित रहने का परामर्श दिया है। उनके अनुसार धर्मलक्षणों का पालन मनुष्य की प्रवृत्ति विषयक आवश्यकताओं तथा निवृत्तिविषयक अपेक्षाओं का श्रेष्ठतम साधन

है। साधुलक्षणों के विवेचन के अन्तर्गत व्यास ने अहिंसाचार को शिष्टाचार का अंग घोषित किया है। इस व्रत का निर्वाह करने वाले प्राणियों को सेव्य स्वीकार किया है।[१०९] व्यास ने अभया शान्ति को मानवजीवन का चरम लक्ष्य घोषित करते हुए कहा है कि अभया शान्ति दूसरों को दिए गए अभय के विश्वास द्वारा ही सुलभ है, अन्यथा नहीं।[११०] यह उक्ति मानवजीवन में अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन और अभद्र व्यवहार से सर्वथा निवृत्ति द्वारा ही यथार्थ सिद्ध हो सकती है। इसके अनुसार अहिंसाव्रत का समग्र निर्वाह अभया शान्ति का परम स्रोत सिद्ध होता है। शान्तिपर्व में तपसंस्तुति के अन्तर्गत अहिंसा को मानवधर्म का अंग घोषित किया गया है।[१११]

शान्तिपर्व का उत्तरार्ध मोक्षधर्मपर्व के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें निःश्रेयससाधक साधनों का प्रचुर उल्लेख मिलता है। इसका प्रणयन जनसाधारण के परित्राण को समर्पित सिद्ध होता है। इसमें धर्मविषयक मर्यादाओं का सरल एवं सर्वबोधगम्य प्रतिपादन उपलब्ध होता है। शान्ति पर्व में प्रज्ञातृप्ति सर्वभूतहितचिन्तन, अविद्वेष और अक्षोभ के निर्वाह में ही सुलभ दर्शायी गयी है।[११२] वस्तुतः ये सभी योग्यताएं अहिंसा के समग्र निर्वाह पर आश्रित हैं। समस्त भूतहितचिन्तन को पाप से निवृत्ति का साधन ही नहीं दर्शाया गया है, अपितु सर्वत्र पूजनीयता का स्रोत भी घोषित किया गया है।[११३] इस माध्यम से अहिंसा व्रत के समग्र निर्वाह को संस्तुत किया गया है। अहिंसा-संस्तुति के एक प्रसंग में यम और नियमों के स्वेच्छित और सतत पालन को मुक्तिप्राप्ति का निःशंक साधन दर्शाकर अहिंसा को परम धर्म घोषित करने का सफल प्रयास किया गया है।[११४] व्यास ने स्पष्टतया कहा है कि जैसे हाथी के पदप्रक्षेप के बीच पैरों द्वारा चलने वाले मनुष्य और पशु आदि के पदचिह्न लुप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार अहिंसा में सब धर्म और अर्थ अन्तर्भूत हुआ करते हैं। जो किसी की हिंसा नहीं करता, वह सदा अमृत का उपभोग करता है।[११५] अहिंसा वृत्ति को अत्यन्त उत्तम गति का साधन घोषित करते हुए कहा गया है–

अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान्नियतेन्द्रियः।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमम्।।[११६]

महाभारतकार ने अहिंसा को अभया शान्ति का मूल होने के प्रति अपनी निष्ठा को एक नहीं, अनेक सन्दर्भों से व्यक्त किया है। उनके अनुसार पहले से ही किया गया हिंसा का परित्याग प्रजासमूह से अभय

प्राप्ति के स्वरूप अनन्त सुखयुक्त मोक्षपदलाभ का कारण सिद्ध होता है।[११७] उनका विश्वास है कि अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन एवं अनिष्ट आचरण से निवृत्ति ब्रह्मत्वलाभ का राजमार्ग है।[११८] अहिंसा को परम धर्म घोषित करने के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा समस्त जीवहितचिन्तन को धर्मज्ञता कहा गया है।[११९] दानसंस्तुति के अन्तर्गत जीवों को दिया गया अभयदान ही उत्तम स्वीकार किया गया है।[१२०] यह आश्वासन भी अहिंसाव्रत के निर्वाह की संस्तुति को समर्पित है। अहिंसा को परम धर्म घोषित करने के लिए हिंसा से निवृत्ति ही परम धर्म दर्शायी गयी है।[१२१] व्यास ने जिन गुणों के आचरण को मोक्षपथ का प्रशस्तक दर्शाया है, वे हैं–दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, आर्जव, अद्रोह, अनभिमान, तितिक्षा तथा कर्म से उपरति। इस विवेचन में अहिंसा की प्रशंसा स्वयं सिद्ध हो जाती है।[१२२] व्यास ने अहिंसाप्रशस्ति के लिए अहिंसामय धर्म के पालन को समस्त फलदायक तथा हिंसा को अधर्म घोषित किया है।[१२३] व्यास ने हिंसा से सर्वथा निवृत्ति तथा सबके प्रति मित्रभाव को मानव-आचार-संहिता के अनन्य अंग घोषित किया है।[१२४] प्राणियों को अनिष्ट दर्शन, अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन और अकल्याणकारी कर्म से निवृत्त रखने के लिए इनके फल को भावाश्रित दर्शाया गया है–

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते।।[१२५]

शान्तिपर्व में उपलब्ध अहिंसा-संस्तुति सर्वथा श्रुतिसम्मत एवं स्मृतिसमर्थक सिद्ध होती है। जीवन में इसकी उपादेयता की सिद्धि के लिए इसे स्वर्गलाभदायक, मोक्षप्राप्तिसाधक, निःश्रेयसपथप्रशस्तक, अभ्युदय का स्रोत तथा ब्रह्मप्राप्ति का पथप्रशस्तक सिद्ध किया गया है। हमारी संस्कृति का लक्ष्य प्राणियों में व्यष्टि एवं समष्टि के साम्य के प्रति विश्वास जगाकर समष्टिरूप की प्राप्ति में उसका सहायक होना है। जिस प्रकार बूँद सागरसमर्पित होने पर ही सागररूप की प्राप्ति में सफल होती है, उसी प्रकार मनुष्य से भी वांछित है कि वह कण-कण में ईश्वर को विद्यमान मानते हुए सभी के प्रति आत्मवत् व्यवहार करे।

अनुशासनपर्व में अहिंसा-संस्तुति के लिए हिंसा के निषेध का आश्रय लिया गया है। इसकी अनन्यता विविध दुर्वृत्तियों में प्रवृत्ति को पाप घोषित करने, नरक का द्वार दर्शाने तथा अगामी जन्म में हीन योनि में उत्पत्ति का मूल सिद्ध करने में निहित है। इस पर्व में हिंसा, चोरी और परस्त्रीलम्पटता

को पाप कहकर त्याज्य घोषित किया गया है। अनुशासनपर्व का धर्म-लक्षण-विवेचन अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कोमलता, दम तथा आर्जव को धर्म के लक्षण घोषित करता है। इनसे अन्यथा आचरण को संकर कार्य सिद्ध करता है।[१२६] राजहिंसा तथा गोहिंसा को भ्रूणहत्या के समकक्ष दर्शाकर प्राणियों में इससे निवृत्त रहने के संस्कार जगाए गए हैं।[१२७] वेदविरोधी कर्म को नरक का द्वार दर्शाकर प्राणियों से वेदोक्त धर्म के पालन का आग्रह किया गया है।[१२८] यह अहिंसा व्रत के निर्वाह की अनिवार्यता को स्वयं सिद्ध कर देता है। इस पर्व में पशुओं के विरुद्ध हिंसा नरकगमन का कारण दर्शायी गयी है।[१२९] अहिंसा व्रत के निर्वाह को स्वर्गलाभदायक दर्शाया गया है–

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नराः सर्वसहाश्च ये।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः।।[१३०]

व्यास ने दान और सम्मान का अधिकार धर्माचार स्वीकार किया है। तदनुसार ही मात्र उन्हीं प्राणियों को दान और सम्मान का पात्र दर्शाया गया है, जो अक्रोध, सत्य वचन, अहिंसा, जितेन्द्रियता, सरलता, अविद्वेष, अभिमान राहित्य, लज्जा, सहनशीलता, तप एवं मनोनिग्रह आदि गुणों से युक्त हों।[१३१] इससे अभिप्राय अहिंसा को सम्मानप्राप्ति का साधन दर्शाना है। नहुष-अगस्त्य-आख्यान में नहुष की अगस्त्य के विरुद्ध हिंसा को उसके सर्परूप होकर स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरने का कारण दर्शाया है।[१३२] इस आख्यान के उल्लेख का अभिप्राय प्राणियों में हिंसानिषेधक संस्कार जगाना है। अनुशासनपर्व में सभी के प्रति अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन और निष्ठुर व्यवहार से निवृत्ति को आत्मवत् व्यवहार का मूल दर्शाया गया है।[१३३] अहिंसा को समदृष्टि की जननी दर्शाकर इसकी संस्तुति को अनन्यता प्रदान की गई है। अहिंसा के समग्र निर्वाह को शतवर्षीय जीवन का स्रोत घोषित करके प्राणियों में अहिंसावृत्ति के प्रति निष्ठा जगाई गई है।[१३४] अहिंसा में रति, सत्यवादिता, जितेन्द्रियता एवं उदरसंयम को वाजपेय यज्ञ का फलदायक तथा हजार वर्षों तक स्वर्ग में निवास का साधक घोषित किया गया है।[१३५] हिंसा से निवृत्ति को सौन्दर्य, आयु, बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मृतिप्राप्ति का मूल दर्शाकर अहिंसा व्रत के निर्वाह की अपेक्षा को पराकाष्ठा प्रदान करने का प्रयास किया गया है।[१३६] व्यास ने पशुहिंसा के दोष को पशुहत्या तक सीमित न रखकर उन सभी को हिंसक माना है, जो हत्या के लिए पशु को लाता है, उसे मारने की अनुमति देता है, उसका क्रय-विक्रय करता है, उसे

पकाता है और खाता है।[१३७] हिंसाजन्य दोष की व्यापकता को इसके कारण, प्रोत्साहन एवं भोग तक विस्तृत दर्शाकर व्यास ने अहिंसा की आवश्यकता को व्यापकता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। इससे पूर्व अहिंसा की सार्वभौमिक अपेक्षासिद्धि के लिए व्यास ने यजुर्वेद के उस अमर कथन को पुनः व्यक्त किया है, जिसके अनुसार जो आदमी अनुभव से सब भूतों को आत्मा में और आत्मा को सब भूतों में विद्यमान देखता है, वह समस्त संशयों से मुक्त हो जाता है।[१३८] व्यास ने आत्मवान् पुरुषों के लिए मात्र अहिंसायुक्त धर्म का आश्रय लेने का परामर्श दिया है। उन्होंने इसके लिए जो अवलम्बन अपनाया है, उसके अनुसार वेदज्ञ पुरुष अहिंसा को ही धर्म का लक्षण मानते हैं–

अहिंसालक्षणो धर्म इति वेदविदो विदुः।
यदहिंस्रं भवेत्कर्म तत्कुर्यादात्मवान्नरः।।[१३९]

अनुशासनपर्व में की गई अहिंसा-संस्तुति अन्यत्र उपलब्ध नहीं। व्यास ने इसे परम धर्म, परम संयम, परम दान, परम तप, परम यज्ञ, परम बल, परम मित्र, परम सुख और परम सत्य दर्शाते हुए इसके व्रत के निर्वाह को श्रेष्ठतम यज्ञदान, श्रेष्ठतम तीर्थस्नान एवं श्रेष्ठतम दानफल स्वीकार किया है।[१४०] उनके अनुसार अहिंसक मनुष्य सभी जीवों के माता-पिता के सदृश है। उन्होंने इस व्रत के निर्वाह में आने वाली द्वन्द्व-सहनशीलता को अक्षय तप और इसके सदा सर्वदा पालन को यज्ञ स्वीकार किया है–

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता तथा पिता।।[१४१]

उमा तथा महेश्वर के संवाद में की गई अहिंसा-संस्तुति के अनुसार हिंसारहित चित्त से सब जीवों को भली-भाँति दिया गया अभयदान ही धर्म है।[१४२] मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा से निवृत्ति तथा सभी विषयों में अनासक्ति को कर्मबन्धन से मुक्ति का स्रोत दर्शाया गया है।[१४३] अहिंसा का सदा सर्वदा पालन समस्त भूतों में दया एवं सभी प्राणियों की विश्वासपात्रता को स्वर्गलाभदायक घोषित करता है।[१४४] व्यास ने हिंसा को नरक का द्वार घोषित किया है और अहिंसा को स्वर्गप्राप्ति का राजमार्ग।[१४५] भीष्म ने युधिष्ठिर के लिए जिन चार महाव्रतों के निर्वाह को यथेष्ट दर्शाया है, उन्हें सनातन धर्म कहकर अभिहित किया है। इन व्रतों के नाम हैं–अहिंसा, सत्य, अक्रोध तथा दान।[१४६] अनुशासनपर्व में अहिंसा-संस्तुति से जो निष्कर्ष

निकलता है, वह इसे वेदसम्मत और स्मार्त धर्मपोषित सिद्ध करता है। भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को दिए गए धर्मानुशासनविषयक सभी परामर्श इसमें पूर्वप्रतिपादित अहिंसा-संस्तुति के सर्वथा अनुकूल हैं। इसमें मनुष्य से जो आचरण अपेक्षित स्वीकार किया गया है, उनके अनुसार जो अपने प्रतिकूल लगे, दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार न करना ही धर्म है तथा इसका संभाव्य अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन एवं निष्ठुर कर्म से निवृत्ति में ही निहित है।

महाभारत में अहिंसा-संस्तुति के माध्यम से इसके द्वारा सदा सर्वदा निर्वाह की आवश्यकता का स्पष्टीकरण वेद के **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** के अमर विश्वास के कार्यान्वयन का प्रयास है। अहिंसा के सम्यक् निर्वाह द्वारा ब्रह्मानुभूति के संभाव्य की चर्चा इसी विश्वास की पोषक है। वैदिक मनीषियों ने विश्वकल्याण हेतु जिस शान्तित्रय को अपेक्षित स्वीकार किया था, व्यास ने उन्हीं को व्यवहार्य सिद्ध करने के लिए अहिंसा के समग्र निर्वाह को परम धर्म, परम सत्य, परम यज्ञ, परम बल तथा परम तप घोषित किया है। महाभारतकार ने वर्णधर्म को पुनः पुनः आचाराश्रित घोषित करके यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जब तक मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा विश्वकल्याण के प्रति समर्पित नहीं हो जाता, तब तक वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं। अपने अभ्युदय और निःश्रेयसविषयक दायित्वों के निर्वाह की अवहेलना करने वाला ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है जबकि ब्राह्मणोचित आचार और व्यवहार से युक्त शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्ति का पात्र हो जाता है। त्रिविध अहिंसा को समस्त सद्वृत्तियों का मूल घोषित करके व्यास ने अपने पूर्वज वैदिक मनीषियों तथा स्मृतिकारों की भाँति इसे सर्वोपरि सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है। अहिंसा के त्रिविध निर्वाह में अन्य यमों का पालन स्वाभाविक दर्शाकर मनुष्य के पूर्णत्वप्राप्ति के पथ को सुगम और सरल बनाने की चेष्टा की गई है। व्यास द्वारा महाभारत में की गई अहिंसा-संस्तुति उनके उस सिंहनाद को अमरत्व प्रदान करने में सर्वथा समर्थ रही है, जिसमें प्राणियों से मात्र धर्म का आश्रय लेने का अनुरोध किया है–

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्यैष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।।[१४७]

भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य का विकास और पूर्णत्व उसकी प्राथमिकताओं के विस्तार में निहित है। इसके लिए उसके स्व के केन्द्र का

स्वेच्छित संकोच और निस्व की परिधि का प्रयत्नपूर्वक विस्तार अपेक्षित है। विश्व में अन्योन्य अभेद की उपस्थिति में विश्वास का मूल आधार सभी के अंश-अंशी सम्बन्ध से युक्त होने तथा एकपितृजात होने का व्यावहारिक आभास है। यह आभास ही संशयराहित्य की प्राप्ति है। इस आभास के परिणामस्वरूप व्यक्ति स्वाभाविक रूप से सभी के प्रति अनिष्ट चिन्तन, अनिष्ट कथन और निष्ठुर कर्म से निवृत्त हो जाता है। यह निवृत्ति ही अहिंसा है। जब सभी अपने हों, कोई भी पराया न हो तो समस्त भेदों का अभेद में परिणत होना स्वाभाविक हो जाता है। यही कारण है कि व्यास ने पुनः पुनः उसी प्राणी को ब्रह्मभाव से युक्त माना है, जो अभेद का मूर्तिमान् रूप सिद्ध हो चुका हो–

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।[१४८]

सन्दर्भ

१. यम उपरमे (भ्वादिगण) + अप् प्रत्यय (अष्टाध्यायी, ३.३.६३.)
२. पातंजल योगदर्शन, २.३०.
३. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य क्षमा धृतिः।
दयाऽऽर्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश।। पाराशर संहिता।
४. आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दमस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश।। मनुस्मृति, ४.२०४(१०).
५. ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता।
अहिंसा स्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः।। याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.३१२
६. श्रीमद्भागवतपुराण, १५.१६.३३.
७. यजुर्वेद, ३०.३.
८. वही, सुबोध भाष्य, पृ. ४७२–४७३.
६. वही, सुबोध भाष्य, पृ. ४७०–४७१.
१०. अग्निरीशे बृहतो अध्वरस्य ....। ऋग्वेद, ७.११.४.
११. यजुर्वेद, ३०.२०.
१२. ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत् ते महित्वनम्। वही, २.२३.४
१३. द्रुहो दहामि सं महीरनिन्द्राः। वही, १.१३३.१.
१४. इका सरस्वती मही तिस्त्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।। ऋग्वेद, १.१३.६
१५. वही, १.४१.६.
१६. स्था ऊ षु ऊर्ध्व ऊती आरिषण्यन्नक्तोर्व्युष्टौ परितक्म्यायम्।। वही, ६.२४.६

१७. महाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतो .... । ऋग्वेद, ७.११.१.
१८. यजुर्वेद, २.८.
१६. ऋग्वेद, १.१६४.४०.
२०. यजुर्वेद, १३.५०.
२१. ऋग्वेद, १०.२२.१३.
२२. बृहद्विर्भानुभिर्भासन्मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। यजुर्वेद, १२.३२.
२३. शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्। वही, १६.३.
२४. जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदा अंगुलीरंगानि मित्रं मे सहः।। वही, २०.६.
२५. वही, २०.७.
२६. वही, २०.११.
२७. वही, २७.६.
२८. अथर्ववेद, ३.३०.२–४.
२६. वही, ८.४.१.
३०. वही, ६.६४.१–३.
३१. वही, ८.३.१–२६.
३२. वही, १६.१५.१.
३३. यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम।
विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पति।। वही, १६.४०.१.
३४. कठोपनिषद्, १.३.३–११.
३५. यजुर्वेद, २५.२१,१६; ऋग्वेद, १०.८६.६,८; प्रश्नोपनिषद्, गणपत्योपनिषद्, मुण्डूकोपनिषद्, माण्डक्योपनिषद्, रामपूर्वतापिन्योपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, नृसिंहपूर्वतापिन्योपनिषद्, गरुडोपनिषद्, देव्युपनिषद् (शान्तिपाठ)।
३६. कठोपनिषद्, २.१.१४.
३७. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।।
छान्दोग्योपनिषद्, ३.१७.४.
३८. आरूणिकोपनिषद, ३.
३६. दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै।
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपति।। कृष्णोपनिषद्, १५
४०. प्राणाग्न्युपनिषद्, ४.
४१. मुण्डकोपनिषद्, १.२.३.
४२. तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति। यथा स्वमंगं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति ।
सास्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति। ऐतरेयोपनिषद्,२.१.२४३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३.६
४४. महानारायणोपनिषद्, २.१०.
४५. शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्। नीलरुद्रोपनिषद्, ५
४६. शिवसंकल्पोपनिषद्, १–६.
४७. बृहदारण्यकोपनिषद्, १.४.११.

४८. योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्चशमृत चैव न क्वचित्सुखमेधते।। मनुस्मृति, ५.४५.

४६. वही, ५.४७.

५०. वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्।। वही, ५.५३.

५१. वही, ४.१६२.

५२. मनुस्मृति, ४.१७०.

५३. वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा।
तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा।। वही ८.२८५.

५४. वही, ८.२६७.

५५. वही,८.३४५.

५६. दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत्।
हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया।। वही, ११.५२ (६)

५७. वही, ११.१४१.

५८. वही, १२.५६.

५६. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.६५.

६०. वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम्।
आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा।। याज्ञवल्क्यस्मृति, १ .१२३.

६१. वही, ३.६१.

६२. गौतमस्मृति, कर्तव्य-वर्णन

६३. तयोः प्रत्युपकारोऽपि न हि कश्चयं विद्यते।
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्य्यात्कर्मणा मनसा गिरा।।
न ताभ्यामननुज्ञातो धर्म्ममेकं समाचरेत् ।। औशनसस्मृति, ३७

६४. वही, ब्रह्मचर्य-प्रकरण, १२४.

६५. वसिष्ठस्मृति यतिधर्म-वर्णन, २४४–२४६.

६६. वही, २६३-२६५.

६७. शातातपस्मृति, ८१–८१

६८. बाल्लकाण्ड, २.१५.

६६. कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।। अयोध्याकाण्ड, १.११.

७०. स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते।। वही, १.१०.

७१. नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा।। वही, १.१७.

७२. न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिह कर्हिचित्।
हिसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति।। आदिपर्व, १५२.३.

७३. आरण्यकपर्व, ३०.३६–३७.

७४. वही, ३०.३६.

७५. आरण्यकपर्व, १३१.१०.
७६. वही, १७७.१६.
७७. वही, १७७.२०.
७८. कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते।। आरण्यकपर्व, १७८.१२.
७६. सत्यं दमस्तपो योगमहिंसा दाननित्यता।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप।। वही, १७८.४३.
८०. सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा।
परुषं न प्रभाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रयाः।। वही, १६८.८०.
८१. वही, १६८.८७–८८.
८२. वही, २०३.४५.
८३. वही, २४५.१७.
८४. अभ्यावहति कल्याणं विविधा वाक्सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते।। उद्योगपर्व, ३४.७४.
८५. वही, ३४.७५–७६.
८६. वही, ३५.३४.
८७. वही, ३५.३६–४१.
८८. वही, ३६.१६–१८.
८६. वही, ३८.७.
६०. अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति।
स तेषां विपरिभ्रंशे भ्रश्यते जीवितादपि।। वही, ३८.२०.
६१. अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम्।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा।। वही, ३८.३२.
६२. वही, ३६.५७.
६३. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.६५.
६४. अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशनुम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रहाहत्यया।। वही, ४०.३.
६५. क्रोधः कामो लोगमोहौ विवित्साकृपासूया मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा वर्ज्याः सदा द्वादशैते नरे।। वही, ४३.८.
६६. वही, ४३.१२., यजुर्वेद, ३०.३.
६७. भीष्मपर्व, २८.३२.
६८. अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।। वही, ३२.५.
६६. वही, ३४.१३.
१००. भीष्मपर्व, ३५.७-११.
१०१. अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।। वही, ३८.२.
१०२. वही, ३६.१४.

१०३. भीष्मपर्व, ४०.२५.
१०४. रागीकर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।। वही, ४०.२७.
१०५. शान्तिपर्व, ३०६.२६.
१०६. त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते।। शान्तिपर्व, ६२.३१
१०७. वही, ६४.६.
१०८. वही, ६७.१७.
१०६. ते सेव्याः साधुगिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता। शान्तिपर्व, १५२.२६
११०. अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन।। वही, १५४.२६.
१११. वही, १५५.८.
११२. सर्वभूतहिते युक्तो न स्मयाद्द्वेष्टि वै जनम्।
महाह्रद इवाक्षोभ्य प्रज्ञातृप्तः प्रसीदति।। वही, २१३.१३.
११३. वही, २२३.१०.
११४. वही, २३६.२६.
११५. यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे।।
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
अमृतः स नित्यं वसति योऽहिंसां प्रतिपद्यते।। वही, २३७.१८—१६.
११६. वही, २३७.२०.
११७. वही, २३७.२६; २५४.१६,२५.
११८. यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा।। वही, २४३.६; २५४.१७.
११६. सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले।। वही, २५४.६
१२०. वही, २५४.३३.
१२१. तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता।
अहिंसैव हि सर्वेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता।। वही, २५७.६
१२२. वही, २६२.३७.
१२३. अहिंसा सकलो धर्मो हिंसा यज्ञेऽसमाहिता।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम्।। वही, २६४.१६
१२४. न हिंस्यात्सर्वभूतानि मैत्रायणगतिश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्।। वही, २६६.५.
१२५. शान्तिपर्व, २७६.१५.
१२६. अनुशासनपर्व, २३.१६—२०.
१२७. वही, २३.३०.
१२८. वही, २४.७१.

१२६. अनुशासनपर्व, २४.७७.

१३०. वही, २४.६०.

१३१. अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम्।
अद्रोहो नातिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा तपः शमः।।
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत।
भावतो विनिविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति।। अनुशासनपर्व, ३७.८–६.

१३२. वही, १०३.२–२३.

१३३. वही, १०५.२७.

१३४. अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति।। वही, १०७.१४.

१३५. यस्तु संवत्सरं पूर्णं चतुर्थं भक्तमश्नुते।
अहिंसानिरतो नित्यं सत्यवाङ्नियतेन्द्रियः।।
वाजपेयस्य यज्ञस्य फलं वै समुपाश्नुते।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि स्वर्गे च स महीयते।। वही, १०६.४०–४१.

१३६. वही, ११६.८.

१३७. आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च घातकाः सर्व एव ते।। वही, ११६.४७.

१३८. सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः।। वही, ११४.७; यजुर्वेद ४०.६.

१३६. वही, ११७.१६.

१४०. वही, ११७.३७–३६.

१४१. वही, ११७.४०.

१४२. सर्वभूतेषु यः सम्यग्ददात्यभयदक्षिणाम्।
हिंसारोषविमुक्तात्मा स वै धर्मेण युज्यते।। वही, १३०.२७.

१४३. कर्मणा मनसा वाचा ये न हिनस्ति किंचन।
ये न सज्जन्ति कस्मिंचश्चिद्बध्यन्ते ते न कर्मभि।। वही, १३२.७.

१४४. सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः।। वही, १३२.६.

१४५. निरयं याति हिंसात्मा याति स्वर्गमहिंसकः।
यातनां निरयेरौद्रां स कृच्छ्रां लभते नरः।। वही, १३२.५१.

१४६. अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम्।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः।। वही, १४७.२२.

१४७. स्वर्गारोहणपर्व, ५.४६.

१४८. भीष्मपर्व, ३५.२८.

चतुर्थ अध्याय

सत्य

भारतीय वाङ्मय में जीवन को जीने योग्य बनाने वाले साधनों का योगांगों तथा धर्मलक्षणों के रूप में निरूपण स्मार्त साहित्य में उपलब्ध होता है। इस साहित्य से अभिप्राय समस्त स्मृतियों, धर्मसूत्रों तथा धर्मशास्त्रों का समुच्चय है। व्यासभाष्य में सत्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है–अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना सत्य है। अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो, जैसा सुना हो, वैसा वाणी से कथन करना और मन में धारण करना ही सत्य है। दूसरे पुरुष को अपने ज्ञान के अनुसार ज्ञान कराने में कही हुई वाणी यदि धोखा देने वाली, भ्रान्ति करने वाली या उल्टा बन्धन करने वाली न हो, तो सत्य है। ऐसी वाणी जो सब भूतों के उपकार के लिए प्रवृत्त हुई हो, नाश करने वाली हो तो वह सत्य नहीं, पाप है।[1] व्यास का यह कथन सर्वथा वेदानुकूल है। वेद के अनुसार **'यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते'**[2] ही सत्य है। इससे अभिप्राय विद्वानों द्वारा आत्मा और मन के मतैक्य के आधार पर स्पष्ट अभिव्यक्ति को सत्य स्वीकार करना है। सत्य की अनन्यतासिद्धि के लिए वेदों ने इसे ईश्वररक्षित माना है। यहीं से भारतीय संस्कृति में सत्यसमर्थक परम्परा का प्रादुर्भाव स्वीकार किया गया है। इसी में निखिल ब्रह्माण्ड को स्थित स्वीकार किया गया है। यहाँ ऋत शब्द का प्रयोग होता है। हमारी संस्कृति प्रकृति के नियमों को अपरिवर्तनीय और अटल स्वीकार करती है। इनके अतिक्रमण का प्रयास हिंसा, कपट और विनाश का द्वार स्वीकार किया गया है। तदनुसार ही यमों के क्रमनिर्धारण में सत्य को दूसरा स्थान प्राप्त है। यम के रूप में सत्य की प्रतिष्ठा वेदों में इसके महत्त्व के स्पष्टीकरण के बहुत समय बाद निर्धारित हुई थी। अन्य जीवनमूल्यों की भांति इस सामाजिक अनुशासन का सूत्रपात भी वेदों से ही स्वीकार किया जाता है। वेदोत्तर समस्त साहित्य में सत्य को

मानवजीवन की परम निधि, इसके आश्रय को ब्रह्मप्राप्ति का साधन, इसके समग्र अवलम्बन को पिण्ड की ब्रह्माण्ड में परिणति के पथ का प्रशस्तक और इसके व्यवहार को संशयराहित्य का साधन स्वीकार किया जाता रहा है। भले ही लोकमंगल की साधना हेतु **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'** जैसी लोकोक्तियाँ लोकप्रियता को प्राप्त होती रही हों तो भी इसका वैशिष्ट्य व्यक्ति को इसे चरितार्थ करने का सदा आग्रह करता रहा है। यही कारण है कि विविध अवलम्बनों द्वारा प्राणियों में सत्यनिष्ठा के प्रति मनोवैज्ञानिक विधियों का आश्रय लेकर सभी साहित्यकार समान रूप से प्रयासरत रहे हैं। असत्य के निषेध के लिए समस्त प्राच्य वाङ्मय में इसकी भर्त्सना उपलब्ध होती है। वास्तव में हमारी सांस्कृतिक परम्परा सत्य को समर्पित सिद्ध होती है। यहाँ तक कि आपद्धर्म के वर्णन में भी सत्य का समाश्रय अभीष्ट स्वीकार किया गया है। सत्य को वेदों में जो प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है, उसका समर्थन आरण्यकों, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में समान रूप से उपलब्ध होता है। तैत्तिरीयारण्यक के अनुसार आदित्य,[३] शतपथब्राह्मण के अनुसार आपः, शुक्र, हिरण्य, प्राण एवं पृथ्वी सत्य है।[४] वेदार्षकोष मे सत्य को सत्पुरुषों के लिए हितकारी, साधु अथवा जीवरूप से अनादि, अव्यभिचार्य, सत्स्वरूप, वेदों तथा पुरुषों का पालक, तीनों लोकों में निर्बाध, नाशरहित, सत्य व्यवहार में साधु, वेदविद्या, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, सृष्टिक्रम से, विद्वानों के संग से, सुविचार अथवा आत्मशुद्धि से, सर्वहितकारी, तत्त्वनिहित, सत्प्रभव एवं भली भाँति परीक्षा करके निश्चित किए जाने योग्य माना गया है।[५] तैत्तिरीयारण्यक में तो सत्य को ही सुकृत लोक स्वीकार किया गया है।[६] शतपथब्राह्मण में **'सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः'** के माध्यम से देवों को सत्य तथा मनुष्यों को अनृत स्वीकार किया गया है।[७] सत्य को ब्रह्म स्वीकार करके इसकी सर्वव्यापक अपेक्षा को स्पष्ट किया गया है। महाभारतकार ने इस यम को सर्वबोधगम्यता, सर्वग्राह्यता एवं सर्वव्यवहार्यता से ही युक्त नहीं किया, अपितु सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकता से भी सम्पन्न किया है–

प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं संततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः।
सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती।।
तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम्।
समां कक्षां धारयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम्।।[८]

वेदों में सत्यविषयक संकेत

वैदिक संहिताओं में ऋत और सत्य दोनों को ही सृष्टि के प्राथमिक तत्त्व स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में इन दोनों की उत्पत्ति परमात्मा के महान् तप से दर्शायी गयी है।[१०] अथर्ववेद के अनुसार बृहत् सत्य तथा उग्र ऋत दोनों ही पृथ्वी को धारण किए हुए हैं।[११] इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, द्यौ, सूर्य तथा चन्द्रमा सब सत्य के आधार पर स्थित हैं।[१२] यजुर्वेद में इसकी पुष्टि के लिए उपासक द्वारा व्रतसिद्धि के लिए असत्य को छोड़कर सत्य के ग्रहण के संकल्प का प्रावधान उपलब्ध होता है।[१३] सत्य का क्षेत्र सत्य कथन तक सीमित न होकर सद्विचार तथा सद्व्यवहार तक विस्तृत है, क्योंकि मनुष्य की वाणी विचार का अनुसरण करती है और कर्म कथन का। तदनुसार ही उसे अपने कर्म का फल प्राप्त होता है। जब तक गुण कर्म में परिवर्तित नहीं हो जाता तब तक किसी भी जीवनमूल्य का व्यवहृत होना असंभव है। तदनुसार ही इस विवेचन में सत्य के समग्र निर्वाह का परिशीलन करने का प्रयास किया गया है। ऋग्वेद में मनुष्य द्वारा सत्य का अनुसरण वांछित दर्शाने के लिए सत्य की सर्वशक्तिमत्ता की चर्चा करते हुए कहा गया है कि सद्बुद्धि पापों को नष्ट कर देती है। सत्स्तुति की गूंज असत्यवादियों के लिए असहनीय होती है।[१४] अन्यत्र नररूपी ऋभुओं द्वारा सत्यकथन और उनके द्वारा अपनाए गए सद्व्यवहार को उनकी शक्ति का स्रोत दर्शाकर प्राणियों में शक्तिसम्पन्नता के लिए सत्य के समग्र व्यवहार के संस्कार जगाए गए हैं।[१५] अन्यत्र कहा गया है कि सत्य का पालक सत्य की ही भक्ति करता है और अनन्त लाभों से सम्पन्न होता है।[१६] एक ऋचा के अनुसार उपासक अग्नि के समक्ष संकल्प लेते हुए सदा सर्वदा सत्य तथा अनृत से मिले हुए अवैदिक कर्म से निवृत्त रहने का आश्वासन देता है। इस ऋचा में असत्य को अवैदिक कर्म दर्शाकर वैदिक ऋचाओं को सत्य के प्रति समर्पित दर्शाया गया है।[१७] इन्द्र से की गई एक स्तुति में सद्बुद्धि की याचना सत्य के समर्थन को समर्पित है।[१८] ऋग्वेद में उन्हीं स्तोत्रों के मनन तथा चिन्तन का परामर्श दिया गया है, जो परम सत्य से युक्त हों।[१९] सत्कर्मकर्ता को अभया शान्ति से सम्पन्न दर्शाकर ऋग्वेद में सत्य को अभय का स्रोत दर्शाया गया है।[२०] ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में जो भाव व्यक्त किए गए हैं, वे सर्वांगीण उपयोगिता से युक्त हैं। इसमें सत्य को अभ्युदय और निःश्रेयससाधक दर्शाया गया है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के स्वप्न को साकार करने की युक्ति दर्शायी गयी है तथा विश्वबन्धुत्व को

जीवन की परम आवश्यकता मानते हुए प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे समान मत वाले, समान ज्ञान वाले, समान स्तोत्रनिष्ठ तथा समान मननयुक्त हों। ये सभी अपेक्षाएं सत्य के समग्र निर्वाह द्वारा ही उपलभ्य हैं।[२१] यजुर्वेद के पहले अध्याय में दिया गया कुटिलतानिषेधक परामर्श भी सत्य के समर्थन को समर्पित है।[२२] वास्तव में यह उपदेश प्राणी को सत्संकल्प, सत्कर्म और सद् ज्ञान पर निर्भर रहकर सदा सर्वदा परमात्मा से प्रभावित रहने के लिए दिया गया है। यदि मनुष्य पर काम तथा क्रोध का आतंक प्रस्थापित रहे तो वह दिन-प्रतिदिन संकीर्ण बनता जाएगा।[२३] यजुर्वेद के अनुसार विश्वख्याति सत्य ज्ञान के संवर्धन द्वारा ही संभव है।[२४] इसके अनुसार राजा द्वारा सत्य ज्ञान से सच और झूठ का निरीक्षण कर दोनों के स्वरूप को पृथक्-पृथक् देखकर सत्य ज्ञान का उपदेश अपेक्षित स्वीकार किया गया है। इस वेद का विश्वास है कि असत्य में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा सत्यज्ञान से सत्य की प्राप्ति में सहायक होती है।[२५] ऋत को सत्य की प्राप्ति का साधन दर्शाकर वैदिक संहिताओं में ऋत एवं सत्य में निष्ठा के संस्कार जगाए गए हैं।[२६] सत्य ज्ञान को मुख तथा शीर्षाश्रित दर्शाकर सत्कथन को शुभ चिन्तन का जनक घोषित किया गया है।[२७]

अथर्ववेद की अनन्यता इसके सूक्तों की शीर्षकबद्धता में निहित है। 'असत्यभाषण आदि पापों से छुटकारा' नामक सूक्त में देवों से प्रार्थना की गई है कि वे प्राणियों में सत्य के प्रति निष्ठा जगाएं। इस सूक्त के अनुसार सत्याचार मुक्ति का साधक और शतवर्षीय जीवन का स्रोत दर्शाया गया है।[२८] 'राष्ट्रीय एकता' सूक्त में राष्ट्रीय एकता के लिए भावनात्मक समानता की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। इसके लिए सभी द्वारा सद्विचार, सत्कथन और सद्व्यवहार वांछित है।[२९] 'सत्य का बल' सूक्त में सत्यनिष्ठ, सन्मार्गी एवं सदाचारी व्यक्ति के किसी ग्राम में प्रवेशमात्र को वहाँ के समस्त पापों के परिहार का साधन दर्शाकर प्राणियों में सत्यसमर्थक संस्कार जगाने का सफल प्रयास किया गया है।[३०] 'आत्मोन्नति की विद्या' नामक सूक्त में सत्य के मनन को मूल उत्पत्तिस्थान की प्राप्ति का साधन दर्शाया गया है और आत्मोन्नति सत्य के पालन में ही निहित दर्शायी गई है।[३१] इसी सूक्त में सप्त मर्यादाओं की चर्चा के अन्तर्गत कहा गया है कि जो मनुष्य समस्त मर्यादाओं का पालन करता हुआ धर्मानुकूल व्यवहार करके अपने जीवन का आधारस्तम्भ बनता है, वह सचमुच उपमेय है।[३२] 'ब्राह्मण को कष्ट' नामक सूक्त में सत्यवादियों के विरोध को निषिद्ध घोषित

करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण को कष्ट देने वालों का नाश अवश्यम्भावी है।[33] 'आत्मोन्नति का साधन' नामक सूक्त में सत्य कथन को ज्ञान का सर्वोत्तम साधन दर्शाया गया है।

धीती वा ये अनयन्वाचो अगं मनसा वा येऽवदन्नृतानि।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानस्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः।।[34]

'ब्रह्म' सूक्त में ब्रह्म को कण-कण में विद्यमान दर्शाकर ब्रह्म की सत्यता को सिद्ध किया गया है।[35] शतपथब्राह्मण में **'सत्यं ब्रह्म'** के उल्लेख का मूल भी यही सूक्त है। 'अमृतत्व की प्राप्ति' सूक्त में जातवेद तथा वरुण से अशुद्ध आचरण के अपराध की क्षमायाचना की गई है।[36] वस्तुतः इस माध्यम से शुद्ध आचरण को अमृतत्व की प्राप्ति का स्रोत दर्शाया गया है। शुद्धाचरण से अभिप्राय सद्विचार, सत्कर्म, सदुपासना तथा सद् ज्ञान का सतत आश्रय है। 'शत्रुदमन' सूक्त में सत् और असत् भाषणों में स्पर्धा की चर्चा के माध्यम से सत्य कथन को सोम द्वारा रक्षित और असत्य को उस के द्वारा विनष्ट किए जाने का आश्वासन उपलब्ध होता है।[37] 'केन' सूक्त में ज्ञान द्वारा ईश्वरप्राप्ति एवं कालपरिमाप की चर्चा करते हुए मानवजीवन में ज्ञान की सत्यता में निष्ठा के संस्कार जगाए गए हैं।[38] 'ज्येष्ठ ब्रह्म का वर्णन' सूक्त में उसके लिए **'सत्येनोर्ध्वस्तपति'** पद का प्रयोग सत्य को ब्रह्मशक्ति सिद्ध करता है।[39] इससे अभिप्राय प्राणियों में ब्रह्मप्राप्ति के लिए सत्य के सम्यक् निर्वाह की अपेक्षा स्पष्ट करना है। अथर्ववेद में सत्य को भूमि का धारक, ऋत को आदित्य का धारक दर्शाकर सत्य को देवशक्ति सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।[40] सत्य के प्रति वेदों में व्यक्त यह असीम आस्था समूचे प्राच्य वाङ्मय में एक समृद्ध परम्परा के रूप में उपलब्ध होती है। समस्त उत्तरवर्ती साहित्यकारों की रचनाओं में विविध विधाओं के माध्यम से इसका अनुरणन मानवजीवन में सत्य की महत्ता को सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकता से युक्त करता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे सत्य के मार्ग को पहचाने और सत्यसम्बन्धी जिन मार्गों से उत्तम कर्म करने वाले लोग गमन करते हैं, उन्हीं से उनका अनुगमन करे।[41] एक सूक्त के अनुसार यज्ञ के नियमों के मनन की सामर्थ्य तथा विप्र पद की प्राप्ति की पात्रता सत्याश्रित स्वीकार की गई है। यह सत्य आचरण को ब्राह्मण के लक्षणों में से एक माने जाने की परम्परा का सूत्रपात है।[42]

वेदों में उपलब्ध सत्यविषयक संकेत सत्य को मनुष्य की पूर्णत्वप्राप्ति का परम स्रोत घोषित करते हैं। वस्तुतः परम सत्य की प्राप्ति के लिए सत्य का सम्यक् आश्रय अवश्यम्भावी है। सत्य वह दृढ आधार है, जिस पर विश्वरूपी परिवार के भवन के निर्माण की कल्पना साकार की जा सकती है। यमों के क्रमनिर्धारण में इसे द्वितीय स्थान देकर हमारे मनीषियों ने समाज की सुव्यवस्था, पारस्परिक सहकारिता, अन्योन्याश्रय, इष्टविषयक सहिष्णुता तथा सुमनस्कता का जो मनोवैज्ञानिक प्रावधान किया है, वह वास्तव में भारतीय संस्कृति के अमरत्व का मूलस्रोत सिद्ध होता है। वैदिक वाङ्मय समूचे विश्व में आज भी सम्मान और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसके सम्बन्ध में कुछ पाश्चात्य अनुवादकों ने जो भ्रान्तियाँ फैलाने का दुस्साहस किया था, आज के परिशीलक उन्हें प्रभावहीन करने में सर्वथा समर्थ रहे हैं। वस्तुतः महाभारत हमारी सनातन मान्यताओं की शृंखला की सर्वाधिक शक्तिशाली कड़ी है। इसमें पूर्वप्रतिपादित जीवनमूल्यों का सरल, सर्वग्राह्य एवं बोधगम्य विवेचन इसे भारतीय साहित्यकोष का अनन्य रत्न सिद्ध करता है। वस्तुतः महाभारत की संरचना एक सुदृढ, सुदीर्घ और अमर पृष्ठभूमि पर आधारित है।

उपनिषदों में सत्यविषयक परामर्श

उपनिषदों में वेदों की गुह्यता के सरलीकरण का प्रयास उपलब्ध होता है। इनका समारम्भ ईशावास्योपनिषद् की संरचना से स्वीकार किया जाता है। इनका प्रतिपाद्य प्राणियों के मन और वाणी को सुसंस्कृत कर उन्हें परम सत्य की प्राप्ति की सामर्थ्य से युक्त करना है। ईशावास्योपनिषद् में यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय पुनरुद्धृत है। इसका मुख्य विषय प्राणियों को तत्त्वज्ञान के प्रति उन्मुख करना है। मानवजीवन में संशयराहित्य परम आवश्यक है। संशय की निवृत्ति का एकमात्र साधन सत्य का सम्यक् निर्वाह है। मानसिक सत्य की पराकाष्ठा वाचिक और कायिक सत्य के समुचित पालन द्वारा ही संभव है। अन्यथा उसका समस्त विश्व के अंश-अंशी सम्बन्धविषयक सत्य से अवगत होना असंभव है। तदनुसार ही इस उपनिषद् में संशयराहित्य अनुभव से अपनी आत्मा को सब आत्माओं मे अवस्थित और समस्त आत्माओं को अपनी आत्मा में देखने की क्षमता में निहित दर्शाया गया है। इसके बिना व्यष्टि द्वारा समष्टिरूप की प्राप्ति असंभव है। तदनुसार ही पूर्णत्वप्राप्ति सत्य धर्म के समग्र निर्वाह में निहित

दर्शायी गयी है–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।[४३]

ईशावास्योपनिषद् की तरह केनोपनिषद् भी वेद का ही उद्धरण है। यह सामवेद के तलवकारब्राह्मण के अन्तर्गत आता है। केन से आरम्भ होने के कारण यह केनोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसको प्राप्त अन्य नाम तलवकारोपनिषद् तथा ब्राह्मणोपनिषद् हैं। केनोपनिषद् में तलवकार ब्राह्मण का नवम अध्याय संकलित है। इसका प्रतिपाद्य विषय गुरु-शिष्य-संवाद द्वारा तत्त्वविवेचन है। इसके अनुसार ब्रह्मविद्या तपस्या, जितेन्द्रियता तथा कर्तव्यपालन पर ही आश्रित है। जो साधक स्वधर्म पालन के लिए समस्त द्वन्द्वों को सहर्ष सहन नहीं कर सकते और जो सत्कर्म का अनुष्ठान नहीं करते, वे ब्रह्मविद्या के रहस्य को नहीं जान सकते। इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मविद्या का परम अधिष्ठान, आश्रयस्थल और परम लक्ष्य सत्यस्वरूप परमेश्वर है।[४४] इस परामर्श के अनुसार परम सत्य की प्राप्ति के लिए सत्पथ में आने वाली समस्त बाधाओं का सहर्ष सहन अनिवार्य है। यह सत्य के समग्र निर्वाह पर ही निर्भर करता है।

कठोपनिषद् का उत्स कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा स्वीकार किया गया है। इसमें नचिकेता और यम के संवाद के माध्यम से तत्त्वज्ञान को सर्वग्राह्य बनाने की सफल चेष्टा की गई है। इस उपनिषद् में नचिकेता की ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की पात्रता सत्यधृति में निहित दर्शायी गयी है। इस माध्यम से यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि परम सत्य की प्राप्ति के लिए सत्यधृति से युक्त होना स्वाभाविक है।[४५] इस उपनिषद् में परम सत्य की प्राप्ति सद्विचार, सत्संकल्प और सद् ज्ञान के परम सत्य में स्वेच्छित विलय द्वारा संभव दर्शायी गयी है–

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छान्त आत्मनि।।[४६]

मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति सत्य, तप, ब्रह्मचर्य तथा सद् ज्ञानाश्रित दर्शायी गयी है। इस उपनिषद् का विश्वास है कि जब तक जीव समस्त दोषों से रहित नहीं हो जाता, उसके द्वारा ब्रह्मलाभ संभव नहीं।[४७] इसके अनुसार विजय सत्य की होती है, झूठ की नहीं। देवयान मार्ग केवल सत्य से परिपूर्ण है। यही वह मार्ग है, जिससे पूर्णकाम ऋषि परम सत्यस्वरूप,

परम ब्रह्म परमात्मा के उत्कृष्ट धाम को गमन करते हैं–

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्रकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्।।[४८]

इस उपनिषद् का मत है कि सत्संकल्प से युक्त प्राणी के लिए पूर्णकामावस्था की प्राप्ति असंभव नहीं। विशुद्ध अन्तःकरण वाले प्राणी जिन-जिन लोकों का मन से चिन्तन करते हैं, जिन-जिन भोगों की कामना करते हैं, उन-उन लोकों को जीत लेते हैं और उन-उन भोगों को भी प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए सत्संकल्प से युक्त प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे परम ऐश्वर्य के लिए शरीर से भिन्न आत्मा को जानने वाले महात्मा की सेवा-पूजा करें।[४९] ऐतरेयोपनिषद् में ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यक का चौथा, पाँचवा और छठा अध्याय संकलित है। इन अध्यायों में ब्रह्मविद्या के प्राधान्य के परिणामस्वरूप इस अंश को स्वतन्त्र रूप में ऐतरेयोपनिषद् के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके शान्तिपाठ में स्तोता परम पिता परमात्मा से आग्रह करता है कि वह उसकी वागिन्द्रय को मन में तथा मन को वागिन्द्रय में प्रतिष्ठित करने की कृपा करे। इसमें स्तोता सत्य बोलने का संकल्प लेते हुए ईश्वर से अपनी तथा आचार्य की रक्षा करने की कामना करता है। यह शान्ति पाठ हमें इस तथ्य से अवगत कराता है कि सच्ची स्तुति के लिए सत्य का सम्यक् समाश्रय आवश्यक है।[५०] तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अन्तर्गत तैत्तिरीयारण्यक का अंग है। तैत्तिरीयारण्यक का सातवां, आठवां और नौवां अध्याय सम्मिलित रूप से तैत्तिरीयोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रथम अनुवाक में स्तोता परमात्मा को ब्रह्म, ऋत एवं सत्य की संज्ञाओं से अभिहित करने का संकल्प लेते हुए अपनी और अपने आचार्य की रक्षा की कामना करता हुआ दर्शाया गया है। इस शान्तिपाठ में शतपथब्राह्मण में प्रतिपादित पूर्वोक्त उस भाव की पुष्टि होती है, जिसके अनुसार ब्रह्म सत्य है।[५१] इस उपनिषद् के नवम अनुवाक के अनुसार ऋत, सत्य, तप, दम, अग्नि, अग्निहोत्र, अतिथिसेवा, मनुजोचित लौकिक व्यवहार, गर्भाधान संस्काररूप कर्म, शास्त्रविधि के अनुसार स्त्रीसहवास तथा कुटुम्बवृद्धि आदि कर्म में सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः इस अनुवाक में सत्य को सर्वोपरि सिद्ध करके सत्यवचा ऋषि ने प्राणिमात्र के लिए सत्याचरण को सदा सर्वदा पालनीय घोषित किया है।[५२]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर को मानव के हृदय में तिलों में तेल, दही

में घी, स्रोतों में जल एवं अरणियों में अग्नि की भाँति छिपा हुआ स्वीकार किया गया है। उसका साक्षात्कार और ग्रहण सत्याचार और संयमरूप तप द्वारा ही संभव स्वीकार किया गया है–

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।।[५३]

केनोपनिषद् की भाँति छान्दोग्योपनिषद् भी सामवेदीय तलवकारब्राह्मण के अन्तर्निहित है। इसकी विशिष्टता तत्त्वज्ञान एवं तदुपयोगी कर्म तथा उपासनाओं के विशद और विस्तृत वर्णन में निहित है। मनुष्य के मनोमालिन्य, चित्तमालिन्य और स्मृतिमालिन्य की निवृत्ति निष्काम कर्म में निहित स्वीकार की गई है। प्राणियों को उसके महत्त्व से अवगत कराना ही इस उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय है। वस्तुतः जब तक मनुष्य की सम्पूर्ण कामनाएँ सत्ययुक्त नहीं हो जाती, वह परलोक में यथेच्छित गति को प्राप्त नहीं कर सकता। जबकि सत्यकाम प्राणी के लिए यथेच्छ गति सुलभ रहती है।[५४] सत्यकाम-अवस्था की प्राप्ति के लिए सद्विचार, सत्यभाषण, सत्कर्म और सद् ज्ञान का आश्रय आवश्यक है। इस उपनिषद् के अनुसार आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, क्षुधापिपासा से रहित, सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है। प्राणियों से उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करने का आग्रह किया गया है। इसका ज्ञान समस्त कामनाओं की प्राप्ति में सक्षम दर्शाया गया है।[५५] भावतः इसमें पूर्णकाम-अवस्था की प्राप्ति सत्यकाम-अवस्था की प्राप्ति में निहित दर्शायी गयी है। वस्तुतः सत्यकाम-अवस्था के मूल आधार सत्संकल्प, सत्यकथन, सद्व्यवहार और सद् ज्ञान हैं। मैत्रायण्युपनिषद् के अनुसार सत्संकल्प शुद्ध मन का परिचायक है और मिथ्या संकल्प मन की अशुद्धि का द्योतक। सतत प्रयत्न के पश्चात् जब सत्य चिन्तन से मनोमालिन्य धुल जाता है, तो वह परम पद की प्राप्ति का पात्र हो जाता है।[५६] समस्त उपनिषत्साहित्य एक स्वर होकर ब्रह्मविद्या के उपार्जन की पात्रता को सत्संकल्प, सत्यभाषण एवं सत्यकाम-अवस्था पर आश्रित स्वीकार करता है। वस्तुतः इस साहित्य में यही सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि निःश्रेयससिद्धि सत्य के सम्यक् निर्वाह के बिना असंभव है।

स्मृतियों में सत्य-निदर्शन

भारतीय साहित्य की सुरसरि धारा उत्तरोत्तर संवर्धन, विकास और विशदता को प्राप्त होती रही है। वेदों में सांकेतिक रूप में उपलब्ध

जीवनमूल्य कालक्रम के साथ सरलता और सुगमता को प्राप्त होते रहे। उनके गुह्य ज्ञान को लोकप्रियता तथा सर्वबोधगम्यता प्रदान करने के प्रयास आज भी आरण्यकों, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों के रूप में विद्यमान हैं। इनकी रचना इनकी संश्लिष्टता को पूर्णतया सरलता प्रदान करने में सक्षम न हो सकी। क्योंकि इनका मुख्य रचनोद्देश्य वेदों के याज्ञिक, यौगिक और आध्यात्मिक पक्ष के सरलीकरण तक सीमित रहा। परिणामतः एक ऐसे साहित्य की रचना युग की आवश्यकता बन गई, जिसमें प्राणियों के लिए कर्तव्याकर्तव्य कर्म विशिष्ट रूप से निर्दिष्ट किए जा सकें। कर्तव्यों के समर्थन तथा अकर्तव्यों के निषेध के मनोवैज्ञानिक प्रयास किए जाएं। यह आवश्यकता स्मृतियों, धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों की रचना का प्रेरणास्रोत बनी। इन सभी का समुच्चय कालान्तर में स्मार्त साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मनुस्मृति में वेदोक्त सत्याचार के निर्वाह की अनन्यता को सिद्ध करते हुए मनु ने सत्ययुग में सत्य को चतुष्पाद घोषित किया है। चतुष्पाद से अभिप्राय सत्याचार के सतत और समग्र निर्वाह की स्वाभाविकता है।[५७] उस युग के मनुष्य स्वभावतः सद्वृत्तियुक्त थे। उनका अभ्युदयलाभ और निःश्रेयसप्राप्ति पूर्णरूपेण सत्याचाराश्रित थे। उनके अनुसार सत्ययुग में मनुष्य नीरोग, सर्वविध सिद्धियों तथा अर्थों से युक्त ४०० वर्षों की आयु वाले होते थे। इसका श्रेय उस युग में सत्य के प्रति सर्वोपरि निष्ठा को है।[५८] सत्य की धर्मलक्षण के रूप में प्रतिष्ठा मनु द्वारा वेदोक्त सत्यविषयक मान्यताओं को समर्थन से अनुप्रेरित है।[५९] उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा धर्मलक्षणों के अध्ययन को ही अपेक्षित नहीं माना, अपितु उनके आचरण को परमगति का साधन घोषित किया है।[६०] उन्होंने असत्य द्वारा सत्य को छिपाने की चेष्टा को पाप घोषित किया है। यह कथन मिथ्याचार का निषेध तथा सत्याचार का अनुरोध सिद्ध होता है।[६१] व्यवहार में साक्षियों द्वारा सत्य से युक्त व्यवहार की परीक्षा को राजा का कर्तव्य घोषित करके मनु ने सत्याचार की अपेक्षा सिद्ध की है।[६२] मनु का मत है कि सत्यवादी साक्षी धर्म तथा अर्थच्युत नहीं होता।[६३] वह अभ्युदय और निःश्रेयस का पात्र हो जाता है।[६४] मनु का मत है कि सत्य से बढकर दूसरा धर्म नहीं और असत्य से बढकर दूसरा पाप नहीं। इतना ही नहीं, उन्होंने सत्य को स्वर्ग की सीढी घोषित किया है।[६५] उनके अनुसार साक्षी का शौच (पाप से मुक्ति) तथा धर्मवृद्धि सत्याश्रित है। तदनुसार ही उन्होंने साक्षियों को सब वर्णों के विषय में सत्य कथन का

परामर्श दिया है।[६६] आज के युग में न्यायालय में दी जाने वाली सत्य कथन की शपथ मनु की साक्षिविषयक सत्यसम्बन्धी अपेक्षा से प्रादुर्भूत सिद्ध होती है। मनु ने साक्षियों में असत्य कथन के निषेध के संस्कार जगाने के लिए अगले जन्म में पंगुता, मरणोपरान्त नरकवास एवं जीवनपर्यन्त दुःखी रहने के भय के संभाव्य को स्पष्ट करके साक्षी में सत्यकथन की अपेक्षा सिद्ध की है।[६७] मनु द्वारा सत्याचार की चारों वर्णों के सामान्य धर्म के रूप में घोषणा सभी वर्णों में इसकी व्यावहारिकता की अपेक्षा सिद्ध करती है।[६८] मनु ने द्विजों द्वारा अहिंसा, सत्य भाषण, अक्रोध एवं सरलता का आचरण अपेक्षित घोषित किया है।[६९] याज्ञवल्क्य द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम के निर्वाह में असत्य के सर्वथा निषेध की घोषणा सत्यविषयक मान्यताओं की समर्थक सिद्ध होती है।[७०] इसी स्मृति में उपलब्ध मिथ्याचारियों के लिए तिर्यक् योनि-विधान असत्य के निषेध को समर्पित है।[७१] याज्ञवल्क्य ने सत्याचार को देवलोक की प्राप्ति का साधन घोषित करके वेदोक्त सत्यप्रशस्ति का अक्षरशः समर्थन किया है।[७२] मनु और याज्ञवल्क्य में सत्यविषयक मतैक्य स्मार्त वाङ्मय में वेदोक्त सत्याचार की अपेक्षा का समर्थन तथा सत्याचार को सनातन संस्कृति का अनन्य अंग घोषित करता है। महाभारत में इसी को युगातीत और देशातीत प्रासंगिकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है।

रामायण में सत्य-प्रतिष्ठा

महाभारत में जीवन को जीने की वास्तविक क्षमता प्रदान करने वाले जिन यमों, नियमों, व्रतों और संकल्पों का निर्वाह अपरिहार्य दर्शाया गया है, रामायण में राम को उन्हीं का मूर्तिमान् रूप सिद्ध किया गया है। महाभारत की रचना का उद्देश्य भ्रष्टाचार एवं पापाचार का उन्मूलन था। इसकी प्रेरणा व्यास को वाल्मीकि की भाँति इस युग में निरपराधों के विरुद्ध बढ़ते हुए अनाचार से मिली थी। व्यास ने अपना आक्रोश वाल्मीकि की भाँति किसी के प्रति शाप के दुस्साहस से व्यक्त नहीं किया। महाभारत में **'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमम्मः शाश्वतीः समाः'** का अनुरणन उपलब्ध नहीं होता और न ही इसमें जनमानस द्वारा व्यवहार्य कर्तव्याकर्तव्यों के ज्ञान को महानायक में प्रतिष्ठित दर्शाया गया है। इसमें इन सभी को अपरिहार्य घोषित करने के लिए परम्परागत आश्रयों का अवलम्बन लिया गया है। व्यास ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने उन्हीं जीवनोपयोगी मान्यताओं को सरलता और सर्वग्राह्यता प्रदान करने की चेष्टा की है, जो वेदों में गुह्य

रूप से तथा उपनिषदों में तत्त्वरूप से मान्य स्वीकार की गई हैं। महाभारत में स्मार्त धर्म के अनुकरण के एक नहीं, अनेक सन्दर्भ यही सिद्ध करते हैं कि व्यास धर्म के विषय में स्मार्त धर्मविदों के समर्थक हैं।

रामायण मर्यादास्थापना का सफल महाप्रयास है। इसमें समस्त प्राणियों के लिए अपेक्षित आचार, विचार तथा व्यवहार का प्रतिपादन राम के चरित्र-चित्रण के माध्यम से हुआ है। इसके नीच पात्रों का दुरन्त कर्तव्य के निषेध को समर्पित है तथा राम की दानवीरता, दयावीरता, सत्यवीरता तथा धर्मवीरता कर्तव्य के समर्थन से प्रेरित। राम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित करके वाल्मीकि ने एक ऐसे आदर्श समाज की स्थापना को अपेक्षित माना है जिसके समस्त प्राणी सद्विचार, सत्कथन, सद्प्रभाव, सद्भाव एवं सत्पराक्रम से युक्त हों। यह प्रयास वाल्मीकि के **'यथा राजा तथा प्रजा'** में अटूट विश्वास का द्योतक है। आदर्श केवल श्रेष्ठता का ही द्योतक नहीं, अपितु दर्पण का भी पर्यायवाची है। हम दर्पण देखकर अपनी समस्त अव्यवस्थाओं को सुधारने में समर्थ हो सकते हैं। रामायण में सत्य की अपेक्षा, सत्याचार के माध्यम से अभ्युदय एवं निःश्रेयसविषयक सम्पन्नता की प्राप्ति तथा ब्रह्मलाभ का संकेत राम द्वारा व्यवहृत सत्यवादिता, सत्यप्रतिज्ञता एवं सत्य-समाश्रय में निहित दर्शाए गए हैं। अयोध्याकाण्ड में राम को राज्याभिषेक का पात्र सिद्ध करने के लिए दशरथ द्वारा उनका गुणकथन सत्य के प्रति उनकी आस्था को इस प्रकार व्यक्त करता है–

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः।।
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः।
प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः।।[७३]

राम-भरत-संवाद में राम द्वारा असत्य भाषण को राजा का दोष घोषित किया गया है।[७४] यह असत्य के निषेध का द्योतक है। राम ने भरत को त्याज्य दोषों के त्याग और कर्तव्यगुणों के ग्रहण का जो परामर्श दिया है उनमें विंशतिवर्ग को त्याज्य घोषित किया गया है। विंशतिवर्ग के अन्तर्गत बीस दुर्गुणों का निषेध उपलब्ध होता है। सत्यधर्मरहितता इनमें से एक है।[७५] राम तथा जाबालि के संवाद में सत्य पालन को राजाओं का दयाप्रधान धर्म तथा सनातन आचार दर्शाया गया है।[७६] सत्य में सम्पूर्ण लोकों को प्रतिष्ठित दर्शाकर ऋषियों और देवताओं द्वारा इसे समादृत माना गया है।[७७]

सत्य को परम धाम की प्राप्ति का साधन, धर्म की पराकाष्ठा का स्रोत, ईश्वरस्वरूप, धर्म का आधार, परम पद एवं समस्त दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद का आधार स्वीकार किया गया है। तदनुसार ही राम ने सभी को सत्यपरायण होने का परामर्श दिया है।[७८] उनकी सत्यनिष्ठा इस प्रतिज्ञा से व्यक्त होती है–

सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम्।।[७९]

राम द्वारा सत्य धर्म की श्रेष्ठ धर्म के रूप में स्वीकृति[८०] तथा सत्यवादिता को मनुष्य के लिए सदा सर्वदा सेव्य[८१] घोषित करने का उद्देश्य राम की सत्य के प्रति निष्ठा के परिचायक सिद्ध होते हैं। रामायण में सत्य को स्वर्ग का द्वार घोषित किया गया है।[८२] रामायण में राम द्वारा पालित सत्यविषयक मर्यादाएं तथा उनके मुख से सत्य के परम धर्म तथा ब्रह्मत्व-लाभदायक होने की घोषणा महाभारत में यथावत् उद्धृत हुई हैं। महाभारत में सत्यप्रतिपादन का विवेचन त्रेता युग में प्रचलित सत्यविषयक मान्यताओं का अक्षरशः अनुरणन सिद्ध होता है। तदनुसार ही महाभारत में सत्य के समर्थन और असत्य के निषेध का विधान हुआ है। महाभारत में सत्यसंस्तुति के लिए जो आश्रय अपनाए गए हैं, उनमें सत्यविषयक वाल्मीकीय मान्यताओं को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। रामायण में सत्य के लिए प्राण तक न्यौछावर करने का उल्लेख है। राम के वनगमन के समय कैकेयी द्वारा दशरथ को दिया गया सत्य पर दृढ रहने का परामर्श रामायण में सत्य-प्रतिष्ठा का अभीष्ट प्रयास सिद्ध होता है। वाल्मीकि ने सागर का संयमित रहना सत्य पर ही आश्रित स्वीकार किया है। कैकेयी के माध्यम से उन्होंने सत्य में अपनी असीम निष्ठा व्यक्त करते हुए कहा है कि सत्य ही प्रणव रूप शब्दब्रह्म है, सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित है, सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्य ही से ब्रह्म की प्राप्ति होती है–

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः।
सत्यानुरोधात् समये वेलां स्वां नातिवर्तते।।
सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्।।

(अयोध्याकाण्ड, १४.६-७)

महाभारत में सत्य-संस्तुति

महाभारत की विशिष्टता जीवनोपयोगी समस्त मूल्यों को व्यवहार

सिद्ध करने में निहित है। तदनुसार ही इसे आचारसंहिता की संज्ञा दी गई है। आदिपर्व में शकुन्तला तथा दुष्यन्त के संवाद के माध्यम से सत्यप्रशस्ति महाभारत में सत्यनिरूपण को पूर्णरूपेण परम्परागत सिद्ध करती है। सत्यनिष्ठा के महत्त्व को सहस्र अश्वमेध यज्ञों से अधिक श्रेयस्कर सिद्ध करके जन-मन में इसके पालन के सरल, सर्वबोधगम्य एवं सर्वग्राह्य संस्कारों का प्रादुर्भाव कराया गया है।[८३] सत्य वचन को सर्ववेदपाठ और समस्त तीर्थस्थान तुल्य घोषित करके[८४] इसे श्रेष्ठतम धर्म और अनन्यतम उपलब्धि सिद्ध किया गया है।[८५] व्यास द्वारा युधिष्ठिर को स्वेच्छा से सत्य कथन का परामर्श और पुण्यदायक कर्म की दृष्टि से भी असत्य से निवृत्ति का आग्रह महाभारत में सत्यनिष्ठा के विवेचन से अनुप्रेरित है।[८६] यह सर्वथा वेदसम्मत एवं उपनिषत्समर्थक है। सभापर्व में शास्त्रज्ञान की सफलता सत्याचार आश्रित दर्शायी गयी है।[८७] सभासदों की दुःखी मनुष्यों को शान्त करने की क्षमता सत्याश्रित दर्शायी गयी है।[८८] सभासदों के लिए प्रश्न का झूठा उत्तर देना वर्जित माना गया है।[८९] किसी भी प्रश्न के सत्य उत्तर पर भयवश मौन को वारुणी फांसी से दण्डनीय घोषित करते हुए सभा में सत्य के निर्वाह का औचित्य सिद्ध किया है।[९०] सभा में मिथ्या व्यवहार द्वारा प्राणियों की सात पहली तथा सात आगामी पीढियों के नाश का उल्लेख किया गया है।[९१] यह मनुस्मृति का अक्षरशः समर्थन सिद्ध होता है।[९२] सभापर्व में सत्याचारी साक्षी को धर्मक्षय तथा अर्थक्षय से मुक्त दर्शाकर व्यास ने तद्विषयक मनु द्वारा प्रतिपादित सत्यसम्बन्धी मान्यताओं को कालातीत एवं देशातीत प्रासंगिकता प्रदान की है।[९३] सभापर्व में युधिष्ठिर में धर्म को, अर्जुन में धैर्य को, भीमसेन में पराक्रम को तथा नकुल और सहदेव में श्रद्धा तथा वृद्धों की सेवा प्रतिष्ठित दर्शाकर सत्याचार को धर्म का मूल घोषित किया गया है।[९४]

आरण्यकपर्व में सत्य के आचरण को धर्म के आठ मार्गों में से एक दर्शाकर इसे देवयान मार्ग का प्रशस्तक कहा गया है।[९५] भारतीय संस्कृति में निःश्रेयससिद्धि अभ्युदयसिद्धि से श्रेयस्कर स्वीकार की जाती है। सत्य के आचरण को अभ्युदयसाधक घोषित करके इसके सदा सर्वदा पालन का अनुरोध मनुजोचित आचार में इसकी श्रेष्ठता का द्योतक है। युधिष्ठिर द्वारा झूठ की अपेक्षा सत्य के कल्याणकारी होने की स्वीकृति महाभारत में सत्यप्रतिष्ठा को समर्पित है।[९६] नल में सत्य, धैर्य, ज्ञान, तपस्या, दम और शम की स्थिरता के उल्लेख द्वारा उसे शापमुक्त सिद्ध किया गया है।[९७] इस माध्यम से सत्ययुक्त व्यवहार को शाप से मुक्ति का साधन घोषित किया

गया है। अहंकाररहित सत्यकर्तृत्व में समस्त तीर्थों का फल निहित दर्शाकर सत्य को समस्त तीर्थफलदायक माना गया है।[९८] ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए सत्य के आचरण को अपेक्षित घोषित करके[९९] श्रेष्ठ प्राणियों में इसके व्यवहार के संस्कार जगाए गए हैं। कृष्णद्वैपायन व्यास ने सत्य को श्रेष्ठता का साधन स्वीकार किया है, कुल को नहीं।[१००] युधिष्ठिर द्वारा इस लोक और परलोक पर विजय का श्रेय सत्य को दिया है।[१०१] यह उल्लेख सत्य को अभ्युदय और निःश्रेयससिद्धि का स्रोत घोषित करता है। सत्ययुग में प्राणियों द्वारा सत्यव्रत के निर्वाह को उनके संकल्प की सफलता का आधार स्वीकार कर महाभारत में मनु द्वारा प्रशंसित सत्ययुग में सत्य के सामर्थ्य का औचित्य सिद्ध किया गया है।[१०२] सत्य व्रत के सतत निर्वाह को शुभ योनि में जन्म का साधक घोषित किया गया है।[१०३] सत्यव्रत के निर्वाह और झूठ से निवृत्ति को मृत्युञ्जयताप्राप्ति का साधन स्वीकार किया गया है।[१०४] सत्य के क्षय को आयु के क्षय का कारण घोषित कर इसके सतत निर्वाह का अनुरोध किया गया है।[१०५] ब्राह्मण-लक्षण-विवेचन के अन्तर्गत सत्यव्रत के निर्वाह को अपेक्षित घोषित किया गया है।[१०६] धर्म को सत्याश्रित सिद्ध किया गया है।[१०७] सत्य व्रत के निर्वाह से व्याध को धर्मोपदेश का अधिकारी घोषित किया गया है।[१०८] सत्य को वेदों का सार, जितेन्द्रियता को सत्य का सार, त्याग को जितेन्द्रियता का सार तथा शिष्टाचार को सबका सार कहकर यमों के सदा सर्वदा निर्वाह का स्मृतिसम्मत परामर्श दिया गया है।[१०९]

अहिंसा को सत्य में स्थित दर्शाकर मनुष्य की सभी वृत्तियों का नियमन सत्याश्रित सिद्ध किया गया है। शिष्टाचार-समन्वित सत्य को सर्वोपरि सिद्ध करके इसे सज्जनों के आचार का अनन्य अंग घोषित किया गया है।[११०] अद्रोह, दमन और सर्वदा सत्य कथन को सज्जनों के चरित्र के तीन पाद घोषित कर के सत्य को सदाचार का मूल दर्शाया गया है।[१११] इससे पूर्व सत्य वह गुण माना गया है जो साधु के लक्षणों में से एक है।[११२] महाभारत में मनु द्वारा प्रतिपादित **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'** का परामर्श पुनः पुनः अनुरणित हुआ है। सत्य के लिए सर्वजनहितकारी होना अपेक्षित माना गया है। जो सत्य सभी प्राणियों के हित से वियुक्त हो उसे अधर्म स्वीकार किया है।[११३] सत्य की परम व्रत के रूप में घोषणा महाभारत में सत्यनिरूपण की विशिष्टता सिद्ध होती है।[११४] पुण्यशील मनुष्यों के साधनों में सत्य का सर्वप्रथम उल्लेख जीवन में इसके

व्यवहार की आवश्यकता को स्वयं सिद्ध कर देता है।[११५] सत्य एवं सरलतायुक्त व्यवहार को दीर्घायु की प्राप्ति का साधन दर्शाया गया है।[११६] **'सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यम्'**[११७] के माध्यम से सत्य के तेज को सूर्य के तेज से अधिक शक्तिशाली घोषित किया गया है। युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद में सूर्य को सत्य में स्थित दर्शाया गया है।[११८] वस्तुतः इससे अभिप्राय सत्य की तेजस्वितासिद्धि है। आरण्यकपर्व में सत्यप्रतिष्ठा के माध्यम से व्यास ने जीवन में सत्य के निर्वाह को मनुष्यजीवन का साध्य घोषित किया है। इसे परम धर्म, परम व्रत, ब्राह्मणलक्षण एवं सन्तलक्षण दर्शाया है। इसे चारों वर्णों का सामान्य धर्म घोषित किया गया है। इसको धर्म घोषित करके व्यास ने अपने उस सिंहनाद को सार्थकता प्रदान की है, जो स्वर्गारोहण पर्व में **'धर्मः किं न सेव्यते'** के रूप में मुखरित हुआ है।[११९] महाभारत का रचना-उद्देश्य जनसाधारण को वेदोक्त मानसिक, वाचिक और कायिक मान्यताओं को व्यवहृत करने के लिए प्रयत्नरत करना है। मानसिक संकल्प और वाचिक प्रतिज्ञा का पूर्णत्व उनके कार्यान्वयन में ही निहित है। तदनुसार ही कृष्णद्वैपायन व्यास ने वेदोक्त मानसिक संकल्प को शुभ कर्म का कारण माना है और कार्यान्वयन को परिणाम–

मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात्प्रमाणं मे मनस्ततः।।[१२०]

उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र और विदुर के संवाद के माध्यम से जो सुकृत-दुष्कृत विवेचन हुआ है, उसमें सत्य को स्वर्ग का एकमात्र सोपान घोषित किया गया है।[१२१] सत्य को जीवनपर्यन्त अत्याज्य दर्शाकर इसके सदा सर्वदा निर्वाह की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[१२२] सत्यवादिता को निज वर्णधर्म में ख्याति का स्रोत दर्शाया गया है। यह जीवन में इसकी अपेक्षा को स्पष्ट करता है।[१२३] सत्य को धर्म का रक्षक घोषित करके यह स्पष्ट करता है कि सत्य धर्म का मूल है।[१२४] विदुर द्वारा सत्य से वियुक्त धर्म की धर्म के रूप में अस्वीकृति और कपट से युक्त सत्य की सत्य के रूप में अस्वीकृति सत्य की महत्ता की अभिव्यक्ति से अनुप्रेरित है।[१२५] सत्य को संसार का हेतु घोषित करना इसकी विश्वव्यापी आवश्यकता को स्पष्ट करना है।[१२६] सत्य को झूठ पर विजय का साधन घोषित किया गया है,[१२७] जिसका उद्देश्य प्राणियों में झूठ के निषेध और सत्य के निर्वाह के संस्कार जगाना है। वेदों को मिथ्याचारजन्य पाप से उद्धार में असमर्थ दर्शाकर, असत्य के निषेध का मनोवैज्ञानिक प्रावधान उद्योगपर्व की विशिष्टता है।[१२८] वस्तुतः इस माध्यम से

सत्य को सद् ज्ञान का मूल सिद्ध किया गया है। वेद मनुष्य के लिए सत्कथन, सत्कर्म और सद् ज्ञान के प्रेरक हैं, न कि मिथ्या विचार, असत्य कर्म और असद् ज्ञान के समर्थक। ब्राह्मण से जिन महाव्रतों के निर्वाह की अपेक्षा की गई है, उनमें से सत्य एक है।[१२९] इस उल्लेख में भी स्मार्त धर्म निर्दिष्ट व्रत-विधान का अनुरणन उपलब्ध होता है। सत्पुरुषों के मार्ग के अनुसरण को सत्य धारणाश्रित दर्शाकर सत्य को सन्मार्ग का पथप्रशस्तक घोषित किया गया है।[१३०] युधिष्ठिर को सत्यप्रतिज्ञ मानकर सत्यप्रतिज्ञा के निर्वाह को शत्रुओं के पराभव में सहायक माना गया है।[१३१] सभा में जो सभासद सत्य का समर्थन नहीं करते वे विनाश को प्राप्त होते हैं। इसका कारण अधर्मविद्ध धर्म द्वारा सभासदों का नाश है।[१३२] सत्पुरुषों के व्यवहार को धर्म और अर्थ से युक्त स्वीकार किया गया है।[१३३] इससे अभिप्राय सत्याचार को धर्म और अर्थ का मूल सिद्ध करना है।[१३४] सत्पुरुषों के साथ असद् व्यवहार स्वनाश का मूल माना गया है। उद्योगपर्व में मनु के **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'** को मान्य स्वीकार करते हुए मनुष्यों को प्रेरणा दी गई है कि उनका कथन सत्य और प्रिय होने के साथ-साथ धर्मसम्मत होना भी अपेक्षित है। इसको वाणी की चौथी विशेषता माना गया है।[१३५] उद्योगपर्व में सत्य के व्यवहार की अपेक्षा स्पष्ट करने के लिए असत्य के निषेध और सत्य के समर्थन के सन्दर्भ जीवन में सत्य के व्यवहार की सनातन आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं। उद्योगपर्व का सत्यविषयक परिशीलन स्पष्ट करता है कि महाभारत का रचनोद्देश्य सनातन मूल्यों की अपने युग में सार्थकता सिद्ध करने तक सीमित नहीं। व्यास का अभिप्राय सनातन भारतीय संस्कृति को कालातीत, विश्वव्यापी प्रासंगिकता प्रदान करना था।

महाभारत में भीष्मपर्व का महत्त्व वही है, जो मानवशरीर में मन का। इसमें विश्वविख्यात 'गीता रत्न' समाहित है। गीता में मनुष्य के अभ्युदय एवं निःश्रेयसविषयक पूर्णत्वप्राप्ति के सनातन साधनों को अधिक स्पष्टीकरण, सरलीकरण एवं सर्वग्राह्यता प्रदान की गई है। गीता का विषादहारिणी शक्ति से सम्पन्न होना विश्वमान्य है। इसमें निष्काम कर्मयोग, कर्मसंन्यासयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग का अभीष्ट अवतरण हुआ है। वैदिक गुह्य ज्ञान और औपनिषदिक तत्त्वज्ञान में मनुष्य के लिए कर्तव्याकर्तव्य-सम्बन्धी निर्देशों का जो प्रतिपादन देवप्रशस्ति एवं गुरु-शिष्य के विचार-विमर्श के माध्यम से हुआ है, उसी को कृष्ण तथा अर्जुन के संवाद में व्यापकता प्रदान की गई है। वेदोक्त दुरिताओं के निषेध के लिए व्यास ने

उन्हें आसुरी सम्पत्ति घोषित किया है। भद्रताओं को दैवी सम्पत्ति कहकर प्राणियों में उन्हें व्यवहृत करने के संस्कार जगाए हैं। गीता में उपनिषद्‌विषयक तत्त्वज्ञानात्मक साधनों का आधिक्य उपलब्ध होता है। इसी आधार पर इसे 'गीतोपनिषद्' की संज्ञा दी गई है। मनुष्य के विचार और आचारविषयक कर्तव्याकर्तव्यों को सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वर्गों में बाँटकर उनके समर्थन और निषेध का प्रावधान किया गया है। ब्राह्मी स्थिति मानव की श्रेष्ठतम उपलब्धि स्वीकार की जाती है। सत्य के निर्वाह को इस स्थिति का साधक दर्शाया गया है। इसी को परम शान्ति का स्रोत माना गया है।[१३६] मानवों में सत्यभाव को ईश्वरप्रेरित घोषित किया गया है।[१३७] वस्तुतः इसका उद्देश्य मनुष्यों से इसके सदा सर्वदा पालन का आग्रह है। सत्य को दैवी सम्पत्ति घोषित करके इसे देवगुण सिद्ध किया गया है।[१३८] इससे अभिप्राय इसके पूर्वप्रतिपादित महत्त्व का समर्थन है। वेदों में सत्य का मानसिक, वाचिक और कायिक स्वरूप उन्हीं स्तुतिवाचक पदों के माध्यम से हुआ है, जो विविध देवताओं द्वारा विहित गुणों के रूप में आख्यात हैं। दैवी सम्पत्ति को मुक्ति का और आसुरी सम्पत्ति को बन्धन का कारण कहा गया है।[१३९] वस्तुतः यह विधान सत्य के समर्थन और असत्य के निषेध हेतु हुआ है। इसमें यजुर्वेद की **'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।'** स्तुति का अक्षरशः अनुरणन उपलब्ध होता है। वस्तुतः वेदों में भद्रताओं एवं दुरिताओं के सन्दर्भ संकेत रूप में उपलब्ध हैं। महाभारत में इन्हें मनुष्यों के सद्‌गुणों और दुर्गुणों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इनका दैवी और आसुरी सम्पत्ति के अन्तर्गत विवेचन प्राणियों की सद्‌गुणों में प्रवृत्ति और दुर्गुणों से निवृत्ति का मनोवैज्ञानिक प्रयत्न सिद्ध होता है। आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों को कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान, पवित्र आचार और सत्य से वियुक्त दर्शाकर[१४०] सत्य के व्यवहार को मानवजीवन का श्रेय घोषित किया गया है। सत्य को मुक्ति और असत्य को बन्धन का कारण कहा गया है। भीष्मपर्व में निरूपित सत्यविषयक मान्यताएँ उसके कार्यान्वयन का आग्रह प्रस्तुत करती हैं।

शान्तिपर्व को महाभारत में शीर्ष स्थान प्राप्त है। वस्तुतः महाभारत का प्रतिपाद्य विषय युद्ध वर्णन नहीं है। इसका विषय उन जीवनमूल्यों की पुनर्स्थापना है, जिनका ह्रास मनुष्य में दुर्वृत्तियों में प्रवृत्ति का कारण बन जाता है। सनातन जीवनदर्शन के अनुसार जब धर्म का विनाश और अधर्म की वृद्धि होती है, जब सत्य पर झूठ, अहिंसा पर हिंसा, सन्तोष पर लोभ,

निःस्वार्थ पर स्वार्थ के प्रभुत्व का दुस्साहस मनुष्यों की वृत्ति बन जाता है तो परम सत्ता को धर्म की पुनर्स्थापना, साधुओं के परित्राण और दुष्कृतों के विनाश के लिए किसी न किसी रूप में अवतरित होना पड़ता है। द्वापर युग में धर्म का ह्रास कंस के अत्याचारों से आरम्भ हुआ। कंस के अत्याचार कृष्ण के जन्म का कारण बने और कौरवों द्वारा पाण्डवों पर किए गये अन्याय और अत्याचार का उन्मूलन उनके अवतार का उद्देश्य। गीता में कृष्ण ने आदर्श जीवन का जो संक्षिप्त विवेचन किया है, शान्तिपर्व उसी के स्पष्टीकरण, सरलीकरण एवं सर्वग्राह्यता को समर्पित है। गीता को गीतोपनिषद् की संज्ञा उसकी तत्त्वज्ञानविषयक संकेतात्मक व्याख्या के आधार पर प्राप्त हुई है। अर्जुन युद्ध से पूर्व अपने स्वजनों, मार्गदर्शकों एवं प्रियजनों के युद्ध में विनाश की आशंका से विषादग्रस्त हो गया था। इस विषाद के निवारण के लिए उसे कर्मोन्मुखी और धर्मयुद्धोन्मुखी बनाने के लिए कृष्ण ने उसे गीता का उपदेश दिया। महाभारत में कृष्ण ने साधुओं के परित्राण और दुष्कृतों के विनाश की पूर्ति अर्जुन का सारथि बनकर की। युद्धोपरान्त युधिष्ठिर के मन में अर्जुन से भी अधिक विषाद जागृत हो गया। जिस धर्मयुक्त राज्य की संस्थापना के लिए महाभारत का युद्ध लड़ा गया था, वह उसका दायित्व संभालने से कतराने लगा। युद्ध में स्वजनों के विनाशजन्य श्मशानवैराग्य ने उनके मन में कर्म के प्रति उदासीनता का बीजारोपण कर दिया। धर्म की संस्थापना मात्र अधर्म के विनाश द्वारा ही संभव नहीं है। उसकी पूर्ति और व्यावहारिकता आदर्श शासन, नीतियुक्त आचार एवं जनसाधारण की सत्कर्मप्रवृत्ति में निहित है। इसका दायित्व एक ऐसे धर्मनिष्ठ सम्राट् का है, जो स्वयं मर्यादित रहकर जनसाधारण में सुप्त मर्यादाओं के निर्वाह के संस्कार जगाने में समर्थ हो। धर्म की संस्थापना युधिष्ठिर द्वारा लिए गए संन्यास के संकल्प की पूर्ति में नहीं, उसके राज्यग्रहण में निहित थी। इसके लिए जब अन्य सभी प्रयास असफल हो गए, तो श्रीकृष्ण ने उन्हें अपनी संशयनिवृत्ति के लिए भीष्म से परामर्श का आग्रह किया। वस्तुतः शान्तिपर्व भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को दिया गया व्यापक उपदेश है। इसमें राजधर्म के निरूपण के अन्तर्गत जहाँ दण्डनीति आदि के प्रावधान के माध्यम से राष्ट्र की अभ्युदयविषयक सामग्री एवं सम्पन्नता सम्बन्धी नियमों का प्रावधान है, वहीं यह समस्त प्राणियों के पथ का प्रशस्तक भी सिद्ध होता है। मानवजीवन के लिए उपयोगी प्रवृत्तिधर्मविषयक सभी सिद्धान्तों और निवृत्तिधर्मविषयक सभी नियमों का प्रतिपादन इसकी

विशिष्टता है।

सत्य को अभ्युदयसाधक और निःश्रेयसलाभदायक घोषित करके गृहस्थों द्वारा अनुकार्य सिद्ध किया गया है।[१४१] सत्य को पवित्र कर्म घोषित करके प्राणियों में उसके निर्वाह के प्रति संस्कार जगाए गए हैं।[१४२] सत्य धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सत्य सनातन धर्म है। यही परम गति है। सभी से इसका आदर करने का आग्रह किया गया है, इसे सनातन ब्रह्म मानते हुए समस्त वस्तुओं को इसी में प्रतिष्ठित दर्शाया गया है।[१४३] समता, दम, मत्सरहीनता एवं अहिंसा आदि को सत्य के तेरह प्रकार माना गया है। वस्तुतः सत्य के बिना किसी भी अन्य यम का पालन असंभव घोषित किया गया है। महाभारतकार ने सत्य को अव्यय और अविकारी कहकर सदा सर्वदा इसके अक्षय होने की चर्चा की है।[१४४] अमात्सर्य को सत्याश्रित दर्शाकर व्यास ने इसे इस नियम के निर्वाह का मूल सिद्ध किया है।[१४५] उनके अनुसार सत्य के बिना क्षमाभाव की शक्ति की प्राप्ति असंभव है। तदनुसार ही अन्य महाव्रतों का पालन सत्याश्रित दर्शाया गया है। मनुष्य से सत्यपरायणता का अनुरोध करते हुए कहा गया है कि इसके बिना धृति-लाभ असंभव है।[१४६] सत्य को धर्म और मिथ्या को पाप मानते हुए प्राणियों से अपेक्षा की गई है कि वे सत्य का लोप न होने दें।[१४७] सत्य को समस्त पुण्य और ज्ञान का मूल घोषित करते हुए इसे हजार अश्वमेध यज्ञों से अधिक पुण्यशाली बताया गया है।[१४८] मनसा, वाचा, कर्मणा सभी प्राणियों के विषय में असत् अभिप्राय से निवृत्ति ब्रह्मप्राप्ति का साधन मानी गयी है।[१४९] इस माध्यम से त्रिविध सत्य के निर्वाह को आवश्यक घोषित किया गया है। सत्य में अमृतत्व की स्थिति दर्शाते हुए उसे मृत्युञ्जयता का साधक घोषित किया गया है।[१५०] ब्राह्मण के लिए सत्यपरायणता को अभीष्ट मानते हुए सत्य को उसका गुण माना गया है।[१५१] सत्य को सृष्टि का उत्पत्तिस्थान एवं स्थितिस्थान माना गया है तथा इसे स्वर्गप्राप्ति का साधन दर्शाया गया है। असत्य के निषेध के लिए मिथ्याचरण को मनुष्य की अधोगति का कारण स्वीकार किया गया है।[१५२]

सत्य और मिथ्या की वृत्त्यात्मक तुलना करते हुए सत्य को धर्म माना गया है और असत्य को अधर्म। सत्य को प्रकाशस्वरूप घोषित किया गया है और असत्य को अन्धकारस्वरूप। सत्य को सुख का मूल माना गया है और असत्य को दुःख का कारण।[१५३] प्राणियों में सत्य के प्रति आस्था जगाने के लिए उसे अविनाशी ब्रह्म, अक्षय तपस्या, सदा फल देने वाला एकमात्र

यज्ञ और वेदस्वरूप दर्शाया गया है। इसे धर्म और जितेन्द्रियताप्राप्ति का साधन घोषित किया गया है। सबकी प्रतिष्ठा सत्य से ही स्वीकार की गई है। इसे वेद तथा वेदांगस्वरूप, विद्या और विधिस्वरूप, ब्रह्मचर्यस्वरूप तथा ओंकारस्वरूप घोषित किया गया है।[१५४] सत्य को वायु की संचार शक्ति, सूर्य का तेज, अग्नि की प्रकाश शक्ति तथा स्वर्ग की प्रतिष्ठा मानते हुए उसे यज्ञस्वरूप, तपस्यास्वरूप और सरस्वतीस्वरूप घोषित किया गया है।[१५५] सत्य और धर्म का तुलनात्मक महत्त्व स्पष्ट करते हुए इसे धर्म से गुरुतर दर्शाया गया है।[१५६] सत्य को सबकी वृद्धि का कारण मानते हुए प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे अपना अन्तःकरण सत्य में ही स्थिर करें।[१५७] मोक्षधर्मपर्व में सत्य को भगवान् वासुदेव का स्वरूप माना गया है।[१५८] प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे समस्त यम-नियमों का पालन करने में प्रवृत्त रहें।[१५९] इस चर्चा में सत्य का महत्त्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। अन्यत्र सत्य को शुभ गुण घोषित किया गया है।[१६०] सत्य कथन को सुख का स्रोत माना गया है।[१६१] इन्द्र तथा लक्ष्मी के संवाद में लक्ष्मी का निवास सत्य में स्वीकार किया गया है। इसी संवाद में पूर्व राक्षसों को सत्यवादी, ब्रह्मनिष्ठ और जितेन्द्रिय माना गया है।[१६२] इससे अभिप्राय सत्य की अवहेलना को राक्षस वृत्ति घोषित करना है, जिसके परिणामस्वरूप मिथ्याचारी के लिए श्रीलाभ असंभव दर्शाया गया है। इन्द्र द्वारा सत्यवादी और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों को लक्ष्मी का चरण धारण करने में समर्थ स्वीकार किया गया है।[१६३]

कृष्ण तथा उग्रसेन के संवाद में नारद की सर्वत्र पूजनीयता का श्रेय क्षमाशीलता, शक्तिमत्ता, जितेन्द्रियता, सरलता और सत्यवादिता के निर्वाह को दिया गया है।[१६४] सत्य संकल्प के निर्वाह को सर्वकर्मसिद्धि की सामर्थ्य से युक्त माना गया है।[१६५] वेद को सत्य का रहस्य, दम को सत्य का रहस्य, दान को दम का रहस्य और तपस्या को दान का रहस्य माना गया है।[१६६] वस्तुतः जितेन्द्रियता सत्याचार के अभाव में असंभव दर्शायी गयी है तथा सत्य को आत्मज्ञान का स्रोत घोषित किया गया है।[१६७] सत्य को श्रेष्ठतम स्वीकार करते हुए समस्त संसार का धारक और प्रतिष्ठापक माना गया है।[१६८] सत्य को निर्भयता का मूल सिद्ध किया गया है।[१६९] जाजलि-तुलाधार-संवाद में ब्रह्मभाव की प्राप्ति प्राणिमात्र के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा पापभाव से निवृत्ति में निहित दर्शायी गयी है।[१७०] कपिल ने ब्रह्मप्राप्ति के लिए जिन बारह उपायों का निदर्शन किया है, उनमें से सत्य एक है।[१७१] नारद तथा गालव के संवाद में प्राणों के लिए अत्यन्त हितकर सत्य विषय

का विवेचन सत्याचार की व्याख्या है। इसके अन्तर्गत अहंकार का त्याग, इच्छानुराग-निग्रह, संतोष, धर्मानुसार वेदाध्ययन इत्यादि आते हैं।[१७२] महादेव शिव को सत्य धर्म में रत कहकर सत्य के निर्वाह की आवश्यकता को पराकाष्ठा प्रदान की गई है।[१७३] भावतः शिवत्वभाव की उपलब्धि सत्य-धर्माश्रित मानी गई है। पराशर द्वारा किए गए वर्णाश्रमधर्म के विवेचन में सत्य के निर्वाह को सभी वर्णों और आश्रमों में समान रूप से अपेक्षित माना गया है।[१७४] साध्य-हंस-संवाद में पूर्ववत् सत्य को वेदाधिगम का फल, दम को सत्य का फल और मोक्ष को दम का फल दर्शाकर सत्य को मोक्षधर्म का अंग घोषित किया गया है।[१७५] इसी संवाद में सत्य को ऊर्ध्वगति-लाभदायक स्वीकार किया गया है।[१७६] अतः **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'** को सर्वांश में कल्याणकारी बताया गया है।[१७७] याज्ञवल्क्य के त्रिगुण-विवेचन में सत्य की चर्चा सत्त्वगुणों के अन्तर्गत हुई है।[१७८] उनके अनुसार इसका निर्वाह शिष्टाचार के पालन का परिचायक है। प्रकृति को अष्टादश गुणमयी स्वीकार किया गया है। ये समस्त गुण सात्त्विक माने गए हैं। इनके नाम हैं–प्रीति, कार्य, उद्रेक, लघुता, अकृपणता, असंरम्भ, सन्तोष, श्रद्दधानता, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, आर्जव, समता, सत्य एवं अनसूया।[१७९] यह सत्त्वगुण.विवेचन याज्ञवल्कीय सत्त्वगुण.विवेचन का अक्षरशः समर्थन है। इससे अभिप्राय सत्य को पुनः पुनः दैवीसम्पत्ति घोषित करना है। कृष्ण. अर्जुन.संवाद में श्रीकृष्ण ने सत्य को परम धर्म स्वीकार करते हुए इसे सदा सर्वदा सर्वत्र व्यवहार्य घोषित किया है।[१८०] संक्षिप्ततः शान्तिपर्व में सत्य की महत्ता को स्पष्ट करते हुए इसे समस्त धर्मों का समाश्रयी सिद्ध किया गया है। इसे सत्त्व गुण, दैवी सम्पत्ति तथा जितेन्द्रियता का रहस्य दर्शाकर इसके निर्वाह को सर्वत्र अपेक्षित माना गया है। इसके लिए किया गया स्मार्त समर्थन का प्रावधान इसकी सनातनता के स्पष्टीकरण हेतु हुआ है। वस्तुतः शान्तिपर्व में सत्य का स्वरूप पर्याप्त मुखरित होकर निखार को प्राप्त हुआ है।

शान्तिपर्व की भाँति अनुशासनपर्व का हेतु भी युधिष्ठिर का विषाद से परित्राण है। अकर्तव्यनिषेध और कर्तव्यसमर्थन के आधिक्य के आधार पर ही इसे अनुशासनपर्व की संज्ञा दी गई है। शान्तिपर्व की भाँति इसमें भी सत्य को लक्ष्मी का समाश्रय स्वीकार किया गया है।[१८१] स्त्रियों में सत्यवादिता के संस्कार जगाने के लिए सत्यवादिनी स्त्रियों में लक्ष्मी के निवास का उल्लेख किया गया है।[१८२] असत्य कथन को वाचिक पाप घोषित करके इसे

त्याज्य दर्शाया गया है।[183] अन्य पर्वों की भाँति अनुशासनपर्व में भी सत्य को धर्म का लक्षण माना गया है।[184] न्यायाधिकार में मिथ्या व्यवहार को ब्रह्महत्या के समकक्ष दर्शाया गया है।[185] यह मनुविवेचित असत्य के निषेध का समर्थन है। उन्हीं ब्राह्मणों को दान फलदायक माना गया है, जो सत्य में रत हों।[186] दानप्राप्ति की पात्रता, अपरिग्रह, शौच, स्वाध्याय तथा सत्य कथन के निर्वाह में निहित दर्शायी गई है।[187] मिथ्या कथन को नरक का द्वार दर्शाकर निषिद्ध घोषित किया गया है।[188] इसके विपरीत सत्य के निर्वाह को स्वर्ग का द्वार स्वीकार किया गया है।[189] लोकनिर्वाह हेतु शिष्टाचार के व्यवहार को संवर्धन का स्रोत घोषित किया गया है।[190] सत्यधर्म के निर्वाह की महत्ता को स्पष्ट करते हुए सत्यधर्मानुयायियों द्वारा एक गौ के दान को सहस्र गोदान के तुल्य फलदायक दर्शाया गया है।[191] सत्य को देवाह्लादक, ब्राह्मणवृन्दहर्षदायक ही घोषित नहीं किया गया, अपितु परम धर्म भी स्वीकार किया गया है। इसके उल्लंघन को निषिद्ध माना गया है।[192] सत्य की श्रेष्ठतासिद्धि के लिए मुनियों को इसमें रत ही नहीं दर्शाया गया अपितु उनका विक्रम भी घोषित किया गया है।[193] सत्यनिष्ठ ऋषियों द्वारा ब्रह्मलोक में वास का उल्लेख सत्य के निर्वाह को ब्रह्मलोक का द्वार सिद्ध करता है।[194] सत्य वचन को शतवर्षीय जीवन का साधक घोषित किया गया है।[195] उमा-महादेव-संवाद के माध्यम से सत्य वचन को गृहस्थ का श्रेष्ठ धर्म दर्शाया गया है।[196] महादेव द्वारा विवेचित वर्णधर्म के अन्तर्गत गृहस्थ ब्राह्मण के लिए सत्य व्रत का पालन अपेक्षित है।[197] वैश्य धर्म के निर्वाह के लिए सत्पथ में स्थिति अनिवार्य है।[198] धार्मिकता को सत्यवादिता में आश्रित दर्शाकर समस्त वर्णों में इसके निर्वाह की अपेक्षा दर्शायी गयी है।[199] सत्पथ के अनुगमन को ब्रह्मपद की प्राप्ति का साधक घोषित किया गया है।[200] वानप्रस्थियों के लिए समस्त संकरों तथा समस्त पापों से निवृत्ति की चर्चा वानप्रस्थ आश्रम में सत्याचार के निर्वाह को स्वाभाविक घोषित करती है।[201] सत्यवादी धर्मावलम्बियों को गन्धर्वोचित आनन्दभोग का भागी घोषित किया गया है।[202] जिस वर्ण के लिए जो धर्म निर्दिष्ट है उसके निर्वाह का अभाव उसे वर्णच्युत कर देता है।[203] इसमें सभी वर्णों के लिए सत्य के निर्वाह का मनोवैज्ञानिक परामर्श उपलब्ध होता है। अनुशासनपर्व में अन्य पर्वों की भाँति वर्णव्यवस्था व्यवहाराश्रित मानी गई है, कुलाश्रित नहीं।[204] जीविका हेतु मिथ्या कथन से निवृत्ति स्वर्गसाधिका घोषित की गई है।[205] सत्य प्रतिज्ञा के निर्वाह को स्वर्ग का द्वार स्वीकार किया गया है।[206]

संक्षिप्ततः अनुशासनपर्व में सत्यप्रशस्ति प्राणियों में सत्य के प्रति निष्ठा के संस्कार जगाने में सक्षम दर्शायी गयी है। उमा-महेश्वर-संवाद के माध्यम से जनसाधारण में सत्पथ के प्रति अनन्य आस्था, सत्याचार के प्रति अदम्य विश्वास तथा सत्यवादिता के प्रति अगाध श्रद्धा के संस्कार जगाकर व्यास ने इस जीवनोपयोगी सनातन मान्यता को सर्वग्राह्य ही नहीं बनाया, अपितु सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक प्रासंगिकता भी प्रदान की है। इसकी विशिष्टता सत्य की सत्त्व गुण के रूप में प्रतिष्ठा है। इसके लिए याज्ञवल्कीय स्मार्त समर्थन एवं कृष्णार्जुन-संवाद के माध्यम से दैविक अनुमोदन का विधान प्राणियों में सत्यनिष्ठा के स्वाभाविक संस्कारों का प्रेरक सिद्ध होता है।

आश्वमेधिकपर्व का प्रत्यक्ष विषय युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है। इसमें निःश्रेयससाधक साधनों और प्रयत्नों का प्रावधान इसकी विशिष्टता है। इसमें विविध सन्दर्भों, संवादों, आख्यानों एवं वृत्तान्तों के माध्यम से ब्रह्मज्ञान का निरूपण हुआ है। मरुत् तथा संवर्त के संवाद में सत्य वचन के निर्वाह को सर्वमनोरथसाधक दर्शाया गया है और मिथ्या कथन को शीर्षोच्छेद से दण्डनीय।[२०७] काम गीता में सत्य पराक्रम की प्रशस्ति का उद्देश्य प्राणियों को सत्यपराक्रम से युक्त होने का परामर्श सिद्ध होता है।[२०८] सत्य को स्थितप्रज्ञता का स्रोत घोषित किया गया है।[२०९] ब्रह्मा द्वारा किये गए त्रिगुणविवेचन के अनुसर असत्य रजोगुणाश्रित है[२१०] तथा सत्य सत्त्वगुण प्रधान।[२११] सद्व्यवहार को सत्त्व गुण दर्शाकर प्राणियों में सत्य के प्रति निष्ठा की अपेक्षा सिद्ध की गई है।[२१२] महाभारतकार के अनुसार सत्य सूर्य का तेज है। सूर्य के तेज को सत्त्व गुण दर्शाकर त्रिगुणविवेचन में सत्य के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।[२१३] सत्य को वाणी का लक्षण घोषित करके सत्य कथन की प्रेरणा का प्रयास किया गया है।[२१४] मोक्षविद् के लिए जिन आठ व्रतों का निर्वाह अपरिहार्य घोषित किया गया है, उनमें से सत्य एक है।[२१५] यह उल्लेख मनुप्रतिपादित व्रतविधान का अनुरणन सिद्ध होता है। मोक्षविद् प्राणी के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा असत्याचार का निषेध सत्यनिष्ठा की सततता का आग्रह सिद्ध होता है।[२१६] कृष्ण की सत्यवादिता और सत्य पराक्रम को सत्य कथन की सत्कर्म में परिणति की सामर्थ्य में निहित दर्शाकर स्पष्ट किया गया है कि समग्र निर्वाह के बिना सत्याचार अपर्याप्त एवं अपूर्ण है।[२१७] आश्वमेधिकपर्व में सत्य का स्वरूपनिरूपण सत्यविषयक श्रौत एवं स्मार्त मान्यताओं का समर्थन

सिद्ध होता है। अन्य पर्वों की भाँति इस पर्व में भी सत्यविषयक सनातन मान्यताओं को सार्वकालिक प्रासंगिकता और सार्वभौमिक ग्राह्यता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है।

महाप्रस्थानिकपर्व में योगभ्रष्ट अर्जुन के पृथ्वी पर पतन का कारण मिथ्या प्रतिज्ञा दर्शाया गया है। उन्होंने कभी एक ही दिन में समस्त शत्रुओं को जला देने की बात की थी, जिसे वह कार्यान्वित नहीं कर सके।[२१८] इस उल्लेख से सत्यविषयक कथन और कर्म को परस्पराश्रित दर्शाते हुए कल्याण हेतु संकल्प के कार्यान्वयन का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। महाप्रस्थानिकपर्व में योगभ्रष्ट अर्जुन के पृथ्वी पर पतन के वर्णन के माध्यम से सत्संकल्प की पूर्ति श्रेयस्कर दर्शायी गयी है और मिथ्या प्रतिज्ञा निषिद्ध घोषित की गई है। वस्तुतः यह अवलम्बन सत्संकल्प के कार्यान्वयन की अनिवार्यता की सिद्धि का प्रयास है।

सारांशतः महाभारत में निरूपित सत्यविषयक सामग्री सत्याचार के निर्वाह की प्रशस्ति एवं मिथ्याचार की भर्त्सना को मानवजीवन का उद्देश्य सिद्ध करती है। सत्य की प्रतिष्ठा को समग्रता और व्यापकता प्रदान करने के लिए इसे विविध सन्दर्भों में विविध विधाओं से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास ही व्यास का रचनोद्देश्य जान पड़ता है। जब कोई रचनाकार किसी जीवनविषयक मान्यता को सर्वोत्कृष्ट करना चाहता है, तो उसे सर्वत्र सर्वविध अपरिहार्यता प्रदान करने का प्रयास करता है। तदनुसार ही महाभारत में सत्यप्रशस्ति और जीवन में इसके निर्वाह को अनिवार्य घोषित करने के लिए उमा-महेश्वर-संवाद तथा कृष्ण-अर्जुन-संवाद को आश्रय बनाकर इसे समस्त धर्मों का मूल घोषित किया गया है। गीता के देवासुर-सम्पत्तिविवेचन में इसे दैवी सम्पत्ति घोषित किया गया है तथा याज्ञवल्कीय त्रिगुणविवेचन में इसे सत्त्व गुण माना गया है। इसे ब्रह्मविदों द्वारा व्यवहार्य आठ व्रतों में से एक घोषित करके जहाँ इसे ब्रह्मलाभदायक दर्शाया गया है, वहीं गृहस्थों के लिए इसे गृहस्थ धर्मपरायणता का मूल स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं, ब्राह्मणत्व-लाभ के आकांक्षी शूद्रों द्वारा इसका निर्वाह यथेष्ट स्वीकार किया गया है। इसकी अवहेलना ब्राह्मण की पदच्युति का मूल कारण घोषित करके ब्राह्मणों में इसकी अपरिहार्यता के संस्कार जगाए गए हैं। कहीं इसे सर्वश्रेष्ठ धर्म घोषित किया गया है, तो कहीं अन्य यमों के निर्वाह का समाश्रय। जीवन में अभ्युदय और निःश्रेयससाधक समस्त साधनों का निर्वाह सत्याश्रित दर्शाकर सत्य को पूर्णत्वप्राप्ति का पथप्रशस्तक

घोषित किया गया है। सत्य को सूर्य का तेज तथा अग्नि का प्रकाश माना गया है। इसे प्रकृति द्वारा विहित अठारह गुणों में से एक दर्शाकर सर्वलोकधारकशक्ति घोषित किया गया है। महाभारत में मनु के 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' सम्बन्धी विश्वास को अपूर्ण मानते हुए इसका धर्मसम्मत होना अनिवार्य माना गया है। महाभारत का सत्यस्वरूप-निरूपण सत्यविषयक याज्ञवल्कीय धारणा का समर्थन सिद्ध होता है। श्रौत और स्मार्त साहित्य में निर्दिष्ट सत्य की अपरिहार्यता सम्बन्धी मान्यताओं को सरलता और स्पष्टता से युक्त करके व्यास ने इस अभीष्ट जीवनमूल्य को सर्वग्राह्यता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है। व्यास ने सत्य को योगसिद्धि का मूल, मोक्षप्राप्ति का स्रोत, श्रीसम्पन्नता का आधार, लोकहित का कारण तथा समस्त प्राणियों के अभ्युदय का महामन्त्र सिद्ध किया है। महाभारत का सत्यनिरूपण सत्य की प्रशस्ति एवं प्राणियों में सत्यसम्बन्धी संस्कारों को जागृत करने तक ही सीमित नहीं, अपितु उनके द्वारा इसके स्वेच्छित पालन के संकल्प लेने तक व्यापक है। महाभारत में सत्यप्रतिष्ठा को पराकाष्ठा प्रदान करने हेतु सत्यजन्यअद्रोह और अविसंवाद में पापाचारी मनुष्यों की निष्ठा की चर्चा हुई है। रौद्र कर्म करने वाले पापाचारी मनुष्यों द्वारा पृथक्-पृथक् सत्य की शपथ करके सत्य के आश्रय से अद्रोह और अविसंवाद की स्थापना का संभाव्य स्पष्ट किया गया है।[२१९] व्यास की सत्य के प्रति आस्था का परिचय सत्य के प्रति उनकी इस धारणा से व्यक्त होता है–

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।[२२०]

सन्दर्भ

१. सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्च। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वंचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातापरेव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत्। व्यास योगभाष्य, २.३०.

२. ऋग्वेद, ५.४४.६.

३. असवादित्यः सत्यम्। तैत्तिरीयारण्यक, २.१.११.

४. (क) तदापो हि वै सत्यम्। शतपथब्राह्मण, ७.४.१.१.
(ख) सत्यं वै शुक्रम्। वही, ३.६.३.२५.
(ग) प्राणाः वै सत्यम्। वही, १४.५.१.२३.
(घ) इयं पृथिवी एव सत्यम्। वही, ७.४.१.८.

५. वेदार्ष कोष–तृतीय भाग (सत्यः) पृ० २२५.
६. सत्यं वै सुकृतस्य लोकः। तैत्तिरीयारण्यक, ३.३.६.११
७. शतपथब्राह्मण, १.१.१.४
८. सत्यं ब्रह्म। शतपथब्राह्मण, १४.८.५.१.
६. शान्तिपर्व, १६२.६६–६८.
१०. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ऋग्वेद, १०.१६०.१.
११. अथर्ववेद, १२.१.१.
१२. वही, १४.१.१.
१३. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।। यजुर्वेद, १.५.
१४. ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः।। ऋग्वेद, ४.२३.८.
१५. सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्।
विभ्राजमानांश्चमसाँ अहेवाऽवेनत् त्वष्टा चतुरो ददृश्वान्।। वही, ४.३३.६.
१६. ऋतं येमान् ऋतमिद् वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते।। वही, ४.२३.१०.
१७. ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः।। वही, ५.१२.२.
१८. इन्द्र यस्ते नवीयसीं गिरं मन्द्रामजीजनत्।
चिकित्विन्मनसं धियं प्रत्नामृतस्य पिप्युषीम्।। वही, ८.६५.५.
१६. ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना..............। वही, १०.६७.२.
२०. वही, ६.७३.८.
२१. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।। वही, १०.१६१.२–३.
२२. यजुर्वेद, १.६.
२३. वही, सुबोध भाष्य, पृ० १२.
२४. वही, १६.६५.
२५. दृष्ट्वा रूपं व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।।
यजुर्वेद,१६.७७
२६. वही, १६.७८.
२७. मुखं सदस्य शिर इत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती। वही, १६.८८
२८. अथर्ववेद, १.१०.१–४.
२६. वही, ३.८.६.
३०. ये ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते।। वही, ४.३६.८.

३१. अथर्ववेद, ५.१.१.
३२. वही, ५.१.६.
३३. वही, ५.१६.१.
३४. वही, ७.१.१.
३५. वही, ७.६६ (६८).१.
३६. वही, ७.१०६. (१११).१.
३७. वही, ८.४.१२.
३८. वही, १०.६.२१.
३६. वही, १०.८.१६.
४०. सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः।। वही, १४.१.१.
४१. वही, १८.४.३.
४२. ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमंगिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त।। वही, २०.६१.२.
४३. ईशावास्योपनिषद्, ४०.१५.
४४. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम्। केनोपनिषद्, ४.८.
४५. नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि तवादृड़् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा। कठोपनिषद्, १.२.६.
४६. वही, १.३.१३.
४७. मुण्डकोपनिषद्, ३.१.५.
४८. वही, ३.१.१६.
४६. वही, ३.१.१०.
५०. ऐतरेयोपनिषद्, शान्तिपाठ।
५१. तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, प्रथम अनुवाक
५२. ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।.....................
सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तैत्तिरीयपनिषद्, १.६.
५३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.१५.
५४. तद्यथेह................सत्यान् कामाँ तेषाँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।
छान्दोग्योपनिषद्, ८.१.६.
५५. य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः
सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ......। छान्दोग्योपनिषद्, ८.७.१.
५६. मैत्रायण्युपनिषद्, ४.६.
५७. चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते।। मनुस्मृति, १.८१.
५८. वही, १.८३.
५६. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। वही, १.६२.
६०. वही. ६.६३.

६१. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः।। मनुस्मृति, ८.१४.
६२. वही, ८.४५.
६३. समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते।। वही, ८.७४.
६४. वही, ८.८१.
६५. वही, ८.८२. (६–७)
६६. सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः।। वही, ८.८३.
६७. वही, ८.६३–६५.
६८. वही, १०.६३.
६९. महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम्।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत्।। वही, ११.२२२.
७०. याज्ञवल्क्यस्मृति, १.३३.
७१. पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनः परुषस्तथा।
अनिबद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते।। याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.१३५.
७२. ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः।
तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः।। वही, ३.१८५.
७३. अयोध्याकाण्ड, २.३१–३२.
७४. नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्।। वही, १००.६५.
७५. वही, १००.६६.
७६. सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः।। वही, १०६.१०.
७७. वही, १०६.११.
७८. सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।।
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्।। वही, १०६.१३.१४.
७९. वही, १०६.१६.
८०. प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम्।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते।। वही, १०६.१९.
८१. भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् ततः।। वही, १०६.२२.
८२. सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः।। वही, १०६.३१.
८३. अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।। आदिपर्व, ६६.२२.

८४. आदिपर्व, ६६.२३.
८५. नास्ति सत्यात्परो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम्।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते।। वही, ६६.२४.
८६. कामया ब्रूहि सत्यं त्वं सत्यं राजसु शोभते।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु।। वही, १८७.६.
८७. सभापर्व, ५.१०१.
८८. सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत।। वही, ६१.५३.
८९. वही, ६१.५७.
९०. वही, ६१.६८.
९१. वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त चैव परावरान्।। वही, ६१.७२.
९२. मनुस्मृति, ८.१४.
९३. सभापर्व, ६१.७४; मनुस्मृति, ८.७४.
९४. वही, ६६.१४.
९५. आरण्यकपर्व, २.७१,७३.
९६. सत्यं चानृततः श्रेया नृशंसाच्चानृशंसता। वही, ३०.१५.
९७. वही, ५५.६.
९८. वही, ८०.३२–३३.
९९. सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं दमो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।। वही, १७७.१६.
१००. सत्यं दमस्तपो योगमहिंसा दाननित्यता।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप।। वही, १७८.४३.
१०१. सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं जितस्तवायं च परश्च लोकः। वही, १८०.१६.
१०२. वही, १८१.१२; मनुस्मृति, १.८१.
१०३. वही, १८१.२८-२९.
१०४. सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः।। वही १८२.१७.
१०५. सत्यं संक्षेप्स्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः।
सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति।। वही, १८८.१५.
१०६. वही, १९७.३२,३७.
१०७. दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स तु सत्ये प्रतिष्ठितः।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम्।। वही, १९७.३९.
१०८. वही, १९७.४१.
१०९. वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यंस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषत्त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा।। वही, १९८.६२; मनुस्मृति, ४.२०४.
११०. वही, १९८.६९–७०.

१११. त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां वृत्तमनुत्तमम्।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत्।।आरण्यकपर्व, १६८.८६.
११२. वही, १६८.८७–८८.
११३. यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा।
विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम्।। वही, २००.४.
११४. आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं परं सत्यव्रतं व्रतम्।। वही, २०३.४१.
११५. वही, २४५.१७.
११६. सत्यवादी लभेतायुरनायासमथार्जवी।
अक्रोधनोऽनसूयश्च निर्वृतिं लभते पराम्।। वही, २४५.२१.
११७. सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः।। वही, २८१.४७.
११८. ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति।। वही, २६७.२७.
११९. स्वर्गारोहणपर्व, ५.४६.
१२०. आरण्यकपर्व, २७८.२७.
१२१. एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्यसे।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव।। उद्योगपर्व, ३३.४६.
१२२. षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः।। वही, ३३.६६.
१२३. वही, ३३.१०१.
१२४. सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते।। वही, ३४.३७.
१२५. वही, ३५.४६.
१२६. सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम्।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दश संसर्गयोनयः।। वही, ३५.५०.
१२७. अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्।। वही, ३६.५८.
१२८. वही, ४३.३.
१२९. धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य।। वही, ४३.१२.
१३०. वही, ८८.१८.
१३१. वही, ८८.२०.
१३२. यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः।। वही, ६३.४८.
१३३. वही, १२२.६.
१३४. आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन्प्रवर्तते।। वही, १२२.३८.

१३५. अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रे आहुः सत्यं वदेदव्याहृतं तदद्वितीयम्।
प्रियं वदेदव्याहृतं तत्तृतीयं धर्म्यं वदेदव्याहृतं तच्चतुर्थम्। उद्योगपर्व, ३६.१२.

१३६. भीष्मपर्व, २४.७०–७१.

१३७. वही, ३२.४.

१३८. वही, ३८.२.

१३६. वही, ३८.५; यजुर्वेद, ३०.३.

१४०. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।। वही, ३८.७.

१४१. सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च धर्मस्तथार्थश्च रतिश्च दारे।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके ह्यस्मिन्परे चैव मतं ममैतत्।। शान्तिपर्व, ६१.१४.

१४२. यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः।। वही, १४८.६.

१४३. वही, १५६.४–५.

१४४. वही, १५६.८–११.

१४५. अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दानं धने च संयमम्।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत्।। वही, १५६.१३.

१४६. सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः।।वही, १५६.२०.

१४७. नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्।। वही, १५६.२४.

१४८. वही, १५६.२६; अनुशासनपर्व, ७४.३०.

१४६. वही, १६८.४४.

१५०. न मृत्युसेनामायन्तीं जातु कश्चित्प्रबाधते।
ऋते सत्यमसंत्याज्यं सत्ये ह्यमृताश्रितम्।।
तस्मात्सत्ययव्रताचारः सत्ययोगपरायणः।
सत्यारामः समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत्।। वही, १६६.२६–२७.

१५१. वही, १८२.३–४.

१५२. सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं सृजति च प्रजाः।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति।।
अनृतं तपसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसावृतम्।। वही, १८३.१–२.

१५३. वही, १८३.४–५.

१५४. सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम्।।
सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।
सत्यं वेदास्तथाङ्गनि सत्यं यज्ञस्तथा विधिः।
व्रतचर्यास्तथा सत्यमोंकारः सत्यमेव च।। वही, १६२.६३–६५.

१५५. शान्तिपर्व, १६२.६६–६७; अनुशासनपर्व, ७६.३०.

१५६. तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम्।
समां कक्षां धारयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम्।। वही, १६२.६८.

१५७. यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्धते।
किमर्थमनृतं कर्म कर्तुं राजंस्त्वमिच्छसि।।
सत्ये कुरु स्थिरं भावं मा राजन्ननृतं कृथाः।
कात्त्वमनृतं वाक्यं देहीति कुरुषेऽशुभम्।। वही, १६२.६६–७०.

१५८. वासुदेवः सर्वमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं दानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम्।। वही, २०३.८.

१५६. वही, २०५.१५.

१६०. वही, २०७.६.

१६१. अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत्।। वही, २०८.६.

१६२. वही, २१८.१२–१३.

१६३. वही, २१८.२७.

१६४. वही, २२३.७.

१६५. धर्मद्वयं हि यो वेद स सर्वः सर्वधर्मविद्।
स त्यागी सत्यसंकल्पः स तु क्षान्तः स ईश्वरः।। वही, २२६.२१.

१६६. वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषद्दानं दानस्योपनिषत्तपः।। वही, २४३.१०; अनुशासनपर्व, ७४.३३.

१६७. वही, २४३.१४.

१६८. सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।। वही, २५१.१०.

१६६. असाधुभ्योऽस्य न भयं न चोरेभ्यो न राजतः।
न किंचित्कस्यचित्कुर्वन्निर्भयः शुचिरावसेत्।। वही, २५१.१४.

१७०. वही, २५४.१७.

१७१. वही, २६२.३७.

१७२. वही, २७६.१६–२१.

१७३. तत्संयोगेन वृद्धिं चाप्यपश्यत्स तु शंकरः।
महामतिरचिन्त्यात्मा सत्यधर्मरतः सदा।। वही, २७८.२५.

१७४. वही, २८५.२३–२४.

१७५. वही, २८८.१३.

१७६. वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्।। वही, २८८.१३.

१७७. वही, २८८.३८.

१७८. वही, ३०१.१७–२०.

१७६. वही, ३२८.१३.

१८०. नास्ति सत्यात्परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति प्रेत्य चेह च भूतले।। अनुशासनपर्व, ३२६.११.

१८१. वही, ११.६.

१८२. वही, ११.१३.

१८३. असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत्।। वही, १३.१४.

१८४. अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम्।। वही, २३.१६

१८५. वही, २३.२६.

१८६. वही, २३.३३.

१८७. वही, २३.३५; २४.५१; ३७.८–६.

१८८. गुर्वर्थं वाभयार्थं वा वर्जयित्वा युधिष्ठिर।
येऽनृतं कथयन्ति स्म ते वै निरयगामिनः।। वही, २४.६०.

१८६. दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः।। वही, २४.८३.

१६०. वही, ३७.१७.

१६१. सत्ये धर्मे च निरतस्तस्य शक्रं फलं शृणु।
गोसहस्रेण समिता तस्य धेनुर्भवत्युत।। वही, ७२.२२.

१६२. सत्येन देवान्प्रीणाति पितृन्वै ब्राह्मणांस्तथा।
सत्यमाहुः परं धर्मं तस्मात्सत्यं न लङ्घयेत्।। वही, ७४.३१.

१६३. मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते।
सत्यवन्तः स्वर्गलोके मोदन्ते भरतर्षभ।। वही, ७४.३२.

१६४. वही, ७४.३५.

१६५. अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति।। वही, १०७.१४.

१६६. अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः।। वही, १२८२५.

१६७. वही, १२८.३६.

१६८. वही, १२८.५४.

१६६. वही, १२६.१२.

२००. वही, १२६.२८.

२०१. वही, १३०.१६.

२०२. उपवासव्रतैर्दान्ता अहिंस्राः सत्यवादिनः।
संसिद्धाः प्रेत्य गन्धर्वैः सह मोदन्त्यनामयाः।। वही, १३०.३८.

२०३. वही, १३१.७–१२.

२०४. वही, १३१.४५–४६.

२०५. वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात्तथैव च।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः।। अनुशासनपर्व, १३२.१६.

२०६. श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः।
स्वैरर्थैं परिसंतुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः।। वही, १३२.३४.

२०७. धर्मपुत्रे हि धर्मज्ञे कृतज्ञे सत्यवादिनि।
सत्यं धर्मो मतिश्चाग्र्या स्थितिश्च सततं स्थिरा। वही, १५.२४.

२०८. वही, १३.१५.

२०६. वही, १५.२४.

२१०. वही, ३७.६.

२११. वही, ३८.३.

२१२. वही, ३८.८.

२१३. वही, ३६.१५.

२१४. स्वरव्यञ्जनसंस्कारा भारती सत्यलक्षणा।
मनसो लक्षणं चिन्ता तथोक्ता बुद्धिरन्वयात्।। वही, ४३.२२.

२१५. वही, ४६.३५–३६.

२१६. न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत्क्वचित्।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचिद् दुष्टं समाचरेत्।। वही, ४६.४१.

२१७. त्वं हि केशव धर्मात्मा सत्यवान्सत्यविक्रमः।
स तां वाचमृतां कर्तुमर्हसि त्वमरिंदम।। वही, ६६.१६.

२१८. एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत्।
न च तत्कृत्वानेष शूरमानी ततोऽपतत्।। महाप्रस्थानिकपर्व, २.२१.

२१६. शान्तिपर्व, २५१.११.

२२०. वही, २५१.१०.

पंचम अध्याय

अस्तेय

महाभारत में जनसाधारण के चरित्रोत्थान के लिए जिन सनातन साधनों का अवलम्बन लिया गया है, उन सभी के प्रावधान का सूत्रपात वैदिक संहिताओं में हुआ है। वेदों में जो साधन साशन और अनशन साधनों के नाम से प्रसिद्ध हैं, उत्तरवर्ती काल में उन्हीं को मानव के अभ्युदय और निःश्रेयसविषयक विकास का मूल माना गया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका विकास, सम्पन्नता एवं शान्ति समाज की सुव्यवस्था, सहकारिता एवं पारस्परिक सद्भाव के निर्वाह पर आधारित है। इन सभी की सुचारुता के लिए प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ सामाजिक अनुशासनों का निर्वाह अपेक्षित स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार किसी भी मार्ग के यातायात की सुरक्षा, सुव्यवस्था एवं निर्बाध गति के लिए यातायातविषयक नियमों का प्रावधान होता है, उसी प्रकार सामाजिक सुव्यवस्था, सम्पन्नता एवं शान्ति के लिए कुछ सामाजिक अनुशासनों का सुनियोजन एवं निर्वाह अपेक्षित है। ये सामाजिक अनुशासन यमों के नाम से प्रसिद्ध है। महाभारत में इनकी आवश्यकता को अत्यन्त सरल, सुबोधगम्य एवं सर्वग्राह्य ढंग से स्पष्ट किया गया है। भारतीय संस्कृति में धर्म को विशिष्ट पूजापद्धति स्वीकार न कर उसे लोकधारक स्वीकार किया गया है। धर्म को लोकधारक सत्ता माना गया है। धर्म की यह सत्ता उसके पालनकर्ता प्राणियों द्वारा वैयक्तिक धर्म के धारण करने में निहित है। तदनुसार ही धर्म के वैयक्तिक अर्थों को सार्थकता प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियों ने जनसाधारण के लिए सर्वोपयोगी, सर्वसिद्धिसाधक, सर्वशान्तिदायक, पारस्परिक अविद्वेष-संस्थापक, सर्वकल्याणकारी आचार-संहिता का प्रावधान वर्णधर्म और आश्रमधर्म की व्याख्या के माध्यम से किया है। कुछ लोगों का भ्रम है कि वर्णव्यवस्था सामाजिक असमानता, दीनों के शोषण, विपन्नों के प्रति अन्याय

एवं वर्गविशेष के प्रति द्वेष से अनुप्रेरित है। यह भ्रान्ति निर्मूल है। वस्तुतः वर्णधर्म सामाजिक सुव्यवस्था का मूल है। भारतीय संस्कृति में विविध वर्णों को चरित्राश्रित माना गया है, कुलाश्रित नहीं। यम-विधान के अन्तर्गत आने वाले सभी सामाजिक अनुशासनों का निर्वाह सभी वर्णों के लिए अपेक्षित है। इनके निर्वाह के बिना किसी भी आश्रमधर्म का अनुसरण यथेष्ट स्वीकार नहीं किया गया।

यम-नियमों का वर्गीकरण भले ही शास्त्रसाहित्य में हुआ हो, तो भी वेदों में बीज रूप से उनके पालन का आग्रह उपलब्ध होता है। यह आग्रह सर्वदा युगानुकूल प्रासंगिकता प्राप्त करता रहा है। उपनिषद्, आरण्यक तथा ब्राह्मणग्रन्थ वैदिक संहिताओं की आध्यात्मिक, याज्ञिक तथा यौगिक अनुकृति हैं। इन सभी में वेदप्रतिपादित जीवनविषयक समस्त मर्यादाओं का आध्यात्मिक, याज्ञिक और यौगिक समर्थन उपलब्ध होता है। ये सभी ग्रन्थ स्थूलतः भिन्नार्थ के द्योतक होते हुए भी लक्ष्यतः उसी उद्देश्य को समर्पित हैं, जो वेदों में मानव के साशन और अनशन पूर्णत्व के लिए प्रतिपादित हुआ है। महाभारत की संरचनात्मक पृष्ठभूमि की गवेषणा के लिए उसमें प्रतिपादित व्यवहारज्ञान तथा अध्यात्मज्ञान (विद्या एवं अविद्या) के मूल स्रोतों का विवेचन आवश्यक है। उत्तरवर्ती साहित्य (उपनिषद्, स्मृतिग्रन्थ, शास्त्र एवं रामायण) में वेदों की गुह्यता को स्पष्टता प्रदान की गई है। इनमें वेदप्रतिपादित विद्या तथा अविद्याविषयक सामग्री को अनुमोदन तथा समर्थन प्राप्त हुआ है। यह विवेच्य ग्रन्थ में इनकी गवेषणा को स्वाभाविक सिद्ध करता है। वेदों में जीवनमान्यताओं को देवगुण दर्शाकर मानवजीवन के समग्र विकास का प्रावधान उपलब्ध होता है। उत्तरकाल में उनकी अपेक्षा में उत्तरोत्तर वृद्धि का प्रमाण उनकी यम-नियमों तथा धर्म के लक्षणों की प्रतिष्ठा से सिद्ध हो जाता है। स्मृतिकारों ने इन सभी के पालन को धर्म माना है। इनके आचरण को अपनाने वाले लोगों को शतवर्षीय जीवन का पात्र घोषित किया है। उन्हें स्वर्गलाभ का आश्वासन दिया गया है। अगले जन्म में उन्हें उत्तम योनि में उत्पन्न होने के लिए आश्वस्त किया गया है। स्मार्त साहित्य का नरकविधान एवं तिर्यक् योनिविधान इसी तथ्य का समर्थक है। इतना ही नहीं, त्रिगुणविवेचन के अन्तर्गत उनके पालन को सत्त्वाचार और अवहेलना को तामसाचार दर्शाया गया है।

हमारे प्राच्य साहित्य की विशेषता धर्म के ह्रास के प्रति शोक और उसकी पुनर्स्थापना में आस्था की अभिव्यक्ति है। इसका उद्देश्य उसे शब्दों

तक रखना नहीं अपितु कृतार्थ दर्शाना है। वाल्मीकि को रामायण रचने की प्रेरणा भील द्वारा निरपराध क्रौञ्च के वध पर उत्पन्न शोक से हुई थी। इस शोक की रोष में परिणति उनके द्वारा निषाद को सदा सर्वदा अशान्त रहने के लिए दिए जाने वाले शाप में अनुरणित होती है। उनका तपस्वी मन अपने रोष के अनौचित्य पर हाहाकार कर उठा। तपस्वी के लिए किसी भी प्राणी के लिए किसी भी प्रकार का कटु वचन और हिंसा-भाव विवर्जित है। तदनुसार ही उन्होंने ब्रह्मा से अपने श्लोक को केवल श्लोक तक सीमित रखने का अनुरोध किया। ब्रह्मा ने उन्हें **'श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा'**[१] के वर से सम्पन्न किया। रामायण में राम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित हुए हैं। उनका जीवनचरित्र मनुजोचित धर्म के निर्वाह का मूर्तिमान् प्रमाण सिद्ध होता है। उनके द्वारा विहित मानवधर्म, राजधर्म तथा अन्य कर्तव्य त्रेता युग के प्राणियों के लिए आदर्श सिद्ध होते हैं। राम एक ऐसे महानायक हैं, जिनके दर्शनमात्र से जनसाधारण में मनुजोचित मर्यादाओं के पालन की प्रतिज्ञा स्वस्फुरित हो जाती है। वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर अयोध्या ही नहीं, समस्त विश्व को धर्म के पालन और इसके निर्वाहजन्य अभ्युदय एवं निःश्रेयसविषयक वैभव का साक्षात्कार कराया है।

महाभारत का उद्देश्य दैवी सम्पत्तियों द्वारा आसुरी सम्पत्तियों के पराभव की सिद्धि है। उन सत्संस्कारों, मर्यादाओं, सद्‌गुणों, सद्‌वृत्तियों, सत्संकल्पों एवं सत्कर्मों की पुनर्स्थापना का प्रयास है, जिनसे भ्रष्ट होकर मानवसमाज अधोगति के अतल गर्त में जा गिरता है। इसके लिए उन्होंने मात्र वेदार्थ का सरलीकरण एवं स्पष्टीकरण ही नहीं किया, अपितु शास्त्र के नियमों तथा स्मार्त साहित्य में विवेचित धार्मिक मूल्यों को भी सर्वग्राह्यता प्रदान की है। महाभारत में मनुजोचित व्यवहार के असंख्य सन्दर्भ मिलते हैं। सदा सर्वदा व्यवहार्य चारित्रिक मान्यताओं के निर्वाह की अपेक्षा के एक नहीं, अनेक पुनरुल्लेख विद्यमान हैं। इसका अर्थ पुनरावृत्ति न होकर विविध माध्यमों से सनातन सत्य की पुष्टि है। महाभारत का भीष्मपर्व जहाँ 'गीता रत्न' से अलंकृत है, वहीं शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्व जीवनोपयोगी उपदेशों, संवादों, प्रश्नोत्तरों, आख्यानों तथा उपाख्यानों से सम्पन्न। समन्वय का निर्वाह तथा इसकी सिद्धि इसका श्रेष्ठतम गुण है। कपिल तथा पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट सांख्य और योग के विविध मुक्तिपथों को विस्तृत निरापद् राजमार्ग का रूप प्रदान करके व्यास ने भारतीय दार्शनिक मूल्यों

की विविधता में एकता की भव्य स्थापना की है। इसमें वर्णित समस्त धर्म, नीतियाँ एवं प्रवृत्ति तथा निवृत्तिविषयक अन्य सामग्री पूर्णतया प्राच्य साहित्याश्रित हैं। कहीं-कहीं तो किसी पूर्व प्रचलित सत्य को यथावत् उद्धृत कर दिया गया है। उदाहरणार्थ

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।।[2]

उपर्युक्त सत्य कथनविषयक मान्यता रामायण और महाभारत में अक्षरशः समान है। केवल संवाद भिन्न हैं। वक्ता और श्रोता भिन्न हैं। जो बात रावण के हितचिन्तक मारीच ने रावण को सीताहरण के दुराग्रह को त्यागने के लिए कही थी वही विदुर ने धृतराष्ट्र को पुत्रमोह त्यागने के लिए कही है। ऐसे उदाहरण अन्यत्र भी उपलब्ध हैं, जिनका उद्धरण प्रसंगानुकूल अभिलिखित हैं। कृष्णद्वैपायन व्यास प्राणियों में सच्चरित्रता, निर्भयता, शान्तिमत्ता, अविद्वेषभाव, समस्त जीवकल्याणचिन्तन, अभया शान्ति, सर्वत्र आत्मदर्शन, प्रवृत्तिधर्मनिर्वाह तथा निवृत्तिधर्म के पालन को व्यवहार्य दर्शाना चाहते थे। महाभारत में कृष्ण और युधिष्ठिर का चित्रण तदनुसार ही हुआ है। परिणामतः परम्परागत सनातन जीवनमूल्यों को युगानुकूल प्रसंगिकता प्रदान की गई है। श्रेष्ठ विवेकज ज्ञानियों, जापकों, नीतिज्ञों, धर्मप्रवर्तकों, ऋषियों, देवों तथा मनीषियों द्वारा जीवनोपयोगी विचार, आचार और व्यवहार की आवश्यकता स्पष्ट कराकर प्राणियों को इनके महत्त्व से अवगत कराया है। महाभारत में अस्तेय का निरूपण, प्रतिपादन तथा अपेक्षासिद्धि उपर्युक्त आधार पर ही आश्रित है।

वेदों में अस्तेयविषयक संकेत

यमों की क्रमसंख्या में अस्तेय को तीसरा स्थान प्राप्त है। इससे अभिप्राय अनधिकृत पदार्थ के ग्रहण से निवृत्ति है। वास्तव में यह स्तेय का विपरीतार्थक है। वेदों में अस्तेय की प्रशस्ति तथा इसके निर्वाह का प्रतिपादन स्तेय के निषेधसूचक पदों से हुआ है। यदि इसके पालन में अहिंसा के पालन को निहित माना जाए तो अतिशयोक्ति नहीं। अनधिकार ग्रहण सम्बद्ध वस्तु के अधिकारी के विरुद्ध हिंसा ही है। वैदिक संहिताओं में **स्तेनः, स्तेनःऽइव, स्तेनम्, स्तेनाः, स्तेनेभ्यः** आदि पदों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। **स्तेनः** का प्रयोग वेदों के पदानुक्रमकोश में सर्वत्र विद्यमान है।[3] ऋग्वेद में देवस्तुति के माध्यम से चौरकर्मी के सपरिवार नाश

की कामना करते हुए कहा गया है–**'रिपुः स्तेनः स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च।'**[४] इस माध्यम से चौरकर्म को देवों द्वारा दण्डनीय दर्शाकर प्राणियों में स्तेय से निवृत्ति के संस्कार जगाए गए हैं। यह प्रयास अस्तेय का समर्थन सिद्ध होता है। ऋग्वेद में जिन सप्त दुष्कर्मों के पालन को पाप घोषित किया गया है, यास्कीय निरुक्त में उनका स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है–**'स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवनं पातकेऽनृतोद्यमिति.।**[५] इसके अनुसार चौरकर्म, परस्त्रीगमन, वेदविदों की हत्या, गर्भपात, सुरापान, दुष्कर्म का पुनः पुनः सेवन तथा पापकर्म के उपरान्त मिथ्या भाषण सभी त्याज्य हैं। विश्वेदेवों की एक स्तुति में अनुरोध किया गया है कि अग्नि, चोर, दुष्ट, पापी और दूर रहने वाले दुष्ट को भी उत्तम रीति से सुधारे।[६] इस स्तुति में स्तेय को दुर्वृत्ति घोषित किया गया है। प्राणियों में इससे निवृत्ति के संस्कार जगाने के लिए किया गया देवस्तुति का प्रावधान अस्तेय की प्रतिष्ठा का परिचायक है।

अथर्ववेद में अस्तेय की प्रतिष्ठा और स्तेय का निषेध वैदिक संहिताओं में अस्तेय यम की अपेक्षासिद्धि की ओर निर्दिष्ट है। ऋग्वेद में जिस सत्य की सिद्धि के लिए वाणी के परिष्कार करने वाले साधनों का प्रावधान हुआ है, अथर्ववेद में बौद्धिक परिष्कार के लिए उन्हीं साधनों का आश्रय लिया गया है। 'धर्मप्रचार सूक्त' में देवों से अनुरोध किया गया है कि चौरकर्मियों को धर्मोपदेश के माध्यम से समाज में प्रतिष्ठा के योग्य बनाया जाए।[७] इसमें पश्चात्ताप से शुद्धि का संभाव्य स्पष्ट किया गया है। अगले सूक्त में बृहस्पति को चोर और डाकू आदि को सुधारने में सक्षम माना गया है।[८] अथर्ववेद में अस्तेय की महत्ता प्रतिष्ठा की विशिष्टता 'चोरनाशन' सूक्त के प्रावधान से स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसमें उपदेश द्वारा न सुधरने वाले चोर तथा डाकू आदि को दण्डित करने की कामना की गई है।[९] समाजहित के विरोधी समस्त कर्म समाज के प्रति शत्रुता के परिचायक माने जाते हैं। तदनुसार ही अथर्ववेद के 'शत्रुदमन सूक्त' में इन्द्र तथा सोम से वही कामना की गई है जो ऋग्वेद में स्तेयी के नाश के लिए हुई है–**'रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च।'**[१०] अस्तेय की प्रतिष्ठा के लिए वैदिक संहिताओं में ऐक्य की उपलब्धि इसका सर्वसम्मत समर्थन है। 'शरीर की रचना' सूक्त में मानवशरीर में सद्वृत्तियों के साथ-साथ जिन दुर्वृत्तियों का प्रवेश दर्शाया गया है उनमें से स्तेय एक है।[११] इससे अभिप्राय मानवमन में सद्वृत्तियों और दुर्वृत्तियों की उपस्थिति सिद्ध करना है।

मानवजीवन का उद्देश्य दुर्वृत्तियों का निवारण और सद्वृत्तियों का आचरण है। तदनुसार ही वेदों में देवों से दुरिताओं के पराभव और भद्रताओं के उत्थान की कामना की गई है–**'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।'**[१२] स्तेय को दुर्वृत्ति घोषित करते हुए इसके निवारण में देवों की अनुकम्पा का अनुरोध अस्तेय के समर्थन को स्वयं सिद्ध कर देता है। अथर्ववेद के 'विवाहप्रकरण' नामक सूक्त में पति द्वारा पत्नी को दिया गया चोरी के धन को न भोगने का आश्वासन मानवजीवन में अस्तेय की आवश्यकता को स्पष्ट करता है।[१३] चौरकर्म को निकृष्ट और देवदण्डनीय दर्शाकर प्राणियों को अस्तेयोन्मुखी बनाया गया है। वेदों में स्तेय के उन्मूलन के लिए की गई स्तुतियों का सभी संहिताओं में समावेश स्तेय के सर्वसम्मत निषेध तथा अस्तेय के समग्र पालन के समर्थन का प्रमाण है।

उपनिषदों में अस्तेयविषयक परामर्श

उपनिषत्साहित्य का उद्देश्य मनुष्य के लिए निःश्रेयससिद्धि के साधनों का सुनियोजन करना है। इस साहित्य में मानव का निःश्रेयसविषयक परिष्कार चित्तवृत्तियों के निरोध की क्षमता में स्वीकार किया गया है। तदनुसार ही कठोपनिषद् में प्राणी से आग्रह किया गया है कि वह एक अनुभवी सारथि की भाँति इन्द्रियरूपी घोड़ों को सुनियन्त्रित करके अपने शरीररूपी रथ को ब्रह्ममार्ग की ओर अग्रसर करने की योग्यता से युक्त हो। इनमें पुनः पुनः प्राणी से आग्रह किया गया है कि वह अपनी समस्त इन्द्रियों को मन में निरुद्ध करे, मन को बुद्धि में स्थित करे और बुद्धि को परमात्मा में लीन करे। इस माध्यम से मानवजीवन में इहलौकिक कामनाओं के परिहार की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। उपनिषत्साहित्य में जिन मुख्य यमों के परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष परामर्श उपलब्ध होते हैं वे हैं--अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। तो भी अस्तेयविषयक परामर्श इनके अन्तर्निहित स्वीकार किए जाने चाहिएं। कठोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान को सर्वोपरि दर्शाकर जागतिक सम्पन्नता के साधनों के ज्ञान को अविद्या दर्शाया गया है और इसके उपार्जन में मानव के लक्ष्यभ्रष्ट होने की आशंका व्यक्त की गई है–

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

(कठोपनिषद्, १.२.५.)

अस्तेय का सम्बन्ध भौतिक सामग्री की चोरी से निवृत्ति से है। यह

एक सामाजिक दुरिता है। तदनुसार ही उपनिषत्साहित्य में स्तेय के निषेध और अस्तेय के समर्थनविषयक परामर्शों की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। इनमें कामनाओं के परिहार के परामर्शों के माध्यम से स्तेय जैसी दुर्वृत्तियों के निषेध का प्रावधान उपलब्ध होता है। इनके अनुसार जो मूर्ख लोग बाह्य भोगों का अनुसरण करते हैं, वे सर्वत्र फैले हुए मृत्यु के पाश में पड़ते हैं। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य निश्चित रूप से अमर पद को जानकर इस जगत् के अनित्य भोगों में से किसी को भी नहीं चाहते–

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।।

(कठोपनिषद्, १.२.२.)

मनुष्य को भौतिक सम्पन्नता की अनित्यता से अवगत कराने के लिए पुनः पुनः इसकी नश्वरता की बात की गई है। इसके अन्धे अनुकरण को विविध लोकों से भटकने का मूल घोषित किया गया है। तदनुसार ही प्राणियों को समस्त कामनाओं के परिहार की महत्ता से अवगत कराकर उसी प्राणी को पूर्णकाम माना गया है, जो समस्त कामनाओं को त्याग दे। निष्कर्षतः उपनिषत्साहित्य में अस्तेयसमर्थक परामर्शों के अभाव होने पर भी स्तेय जैसी दुर्वृत्तियों के निषेध के परोक्ष परामर्श उपलब्ध होते हैं।

स्मृतियों में अस्तेय-निदर्शन

स्मार्त साहित्य में धर्मप्रतिष्ठा सुकर्म की संस्थापना और निकृष्ट कर्म के उन्मूलन की आवश्यकता को लेकर की गई है। इसमें दर्शाया गया है कि मनुष्य कायिक दुष्कर्मों के दोष से स्थावर, वाचिक अशुभ कर्मों के दोष से तिर्यक् और मानसिक अशुभ कर्मों के दोष से हीन योनि को प्राप्त होता है।[१४] मनु ने अस्तेय को धर्म के दस लक्षणों में से एक माना है–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[१५]

मनु का विश्वास है कि इन लक्षणों का पालन परम गति देने वाला है।[१६] इन्हें ऋणत्रय से मुक्ति[१७] का स्रोत घोषित करके इनके पालन को सर्वव्यवहार्य सिद्ध किया गया है। मनु के अनुसार इन्धन के लिए हरे पेड़ों को गिराना, मात्र अपने लिए क्रिया आरम्भ करना, त्याज्य लहसुन आदि पदार्थों को इच्छापूर्वक खाना, अधिकार होने पर भी यज्ञ न करना, चोरी

करना, ऋण न चुकाना, निन्दित शास्त्रों को पढ़ना और कुशीलव का कर्म करना (नाचना-गाना) उपपातक हैं।[18] मनु ने चोर को पाप का भागी दर्शाकर अस्तेय की महत्ता स्पष्ट की है। याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय में चोर को भोजन, निवासस्थान, अग्नि, पीने के लिए जल, सलाह, चोरी के साधनभूत उपकरण और चोरी के लिए मार्गव्यय देने के विरुद्ध उत्तम साहस के दण्ड का प्रावधान है।[19] इसका हेतु अस्तेय का समर्थन है। प्रायश्चित्ताध्याय में विविध वस्तुओं की चोरी के निषेध के लिए विभिन्न चोरियों को विभिन्न रोगों का कारण दर्शाया गया है। इसके अनुसार अजीर्ण का कारण अन्न की चोरी, गूंगेपन का कारण पुस्तक की चोरी, विकलांगता का कारण धान्य में मिलावट तथा पिशुन का कारण दुर्गन्धयुक्त नाक है।[20] विभिन्न चोरियों के लिए तिर्यक् योनिविधान के अन्तर्गत धान्यचोर चूहे की योनि को प्राप्त होता है। यानचोर ऊँट की योनि भोगता है। फल चुराने वाला बन्दर बनता है। जल चुराने वाला शकटविल पक्षी तथा दूध चुराने वाले को कौए की योनि भोगनी पड़ती है। तदनुसार ही अन्य स्तेयजन्य हीन योनियों का विधान हुआ है।[21] याज्ञवल्क्य का उपपातक विवेचन सर्वथा मनुसम्मत है। इसमें भी स्तेय को उपपातक घोषित किया गया है।[22] सम्वर्तस्मृति में स्तेय का प्रायश्चित्त राजा के सामने चोर द्वारा अपने अपराध की स्वेच्छित स्वीकृति में स्वीकार किया गया है। इसके लिए विविध राजदण्डों का प्रावधान उपलब्ध होता है।[23] स्तेय को सर्वसम्मति से उपपातक स्वीकार किया गया है। शातातपस्मृति में स्तेयजन्य रोगों की चर्चा याज्ञवल्क्य के प्रायश्चित्तविधान के सर्वथा अनुकूल है।[24]

स्मार्त साहित्य में यम के रूप में अस्तेय की प्रतिष्ठा जहाँ इसके पालन को मोक्षदायक और ऋणत्रयनिवारक घोषित करती है, वहीं स्तेय के निषेध के माध्यम से प्राणियों में इसके निर्वाह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। अनधिकार लोलुपता और उसकी प्राप्ति की चेष्टा की दुर्वृत्ति के कार्यान्वयन का दुस्साहस भी स्तेय है। स्मृतियों में इसके लिए निश्चित विभिन्न घातक रोग जनमानस में इस प्रवृत्ति के अनुकरण का विरोध करते हैं। जनसाधारण को किसी भी सद्वृत्ति के निर्वाह के लिए उत्साहशील बनाने के लिए उसके निर्वाहजन्य लाभों की चर्चा एक मनोवैज्ञानिक प्रयास है। दुर्वृत्तियों से निवृत्ति के लिए प्राणी को उनके अनुकरण से हतोत्साहित करने के लिए नरक का भय और तिर्यक् योनि में जन्म की आशंका दर्शाना

भी मनोवैज्ञानिक है। इस दृष्टि से स्मृतिकारों ने जनसाधारण में अस्तेय के निर्वाह की क्षमता जगाने का सफल प्रयास किया है।

रामायण में अस्तेय-प्रतिष्ठा

वाल्मीकि-रामायण में दशरथ के शासनकाल में अयोध्या के नागरिकों की उत्तम स्थिति का श्रेय उनके द्वारा व्यवहृत अलोभ,[२५] अकार्पण्य,[२६] धर्मशीलता,[२७] शौचनिर्वाह[२८] तथा दानशीलता[२९] को दिया गया है। अस्तेय का पालन अलोभ के व्यवहार से स्वयं संभव हो जाता है। रामायण के अनुसार आसक्ति और लोभरूप काम के द्वारा धर्म और अर्थ दोनों में बाधा आती है।[३०] राम के द्वारा भरत को दिए गए इस परामर्श में अस्तेय का परोक्ष समर्थन उपलब्ध होता है। रावण के मुख से सीताहरण के प्रस्ताव को सुनकर मारीच रावण को ऐसे दुराचारी, स्वेच्छाचारी, पापचिन्तक और दुष्टबुद्धि की संज्ञा देता है जो समूचे राष्ट्र का विनाश कर डालता है।[३१] मारीच का यह कथन स्तेय का न्यायोचित और सशक्त विरोध है। सीताहरण का परामर्श मारीच के लिए रावण के, अपने, समस्त लंका के तथा राक्षस कुल के नाश का पूर्वाभास बन जाता है–

आनयिष्यसि चेत् सीतामाश्रमात् सहितो मया।
नैव त्वमपि नाहं वै नैव लंका न राक्षसाः।।[३२]

वाल्मीकि के अनुसार स्तेय में सहायता स्तेय की भाँति सर्वस्व विनाशकारिणी है। मारीच-रावण-संवाद का निष्कर्ष स्तेयवृत्ति के पालनजन्य दुष्परिणामों का भय दर्शाकर जनमानस में उसके निषेध के संस्कार जगाना है। विभीषण द्वारा रावण को सीता को लौटाने के लिए दिया गया परामर्श स्तेय के निषेध का समर्थक है।[३३] स्तेयजन्य अपशकुनों की चर्चा के अन्तर्गत आग का अच्छी तरह प्रज्वलित न होना, धुएं से मलिन रहना,[३४] वेदाध्ययन के स्थानों में साँपों का दिखाई देना,[३५] गायों का दूध सूख जाना, गजराजों का मदरहित हो जाना, घोड़ों का दीनतापूर्ण स्वर में हिनहिनाना,[३६] गधों, ऊँटों और खच्चरों के रोंगटे खड़े हो जाना,[३७] झुण्ड के झुण्ड कौओं का कर्कश स्वर में काँव काँव करना,[३८] झुण्ड के झुण्ड गीधों का मण्डराना, संध्या के समय सियारनियों का नगर के समीप आकर अमंगलसूचक शब्द करना[३९] तथा नगर के सभी फाटकों पर समूह के समूह मांसभक्षी पशुओं का जोर-जोर से चीत्कार करना दर्शाया गया है।[४०] इन सभी के निवारण के लिए रावण द्वारा सीता को लौटा देने का विभीषण का परामर्श स्तेय को

पाप घोषित करता है। उसके प्रायश्चित्त का विधान है। रामायण में रामराज्य के वर्णन के अन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् में चोरों तथा लुटेरों का सर्वथा अभाव दर्शाया गया है और सभी लोग अनर्थकारी कार्यों में हाथ डालने से निवृत्त दर्शाए गए हैं।[४१] तदनन्तर कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लोग लोभरहित थे।[४२] लोभरहितता में अस्तेयरूपी धर्मलक्षण का निर्वाह स्वतः हो जाता है। संक्षिप्ततः रामायण में अस्तेयविषयक सामग्री का विहंगावलोकन सिद्ध करता है कि इस महाकाव्य में अस्तेय का निर्वाह अस्तेयविषयक पूर्वप्रतिपादित मान्यताओं का समर्थन है।

महाभारत में अस्तेय-संस्तुति

व्यासभाष्य के अनुसार शास्त्रवर्जित रीति से दूसरों का द्रव्य लेना स्तेय है और इसका प्रतिषेध अस्तेय **'स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।'**[४३] महाभारत का साध्य विविध विधाओं के माध्यम से धर्माधर्म निरूपण है। इसकी रचना द्वापर में धर्म के उत्तरोत्तर ह्रास और शिष्टाचार के उत्तरोत्तर लय के परिहार के लिए हुई थी। व्यास ने सनातन जीवनमूल्यों के पुनर्स्थापन के लिए अनेक आश्रयों का सहारा लिया। तदनुसार ही उन्होंने शिष्टाचारविषयक अपेक्षाओं के समर्थन के लिए जहाँ श्रेष्ठ मनीषियों के मतों का प्रावधान किया है वहीं शास्त्रप्रतिपादित अपेक्षित मर्यादाओं का सरस और सर्वग्राह्य विवेचन भी किया है। मनुष्य के सत्यपथ के प्रशस्तक समस्त साधनों के प्रावधान से युक्त होने के कारण ही इस महाकाव्य को महाभारत की संज्ञा दी गई है। इसकी सार्थकता व्यास के इस कथन से सिद्ध हो जाती है–

चत्वार एकतो वेदा भारतं चैकमेकतः।
समागतैः सुरर्षिभिस्तुलमारोपितं पुरा।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं ततोऽधिकम्।
महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।।[४४]

महाभारत में उपलब्ध इतिहास तथा पुराणविषयक सामग्री इसके साध्य का साधन ही है। अथर्ववेद के अनुसार हर प्राणी में सद्वृत्तियों और दुर्वृत्तियों का वास संभव है। सद्वृत्तियों के सौष्ठव, सामर्थ्य एवं बल के समुच्चय से दुर्वृत्तियों के सर्वथा उन्मूलन में सफलता की प्राप्ति मानवजीवन का ध्येय है। ऋग्वेद में इसका साधन स्तुति के माध्यम से स्तुत्यरूप की

प्राप्ति दर्शाया गया है। तदनुसार ही विविध देवस्तुतियों में कामना की गई है कि वे प्राणियों के मन में व्याप्त स्तेयरूपी दुर्वृत्ति के पराभव का प्रयत्न करें। अस्तेय का उदय स्तेय के प्रतिषेध पर ही आश्रित है। यजुर्वेद में इसके परिहार के लिए समस्त विश्व को ईश्वर की निवासस्थली स्वीकार किया गया है और प्राणियों से अनुरोध किया गया है कि वसुधा पर उपलब्ध समस्त प्रवृत्तिपोषक साधनों का त्यागपूर्वक उपभोग करें, लोभ न करें।[४५] मानवमन में स्तेय के पराभव और अस्तेय के उदय के लिए प्रतिपादित यह विधि सनातन है। स्वभावतः मनुष्य में सद्वृत्ति और दुर्वृत्तियों का होना प्रकृति का अटल नियम है। सद्वृत्तियों के उदय से मनुष्य की उत्कृष्ट भावनाओं को समर्थन मिलता है। उसकी प्राथमिकताएँ विस्तार को प्राप्त होती हैं। उसके स्व का केन्द्र उत्तरोत्तर निस्व की परिधि को समर्पित होता चला जाता है। अनादिकाल से भारतीय संस्कृति **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के अटल सत्य में विश्वास रखती रही है। इसे चरितार्थ करने के लिए प्रयत्नशील रही है। इसके समस्त सनातन ग्रन्थ इसी उद्देश्य की पूर्ति को समर्पित रहे हैं। इससे श्रौत, स्मार्त तथा उपजीव्य काव्य साहित्य में सनातन पूर्णत्वप्राप्तिविषयक साधनों का अनुमोदन, समर्थन, अनुरणन और पुनरावर्तन स्वाभाविक हो जाता है। अपने पूर्वजों की भाँति व्यास ने भी विश्वकल्याण में सहायक एवं विश्व को एक परिवार में परिणत करने योग्य शिष्टाचार का कान्तासम्मत उपदेश देना अपने सर्जन का श्रेय स्वीकार किया है। इसमें मनोवैज्ञानिकता का निर्वाह इसकी सर्वग्राह्यता को पुष्ट करता है। वास्तव में जनसाधारण द्वारा किसी भी मर्यादा के पालन के दो ही मनोवैज्ञानिक साधन श्रेष्ठ स्वीकार किए गए हैं। इनमें से एक उसके लिए हितकारी कर्म को श्रेयस्कर सिद्ध करने के लिए उसे शतवर्षीय जीवनसाधक, स्वर्गलाभदायक एवं मोक्षपथ का प्रशस्तक सिद्ध करना है। दूसरा उसे उसके निर्वाह में उदासीनताजन्य दुष्परिणामों से अवगत कराना है। इन दुष्परिणामों को भयावहता प्रदान करने के लिए इहलौकिक दण्डविधान, पारलौकिक नरकोत्पीडन तथा उत्तरवर्ती जन्म में तिर्यक् योनि की प्राप्ति का भय दर्शाया गया है। तदनुसार ही महाभारत में मनुजोचित यम-नियमों के निर्वाह की प्रशस्ति उपलब्ध होती है और उनसे विमुखता की भर्त्सना। इनके अनुयायियों को सत्त्वगुण से युक्त सिद्ध किया गया है और विरोधियों को राजस अथवा तामस गुण से युक्त। महाभारत में अस्तेय का निरूपण स्तेय के प्रतिषेध और अस्तेय के समर्थन के माध्यम से ही हुआ है।

आदिपर्व में अस्तेय का समर्थन उपार्जन की चाह को दुःखदायी घोषित करके किया गया है। उपार्जन होने पर इसके प्रति आसक्ति में वृद्धि को दुःख का मूल स्वीकार किया गया है। उपार्जित धन के नाश से उत्पन्न होने वाले शोक को महादुःख घोषित किया गया है।[४६] स्तेय एक निन्दित एवं निष्ठुर कर्म माना गया है। आदिपर्व में निन्दित एवं निष्ठुर कर्म को कभी न करने का परामर्श स्तेय के निषेध एवं अस्तेय के समर्थन का द्योतक है।[४७] सभापर्व में नारद तथा युधिष्ठिर के संवाद में स्तेय तथा लोभ को अराजकता का कारण घोषित किया गया है।[४८] इससे पूर्व स्मार्त साहित्य में भी स्तेय को राजा द्वारा विविध प्रकार से दण्डनीय घोषित किया गया है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति (व्यवहाराध्याय) में विविध प्रकार के चौरकर्म के लिए विविध प्रकार के दण्डों का प्रावधान उपलब्ध होता है। सभापर्व में स्तेय को अराजकता का कारण घोषित करके व्यास ने इसके पूर्वप्रतिपादित प्रतिषेध को समर्थन दिया है। शिशुपाल वासुदेव का भांजा था। उसकी माँ को कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वधसम्बन्धी अभिशाप का ज्ञान था। तदनुसार ही उसने श्रीकृष्ण से अनुरोध करके उसके सौ अपराध क्षम्य घोषित करवा दिए थे। सभापर्व में शिशुपाल की मृत्यु का कारण वसुदेव के अश्वमेध यज्ञ में छोड़े गए अश्व का अपहरण[४९] बभ्रु की स्त्री का हरण[५०] तथा रुक्मिणी की अनधिकार प्राप्ति की चेष्टा दर्शाया गया है। इस आख्यान के माध्यम से व्यास ने स्तेय के प्रतिषेध और अस्तेय की पुनर्स्थापना की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। इस आख्यान में स्तेय को मृत्युदण्ड से दण्डनीय दर्शाकर इसे निकृष्ट कर्म घोषित किया गया है। यह प्रयास जनमानस में अस्तेय के भाव के स्वस्फुरण तथा उसके निर्वाह के सत्संकल्प लेने में सहायक सिद्ध होता है।

आरण्यकपर्व के अनुसार छलरहितता, कर्तृत्वअहंकाररहितता, मितभोजन, जितेन्द्रियता और दोषरहितता तीर्थफल की प्राप्ति के साधन हैं।[५१] वस्तुतः तीर्थाटन तथा तीर्थस्नान का उद्देश्य त्रिविध शौच की प्राप्ति है। इस विवरण में छलरहितता को जितेन्द्रियता के समकक्ष महत्त्व देकर व्यास ने शौच के त्रिविध निर्वाह को छलरहितता के अन्तर्निहित दर्शाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यमों का निर्वाह प्राणियों को नियमों के स्वाभाविक निर्वाह की योग्यता से युक्त सिद्ध करता है। स्तेय का मूल लोभ की अतिशयिता है। है। लोभ को तिर्यक् योनि में जन्म का कारण दर्शाकर आरण्यकपर्व में अस्तेय के निर्वाह की अपरिहार्यता दर्शायी गयी है।[५२] कलियुग-वर्णन में

प्राणियों में सत्यरहितता का कारण वर्णचतुष्टय में लोभ और क्रोध की अतिशयिता दर्शाया गया है।[५३] इससे अभिप्राय लोभजन्य स्तेयवृत्ति को सत्यपथ को भ्रष्ट करने वाली मानना है। युगक्षय में हिंसा, अजापकता, नास्तिकता और स्तेय की व्यापकता की चर्चा के माध्यम से स्तेय को युगक्षय के कारणों में से एक घोषित किया गया है।[५४] इसका लक्ष्य प्राणियों को स्तेय के विनाशकारी दुष्परिणामों से अवगत कराना है। प्रतिषेध के लिए अपनाई गई यह मनोवैज्ञानिक विधि अस्तेय की अपरिहार्यता को स्पष्ट करती है। युगक्षय में भाईयों और विधवाओं के धनहरण की चर्चा भी स्तेय के प्रतिषेध की आवश्यकता को स्पष्ट करती है।[५५] शल तथा वामदेव के आख्यान में शल द्वारा वामदेव के वामी घोड़ों के अनधिकार ग्रहण की चर्चा उपलब्ध होती है, जो स्तेय कर्म है। वामदेव द्वारा पुनः पुनः अनुरोध करने के पश्चात् भी उन घोड़ों को न लौटाने का दुष्परिणाम शल द्वारा विषासक्त बाण चलाए जाने की चर्चा है। यह बाण वामदेव का कोई भी अहित न करके शल के अपने ही दस वर्षीय राजपुत्र श्येनजित् की मृत्यु का कारण बनता है। अन्ततः स्तेय कर्म के परिणामस्वरूप राजा बाण चलाने में असमर्थ हो जाता है।[५६] इस आख्यान में स्तेयजन्य दुष्परिणामों की व्याख्या अस्तेय की अपेक्षा तथा प्रतिष्ठासिद्धि है। अस्तेय को शिष्टाचार के अन्तर्निहित स्वीकार किया जाता है। महाभारतकार ने शिष्टाचार प्रवृत्ति को श्रेष्ठतम घोषित किया है।[५७] मात्र धर्म द्वारा प्राप्त धन में रमण को बुद्धिमत्ता स्वीकार किया गया है।[५८] इससे अभिप्राय अस्तेय को बुद्धिमत्ता का लक्षण घोषित करना है। आरण्यकपर्व में उपलब्ध स्तेयप्रतिषेधक और अस्तेयसमर्थक सामग्री अस्तेय को दिए गए परम्परागत महत्त्व का समर्थन सिद्ध होती है। इसकी विशिष्टता आख्यानों के माध्यम से सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकतासिद्धि के स्पष्टीकरण में निहित है।

महाभारत के अनुसार विदुर का जन्म व्यास द्वारा कौरववंश की एक दासी से स्वेच्छित नियोग के माध्यम से हुआ था। विदुर परम नीतिज्ञ माने जाते हैं। युद्धपूर्व धृतराष्ट्र को दिए गए उनके नीतियुक्त उपदेश में समस्त जनोपयोगी कार्य-अकार्य का विवेचन महाभारत की अनन्यता सिद्ध हुआ है। उद्योगपर्व में स्तेयनिषेध और अस्तेयसमर्थन अनधिकार दुस्साहस, दुष्प्रयास एवं निकृष्ट कर्म की भर्त्सना के माध्यम से हुआ है। यह उपदेश मात्र धृतराष्ट्र के लिए हितकारी न होकर समस्त जनोपयोगी होते हुए सभी के लिए पथप्रशस्तक सिद्ध होता है। स्तेय को दुष्कृत घोषित करते हुए उन्होंने

स्तेय को चोर की अनिद्रा का कारण माना है।[५६] स्तेयजन्य धनोपार्जन को सभी भोगते हैं जबकि उसका पाप मात्र कर्ता को जाता है।[६०] स्तेयकर्ता को स्तेय के दण्ड का अधिकारी सिद्ध करके प्राणियों को अस्तेयोन्मुखी बनाने का प्रयास किया गया है। अलोभ को अपाप का मूल दर्शाकर अस्तेय की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है।[६१] ब्राह्मणों के धनहरण को विनाश का मुख द्वार घोषित करके सभी प्राणियो के लिए स्तेय के आचरण को निषिद्ध घोषित किया गया है। लोभी को धर्म के तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ घोषित करके व्यास ने स्तेय को तत्त्वज्ञान का अवरोधक माना है।[६३] मोक्षविदों के लिए इससे निवृत्ति अपेक्षित दर्शायी गयी है। व्यास का यह परामर्श सर्वजन अनुकार्य है। चोरी से निवृत्ति को सुख का मूल स्वीकार किया गया है। चोरी सुखबाधक आठ दोषों में से एक है। इनके नाम हैं–निरर्थक विदेशवास, पापियों से मेल, परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चोरी, चुगलखोरी तथा मदिरापान।[६४] प्राणियों को उन्हीं वस्तुओं को खाने और ग्रहण करने का परामर्श दिया गया है जिनका परिणाम अनिष्टकारी न हो।[६५] परोक्षतः इसमें अस्तेययुक्त भोग का परामर्श उपलब्ध होता है। अस्तेययुक्त भोग के परामर्श में **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** का अनुरणन स्वाभाविक है। इसको उन्नति का मार्ग दर्शाकर इसे सर्वत्र अपरिहार्यता ही प्रदान नहीं की गई अपितु इसकी सार्वकालिक अपेक्षा भी सिद्ध की गई है। मात्र धर्म से राज्यप्राप्ति का उपदेश तथा मात्र धर्म द्वारा ही उसकी रक्षा का परामर्श राजा के लिए अस्तेय के आश्रय की आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं।[६६] दूसरों के धन, रूप, पराक्रम, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सम्मान के प्रति डाह को असाध्य रोग माना गया है, जो स्तेयभाव के उन्मूलन की आवश्यकता को स्पष्ट करता है।[६७] चोरी करके व्यापार करने वाले को साक्षी के अयोग्य घोषित किया गया है।[६८] इसमें भी स्तेय का निषेध अनुरणित होता है। राजा के लिए दूसरों के धन का हरण करने का प्रयत्न दूषित माना गया है। ऐसा होने से उसके प्रेमी मन्त्री उसका परित्याग कर देते हैं।[६९] मोहवश शास्त्रनिषिद्ध कर्मों को अकार्य घोषित किया गया है।[७०] इनमें प्रवृत्ति मनुष्य के नाश का कारण मानी गई है। अधर्म द्वारा कमाए गए धन का पारलौकिक कर्म में उपयोग निःश्रेयससिद्धि में साधक नहीं माना गया है।[७१] कपटपूर्वक धर्म के आचरण को निषिद्ध घोषित करने के लिए वेदों द्वारा कपटाचारी के परित्याग को अवश्यम्भावी दर्शाकर अस्तेय के निर्वाह की अपेक्षा सिद्ध की गई है।[७२] स्तेय के मूल लोभ को बारह दोषों में से एक माना गया है। इसे त्याज्य घोषित करने से

अभिप्राय प्राणियों में अस्तेयवृत्ति के उदय के संस्कार जगाना है।[७३] दम के अठारह दोषों में से लोभ एक है। जितेन्द्रियता को अलोभ के निर्वाह में निहित दर्शाकर अस्तेय के सदा सर्वदा पालन की अपेक्षा दर्शायी गयी है।[७४] लोभवश धर्मत्याग को नाश का कारण माना गया है।[७५] राजा को युगचतुष्टय का कारण मानते हुए प्रत्येक युग में उसे सद्वृत्तियों के विकास अथवा ह्रास के लिए उत्तरदायी ही नहीं माना गया, अपितु इनके (सद्वृत्तियों) पूर्ण लय के परिणामस्वरूप उसके लिए अनेक वर्षों तक नरक में निवास का भी भय दर्शाया गया है।[७६] उद्योगपर्व में अस्तेयसमर्थक और स्तेयनिषेधक सन्दर्भों का विवेचन व्यास के उस कथन को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार उन्होंने प्राणियों से मात्र धर्म का ही आश्रय लेने का आग्रह किया है।

भीष्मपर्व के गीतोपनिषद् में जीवनोपयोगी कार्य-अकार्य की चर्चा त्रिगुणविवेचन एवं दैवी तथा आसुरी सम्पत्तिविश्लेषण के माध्यम से हुई है। इसके प्रत्येक अध्याय को योग का शीर्षक दिया गया है। वस्तुतः विविध अध्यायों में जीवन की विविध विधाओं में नैपुण्यप्राप्ति के स्रोतों का प्रावधान हुआ है। व्यष्टि और समष्टि में एकता की स्थापना तथा जनसाधारण के **'अहम्' को 'सर्वम्'** में परिणत करने के साधनों का सुव्यवस्थित, मनोवैज्ञानिक एवं सर्वग्राह्य वर्णन ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। गीता में उत्कृष्ट वृत्तियाँ दैवी सम्पत्तियाँ स्वीकार की गई हैं और निकृष्ट वृत्तियाँ आसुरी। इसमें सत्त्व, रज और तम के तुलनात्मक विवेचन से सत्त्व को सर्वोपरि सिद्ध किया गया है। सत्त्वाचारियों को मोक्षप्राप्ति की योग्यता से युक्त और स्वर्ग के पात्र घोषित किया गया है। राजसाचारियों के लिए मर्त्यलोक का प्रावधान दर्शाया गया है। जबकि तमोगुणी वृत्ति से युक्त पुरुषों की अधोगति निश्चित दर्शायी गयी है।[७७] सम्पत्तिविवेचन के अन्तर्गत जिन वृत्तियों को दैवी सम्पत्ति माना गया है, उनके नाम हैं–अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल-अनासक्ति, शान्ति, अदोषदृष्टि, दया, अलोभ, मृदुता, लज्जा, अचापल्य, तेजस्विता, क्षमा, धृति, विविध शौच, अद्रोह तथा अभिमान का अभाव।[७८] वेदोक्त, पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट तथा स्मृतिप्रतिपादित समस्त यम-नियमों के निर्वाह को दैवी सम्पत्ति कहकर अपरिहार्य दर्शाया गया है। अस्तेय का समर्थन अलोभ के पालन में निहित है। इसके विपरीत प्राणियों में पाई जाने वाली मुख्य दुर्वृत्तियों को आसुरी सम्पत्ति दर्शाया गया है।[७९] वेदों में दुरिताओं के पराभव और भद्रताओं के उदय की कामना भीष्मपर्व में मानवजीवन में मनुष्य द्वारा सद्वृत्तियों के निर्वाह की अपेक्षा बनकर मुखरित

हुई है। भीष्मपर्व में आहार का त्रिगुणविवेचन आहार को व्यवहार का मूल घोषित करता है।[८०] तदनुसार ही सात्त्विक, राजसी एवं तामसी बुद्धि का विवेचन हुआ है। भीष्मपर्व में सद्वृत्ति के आग्रह और निकृष्टवृत्ति के निषेध के माध्यम से प्राणी को सत्संकल्प, सत्कर्म, सद् ज्ञानोन्मुखी बनाने का सफल प्रयास किया गया है। गीतोक्त वर्णधर्मविवेचन में उन्हीं कर्तव्याकर्तव्यों का समर्थन और निषेध उपलब्ध होता है जो महाभारत में सर्वत्र विद्यमान हैं। अन्य सन्दर्भों की भाँति गीता में भी मनुष्य की पूर्णत्वप्राप्ति निकृष्ट कर्म के त्याग और उत्कृष्ट कर्म के व्यवहार में निहित सिद्ध की गई है। इसमें न तो स्तेय का प्रत्यक्ष निषेध ही उपलब्ध होता है और न ही अस्तेय का प्रत्यक्ष समर्थन। लोभ को स्तेय का मूल मानते हुए उसे अधम वृत्ति घोषित किया गया है और अधम वृत्तियों के पालन को नरक का द्वार घोषित करके प्राणियों में इनसे निवृत्त रहने के संस्कार जगाए गए हैं।

शान्तिपर्व का उद्देश्य युधिष्ठिर के युद्धजन्य विषादग्रस्त, विश्रान्त और अशान्त मन को शान्ति प्रदान करने का प्रयास है। शान्ति मानवजीवन की सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम और आद्यन्त आवश्यक अपेक्षा है। इसकी सर्वभौमिक स्थापना हेतु साधनसामग्री का प्रावधान ही शान्तिपर्व का प्रतिपाद्य विषय है। व्यास ने इसके लिए युधिष्ठिर की जिज्ञासा की शान्ति के लिए उसके प्रश्नों के भीष्म द्वारा दिए गए उत्तरों को माध्यम बनाया है। इसमें राजधर्म, आपद्धर्म, वर्णाश्रमधर्म, मोक्षधर्म आदि के समुच्चय का संकलन इसे धर्मकोश सिद्ध करता है। शान्तिप्राप्ति सृष्टि के समारम्भ से ही मानवजीवन का उद्देश्य मानी गई है। तदनुसार ही संहिताओं में इसके लिए शान्तिपाठ का प्रावधान उपलब्ध होता है। शान्ति की समग्रता एक नहीं, अनेक शान्तियों के समुच्चय पर निर्भर करती है। अथर्ववेद के शान्तिकर्मविभाग के अन्तर्गत जिन चौबीस शान्तियों की स्थापना सर्वत्र अपेक्षित मानी गई है उनके नाम हैं—महाशान्ति, वैश्वदेवी शान्ति, आग्नेयी शान्ति, भार्गवी शान्ति, ब्राह्मी शान्ति, बार्हस्पत्या शान्ति, प्राजापत्या शान्ति, सावित्री शान्ति, गायत्री शान्ति, आंगिरसी शान्ति, ऐन्द्री शान्ति, माहेन्द्री शान्ति, काबेरी शान्ति, वैष्णवी शान्ति, वास्तोष्पत्यी शान्ति, रौद्री शान्ति, अपराजिता शान्ति, याम्या शान्ति, वारुणी शान्ति, वायव्या शान्ति, संतति शान्ति, त्वाष्ट्री शान्ति, कौमारी शान्ति, नैर्ऋति शान्ति, मारुद्गणी शान्ति, गान्धर्वी शान्ति, पारावती शान्ति, पार्थिवी शान्ति।[८१] शान्तिपर्व में मात्र अभ्युदयलाभदायक साधनों का समायोजन ही उपलब्ध नहीं होता, अपितु निःश्रेयसपोषक दिशानिर्देशों का सुनियोजन

भी दृष्टिगत होता है। इसमें राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्म के निर्वाह के महत्त्व को ही स्पष्ट नहीं किया गया, अपितु उनके निर्वाहजन्य परिणामों का भी उल्लेख किया गया है। भीष्मपर्व में गीतोपनिषद् में जिन कर्तव्यों को तात्त्विक व्याख्या से व्यवहार्य दर्शाया गया है, शान्तिपर्व में उन्हीं के निर्वाह की अपेक्षा विविध संवादों, आख्यानों, उपदेशों एवं परामर्शों द्वारा स्पष्ट की गई है।

शान्तिपर्व में अस्तेय का निरूपण करते हुए इसे राजधर्म के निर्वाह का अंग माना गया है। इसकी स्थापना के लिए राजदण्ड को यथेष्ट स्वीकार किया गया है। दण्ड के विधिपूर्वक प्रयोग को कपटता, अनिष्ट और ठगी का उन्मूलक घोषित किया गया है।[८२] इस माध्यम से स्तेय का जो निषेध उपलब्ध होता है वह वेदसंकेतित स्तेयविरोधी स्तुतिपदों का अनुरणन है। युधिष्ठिर तथा व्यास के प्रश्नोत्तरों में द्विज जातियों के निमित्त भक्ष्य-अभक्ष्य वर्णन में बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण न करने को धर्म का लक्षण माना गया है।[८३] इस कथन में अस्तेय का प्रत्यक्ष समर्थन उपलब्ध होता है। क्रूरतारहित कर्मों में समस्त आश्रमों के सेवन के लाभ को निहित दर्शाकर स्तेय के क्रूर कर्म को निषिद्ध दर्शाया गया है।[८४] राजतन्त्र में राजा की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए राजा के अभाव में धनविषयक तथा स्त्रीविषयक स्तेय के उदय तथा मत्स्य न्याय के प्रचलन की आशंका दर्शाकर राज्यशासन में अस्तेय की प्रतिष्ठा आवश्यक घोषित की गई है।[८५] पूर्वकाल में स्तेय को प्रजा के नाश का कारण दर्शाकर प्राणियों द्वारा ली गई पारस्परिक शपथ की चर्चा की गई है जिसके अनुसार कटु वाचक, कठोर दण्ड से युक्त, परस्त्रीगामी तथा पराए धन का हरण करने वाले राजा को त्याज्य घोषित किया गया था।[८६] इस शपथ को राजतन्त्र की स्थापना का कारण दर्शाकर ब्रह्मा द्वारा मनु को राजा बनने की आज्ञा देने की चर्चा है।[८७] स्तेय के सर्वथा उन्मूलन को राजतन्त्र का कर्तव्य घोषित करके राजधर्म में इसे शासन का अंग घोषित किया गया है। हर प्रकार के स्तेय के उन्मूलन को राजा का कर्तव्य घोषित करके राजतन्त्र की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[८८] स्तेयजन्य हानि को राजकोष से पूरा करने का दिशानिर्देश राजा द्वारा प्रजा में अस्तेय की स्थापना और उसके सर्वत्र पालन के आश्वासन की ओर निर्दिष्ट है।[८९] इसकी पराकाष्ठा राजधर्मविषयक इस श्लोक में उपलब्ध होती है–

यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते किल्विषं नृप।।[९०]

केकय राज्य में चोरी, कायरता, कार्पण्य, मद्यपता, यज्ञहीनता तथा निरग्निकता के सर्वत्र अभाव को किसी राक्षस के पंजे से उनकी मुक्ति का कारण दर्शाकर प्रजा द्वारा अस्तेय के पालन को आदर्श राज्य का मूल घोषित किया गया है।[६१] भीष्म द्वारा सामान्यधर्म चर्चा में चोर को धनी का पता देने, उसकी बात बताने को अनुचित घोषित करते हुए उसके हेतु आवश्यकता पड़ने पर झूठी कसम खाने को उचित घोषित किया गया है।[६२] वस्तुतः इससे अभिप्राय हर मूल्य पर अस्तेय की प्रतिष्ठा के हेतु प्रयास का औचित्य सिद्ध करना है। राजा द्वारा वैयक्तिक रूप से अस्तेय का पालन कठिन विषयों के अतिक्रमण का साधन स्वीकार किया गया है।[६३] व्यास ने अस्तेय को राजधर्म का अंग घोषित करके इसके पालन को प्रजा एवं राजा द्वारा समान रूप से अपेक्षित घोषित किया है।

मोक्षधर्मपर्व में स्तेयवृत्ति के मनसा, वाचा, कर्मणा उन्मूलन को अजगर वृत्ति के निर्वाह में निहित दर्शाया गया है। इसके लिए प्रह्लाद तथा ब्राह्मण के संवाद का आश्रय लिया गया हे। अजगर वृत्ति का निर्वाह स्थिरचित्त से निज धर्म से विचलित न होकर पूर्वापर सब मालूम करके परिमित भाव से जीविकानिर्वाह करते हुए निर्भय, रागद्वेषरहित, निर्लोभ और मोहहीन जीवनयापन में दर्शाया गया है।[६४] अस्तेय के स्वाभाविक निर्वाह को परमानन्द का स्रोत और अनन्त शान्ति का साधन घोषित किया गया है। समस्त उपायों से लोभनिग्रहप्राप्ति को समस्त वर्णों में समान रूप से व्यवहार्य सिद्ध करने के लिए भारद्वाज तथा भृगु के संवाद का आश्रय लिया गया है।[६५] जनसाधारण में सद्‌वृत्तियों के संस्कारों के प्रादुर्भाव का सरलतम उपाय उन वृत्तियों का वेदविदों और मनीषियों द्वारा स्वानुभूत समर्थन है। कपटता, शठता, चोरी, निन्दा, असूया, परपीडन, हिंसा, चुगली और मिथ्या कथन को तपस्या के नाश का कारण घोषित करके जनमानस में इनके निषेध की आवश्यकता स्पष्ट करते हुए इनके निग्रह को तपस्यावृद्धि का साधन दर्शाया गया है।[६६] तत्त्वज्ञान के लिए अनिष्ट संकल्प तथा अपने लिए अयोग्य वस्तु की अभिलाषा का निग्रह अपेक्षित माना गया है।[६७] तदनुसार ही शठता और निष्ठुरता के त्याग का परामर्श दिया गया है।[६८] व्यास ने जीवन में दुर्वृत्तियों को जिस कामतरु की संज्ञा दी है, क्रोध और अभिमान उसके महास्कन्ध हैं, विवित्सा उसके आलवाल, अज्ञान उसका आधार, प्रमाद उसका सिंचन करने वाला जल, असूया उसके पत्ते, पूर्वकृत दुष्कृत उसका सार, संमोह और चिन्ता उसकी डालियाँ, शोक उसकी शाखा तथा भय

उसका् अंकुर है। इस कामतरु की सेवा वासना के बन्धनों में बँधकर अत्यन्त लोभी मनुष्यों द्वारा की जाती है। प्राणी जब तक वासनारूपी पाशों का निग्रह कर उस वृक्ष के छेदन में समर्थ नहीं होता तब तक उसे सुखलाभ नहीं होता। अकृतबुद्धि मूर्ख जो फल के लोभ से उस वृक्ष पर क्रुद्ध होकर चढ़ता है, उसे वह वृक्ष विषग्रस्त रोगी की भाँति मार डालता है। उस वृक्ष का मूलोच्छेदन केवल ज्ञानयोग के प्रसाद द्वारा ही संभव दर्शाया गया है।[९९] यह रूपक प्राणी में अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रादुर्भाव के लिए उन समस्त दुरिताओं के परिहार को आवश्यक दर्शाता है, जिनमें से लोभ एक है। परोक्षतः लोभ से निग्रह का परामर्श अस्तेय यम के सदा सर्वदा पालन को यथार्थ घोषित करता है। अस्तेय की प्रतिष्ठा हेतु स्तेय के दुष्परिणामों का अत्यन्त प्रभावशाली तथा मनोवैज्ञानिक जो उल्लेख उपलब्ध होता है, उसके अनुसार अधर्म समाविष्ट तस्कर जब परधन का हरण करता है अथवा अराजक समय में पराए धन को अपना बना लेता है, उस समय वह परम सुखी होता है परन्तु जब उस चोर के धन को दूसरे लोग हर लेते हैं तो वह चोर भी प्रजा की रक्षा करने वाले राजा की इच्छा करता है।[१००] यह उल्लेख सुव्यवस्थित समाज के लिए अस्तेय के निर्वाह को वांछित घोषित करता है।

कपिल सांख्यशास्त्र के जनक हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट अकार्यों में द्यूत, चोरी तथा अन्य कई दुष्कर्मों की चर्चा उपलब्ध होती है।[१०१] महाभारत में इसका उद्धरण अस्तेय के पालन की शास्त्रसम्मत आवश्यकता को स्पष्ट करने के लिए हुआ है। लोभ को शठता का पुत्र दर्शाकर लोभ के निग्रह का परामर्श दिया गया है, जो अस्तेय का परोक्ष समर्थन सिद्ध होता है।[१०२] शुक्राचार्य की असुरप्रियता की चर्चा के उल्लेख में उनके द्वारा मातृवध के शोकजन्य रोष के कारण कुबेर के धनहरण का प्रसंग मोक्षधर्मपर्व में उद्धृत किया गया है। इसमें धनहरण को धनपति के अस्वास्थ्य का कारण दर्शाया गया है। यह प्रसंग देवों में धनहरणजन्य व्याकुलता का चित्रण सिद्ध होता है। इसका लक्ष्य प्राणियों में अस्तेय के प्रादुर्भाव के संस्कार आरोपित करना है।[१०३] धर्मार्थी पुरुष के लिए नीच कर्म से धन का उपार्जन विवर्जित है।[१०४] नीच कर्म से धनोपार्जन को निषिद्ध घोषित करने से अभिप्राय अस्तेय के निर्वाह को धर्म और स्तेय में प्रवृत्ति को अधर्म घोषित करना है। अधर्म से उपार्जित धन को निन्दित दर्शाकर धनोपार्जन के लिए अस्तेय का पालन ही स्वीकार्य घोषित किया गया है।[१०५] ऊर्ध्वगति साधक कर्मों की चर्चा करते

हुए कहा गया है जो यत्नपूर्वक सत्य, दम, सरलता, दया, धृति और तितिक्षा का पालन करता है तथा पराए वित्त की कामना नहीं करता वह ऊर्ध्वगति की प्राप्ति का पात्र है।[१०६] याज्ञवल्कीय त्रिगुणविवेचन के यथारूप चित्रण के लिए व्यास ने जनक तथा याज्ञवल्क्य के संवाद को माध्यम बनाया है। उनके अनुसार रजोगुण समूह का वर्णन इस प्रकार है–

परितापोऽपहरणं ह्रीनाशोऽनार्जवं तथा।
भेदः परुषता चैव कामक्रोधौ मदस्तथा।
दर्पो द्वेषोऽतिवादश्च एते प्रोक्ता रजोगुणाः।।[१०७]

परधनहरण को रजोगुण समुच्चय के अन्तर्निहित दर्शाकर इसे अवांछित निकृष्ट कर्म घोषित किया गया है। यह मनुजोचित न होने के कारण त्याज्य माना गया है। मानव का पूर्णत्व सत्त्वगुण के आश्रय में निहित स्वीकार किया गया है। वस्तुतः यह अस्तेय का स्मृतिसम्मत समर्थन है। गृहस्थाचार में मोक्षलाभ यम-नियम के निर्वाह में स्वीकार किया गया है। यह परामर्श गृहस्थ धर्म में अस्तेय के सदा सर्वदा पालन की अपेक्षा को सिद्ध करता है।[१०८] मनुष्य के लिए चित्त पर विजय ही सर्वोपरि उपलब्धि मानी जाती है। चित्त पर तब तक विजय संभव नहीं जब तक मानवमन अपने स्वार्थजन्य दुराग्रहों के लिए लालायित रहे। मानवमन के विकास को सद्गति, सुचारुता, सुगमता और सरलता प्रदान करने के लिए व्यास ने कान्तासम्मत उपदेश का आश्रय लेकर समस्त शान्तियों की स्थापना को सार्थकता प्रदान करने के लिए जनमानस में जिन सामाजिक अनुशासनों के स्वेच्छापूर्वक पालन के संस्कार जगाए हैं वे सभी शान्तिपर्व में सम्यक् रूप से उपलब्ध हैं। इसके लिए व्यास ने समस्त पूर्वोपलब्ध साधनों का आश्रय लिया है। महाभारत की अनन्यता संश्लिष्टता को सरलता और सर्वग्राह्यता प्रदान कर विशिष्टाचार को सामान्य प्राणियों के लिए सत्कार्य, स्वीकार्य और कार्य सिद्ध करने में निहित है।

अनुशासनपर्व के शीर्षक का औचित्य इसमें प्रतिपादित विविध दोषजन्य नरकपरिताप वर्णन, दूषित कर्मों द्वारा प्राप्य तिर्यक् योनि के भय के संभाव्य की अभिव्यक्ति, प्रशस्त कर्मानुष्ठानजन्य शतवर्षीय आयु, स्वर्गलाभ तथा मोक्षप्राप्ति की व्याख्या के उल्लेख में निहित है। इनके लिए भी कृष्णद्वैपायन व्यास ने परम्परागत श्रौत, स्मार्त एवं रामायणाख्यात आलम्बनों का आश्रय लिया है। इसमें भी पूर्ववत् मनुष्य के पूर्णत्वप्राप्ति के साधनों को मनोवैज्ञानिक

औचित्य, सरलता, सर्वग्राह्यता एवं अनुकार्यता प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया है। इसके पर्याप्त आख्यान पूर्वचर्चित हैं। ये पुनरावृत्त होते हुए भी पुनरावृत्ति के दोष से सर्वथा मुक्त हैं। जिस प्रकार सद्गुणों के प्रादुर्भाव के लिए किसी स्तुति का श्रद्धापूर्वक तन्मयतायुक्त प्रतिदिन उच्चारण प्राणी को स्तुत्य की हृदयस्थता में सहायक होता है, उसी प्रकार उसकी सद्वृत्तियों में प्रवृत्ति तथा दुरिताओं से निवृत्ति के लिए सद्वृत्तिप्रशस्ति एवं दुर्वृत्तिनिषेध का पुनः पुनः वर्णन आवश्यक है। महाभारत की रचना जनसाधारण में आदर्श जीवन तथा मोक्षसाधनों से सम्बन्धित सद्विश्वास के संचार के लिए हुई है। सामान्य बुद्धिजीवी के लिए किसी भी बात को स्वीकार्य और ग्राह्य सिद्ध करने के लिए उसे विविध आश्रयों से उपयुक्त दर्शाना पड़ता है। अनुशासनपर्व में यही विधि अपनाई गई है। इसमें स्तेय का प्रतिषेध और अस्तेय की प्रतिष्ठा के सन्दर्भ भी प्राणियों में स्तेयजन्य दुष्परिणामों और अस्तेय के समाश्रय से संभव पुरस्कारों से युक्त हैं। स्तेय को पुनः पुनः पाप घोषित किया गया है। इसका समारम्भ स्तेय को शारीरिक पाप घोषित करके किया गया है–

प्राणातिपातं स्तैन्यं च परदारमथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत।।[१०९]

अस्तेय को मानसिक आचार का अंग घोषित करके स्तेय के संकल्प तक को निषिद्ध दर्शाया गया है।[११०] इसके समर्थन में **'यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति, तदभिसंपद्यते'** की भावना को साधारण शब्दों में व्यक्त करते हुए मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा अशुभ कर्म से निवृत्त रहने का आग्रह किया गया है। उसके शुभ व अशुभ कर्मों का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है।[१११] नृग तथा कृष्ण के आख्यान में स्तेय को हीन योनि में जन्म से दूषित दर्शाया गया है। महाराज नृग ने अपने शासनकाल में ८० लाख गौएं दान की थी। इसी बीच प्रदेश गए हुए एक अग्निहोत्री ब्राह्मण को दी गई एक गौ उनके गौसमूह में आ गई। परिणामतः उस गौ को उन्होंने पुनः दान कर दिया। इससे स्तेय का अपराध उनके सिर लग गया। उसके परिहार के लिए उन्होंने ब्राह्मण से अनुनय विनय की कि वह उसके बदले उसे एक लाख गौए देने के लिए तत्पर हैं। ब्राह्मण नहीं माना और मरणोपरान्त राजा को गोस्तेय रूपी पाप का फल भोगना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप उसे गिरगिट की योनि प्राप्त हुई।[११२] ब्राह्मण के धनहरण के इस जघन्य परिणाम के

माध्यम से स्तेय को तिर्यक् योनि की प्राप्ति का मूल घोषित किया गया है। श्रीकृष्ण द्वारा इसकी पुष्टि इस श्लोक में उपलब्ध होती है–

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं पुरुषेण विजानता।
ब्राह्मणस्वं हृतं हन्ति नृगं ब्राह्मणगौरिव।।[११३]

ब्राह्मण की श्राद्ध में आमन्त्रित करने की योग्यताविषयक चर्चा में जिन ब्राह्मणों को पंक्तिदूषित घोषित किया गया है, वे है–जुआरी, भ्रूणहत्यारा, दूसरों का स्थान जला देने वाला, वेषान्तरधारी, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, कलंकित, चोर इत्यादि।[११४] स्तेय को ब्राह्मण के लिए दूषित कर्म दर्शाकर उसे सभी के लिए दोषयुक्त दर्शाया गया है। परस्त्रीगमन के पाप को जिन तिर्यक् योनियों का कारण माना गया है वे हैं–भेड़िया, कुत्ता, सियार, गिद्ध, साँप, कंक तथा कौआ।[११५] भोज्य पदार्थों के हरण के परिणामस्वरूप मक्खी की योनि प्राप्त होती है। वाद्य की चोरी के परिणामस्वरूप मनुष्य को मच्छर की योनि भोगनी पड़ती है। तिलमिश्रित भोजन की वस्तु हरने से मनुष्य को नेवले के आकार का भयानक चूहा बनना पड़ता है। नमक की चोरी का दुष्परिणाम चीरीवाक योनि में जन्म है। दही हरना अगले जन्म में वक पक्षी की योनि को आमन्त्रण देना है। असंस्कृत मत्स्य की चोरी कारण्डव पक्षी की योनि में जन्म से आशंकित दर्शायी गयी है। तेल-चोर मरकर तैलपायी योनि को प्राप्त होता है। मधुहर्ता को मच्छर बनना पड़ता है। लोहे की चोरी के परिणामस्वरूप काकयोनि ग्रहण करनी पड़ती है। पायसहरण का दुष्परिणाम तीतर का जन्म लेकर भोगना पड़ता है। पिष्टमय पूए की चोरी करने वाला उल्लू बनता है। फल-मूल और अपूप हरने से मनुष्य चींटी की योनि को प्राप्त होता है। कांस्य की चोरी का दुष्परिणाम हारीत पक्षी की योनि में जन्म है। चाँदी की चोरी करने वाले को कबूतर बनना पड़ता है। स्वर्णपात्रस्तेयी कृमियोनि में जन्म लेता है। सूती वस्त्र के चोर को क्रौञ्च बनना पड़ता है। कम्बलचोर को खरगोश की योनि प्राप्त होती है तथा रंगचोर को मोर की। लाल वस्त्र हरने का दुष्परिणाम चाकोर योनि में जन्म है। सुगन्धित वस्तुओं को हरने वाला छुछून्दर की योनि को प्राप्त होता है। परधनहरण का दुष्परिणाम मत्स्य योनि की प्राप्ति है।[११६] अनुशासनपर्व में स्तेय के निषेध के लिए किया गया तिर्यक् योनिविधान याज्ञवल्कीय प्रायश्चित्तविधान के विस्तार हेतु हुआ है। निरुक्त में पापकर्म के उपरान्त मिथ्याभाषण को भी स्तेय माना गया है।[११७] इसका निवारण करने के लिए अनुशासनपर्व में दुष्कृत कर्म के गोपन के दुस्साहस को

निकृष्ट योनि में जन्म का कारण माना गया है।अनुशासनपर्व में स्तेयनिषेध और अस्तेयसमर्थन का प्रावधान तत्सम्बन्धी पूर्वप्रतिपादित मान्यताओं का अनुमोदन, समर्थन, संवर्धन, युगानुकूल विश्लेषण तथा सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक प्रासंगिकतायुक्त प्रतिपादन सिद्ध होता है। इसका अभिप्राय सनातन मान्यताओं को शाश्वत सिद्ध करना है। आश्वमेधिकपर्व के साधु व्यवहार वर्णन में साधु द्वारा विहित अनुशासनों और संयमों की सूची में दान, व्रत, दम, प्रशान्तता, अनुकम्पा, संयम, अनृशंसता तथा परधनग्रहण से निवृत्ति आदि हैं।[११८] इस माध्यम से अस्तेय को शिष्टाचार का अंग घोषित किया गया है। सारांशतः महाभारत में अस्तेय का सर्वांगीण समर्थन उपलब्ध होता है।

महाभारत में स्तेय-अस्तेय विवेचन अस्तेय की प्रतिष्ठा और स्तेय के निषेध को प्रमाणित करता है। समस्त आत्मबोध और कर्तव्यबोधविषयक प्रसंगों में इसकी चर्चा को यथेष्ट माना गया है। इसके समर्थन का औचित्य और निषेध की तर्कपूर्ण सार्थकता हर संभव विधा से प्रमाणित की गई है। इसके लिए श्रौत, स्मार्त और रामायणनिर्दिष्ट दिशानिर्देशों का अवलम्बन लिया गया है। इसका विवेचन सिद्ध करता है कि व्यास ने महाभारत की रचना सचमुच उन लोगों के अभ्युदयविषयक उत्थान और निःश्रेयसविषयक परित्राण के लिए की थी जो वेद की गुह्यता, उपनिषदों के तत्त्वज्ञान और शास्त्रों की संश्लिष्टता से अनभिज्ञ थे। इसमें संकलित समस्त सामग्री पूर्व ग्रन्थों में जिस अस्पष्टता से युक्त होने के कारण जनानुकार्य होने में असमर्थ रही थी, व्यास ने उसी को सर्वग्राह्यता और सरलता का आश्रय लेकर स्पष्ट किया है। महाभारत सनातन धर्मविषयक मिथ्या भ्रान्तियों के निराकरण का राजमार्ग ही सिद्ध नहीं होता अपितु जीवनयात्रा के हर अन्धेरे मोड़ की अनन्त प्रकाश से युक्त एक दीपशिखा भी सिद्ध होता है। गीता में विषादहारकयोग की चर्चा का क्षेत्र मात्र अर्जुन के विषाद तक ही सीमित नहीं, अपितु हर शंकायुक्त प्राणी की शंकाओं का समाधान है। गीतोपनिषद् एक ऐसा बहुमूल्य रत्न है, जिसका विश्व की लगभग दो सौ भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। यदि इसमें प्रतिष्ठित मान्यताएँ सार्वभौमिक प्रासंगिकता से युक्त न होती तो इसे विश्वव्यापी लोकप्रियता कभी प्राप्त नहीं हो सकती थी। जो प्रयास गीता की प्रतिष्ठा, लोकप्रियता एवं सार्थकतासिद्धि के लिए हुए हैं, शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्व की लोकप्रियता के लिए भी वही प्रयास अपेक्षित हैं। गीता का क्षेत्र कृष्ण के कथन तक

सीमित है। वह ईश्वर द्वारा मनुष्य को दिया गया उपदेश है। उसमें ज्ञानयोगविषयक, कर्मसंन्यासविषयक, ध्यानयोगविषयक तथा भक्तियोगविषयक समस्त सामग्री की अनुकार्यता को ईश्वर का प्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त है। शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्व में कार्य-अकार्य की चर्चा देवों के माध्यम से कम हुई है, मनीषियों, तत्त्ववेत्ताओं, धर्माचारियों, अनुभवी सन्तों तथा आत्मज्ञों द्वारा अधिक। तदनुसार ही इसमें मंकिगीता, जनकगीता, शिवगीता तथा सर्वाधिक व्यापक भीष्मगीता को युधिष्ठिर के विषादपरिहार का साधन सिद्ध किया गया है। अस्तेय का समर्थन और स्तेय का निषेध शान्तिपर्व में अस्तेय के निर्वाह को अन्य यमों के समकक्ष सिद्ध करता है–

न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत्।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत्।।

सन्दर्भ

१. बालकाण्ड, २.३१.
२. अरण्यकाण्ड, ३७.२.
३. ऋग्वेद पदानुक्रमकोश
यजुर्वेद पदानुक्रमकोश
अथर्ववेद पदानुक्रमकोश
४. ऋग्वेद, ७.१०४.१०.
५. निरुक्त, ३.१६.
६. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम।। ऋग्वेद, ६.५१.१३.
७. स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्। त्वं हि देव।
वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ।।............शीर्षाणि वृश्चतु।। अथर्ववेद, १.७.१.७.
८. वही, १.८.१-४.
९. वही, १.१६.१-४.
१०. वही, ८.४.१०.
११. स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रभोजश्च शरीरमनु प्राविशन्।। वही, ११.८.२०.
१२. यजुर्वेद, ३०.३.
१३. न स्तेयमदद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्। वही, १४.१.५७.
१४. शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्।। मनुस्मृति, १२.६.

१५. मनुस्मृति, ६.६२.
१६. वही, ६.६३.
१७. वही, ६.६४.
१८. इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा।।
अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया।।
धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम्।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्।। वही, ११.६४–६६.
१९. भक्तावकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान्।
दत्त्वा चौरस्य वा हन्तुर्जानतो दम उत्तमः।। याज्ञवल्क्यस्मृति, २.२७६.
२०. अन्नहर्ताऽऽमयावी स्यान्मूको वागपहारकः।
धान्यमिश्रोऽतिरिक्तांगः पिशुनः पूतिनासिकः।।
तैलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्त्रस्तु सूचकः।। वही, ३.२१०–२११.
२१. वही, ३.२१४-२१५.
२२. वही, ३.२३४-२४२.
२३. सम्वर्त्तस्मृति, १२०-१२१.
२४. शातातपस्मृति, ४-७.
२५. तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।। बालकाण्ड, ६.६.
२६. वही, ६.८.
२७. वही, ६.६.
२८. वही, ६.१०.
२९. वही, ६.११.
३०. अयोध्याकाण्ड, १००.६२.
३१. त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः पापमन्त्रितः।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः।। अरण्यकाण्ड, ६.२०.
३२. वही, ४१.१६.
३३. प्रसादये त्वां बन्धुत्वात् कुरुष्व वचनं मम।
हितं तथ्यं त्वहं ब्रूमि दीयतामस्य मैथिली।। युद्धकाण्ड, ६.२०.
३४. सस्फुलिंगः सधूमार्चिः सधूमकलुषोदयः।
३४. मन्त्रसंधुक्षितोऽप्यग्निर्न सम्यगभिवर्धते।। वही, १०.१५.
३५. अग्निष्टेष्वग्निशालासु तथा ब्रह्मस्थलीषु च।
सरीसृपाणि दृश्यन्ते हव्येषु च पिपीलिकाः।। वही, १०.१६.
३६. गवां पयांसि स्कन्नानि विमदा वरकुञ्जराः।
दीनमश्वाः प्रहेषन्ते नवग्रासाभिनन्दिनः।। वही, १०.१७.
३७. खरोष्ट्राश्वतरा राजन् भिन्नरोमाः स्रवन्ति च।
न स्वभावेऽवतिष्ठन्ते विधानैरपि चिन्तिताः।। वही, १०.१८.

३८. वायसाः संघशः क्रूरा व्याहरन्ति समन्ततः।
समवेताश्च दृश्यन्ते विमानाग्रेषु संघशः।। युद्धकाण्ड, १०.१६.
३९. गृधाश्च परिलीयन्ते पुरीमुपरि पिण्डिताः।
उपपन्नाश्च संध्ये द्वे व्याहरन्त्यशिवं शिवाः।। वही, १०.२०.
४०. क्रव्यादानां मृगाणां च पुरीद्वारेषु संघशः।
श्रूयन्ते विपुला घोषाः सविस्फूर्जितनिःस्वनाः।। वही, १०.२१.
४१. निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।। वही, १२८.९६.
४२. वही, १२८.१०४.
४३. व्यासभाष्य, २.३०.
४४. आदिपर्व, १.२०८-२०९.
४५. यजुर्वेद, ४०.१.
४६. आदिपर्व, १४५.२४.
४७. वही, १४६.११.
४८. कच्चिन्न लुब्धैश्चौरैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा।
त्वया वा पीडयते राष्ट्रं कच्चित्पुष्टाः कृषीवलाः।। सभापर्व, ५.६६.
४९. अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम्।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत्पापनिश्चयः।। वही, ४२.६.
५०. सौवीरान्प्रतिपत्तौ च बभ्रोरेष यशस्विनः।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम्।। वही, ४२.१०.
५१. आरण्यकपर्व, ८०.३२.
५२. कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते।। वही, १७८.१२
५३. वही, १८१.१७-१८.
५४. अन्योन्यं परिमुष्णन्तो हिंसयन्तश्च मानवाः।
अजपा नास्तिकाः स्तेना भविष्यन्ति युगक्षये।। वही, १८८.२२.
५५. प्रायशः कृपणानां हि तथा बन्धुमतामपि।
विधवानां च वित्तानि हरिष्यन्तीह मानवाः।। वही, १८८.३०.
५६. वही, १९०.४३-७७.
५७. वही, १९८.६१.
५८. वही, २००.४४.
५९. अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः।। उद्योगपर्व, ३३.१३.
६०. एकःपापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते।। वही, ३३.४१.
६१. वही, ३३.७०.
६२. ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति।। वही, ३३.७८.

६३. उद्योगपर्व, ३३.८३.

६४. अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम्।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं न सेवते यः स सुखी सदैव।। वही, ३३.८६.

६५. यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे यत्तदद्यं भूतिमिच्छता।। वही, ३४.१४.

६६. वही, ३४.२६.

६७. य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुखे सौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः।। वही, ३४.४०.

६८. सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च नैतान्साक्ष्येष्वधिकुर्वीत सप्त।। वही, ३५.३७.

६९. न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन बाह्यं जनं संजिघृक्षेदपूर्वम्।
त्यजन्ति ह्येनमुचितावरुद्धाः स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः।। वही, ३७.२१.

७०. वही, ३८.२०.

७१. अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात्।। वही, ३९.५२.

७२. वही, ४३.३.

७३. क्रोधः कामो लोभमोहौ विवित्साकृपासूया मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा वर्ज्याः सदा द्वादशैते नरे।। वही, ४३.८.

७४. वही, ४३.१६-१७.

७५. इन्द्रियैः प्रसृतो लोभाद्धर्मं विप्रजहाति यः।
कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति।। वही, १२२.३४.

७६. वही, १३०.१६-१८.

७७. भीष्मपर्व, ३६.१८.

७८. वही, ३८.२-३.

७९. वही, ३८.४.

८०. वही, ३९.८.

८१. अथर्ववेद, सुबोध भाष्य, स्मरणीय कथन, पृष्ठ ५.

८२. शान्तिपर्व, १५.४४.

८३. अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः क्षमेज्या धर्मलक्षणम्।। वही, ३७.७.

८४. सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत्।। वही,६६.१३.

८५. अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्।। वही,६७.१७.

८६. वही, ६७.१८.

८७. वही, ६७.२१

८८. शान्तिपर्व, ६८.१४-१५.

८६. प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद्धनं चौरेहृतं यदि।
स्वकोशात्तत्प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवता।। शान्तिपर्व, ७६.१०.

६०. वही, ७८.४.

६१. वही, ७८.७-८.

६२. येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कर्हिचित्।
तेऽभ्यस्तन्न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः।। वही, ११०.१३.

६३. ये न लोभान्नयन्त्यर्थान्राजानो रजसावृताः।
विषयान्परिरक्षन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते।। वही, १११.७.

६४. वही, १७२.२६.

६५. सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत्पवित्रं ज्ञातव्यं तथा चैवात्मसंयमः।। वही, १८२.६.

६६. सोपधं निकृतिः स्तेयं परिवादोऽभ्यसूयता।
परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा।।
एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते।
यस्त्वेतान्नाद्विद्वांसस्तपस्तस्याभिवर्धते।। वही, १८५.१७-१८.

६७. वही, २०८.८.

६८. वही, २०८.१०.

६६. वही, २४६.१-७.

१००. यदाधर्मसमाविष्टो धनं गृह्णाति तस्करः।
रमते निर्हरन्स्तेनः परवित्तमराजके।।
यदास्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति।
तदा तेषां स्पृहयते ये वै तुष्टाः स्वकैर्धनैः।। वही, २५१.७-८.

१०१. वही, २६१.२३.

१०२. वही, २६३.१२.

१०३. वही, २७८.६-३५.

१०४. न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत्।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत्।। वही, २८१.५.

१०५. येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया।। वही, २८१.१६.

१०६. वही, २८८.२६.

१०७. वही, ३०१.२३.

१०८. वही, ३०८.४१.

१०६. प्राणातिपातं स्तैन्यं च परदारमथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत्।। अनुशासनपर्व, १३.३.

११०. अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत्।। वही, १३.५.

१११. वही, १३.६.

११२. वही, ६६.६-२४.

११३. अनुशासनपर्व, ६६.३१.
११४. वही, ६०.६-८.
११५. परदाराभिमर्शं तु कृत्वा जायति वै वृकः।
श्वा सृगालस्ततो गृध्रो व्यालः कंको बकस्तथा।। वही, ११२.६६.
११६. वही, ११२.६३-१०५.
११७. स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः।
पुनः पुनः सेवनं पातकेऽनृतोद्यमिति। स्तेनः कस्मात् संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः। निरुक्त, ३.१६.
११८. आश्वमेधिकपर्व, १८.१४–१५.
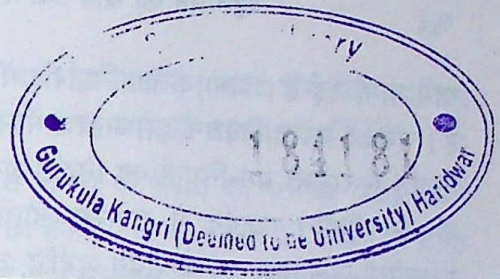
षष्ठ अध्याय

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का व्युत्पत्तिविषयक अर्थ इसे दो पदों में विभक्त करके किया गया है। वे पद हैं–ब्रह्म+चर्य। ब्रह्म भ्वादिगण की 'बृहि वृद्धौ' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ वृद्धि को प्राप्त है।[१] चर्य की व्युत्पत्ति 'चर' धातु से स्वीकार की गई है जो गति अथवा भक्षण के अर्थों से युक्त है।[२] अष्टाध्यायी में ब्रह्मचारी की परिभाषा इन शब्दों में उपलब्ध होती है–**'ब्रह्मणि चरितुं शीलमस्येति ब्रह्मचारी।'**[३] इसके अनुसार ब्रह्मचर्य से अभिप्राय ब्रह्मप्राप्ति हेतु वेदाध्ययन करते हुए अष्टविध मैथुन त्यागपूर्वक व्रत धारण करना है। यह उपस्थेन्द्रिय के संयम तथा स्त्रीसंयोगराहित्य का द्योतक है। संस्कृत साहित्य में अध्ययनशीलों के लिए अध्येता, छात्र, विद्यार्थी, शिक्षार्थी, वर्णी, बटु, बटुक तथा पठक आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। वैदिक संहिताओं में इसके लिए केवल ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो वेदविद्याध्ययन को वीर्यरक्षाश्रित सिद्ध करता है। वीर्य की रक्षा परमात्मा के ध्यानचिन्तन के बिना असंभव है। पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में प्रतिपादित **'ब्रह्मणि चरितुं शीलमस्येति ब्रह्मचारी'** उपर्युक्त वेदोक्त विश्वास से अनुप्रेरित है। वेदों मे ब्रह्मचारियों की तीन कोटियाँ मिलती हैं। ये वसु ब्रह्मचारी, रुद्र ब्रह्मचारी तथा आदित्य ब्रह्मचारी हैं।[४] वसु ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए २४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन यथेष्ट है। रुद्र ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य का निर्वाह विद्याध्ययन के ४४ वर्ष पर्यन्त करना पड़ता है। आदित्य ब्रह्मचारी के लिए ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का विधान है।[५] ब्राह्मणग्रन्थों में वेदप्रतिपादित ब्रह्मचर्य की तीनों कोटियों को विष्णु यज्ञ के तीन भाग माना गया है– वसु इसका प्रातः सवन है, रुद्र मध्यान्दिन सवन तथा आदित्य तृतीय सवन।[६] तैत्तिरीयारण्यक में इसकी चर्चा वीर्यसंस्राव के अन्तर्गत हुई है।[७] छान्दोग्योपनिषद् में ये तीनों कोटियाँ पुरुष यज्ञ के तीन

भाग मानी गई हैं।[८] यमो के क्रमनिर्धारण में ब्रह्मचर्य को चतुर्थ स्थान प्राप्त है। उसका महत्त्व-विवेचन इसे महत्त्व में सर्वोपरि सिद्ध करता है। इसके निर्वाह में समस्त यम-नियमों का निर्वाह अन्तर्निहित है। ब्रह्मचर्य के पालन का जो विधान यजुर्वेद में उपलब्ध होता है, उसके अनुसार वीर्यवृद्धि यथायोग्य जल तथा दूध के सेवन, दुर्बुद्धि, दुर्गुण तथा दुष्टों के परित्याग के बिना असंभव है।[९]

वेदों में ब्रह्मचर्यविषयक संकेत

ब्रह्मचर्य के निर्वाह के हेतु गुरु शिष्य को मेखलाबन्धन संस्कार से सम्पन्न करता है। वेदों में इसकी चर्चा अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य के निर्वाह हेतु मेखलाबन्धन की आवश्यकता से उद्धृत हुई है। इस सूक्त का नाम 'मेखलाबन्धन' है। वस्तुतः यह शिष्य को सत्कर्मानुष्ठान के हेतु उद्यत करने का प्रयास है। इसका अभिप्राय प्रशस्त कर्म के लिए कटिबद्धता में प्रवृत्ति है। इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि मेखला किसी व्रत से पूर्व बाँधी जाती है। मेखलाबन्धन गुरु का कार्य है। इसका उद्देश्य ब्रह्मचारीगण को विद्योपार्जन के उपरान्त जनपद के उद्धार की योग्यता प्रदान करना है। मेखलाबन्धन के परिणामस्वरूप ब्रह्मचारी में शीतोष्णसहनशक्ति, पुरुषार्थ के लिए पराक्रम तथा संकल्प की पूर्ति हेतु कटिबद्धता का प्रादुर्भाव होता है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में मेखलाबन्धन की दीर्घ परम्परा का निर्वाह ही नहीं मिलता अपितु यह दीर्घायु को देने वाली भी सिद्ध होती है–

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले।।[१०]

अथर्ववेद का 'ब्रह्मचर्य' सूक्त जीवन में ब्रह्मचर्य के निर्वाह की आवश्यकता प्रशस्ति को समर्पित है। तदनुसार ही ज्ञानोपार्जन के लिए इसे परम आश्रय स्वीकार किया गया है –

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्।।[११]

पाणिनि द्वारा ब्रह्मचारी के लिए निश्चित की गई परिभाषा के अनुसार उसके लिए ब्रह्मवत् आचरण अनिवार्य है। पाणिनि की ब्रह्मचारीविषयक यह मान्यता अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्य' सूक्त से अनुप्रेरित सिद्ध होती है। 'ब्रह्मचर्य' सूक्त का समारम्भ ब्रह्मचारी के लिए द्यावापृथिवी के आनुकूल्य को अपेक्षित

दर्शाने से होता है–

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति।।[१२]

ब्रह्मचर्य के निर्वाह में उस शक्ति के संचय का संभाव्य सिद्ध किया गया है जो उसकी तपस्या को छः हजार देवों के पालन की क्षमता से युक्त करता है।[१३] व्रतानुकूल आचरण को लोकसंग्रह और लोकोत्साह का मूल दर्शाया गया है। इसे पारस्परिक एकता और पुरुषार्थसंचय का स्रोत स्वीकार किया गया है।[१४] आचार्य और राज्यशासक के लिए ब्रह्मचर्य के पालन को यथेष्ट घोषित करके ब्रह्मचर्य को राष्ट्र की संरक्षणशक्ति से सम्पन्न सिद्ध किया गया है।[१५] जीवन में ब्रह्मचर्य के निर्वाह को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए इसे दैवी तेज का स्रोत घोषित किया गया है।[१६] इसकी पराकाष्ठा अरण्य तथा ग्राम्य पशुओं एवं आकाश में संचार करने वाले पक्षियों में इसके स्वाभाविक निर्वाह द्वारा स्पष्ट की गई है–

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः।।[१७]

ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठतम गतियुक्त दर्शाते हुए 'चरति' को गति का पर्यायवाची स्वीकार किया गया है तथा 'ब्रह्म' को श्रेष्ठ ज्ञान का द्योतक। इस माध्यम से ब्रह्मचर्य को ब्रह्मज्ञान एवं उत्तम गति की प्राप्ति का साधन स्वीकार किया गया है।[१८] इसे अमरत्वप्राप्ति का मूल तथा इसके तेज को सबका पोषक दर्शाकर 'ब्रह्मचर्य' सूक्त में ब्रह्मचर्य के निर्वाह को मनुष्य की विद्या-अविद्या प्राप्ति का मुख्य साधन दर्शाया गया हैं।[१९] आपस्तम्ब ऋषि के अनुसार ब्रह्मचर्य का निर्वाह मृदुता, शान्तस्वभाव, इन्द्रियदमन, लज्जा, धृति, अक्रोध तथा अनिन्दनीय स्वभाव के बिना असंभव है–

मृदुः शान्तः दान्तः ह्रीमान् दृढधति अक्रोधनः अनसूयः।[२०]

यह उद्धरण सिद्ध करता है कि स्मार्त धर्म में निर्दिष्ट समस्त यम-नियमों का निर्वाह ब्रह्मचर्य के निर्वाह में सन्निहित है।

आश्रमधर्म-व्यवस्था में ब्रह्मचर्य के लिए आयु का प्रथम चतुर्थांश यथेष्ट स्वीकार किया गया है। वस्तुतः इस आयु में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं ज्ञानविषयक बल के संवर्धन की जितनी संभावना होती है उतनी आयु के दूसरे तीनों अंशों में नहीं होती। तदनुसार ही 'चरति' को भक्षण का पर्याय मानते हुए इसके लिए वीर्यभक्षण अपेक्षित स्वीकार किया गया है।

भक्षण संचय का द्योतक है। अथर्ववेद के 'बलप्राप्ति' सूक्त में अग्नि से मानवशरीर में ३३ वीर्यों की स्थापना की कामना की गई है।[२१] वस्तुतः ये समस्त शक्तियाँ दैवी हैं। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के अन्तर्गत दामोदरपाद सातवलेकर ने इन्हें **ओजः** (शारीरिक बल), **तेजः** (तेजस्विता), **सहः** (सहनशक्ति), **बलम्** (आत्मिक बल), **वाक्** (वाचा शक्ति), **इन्द्रियम्** (ऐन्द्री शक्ति), **श्रीः** (शोभा), **धर्मः** (कर्तव्यशक्ति), **ब्रह्म** (ज्ञानशक्ति), **क्षत्रम्** (शौर्यशक्ति), **राष्ट्रम्** (राष्ट्रशक्ति), **विशः** (व्यापारशक्ति), **त्विषिः** (अधिकारशक्ति), **यशः** (सम्मान), **वर्चः** (सामर्थ्य), **द्रविणम्** (धनशक्ति), **आयुः** (आयुष् शक्ति), **रूपम्** (सौन्दर्य), **नाम** (नाम का अभिमान), **कीर्तिः** (प्रसिद्धि), **प्राणः** (प्राणशक्ति), **अपानः** (रोगनिवारकशक्ति), **चक्षुः** (दृष्टिशक्ति), **श्रोत्रम्** (ज्ञान में प्रवीणता), **पयः** (वीर्य बल), **रसः** (सुहृदयता), **अन्नं अन्नाद्यं च** (खान-पान), **ऋतम्** (नियमपूर्वक व्यवहार), **सत्यम्** (सत्यता), **इष्टम्** (अपना हित), **पूर्तम्**[२२] (जनहित), **प्रजाः** (संतति), **पशवः** (गाय, बैल, घोड़ा एवं अशिक्षित मनुष्य आदि) माना है। वस्तुतः यह प्राणी के लिए अन्तर्बाह्य शक्तियों के यथेष्ट संचय का परामर्श है। ब्रह्मचारी द्वारा ब्रह्मचर्य से इन सभी का संचय अपेक्षित है। आन्तरिक शक्तियाँ इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह से प्राप्य हैं। तदनुसार ही आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्रह्मचारी के लिए जितेन्द्रियता का पालन अनिवार्य घोषित किया गया है। बाह्य शक्तियों का संचय शान्त स्वभाव के निर्वाह में निहित है। अतः आपस्तम्ब ने ब्रह्मचारी के लिए शान्त स्वभाव के सदा सर्वदा अनुकरण पर बल दिया है। शान्तचित्त व्यक्ति के व्यवहार में अहिंसा स्वयं समाविष्ट हो जाती है। सत्य को वीर्य सिद्ध करके उसके संचय के लिए ब्रह्मचारी का सत्यभाषी, सत्संकल्पयुक्त तथा सत्यनिष्ठ होना स्वयं सिद्ध है। इन शक्तियों के उपार्जन के बिना ब्रह्मचर्य अपूर्ण माना गया है। वस्तुतः इसमें अन्य चार यम सन्निविष्ट दर्शाए गए हैं। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति का मूल सिद्ध होता है। इसके आचरण में समस्त शान्तियों की प्राप्ति का संभाव्य सिद्ध करते हुए ब्रह्मचारी के ब्रह्मवत् आचरण की बात की गई है। वेदों में ब्रह्मचर्यप्रशस्ति मानवजीवन में उन साधनों के प्रति व्यावहारिक निष्ठा के प्रादुर्भाव की ओर निर्दिष्ट है जो मनुष्य की पूर्णत्वप्राप्ति में सहायक होते हैं। इसके लिए जो आन्तरिक एवं बाह्य योग्यता अपेक्षित है, उसका उपार्जन ब्रह्मचर्य में संभव दर्शाकर जनमानस में इस यम के सर्वत्र एवं सर्वदा पालन का आग्रह किया गया है। वेद का विषय आध्यात्मिक की आधिदैविक में

परिणति को संभव दर्शाकर व्यष्टि और समष्टि में ऐक्य स्थापित करना है। यह तभी संभव है जब मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक धर्म को पूर्णरूपेण धारण करने में समर्थ हो।

उपनिषदों में ब्रह्मचर्यविषयक परामर्श

कठोपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय यम द्वारा नचिकेता को ब्रह्मविद्या से अवगत कराना है। ब्रह्मविद्या प्राप्ति की योग्यता हेतु उसमें मनुष्य से जो आचरण अपेक्षित माना गया है, ब्रह्म को उसका अभिन्न अंग स्वीकार किया गया है–

सर्वे वेदा यत पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।[२३]

कठोपनिषद् में ब्रह्मचर्य को ब्रह्मप्राप्ति का साधन दर्शाया गया है। ब्रह्मविद्या में मानवजीवन का पूर्णत्व दम में निहित स्वीकार किया गया है। जितेन्द्रियता के लिए रथ के रूपक का मनोवैज्ञानिक प्रयोग कठोपनिषद् की विशिष्टता बनकर मुखरित होता है। इसके अनुसार आत्मा रथ का स्वामी है। शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ घोड़े हैं तथा मन लगाम है। वस्तुतः मनुष्य की सद्गति अथवा अधोगति मनोनिग्रह पर आश्रित है। मनोनिग्रह के बिना जितेन्द्रियता असंभव स्वीकार की गई है। इसके लिए त्रिविध शौच का निर्वाह अपेक्षित है।[२४] यह रूपक ब्रह्मचर्य के पालन में जितेन्द्रियता के महत्त्व को स्वयं सिद्ध कर देता है। कठोपनिषद् का अन्त नचिकेता द्वारा प्राप्त अमरत्व और ब्रह्मलाभ की चर्चा से होता है। वस्तुतः कठोपनिषद् की ब्रह्मचर्यप्रशस्ति प्राणियों में इसके आचरण की प्रेरणा को समर्पित है। तैत्तिरीयोपनिषद् में स्वाध्यायप्रवचन का आग्रह जिन अपेक्षित व्रतों के साथ किया गया है वे हैं–सत्य, तप, दम तथा शम। ब्रह्मचर्य यम के अनुसार वेदाध्ययन ब्रह्मचरी का परम कर्तव्य घोषित किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में स्वाध्याय में प्रवीणता हेतु सत्य, दम तथा शम का आश्रय अनिवार्य सिद्ध किया गया है।[२५] आपस्तम्बधर्मसूत्र में ब्रह्मचर्यविषयक व्रतों में ब्रह्मचारी के शान्त और दान्त होने का उल्लेख इसी निर्देश से अनुप्रेरित सिद्ध होता है। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति ब्रह्मचर्यपालन और त्यागयुक्त आचार में निहित स्वीकार की गई है।[२६] इसके अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत का निर्वाह त्यागभाव के योग बिना असंभव है। इस उपनिषद् के अनुसार यज्ञ ही ब्रह्मचर्य है।[२७] यज्ञ का अर्थ दान-संगतिकरण तथा देवपूजा

है। अतः ब्रह्मचर्य के पालन में ये तीनों अपेक्षाएँ अन्तर्निहित हैं। ब्रह्मचर्य को सत्य और मौन घोषित करके ब्रह्मचारी के लिए सत्यभाषण और वाक्संयम को वांछित स्वीकार किया गया हैं।[२८] उपनिषत्साहित्य का मुख्य विषय तत्त्वज्ञान का विवेचन है। इस ज्ञान की पात्रतासिद्धि के लिए उपनिषत्कारों ने जिन सामाजिक अनुशासनों और वैयक्तिक संयमों को वांछित स्वीकार किया है उनसे युक्त आचरण को ही ब्रह्मचर्य माना है। तदनुसार ही ब्रह्मचर्यप्रशस्ति के लिए कहीं इसे सत्य की संज्ञा दी गई है, तो कहीं मौन की। कहीं उसे यज्ञ भी कहा गया है। उत्तरवर्ती साहित्य में ब्रह्मचर्य के लिए उचित व्रतों का विवेचन सर्वथा वेदानुकूल और उपनिषत्सम्मत है। अथर्ववेद में जिन ३३ वीर्यों के संचय को मानवजीवन का लक्ष्य घोषित किया गया है, उपनिषदों में उन्हीं के संचयसाधक संकेतों का प्रावधान उपलब्ध होता है। उपनिषदों की स्वीकृत संख्या १०८ है। विस्तार की आशंका से मुक्त रहने के लिए इस विवेचन में तीन उपनिषदों को लिया गया है।

स्मृतियों में ब्रह्मचर्य-निदर्शन

स्मृति शब्द का साहित्य के साथ प्रयोग ऋषिप्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। इस दृष्टि से धर्मसूत्र भी स्मार्त साहित्य के अन्तर्गत आते हैं–

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।[२९]

वसिष्ठ ने श्रुति तथा स्मृतिविहित आचार को धर्म स्वीकार किया है।[३०] इस साहित्य में धर्मविषयक मान्यताओं के सैद्धान्तिक विवेचन और प्रतिष्ठापन के आधार पर ही स्मार्त साहित्य में प्रतिष्ठित धर्म स्मार्त धर्म के नाम से आख्यात हुआ है। मनुस्मृति में प्रतिपादित सम्पत्तिवितरण से सम्बन्धित सिद्धान्तों को आज भी न्यायालयों में प्रासंगिकता प्राप्त है। उत्तरवर्ती साहित्य में धर्मविषयक समस्त मान्यताओं का प्रतिपादन तथा उनकी पुनर्स्थापना का प्रयास स्मार्त साहित्याश्रित है। महाभारत में मनु तथा याज्ञवल्क्य के उद्धरण ही उपलब्ध नहीं होते अपितु उनके संवादों और विवेचनों का भी संयोजन उपलब्ध होता है। कृष्णद्वैपायन व्यास ने धर्मप्रतिष्ठापक मान्यताओं को सार्वकालिक और सार्वभौमिक प्रासंगिकता प्रदान करने के लिए प्रसंगानुकूल इनके संवादों का आश्रय लिया है। अतः महाभारत की संरचनात्मक पृष्ठभूमि की गवेषणा के लिए स्मार्त साहित्य में प्रतिष्ठित ब्रह्मचर्यविषयक मान्यताओं

की संक्षिप्त गवेषणा अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति में आश्रमधर्म की प्रतिष्ठा सर्वप्रथम धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में ही उपलब्ध होती है। मनु द्वारा प्रतिपादित यम-नियमविधान के अनुसार यमों की संख्या पाँच मानी गई है–

अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि।।[३१]

याज्ञवल्क्यस्मृति में इनको प्राप्त संवर्धन के अनुसार इनकी संख्या में वृद्धि के परिणामस्वरूप इनकी गणना दस हो गई है। उन्होंने ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य भाषण, सरलता, अहिंसा, अस्तेय, मृदुभाषण और दम को यम स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचर्य को जितेन्द्रियता का पर्याय स्वीकार करके इसे प्रथम स्थान दिया है।[३२] महाभारत में ब्रह्मचर्य का महत्त्वविवेचन जितेन्द्रियता की महत्त्वप्रशस्ति के अन्तर्गत हुआ है। स्मार्त धर्म में ब्रह्मचर्य को मानवजीवन का प्रथम चतुर्थांश सर्वथा समर्पित करना अपेक्षित स्वीकार किया गया है। इस आयु को अभ्युदय और निःश्रेयसविषयक उन समस्त क्षमताओं और योग्यताओं के संचय का साधक स्वीकार किया गया है जो मानवजीवन के गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास निर्वाह को संभव बना सके। मनु ने ब्रह्मचर्य का निर्वाह तप में अन्तर्निहित स्वीकार किया है। उसके लिए जप, हवन, यथासमय शौच, स्वल्पभोजन, अलोभ तथा त्याग को अपरिहार्य घोषित किया है।[३३] उसके लिए बिना आचमन किए बहिर्गमन अवांछित है।[३४] वीर्यसंवर्धन के लिए उसे पूजित अन्न के भक्षण का ही परामर्श दिया गया है।[३५] वेदाध्ययन से पूर्व तथा उसके उपरान्त शास्त्रविधि से गुरु के दोनों चरणों का स्पर्श ब्रह्मचारी का कर्तव्य स्वीकार किया गया है।[३६] ब्रह्मचर्य में सत्य व्रत का निर्वाह अपेक्षित स्वीकार किया गया है।[३७] ब्रह्मचारी को जितेन्द्रियता के निर्वाह के लिए वही युक्ति दर्शायी गयी है जो यम ने नचिकेता को बताई थी–

इन्द्रियाणां विवरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्।।[३८]

ब्रह्मचर्य के लिए दुष्ट स्वभाव सर्वथा वर्जित घोषित किया गया है। मनु ने दुष्ट स्वभाव को मनुष्य के वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम तथा तपस्या में बाधक स्वीकार किया है।[३९] जितेन्द्रियता को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि का स्रोत मानकर मनु ने जितेन्द्रियता के निर्वाह को अपेक्षित घोषित किया है।[४०] वस्तुतः मनुस्मृति में ब्रह्मचर्य के निर्वाह के लिए जिस महाव्रत के

निर्वाह को सर्वोपरि सिद्ध किया गया है, वह जितेन्द्रियता है। अन्य व्रत तथा नियम उसी के पूरक हैं।

याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचर्य के निर्वाह के लिए वेद, धर्मशास्त्र, सज्जनों का आचार, प्रशस्त कर्मानुष्ठान, विवेकपूर्ण संकल्प से जनित इच्छा को धर्म का मूल स्वीकार किया है। उनके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में इनका निर्वाह यथेष्ट है। इसके अतिरिक्त यज्ञानुष्ठान, आचार, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, दान और वेदाध्ययन भी ब्रह्मचर्य व्रत के अंग स्वीकार किए गए हैं। ब्रह्मचारी के लिए बाह्य चित्तवृत्ति के निरोध के माध्यम से आत्मा के यथातथ्य बोध को अपेक्षित घोषित किया गया है।[४१] आचार्य से अनुरोध किया गया है कि वह ब्रह्मचारी को महाव्याहृतियों के साथ वेद पढाएं तथा शौच के नियमों की शिक्षा दें।[४२] अध्ययन की योग्यता के लिए याज्ञवल्क्य ने कृतज्ञता, अद्रोह, मेधावी बुद्धि, अदोषदृष्टि, सदाचार और अकार्पण्य के पालन को अनिवार्य माना है।[४३] इस आश्रम में एक ही अन्न का भोजन त्याज्य माना गया है।[४४] ब्रह्मचारी को मधु, मांस, लेप, अंजन, जूठा भोजन, कटु वचन, स्त्रीसंगम, जीवहिंसा, अश्लील कथन तथा दोषान्वेषण से निवृत्त रहने का आदेश दिया गया है।[४५] याज्ञवल्क्यस्मृति में विवेचित ब्रह्मचर्यविषयक कार्याकार्यों का अन्वेषण मनुस्मृति की तरह ही है। इसमें भी विविध यमों को ब्रह्मचर्य के अन्तर्निहित स्वीकार किया गया है। इसमें यही सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि मानवजीवन के प्रथम २५ वर्षों में विहित व्रत तथा यम उसके आगमी जीवन को सुगम और सम्पन्न बनाने में सहायक होते हैं।

रामायण में ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा

रामायण का रचनाकाल स्मार्त साहित्य की रचना के बाद का है। तदनुसार इसमें ब्रह्मचर्य यम के निर्वाह के संकेत राम द्वारा पालित जितेन्द्रियता के सन्दर्भों के माध्यम से ही उद्धृत किए गए हैं। नारद तथा वाल्मीकि के संवाद में वाल्मीकि द्वारा किए गए पुरुषोत्तमविषयक प्रश्नों का उत्तर देते हुए नारद ने राम के सद्गुणों का विवेचन किया है। राम मनोनिग्रही, महापराक्रमी, कान्तिवान्, धृतियुक्त और जितेन्द्रिय दर्शाए गए हैं।[४६] उन्हें सत्यप्रतिज्ञ, ज्ञानी, शौचयुक्त, जितेन्द्रिय और मनोनिग्रही दर्शाकर ब्रह्मचर्यविषयक पूर्वप्रतिपादित मर्यादाओं का मूर्तिमान् रूप सिद्ध किया गया है।[४७] राम में अथर्ववेद द्वारा प्रतिपादित ३३ वीर्यों की प्रतिष्ठा की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति रामायण का प्रतिपाद्य विषय है। जगत् के धर्मपूर्वक संरक्षण का भारवहन अथर्ववेद में उक्त सप्त मर्यादाओं के वैयक्तिक निर्वाह पर ही

आश्रित है। इसके अनुसार ही स्मार्त साहित्य में राजधर्म की प्रतिष्ठा हुई। राजतन्त्र के सुव्यवस्थित एवं सुसम्पन्न विकास के लिए राजा में उन सभी गुणों का प्रादुर्भाव तथा उनके निर्वाह की क्षमता का होना अनिवार्य है, जो किसी भी राज्य की शक्तिसम्पन्नता एवं चारित्रिक उत्कर्ष का प्राणतत्त्व माने गए हैं। रामायण में राजधर्मनिर्वाह के लिए एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता से युक्त प्राणी की अपेक्षा को स्पष्ट किया गया है। राम को समस्त मर्यादाओं की पालनशक्ति से सम्पन्न और सभी अनुशासनों और संयमों के निर्वाह की योग्यता से युक्त सिद्ध करने के लिए दशरथ के राम के राज्याभिषेकविषयक प्रस्ताव में राम को जिन गुणों से सम्पन्न दर्शाया गया है वे हैं–धर्मज्ञता, सत्यप्रतिज्ञता, शील, अदोषदृष्टि, मृदुभाषण, कृतज्ञता, जितेन्द्रियता,[४८] असूयारहितता तथा प्रियवादिता।[४९] राम के चरित्र में ब्रह्मचर्यविषयक समस्त मान्यताओं के स्वाभाविक निर्वाह के परिणामस्वरूप ही उनके राज्याभिषेक के प्रस्ताव को सभा का समर्थन उपलब्ध होता है। राम-भरत-संवाद में राजा के लिए जो दुर्वृत्तियाँ राजदोष घोषित करके त्याज्य घोषित की गई हैं वे हैं– नास्तिकता, असत्य भाषण, इन्द्रियासक्ति, राजकार्यों में एकाकी विचार, प्रयोजन-अनभिज्ञता, विपरीतदर्शी मूर्खों से परामर्श लेना, दीर्घसूत्री विचारों का पालन, गुप्त मन्त्रणा को सुरक्षित रखने की अयोग्यता, मांगलिक कार्यों के अनुष्ठान से निवृत्ति तथा सब शत्रुओं पर एक ही बार चढाई करना।[५०] बाली-वध का प्रसंग जितेन्द्रियता के अभाव को राजा की दण्डनीयता का कारण सिद्ध करता है।[५१] रामायण में राम का चरित्र-चित्रण त्रेता में अवतरित रामरूपी नारायण का चित्रण है। अवतार की परम्परा बहुत पुरानी है। इसका सूत्रपात वेदों में पुरुषसूक्त में वर्णित नारायण से सम्बन्धित सामग्री से होता है। पुरुषसूक्त में विविध देवों को नारायण के अंगों से प्रादुर्भूत दर्शाया गया है। वस्तुतः अवतार का अर्थ धर्म की संस्थापना और अधर्म के नाश हेतु ईश्वर का विविध रूपों में पृथ्वी पर अवतरण है। उसका मुख्य उद्देश्य मर्त्यशिक्षण है।[५२] रामायण में त्रेतायुग में लुप्तप्राय धर्म की पुनर्स्थापना की क्षमता राम के मर्यादापालन की योग्यता में निहित दर्शायी गयी है। इसमें मानवोचित समस्त कार्याकार्यों की चर्चा प्राणियों में सद्गुणी वृत्तियों के प्रादुर्भाव के लिए हुई है। निकृष्ट वृत्तियों के पराभव का प्रयास अधम आचरण से युक्त प्राणियों के बीभत्स नाश के चित्रण के माध्यम से हुआ है।

महाभारत में ब्रह्मचर्य-संस्तुति

महाभारत में मनुजोचित आचार की प्रतिष्ठा के लिए समस्त उपलब्ध आश्रयों को अपनाया गया है। इसमें पूर्वप्रतिपादित धर्मसम्बन्धी समस्त मान्यताओं को व्यावहारिकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। स्मार्त साहित्य में प्रतिपादित समस्त धर्म महाभारत में अधिक व्यापक, सरल, बोधगम्य और व्यवहार्य होकर प्रतिष्ठित हुए हैं। स्मृतिकारों ने यम-नियमों के विवेचन में यमों के सदा सर्वदा निर्वाह का प्रावधान सामान्य धर्मविवेचन, राजधर्मनिरूपण, वर्णधर्मवर्णन तथा आश्रमधर्म के सम्पादन के माध्यम से किया है। सभी स्मार्त ग्रन्थ एक स्वर होकर जीवन में इनके निर्वाह की अपेक्षा की ओर निर्दिष्ट है। वर्णवैविध्य में साध्य की एकता की प्रतिष्ठा स्मृतियों की अनेकता में एकता की सूचक है। कृष्णद्वैपायन व्यास ने उन सभी को एकरूपता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। तदनुसार ही इस ग्रन्थ में यमों के सदा सर्वदा निर्वाह को राजोचित, समस्त वर्णोचित, समस्त आश्रमोचित यहाँ तक कि आपद्धर्मोचित दर्शाया है। इनका पालन ही पाण्डवों की विजय का मूल घोषित किया गया है। इनके पालन का अभाव कौरवों के विनाश का कारण दर्शाया गया है। गीता में इन्हें स्थितप्रज्ञता, समबुद्धि, समदृष्टि, समभाव और ब्रह्मप्राप्ति का साधक घोषित किया गया है। शान्तिपर्व में राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्मविषयक सभी पर्वों में जिस राजधर्म, आपद्धर्म, वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है, उनके आचरण का संभाव्य इनके सदा सर्वदा निर्वाह में प्रतिष्ठित किया गया है। महाभारत में ब्रह्मचर्य यम को याज्ञवल्क्य की भाँति **'ब्रह्मचर्यं सकलेन्द्रियसंयमः'** स्वीकार करते हुए आपस्तब धर्मसूत्र में दर्शाए गए ब्रह्मचारी के दान्त गुण को ही ब्रह्मचर्य यम के निर्वाह का लक्षण स्वीकार किया गया है। अतः इस विवेचन में ब्रह्मचर्य की यम के रूप में प्रतिष्ठा दम की महत्ता की चर्चा के माध्यम से की गई है। जितेन्द्रियता के पालन को मात्र अभ्युदयसाधक ही नहीं माना गया, अपितु निःश्रेयसलाभदायक भी सिद्ध किया गया है। इसे प्रवृत्तिविषयक धर्म का मूल तथा निवृत्तिविषयक धर्म का प्राणतत्त्व घोषित किया गया है। यह इसे मानव के जीवनपर्यन्त आचरण का अभिन्न अंग घोषित करता है। पूर्व मनीषियों, धर्मप्रवर्तकों तथा अन्य जीवनदार्शनिकों की भाँति व्यास भी आध्यात्मिक (वैयक्तिक) परिष्कार को आधिभौतिक (सामाजिक) सुव्यवस्था, दोषरहितता, सत्कर्मानुष्ठान तथा सद्गति का स्रोत स्वीकार करते थे। उनके अनुसार भी मानवजीवन का

लक्ष्य व्यष्टिरूप की समष्टि रूप में परिणति रहा है। उन्होंने इस सम्बन्ध में परम्परागत वेदसंकेतित, उपनिषदुक्त, स्मार्त साहित्यप्रतिष्ठित तथा समस्त धर्मसूत्रों में प्रतिपादित ब्रह्मचर्य के निर्वाह से सम्बन्धित अपेक्षाओं की व्यापक व्यवस्था की है। महाभारत में ब्रह्मचर्य की यम के रूप में प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा नहीं हुई है। इसके लिए जितेन्द्रियता की महत्ताप्रशस्ति तथा जीवन में इसके निर्वाह की आवश्यकता के स्पष्टीकरण को माध्यम बनाया गया है। महाभारत में जितेन्द्रियता की अपरिहार्यता की सिद्धि के लिए इसे राजधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म तथा मोक्षधर्म के पालन का मूल घोषित किया गया है।

महाभारत में राजधर्मनिरूपण के प्रसंग मुख्य रूप से उद्योगपर्व, शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्व में उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार ही राजधर्म के अन्तर्गत जीवन में जितेन्द्रियता के निर्वाह की आवश्यकता का विवेचन किया गया है। द्यूतक्रीड़ा के पश्चात् कौरवों द्वारा पाण्डवों पर किए गए अन्याय ने दुर्योधन की हठधर्मिता के कारण युद्ध को अवश्यम्भावी घोषित कर दिया था। धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों के धर्मविरोधी आचार और पाण्डवों की धर्मनिर्वाहविषयक योग्यता पर पूरा-पूरा विश्वास था। इसके परिणामस्वरूप अपने विषाद के परिहार के लिए उन्होंने सर्वधर्मनिपुण धर्मावतार विदुर का आश्रय लिया था। महाभारत के अनुसार विदुर पूर्व जन्म में धर्म थे। उन्होंने एक ऋषि द्वारा अज्ञानवश किए गए अपराध के लिए भीष्ण दण्ड की घोषणा की थी। ऋषि ने उन्हें शाप दिया था कि अगले जन्म में वह किसी शूद्राणी के गर्भ से जन्म लेंगे। किन्तु धर्मतत्त्व से युक्त होने के कारण उन्हें मर्त्योचित धर्म-अधर्म के विवेचन पर दक्षता प्राप्त रहेगी। महाभारत में धृतराष्ट्र तथा विदुर का संवाद इसको अक्षरशः सार्थक सिद्ध करता है। धृतराष्ट्र द्वारा बुलाए जाने पर विदुर उनकी सेवा में उपस्थित हो गए। उन्होंने उनसे अपने विषाद के परिहार के लिए अनुरोध किया। महाभारत में विदुरनीति का समारम्भ पाण्डित्य-अपाण्डित्य लक्षणविवेचन से होता है। धर्म के सर्वांगीण निर्वाह की योग्यता से युक्त प्राणी को पण्डित कहा गया है और इससे विमुख को अपण्डित।[५३] पाण्डित्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने धृतराष्ट्र को यह महामन्त्र दिया था–

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव।।[५४]

इस माध्यम से उन्होंने कर्तव्य-अकर्तव्य निर्णय के पश्चात् साम, दाम, भेद तथा दण्ड में निपुणता प्राप्त करने का परामर्श दिया है। उनका विश्वास

है कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समाश्रय आदि गुण जितेन्द्रियता की उपलब्धि द्वारा ही संभव है। जितेन्द्रियता ही उन सात दुष्कृतों के परिहार का मूल है जिनके नाम हैं—परस्त्रीगमन, द्यूत, मृगया, मद्यपान, कटुवचन, दण्ड की कठोरता तथा अन्यायपूर्वक धनोपार्जन। वस्तुतः राजा के लिए जिन कर्तव्यों का पालन और दुष्कृतों का निषेध राजसत्ता का आधार घोषित किया गया है, वे सभी जितेन्द्रियता की प्राप्ति द्वारा ही संभव है। श्रेष्ठ पुरुष के लिए धर्म द्वारा कल्याण, क्षमा द्वारा शान्ति, विद्या द्वारा परम दृष्टि तथा अहिंसा द्वारा सुखप्राप्ति को राजोचित कर्म घोषित करके राजधर्मनिर्वाह में दम की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[५५] श्रेष्ठ और निकृष्ट प्राणियों के विवेचन में जिन निकृष्ट वृत्तियों को त्याज्य घोषित किया गया है, वे हैं- दम्भ, मोह, मात्सर्य, राजद्रोह, चुगलखोरी, समूह से वैर, पागलपन तथा दुर्जनों से विवाद।[५६] विदुर ने राजधर्म में अन्यायपूर्वक युद्ध, द्यूत तथा कपटपूर्ण कार्यसिद्धि को त्याज्य घोषित किया है।[५७] इनका त्याग जिस मानसिक परिष्कार के अभाव में असंभव है, वह परिष्कार इन्द्रियदमन द्वारा मन पर नियन्त्रण में ही निहित है। राजा की प्रसन्नता का मूल प्रजा की प्रसन्नता माना गया है और राजा को नेत्र, मन, वाणी और कर्म द्वारा प्रजा की प्रसन्नता के प्रयत्न का परामर्श दिया गया है।[५८] राजा द्वारा अधर्मानुष्ठान को अवांछित घोषित करते हुए दर्शाया गया है कि जो राजा धर्म को छोड़ता है तथा अधर्म का अनुष्ठान करता है उसकी राज्यभूमि आग पर रखे हुए चमड़े की भाँति संकुचित हो जाती है।[५९] विदुर ने घमण्डी पुरुषों के लिए मद के साधनों को सज्जन पुरुषों के लिए दम का साधन घोषित किया है—

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
एते मदावलिप्तानामेत एव सतां दमाः।।[६०]

दूसरे शब्दों में सद्‌गुणों का विपर्यय दोष है और इनका जनहित हेतु पालन गुण। जितेन्द्रियता को राजा की सर्वांगीण विजय का मूल सिद्ध किया गया है—

आत्मानमेव प्रथमं देशरूपेण यो जयेत्।
ततोऽमर्त्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते।।[६१]

विदुर का विश्वास है कि जो पाँच विषयों की ओर दौड़ने वाले अपने पाँच इन्द्रियरूपी शत्रुओं को मोह के कारण वश में नहीं करता उस मनुष्य

को विपत्ति ग्रस लेती है।[६२] धृतराष्ट्र तथा विदुर के संवाद में अन्तर्निहित सुधन्वा-प्रह्लाद-संवाद के अनुसार बुढ़ापा सुन्दर रूप को, आशा धैर्य को, नीच पुरुषों की सेवा सद् स्वभाव को, काम लज्जा को और अभिमान सर्वस्व को नष्ट कर देता है।[६३] मनुष्य में ये सभी दोष इन्द्रियासक्ति से उत्पन्न होते हैं। अनन्त सुख के लिए तारुण्य में वही काम यथेष्ट माने गए हैं जो वृद्धावस्था में सुखकर हों। आजीवन वे कार्य अपेक्षित दर्शाए गए हैं जो परलोक के लिए सुखदायी हैं।[६४] उत्तम तथा अधम पुरुष विवेचन में कल्याणचिन्तक, सत्यवादी, कोमल तथा जितेन्द्रिय पुरुष को उत्तम माना गया है।[६५] जितेन्द्रियता को जीवन में उत्तमता का स्रोत घोषित करते हुए इसे सर्वजनोचित घोषित किया गया है। जितेन्द्रियता की सिद्धि जिन अठारह दोषों के परिहार के बिना असंभव दर्शायी गयी है वे हैं—कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में विपरीत धारणा, असत्य भाषण, दोषदृष्टि, स्त्रीविषयक कामना, सर्वदा धनलोलुपता, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करने की आदत, डाह, कलहवृत्ति, संताप, वासना में रति, कर्तव्यविस्मृति, अधिक बकवास तथा अपने को बड़ा मानना।[६६] इस युक्ति से यही सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि जितेन्द्रियता का अनुकरण मानव के विकासपथ में आने वाली समस्त दुस्तर बाधाओं के परिहार में समर्थ है। संजय तथा धृतराष्ट्र के संवाद में विजयप्राप्ति के लिए दुर्योधन को लज्जा, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अक्रोध तथा धर्मरक्षा के आचरण का परामर्श दिया गया है। जबकि युधिष्ठिर को नम्रता, सरलता, तप, इन्द्रियसंयम एवं धर्मरक्षा का मूर्तिमान् रूप सिद्ध किया गया है।[६७] वस्तुतः धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद राजधर्मनिर्वाह में जितेन्द्रियता के सदा सर्वदा निर्वाह की अपेक्षा का संक्षिप्त विवेचन सिद्ध होता है। यह मात्र राजाओं के लिए ही जितेन्द्रियता के निर्वाह की आवश्यकता को स्पष्ट करने तक सीमित नहीं अपितु उत्तम तथा अधम पुरुषों के गुणविवेचन में सभी द्वारा इसका पालन अपेक्षित दर्शाया गया है। मद और दम के संश्लिष्ट प्रयोग के माध्यम से जितेन्द्रियता की आवश्यकता को सर्वग्राह्यता प्रदान की गई है।

शान्तिपर्व के शीर्षक की सार्थकता इसमें प्रतिष्ठित जीवनोपयोगी आचारविषयक मान्यताओं की उस क्षमता में निहित है जो मनुष्य को वेदोक्त जीवनलक्ष्य की प्राप्ति की योग्यता प्रदान करती है। इसमें विविध प्रयत्नों, अवलम्बनों, धर्मविवेचनों, आख्यानों, विवरणों, उदाहरणों तथा संवादों के माध्यम से अभया शान्ति, जागतिक शान्ति और निःश्रेयसविषयक पारलौकिक

शान्ति के साधनों का व्यापक वर्णन मिलने के कारण ही इस पर्व को शान्तिपर्व कहा जाता है। वस्तुतः यह त्रिकालज्ञ, विश्ववेत्ता, ब्रह्मविद्, क्रान्तद्रष्टा, मृत्युञ्जयी, ज्ञानसम्पन्न, लोकरक्षक तथा लोकमंगल के साधक भीष्मपितामह के अनुभवजन्य ज्ञान का सारांश वर्णन है। इसमें राजधर्मविषयक मान्यताओं का वर्णन युधिष्ठिर तथा देवस्थान के संवाद में चर्चित इन्द्र तथा बृहस्पति की चर्चा में सन्निहित है। देवस्थान ने सम्पूर्ण वासनाओं के लय को आत्मप्रकाश दर्शाया है। उनके अनुसार कामनाओं पर विजय ही अभयप्राप्ति का परम साधन है। यही आत्मबोध है।[६८] उनके अनुसार जो राजनीतिज्ञ तथा जितेन्द्रिय राजा, धर्मशास्त्र के अनुसार राज्य करता है, वही राजा राजधर्म को जानने वाला है।[६६] भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को दिए गए राजधर्मविषयक उपदेश में अनन्त श्रीसम्पन्नता की प्राप्ति के लिए राजा द्वारा शील, संयम, दयावृत्ति, धर्मनिष्ठा, जितेन्द्रियता, प्रसाद और प्रजाप्रियता अपेक्षित स्वीकार की गई है।[७०] महाभारत में राजतन्त्र के प्रादुर्भाव का कारण राजा के अभाव में बढती हुई अराजकता के परिणामस्वरूप कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान का नाश माना गया है।[७१] शान्तिपर्व में राजतन्त्र का उत्पत्तिविषयक यह वृत्तान्त अक्षरशः मनुस्मृति का अनुरणन है। इस दृष्टि से प्राणियों में सप्त मर्यादाओं के पालन की योग्यता की पुनर्स्थापना राजा का प्रथम दायित्व सिद्ध होती है। तदनुसार ही उद्योगपर्व में उसे अपने मन पर विजय प्राप्त करने का परामर्श दिया गया है। शान्तिपर्व में निर्दिष्ट आश्रमधर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम की चर्चा करते हुए गृहस्थाश्रमी के लिए निज स्त्री में सन्तोष, केवल ऋतुकाल में ही पत्नीगमन, शास्त्रों की आज्ञा का पालन, धूर्तताराहित्य, कुटिलताराहित्य, मिताहार, देवोपासना में रति, कृतज्ञता, सत्यकथन, सरलता, क्रूरताराहित्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, हव्य काव्य में आलस्यराहित्य, अमात्सर्य तथा धर्माश्रय से युक्त होना अपेक्षित माना गया है।[७२] इस उल्लेख में प्राणियों के लिए आजीवन जितेन्द्रियता के निर्वाह की अपेक्षा स्वयं सिद्ध है। व्यास ने समस्त लौकिक तथा वैदिक धर्म, समस्त आश्रमधर्म और सभी यतिधर्मों को क्षात्रधर्म में स्थित दर्शाकर राजधर्म में समस्त धर्मसम्मत मर्यादाओं के निर्वाह तथा तत्रोल्लिखित समस्त यम-नियमों के पालन को अपेक्षित सिद्ध किया है।[७३] राजधर्मचर्चा के अन्तर्गत मान्धाता तथा विष्णु के संवाद में मान्धाता को विष्णु द्वारा दिये गये अभिलषित वरदान का श्रेय उनकी सत्य में स्थिति, धर्म में तत्परता, जितेन्द्रियता, बुद्धि, भक्ति तथा महान् श्रद्धा को दिया गया है।[७४] राजा के

लिए धर्मरक्षा को परम कर्तव्य घोषित करते हुए उसके द्वारा धर्मतत्पर मनुष्यों की रक्षा वांछित मानी गई है।[७५] अन्यथा उसे उन लोगों के किए गए पापकर्म में फल का भागी दर्शाया गया है। राजा के लिए प्राणियों को अपने ही प्राण के समान मानने का आग्रह करते हुए इस व्यवहार को राजा की निःश्रेयसप्राप्ति में सहायक सिद्ध किया गया है।[७६]

राजा को इहलौकिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए जिन ३६ गुणों का आश्रय लेने का परामर्श दिया गया है, वे हैं–कटुताराहित्य, धर्माचरण, आस्तिकता, प्रियदर्शिता, निष्ठुर आचारनिषेध, धर्म तथा अर्थयुक्त धनोपार्जन, इन्द्रियसाधना, प्रिय वचन, अभिमानराहित्य, दान के पात्र-अपात्र की निर्णायिका बुद्धि, अनार्यसंघत्याग, बन्धुजनविग्रह से निवृत्ति, परताडन परिहार, निज प्रशंसानिषेध, अस्तेय, नीच पुरुषों के आश्रय का त्याग ईर्ष्याराहित्य, स्त्रीरक्षा, परस्त्री-अनासक्ति, माननीय पुरुषों का आदर, देवपूजा तथा अक्रोध इत्यादि।[७७] राजोचित बहुधा गुण जितेन्द्रियता पर आश्रित हैं। राजा के लिए संशयराहित्य के साधनों का प्रावधान जिन गुणों के संचय में दर्शाया गया है, उनमें से अक्रोध, सरलता, संशयराहित्य, दम तथा धर्मनीति के अनुसार करग्रहण इत्यादि मुख्य हैं।[७८] इन सभी का संचय आत्मसंयम के अभाव में असंभव है। इसी प्रसंग में नारद तथा श्रीकृष्ण के संवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है। यह उल्लेख राजा द्वारा सज्जनों के वशीकरण की योग्यता के प्रावधान हेतु हुआ है। इसके अनुसार यह वशीकरण सहिष्णुता, संयम, सरलता, प्रियकथन, बुद्धि, शान्ति तथा इन्द्रियनिग्रह के सदा सर्वदा निर्वाह द्वारा ही संभव दर्शाया गया है।[७९] राजा द्वारा सेवकों के गुण-दोषों की परीक्षा राजा के दम गुण के पालन में निहित दर्शायी गयी है।[८०] अधर्मपूर्वक प्रजापालन को राजा के हृदय में भय की उपस्थिति का मूल कारण दर्शाया गया है। अधर्माचरण से उसके स्वर्गलोक के नाश का भय दर्शाया गया है।[८१] धर्मवृद्धि को राजा का परम कर्तव्य घोषित करते हुए कहा गया है कि धर्म की वृद्धि में ही सबकी उन्नति निहित है और धर्म का ह्रास सबके क्षय का कारण है।[८२] राजा और वृषल का अन्तर स्पष्ट करते हुए धर्मावलम्बी राजा को राजा माना गया है और धर्म के विषय में अलम् कहने वाले को को वृषल। अतः राजा से अनुरोध किया गया है कि वह कभी धर्म का लोप न होने दे।[८३] राजा के आचरण में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग को स्थित दर्शाकर उसे युगरूप स्वीकार किया गया है।[८४] तदनुसार ही चतुष्पाद धर्म का निर्वाह उसमें सत्ययुग को स्थित करता है, त्रिपाद

धर्म का निर्वाह त्रेता को, द्विपाद धर्म का निर्वाह द्वापर को और एकपाद धर्म का निर्वाह कलियुग को। वस्तुतः इस प्रतीक के माध्यम से राजा द्वारा चतुष्पाद युक्त धर्म का सदा सर्वदा पालन प्रजा में सत्त्वप्रतिष्ठा का मूल घोषित किया गया है। राजा के आचरण में धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास प्रजा के अधर्माचरण, अशान्ति और कलह का कारण स्वीकार किया गया है। सत्ययुग रूप होने के लिए राजा द्वारा समस्त यमों से युक्त इन्द्रियसंयम का निर्वाह सर्वोपरि सिद्ध होता है। राजा के परम धर्म की व्याख्या करते हुए उसके परम धर्म शरणागत मनुष्य की पुत्र के समान रक्षा, धर्म की मर्यादा को भंग न करना,[८५] दीन, अनाथ और बूढे मनुष्यों के अश्रु पोंछकर उन्हें हर्षित करना माने गए हैं।[८६] राजा में निग्रह और अनुग्रह की सम्यक् प्रतिष्ठा को उसके अभ्युदय और निःश्रेयस का साधक माना गया है।[८७] तदनुसार ही भीष्म ने युधिष्ठिर को प्रमादरहित, क्षमा, बुद्धि तथा मति की शिक्षा ग्रहण करने तथा प्राणियों की सत्त्वशक्ति एवं भलाई-बुराई को सदा जानने की इच्छा रखने का परामर्श दिया है।[८८] भीष्म के अनुसार अर्थ और काम से धर्म उत्तम है।धर्म इहलौकिक सम्पन्नता और पारलौकिक सुख का मूल है।[८९]

वामदेव-ययाति-आख्यान में हेमवर्ण वसुगना को धर्मोचित आचरण का उपदेश देते हुए वामदेव ने उसे धर्म के अनुवर्ती होने का परामर्श दिया है।[९०] धर्मानुसरण के लिए धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित यम-नियमों का संवाह अपेक्षित है। इस परामर्श में जितेन्द्रियता के निर्वाह को धर्मात्मा राजा के व्यवहार का आवश्यक अंग घोषित किया है। इस संवाद के अनुसार जो राजा अधर्मी होकर बलपूर्वक अधर्माचरण में प्रवृत्त होता है वह शीघ्र ही धर्म और अर्थ से रहित होता है और ये दोनों पुरुषार्थ उससे अलग हो जाते हैं।[९१] जो दुर्गुण राजा के श्रीभ्रष्ट होने में सहायक होते हैं वे हैं—मूढत्व, इन्द्रियपरायणता, लोभ, अनार्यों द्वारा आचरित कर्मानुष्ठान, शठता, कपटता, दुष्ट बुद्धि, हिंसा, नीच बुद्धि, मूर्खता, उपयुक्त कर्मत्याग, मद्यपता, द्यूत, स्त्रीलम्पटता, मृगयासक्ति।[९२] तदनुसार ही वामदेव ने राजा के लिए इन गुणों से युक्त सेवकों की नियुक्ति निषिद्ध घोषित की है। राजा के लिए श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा निषिद्ध निकृष्ट कर्म त्याज्य स्वीकार किए गए हैं। उससे उसी कर्म में रत रहने का अनुरोध किया गया है जो सबके लिए मंगलप्रद हो।[९३] राजा के लिए धनोपार्जन के लिए जिस बुद्धि को अपनाने का आग्रह किया गया है, वह अष्टगुण सम्पन्न बुद्धि है। इन गुणों के नाम हैं—धारणा शक्ति, दक्षता, संयम, उत्तम बुद्धि, धैर्य, देश एवं काल का ज्ञान तथा

सावधानी।[९४] इससे पूर्व राजा के लिए सत्त्व गुण का अवलम्बन अपेक्षित दर्शाया गया है।[९५] राजा द्वारा सात्त्विक आचरण को व्यवहार्य सिद्ध करके जितेन्द्रियता के निर्वाह को उसके आचरण का अभिन्न अंग माना गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में निर्दिष्ट राजधर्म में जितेन्द्रियता को राजा और प्रजा के लिए समान रूप से जीवनपर्यन्त व्यवहार्य सिद्ध किया गया है। क्षत्रिय धर्म में अन्य सभी धर्मों को स्थित दर्शाकर राजधर्म में इसके निर्वाह की अनिवार्यता को पराकाष्ठा प्रदान की गई है। राजधर्म की अर्थसिद्धि को धर्माश्रित दर्शाकर राजा को धर्मपूर्वक धनोपार्जन का परामर्श उसमें अलोभ की आवश्यकता स्पष्ट करने के लिए है। राजा में चारों युगों को स्थित दर्शाकर राज्य में बढ़ते हुए धर्म के ह्रास, अशान्ति तथा अन्य दुरिताओं के बाहुल्य को राजा के चारित्रिक ह्रास का कारण स्वीकार किया गया है। यह विवेचन आत्मसंयम को वैयक्तिक आवश्यकता ही सिद्ध नहीं करता, अपितु इसे समाजव्यापी अन्य समस्याओं की उन्मूलक शक्ति भी घोषित करता है।

आपद्धर्म-विवेचन में विपदाग्रस्त राजा द्वारा धनोपार्जन के लिए जो परामर्श दिया गया है उसके अनुसार विज्ञान बल से पवित्रता का आश्रय आवश्यक माना गया है।[९६] इसके लिए आपद्धर्मोपयोगी सामान्य शास्त्र का अभ्यास यथेष्ट स्वीकार किया गया है।[९७] धनोपार्जन के लिए संयम के सर्वथा परित्याग का कोई प्रावधान नहीं, क्योंकि आपद्धर्म के निर्वाह में सत्कृतों और पूजितों के धन का अपहरण दोष माना गया है।[९८] राजा के लिए परनिन्दा कथन और श्रवण निषिद्ध दर्शाकर उसके वागिन्द्रिय और श्रवणेन्द्रियसंयम को अपेक्षित दर्शाया गया है। इस अवस्था में उसे अपने दोनों कान मूंद लेने अथवा दूसरी जगह चले जाने का परामर्श दिया गया है।[९९] राजा के लिए नास्तिकता में विश्वास सर्वथा अनुचित घोषित किया गया है।[१००] आत्मसंयम के बिना आस्तिकता का आश्रय असंभव है। इसके अनुसार ही नास्तिकता का परित्याग जितेन्द्रियता के निर्वाह का परोक्ष संकेत सिद्ध होता है। अधर्म द्वारा अर्जित धन के पाप से परित्राण के लिए राजा को वेदत्रयी के अध्ययन, ब्राह्मणों की सेवा, उपासना में वृत्ति, प्रिय वचन और उदार वृत्ति के आश्रय को वांछित घोषित किया गया है।[१०१] कापव्य तथा दस्यु के संवाद में दस्युओं को स्त्री, डरपोक, बालक, तपस्वी, अहिंसक एवं बलपूर्वक स्त्री के अपहरण[१०२] से निवृत्त रहने का परामर्श तथा सत्य के हनन का अनौचित्य दर्शाकर[१०३] व्यास ने आपदधर्म के निर्वाह में दम की आवश्यकता स्पष्ट की है। ब्रह्म गीता के अनुसार आपद्धर्म से ग्रस्त

राजा के लिए केवल डाकू और क्रियाहीन लोगों के धन का स्तेय उचित दर्शाया गया है।[१०४] आपद्ग्रस्त राजा के लिए धन का स्तेय केवल सेना तथा यज्ञानुष्ठान के लिए ही उचित स्वीकार किया गया है।[१०५] ऐसे धन से प्रजा का पालन और कोषसंचय वर्जित माना है।[१०६] ब्रह्म गीता में धन के स्तेय का औचित्य और अनौचित्य विवेचन राजा के लिए धनसंग्रह में संयम के निर्वाह को अपेक्षित घोषित करता है। युधिष्ठिर तथा भीष्म के प्रश्नोत्तरों के अन्तर्गत लोभ को पाप का अधिष्ठान माना गया है। इसे अधर्म का जनक, शठता का मूल कारण, क्रोध, काम, मोह, माया, अभिमान, गर्व और पराधीनता आदि दोषों का प्रवर्तक, अक्षमा, निर्लज्जता, श्रीनाश, धर्महीनता, चिन्ता तथा अकीर्ति का प्रेरक, अन्याय, तर्कशून्यता, कुकर्मप्रवृत्ति, कटु विद्या, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्याभिमान का उद्भव स्थान, सब जीवों के विषय में अविश्वास, सबके प्रति असम्मान, सब प्राणियों के प्रति द्रोह, परधनहरण तथा परनारीगमन का स्रोत, वचन तथा मन के आवेग, परनिन्दाप्रवृत्ति, इन्द्रियपरतन्त्रता, उदरम्भरिता एवं मृत्यु के भयंकर वेग का जनक, बलवती ईर्ष्या, दुस्तर मिथ्या व्यवहार, दुर्निवारय रसवेग तथा दुःसह श्रोत्रवेग का उत्पत्ति स्थान, नीचता, स्वप्रशंसा, मात्सर्य तथा निकृष्ट कर्मप्रवृत्ति का संचारक घोषित किया गया है।[१०७] इसे दुर्जय घोषित करते हुए जितेन्द्रियता के निर्वाह को इससे निवृत्ति का एकमात्र साधन घोषित किया गया है। महाभारत के अनुसार इन्द्रियासक्ति लोभग्रस्तों में दम्भ, पर-अहित, परनिन्दा, चुगली और मत्सरता आदि दुर्वृत्तियों की जननी मानी गई है।[१०८] इस माध्यम से शिष्टाचारविरोधी सभी दुरिताओं का परिहार जितेन्द्रियताश्रित घोषित किया गया है। जिस प्रकार हाथी के पैर में सब के पैर स्थित स्वीकार किए जाते हैं, उसी प्रकार जितेन्द्रियता के निर्वाह में अन्य यमों का निर्वाह स्वयं स्थित है। उपरिलिखित समस्त अवगुणों का आश्रय अशिष्टाचार माना गया है और उससे ग्रस्त लोगों को अशिष्ट घोषित किया गया है। शिष्ट पुरुषों के लक्षणों की चर्चा करते हुए विषयसुख में अनासक्ति, प्रिय एवं अप्रिय में समभाव तथा इन्द्रियसंयम को शिष्टाचार के अंग घोषित किया गया है।[१०९] गंगापुत्र भीष्म ने उनसे आग्रह किया है कि वे अपनी धर्म में धारणा की दृढता के हेतु पूर्व शिष्ट प्राणियों की धर्मधारणा का अनुसंरण करें।

इन्द्रियनिग्रह को सनातन धर्म घोषित करते हुए कहा गया है कि महर्षियों ने निज-निज विज्ञान का आश्रय लेकर धर्म की एक नहीं, अनेक प्रकार की विधियाँ बताई हैं। उनमें इन्द्रियनिग्रह ही परम श्रेष्ठ है।[११०]

तदनुसार ही इसे सनातन धर्म घोषित किया गया है–

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चयदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः।।[१११]

दम को तेजवृद्धि तथा पापराहित्य का स्रोत मानते हुए इसे परम पवित्र साधन माना गया है। इसको सब धर्मों में श्रेष्ठ स्वीकार करते हुए इसे मनुष्य की अनन्त शान्ति का साधन माना गया है।[११२] दम गुण को जिन उत्कृष्ट वृत्तियों की समष्टि माना गया है, वे हैं–क्षमा, धैर्य, अहिंसा, सब जीवों के प्रति समभाव, सत्य, सरलता, इन्द्रियनिग्रह, दक्षता, कोमलता, लज्जा, अचापल्य, अकार्पण्य, अक्रोध, सन्तोष, मृदु भाषण, अदोषदृष्टि और असूया से निवृत्ति।[११३] जब तक प्राणी इन समस्त गुणों से युक्त नहीं हो जाता तब तक वह दान्त की संज्ञा का पात्र नहीं बनता। इसका उदय मनुष्य को खलता, लोकापवाद, मिथ्या कथन, स्तुति, निन्दा, काम, क्रोध, लोभ, गर्व, अविनय, स्वप्रशंसा, मोह, ईर्ष्या और दूसरों के अपमान जैसे दुर्भावों से सर्वथा मुक्त कर देता है।[११४] इसे अभया शान्तिप्राप्ति का मूल सिद्ध करते हुए कहा गया है–

अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन।।[११५]

जितेन्द्रियता को ब्रह्मप्राप्ति का साधन घोषित करते हुए ईश्वर के हृदयरूपी गुफा में प्रतिष्ठित होने की चर्चा में कठोपनिषद् के इस मन्त्र का अनुरणन उपलब्ध होता है–

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यतः।। एतद्वै तत्।।[११६]

शान्तिपर्व में आपद्धर्म का संक्षिप्त विवेचन मनुष्य के लिए आत्मसंयम को समस्त शंकाओं के परिहार की क्षमता से युक्त, उसके अभ्युदय तथा निःश्रेयस का साधक, अभया शान्ति का स्रोत एवं समस्त विपत्तियों से विमुक्त करने का परम आश्रय सिद्ध करता है। तदनुसार ही व्यास ने इसके निर्वाह को परम श्रेष्ठ और सनातन धर्म घोषित किया है।

मोक्षधर्मपर्व का समारम्भ मंकि आख्यान से होता है। इसके अनुसार निरामय तथा आसक्तिहीन जीवननिर्वाह ही दुःखों से सच्चा परित्राण और सुखों का परम लाभ है।[११७] तदनुसार ही प्राणी के मन में इस सत्प्रतिज्ञा के

उदय का स्वस्फुरन होता है–

क्षमिष्येऽक्षममाणानां न हिंसिष्ये च हिंसितः।
द्वेष्यमुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम्।।[११८]

ऐसा विवेकज ज्ञान दम के निर्वाह द्वारा ही संभव है। तदनुसार ही प्राणियों से सत्त्व गुण का आश्रय लेने का अनुरोध किया गया है।[११९] इन्द्रियसंयम से जनित तृष्णाक्षयरूपी सुख की चर्चा करते हुए कहा गया है–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।[१२०]

ब्राह्मण तथा प्रह्लाद के आख्यान में ब्राह्मण द्वारा विहित अजगर व्रत का निर्वाह ही दम का परम निर्वाह है। इसके परिणामस्वरूप दम, नियम, व्रत, सत्य तथा शौचाचार स्वयं सेवित हो जाते हैं।[१२१] महाभारत में अजगर व्रत के आचरण को समस्त प्रवृत्तिमूलक सुखों का स्रोत घोषित किया गया है।[१२२] श्रद्धावान्, दान्त, तथा सत्कर्म में रत मनुष्य को समस्त लाभों का पात्र घोषित करके दम के निर्वाह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[१२३] वर्णाचार वर्णन में सत्य, दान, दम, अद्रोह, क्रूरता का अभाव, क्षमा, दया और तपस्या को ब्राह्मणाचार घोषित किया गया है।[१२४] इसके विपरीत उदरलोलुपता, निकृष्ट कर्मों में आसक्ति, वेदज्ञान से निवृत्ति, अशौच और अनाचार पालन को शूद्राचार घोषित करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मणोचित आचार से युक्त शूद्र शूद्र नहीं तथा इससे वियुक्त ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं।[१२५] इस माध्यम से दम गुण के निर्वाह को निकृष्ट वर्ण से परित्राण का साधक और इसकी अवहेलना को वर्णच्युति का कारण दर्शाया गया है। जितेन्द्रियता को बुद्धिमत्ता, त्यागशीलता तथा अभयप्राप्ति का मूल घोषित करके सभी वर्णों में इसके सम्यक् निर्वाह की अपेक्षा सिद्ध की गई है।[१२६] गृहस्थ में उञ्छ वृत्ति के स्वाभाविक निर्वाह को अपेक्षित मानते हुए इसे सब आश्रमों का मूल घोषित किया गया है।[१२७] गृहस्थ धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है–

वत्सलाः सर्वभूतानां वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः।
परिवादोपघातौ च पारुष्यं चात्र गर्हितम्।।[१२८]

वस्तुतः इसमें दम के निर्वाह को अनिवार्य सिद्ध किया गया है। इसके लिए उपरिलिखित कर्तव्यों तथा अकर्तव्यों के पालन का संभाव्य जितेन्द्रियता के आश्रय में ही निहित है। संयतेन्द्रियता एवं ब्रह्मचर्य में रति को समस्त लोकों की गति के ज्ञान का स्रोत घोषित करके इसकी अपेक्षा सिद्ध की गई

है।[१२६] सत्त्व गुण के आश्रय को सर्वोपरि घोषित करके जितेन्द्रियता को बुद्धिप्राप्ति का स्रोत घोषित किया गया है।[१३०] योगी द्वारा इन्द्रियों सहित मन को एकाग्र करने में सफलता ध्यानमार्ग का आरम्भ मानी गई है। यह योगविद्या में जितेन्द्रियता की अपेक्षा को स्वयं सिद्ध कर देता है।[१३१] ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य व्रत के समुचित निर्वाह के लिए दान्त रहने का परामर्श इस आश्रम में जितेन्द्रियता के निर्वाह को अपेक्षित घोषित करता है।[१३२] दम का उदय प्राणी को महान् सरोवर की भाँति अक्षोभ्य बनाने में सहायक सिद्ध होता है।[१३३] दम को मनुष्य की निरापद्-अवस्था की प्राप्ति का मूल माना गया है।[१३४] प्रह्लाद को शम एवं दम आदि गुणों में अनुरक्त, दान्त तथा संयतेन्द्रिय कहकर साधारण प्राणियों में दम की अपेक्षा सिद्ध की गई है।[१३५] इन्द्र तथा प्रह्लाद के आख्यान में जिन गुणों के आश्रय को मोक्षलाभदायक माना गया है, वे हैं–सरलता, सावधानता, प्रसन्नता, जितेन्द्रियता और वृद्धों की सेवा।[१३६] श्री एवं शुक के संवाद में इन्द्रियसंयम को श्रीसिद्धि का स्रोत घोषित किया गया है।[१३७] बलि के शासन में दैत्यों में लक्ष्मी के निवास का श्रेय उनके द्वारा विहित जितेन्द्रियता को दिया गया है।[१३८] वर्णधर्मविवेचन में ब्राह्मण के लिए सुखप्राप्ति के लिए दम का आश्रय, पाप से निवृत्ति के लिए जितेन्द्रियता का आश्रय तथा ब्रह्म की प्राप्ति के लिए इन्द्रियसंयम के निर्वाह को आवश्यक घोषित करके दान्त स्वभाव को उसके अभ्युदय एव निःश्रेयसविषयक पथ का प्रशस्तक घोषित किया गया है।[१३९] संस्कारयुक्त, नियमनिष्ठ, संयतात्मा, दमशील और प्राज्ञ ब्राह्मण को इहलौकिक और पारलौकिक अव्यवहित सिद्धि का पात्र दर्शाया गया है।[१४०] दम गुण को उसके उद्वेगपरिहार का स्रोत घोषित किया गया है।[१४१] शान्तिपर्व में रथ के रूपक के माध्यम से योगसम्मत जिस आचार को अपेक्षित माना गया है, उसके अनुसार शम और दम योगरथ की नाभि दर्शाए गए हैं।[१४२] इस दृष्टि से दम योगसिद्धि का प्राणतत्त्व सिद्ध होता है। व्यास ने विद्या, तपस्या, इन्द्रियनिग्रह और सर्वसंन्यास को समस्त सिद्धियों का मूल घोषित किया है।[१४३] मोक्षधर्मपर्व में जितेन्द्रियता के निर्वाह को समस्त मनीषियों, ऋषियों, भक्तों, मोक्षविदों, वेदज्ञों एवं ब्रह्मज्ञानियों द्वारा अपेक्षित दर्शाकर जीवन में इसकी आवश्यकता को पराकाष्ठा प्रदान की गई है। ब्रह्मचर्य के निर्वाह के लिए चित्त पर विजय, दम, अध्यात्मविषय का अनुशीलन, यम-नियमों में निष्ठा तथा शास्त्रतत्त्वज्ञता अनिवार्य मानी गई है।[१४४] जिन व्रतों के आचरण को तेजस्विताप्राप्ति का साधन तथा पापनिवृत्ति का मूल घोषित किया गया

है, वे हैं– ध्यान, अध्ययन, दान, सत्यवचन, लज्जाशीलता, सरलता, क्षमा, शौच, शुद्धाचार तथा इन्द्रियनिग्रह।[१४५] गृहस्थ आश्रम में जितेन्द्रियता के निर्वाह की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

स्वर्गलोके गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मनाम्।
ब्रह्मणा विहिता श्रेणिरेषा यस्मात्प्रमुच्यते।
द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते।[१४६]

मन और इन्द्रियों की एकाग्रता के साधन को परम तपस्या घोषित करते हुए इन्द्रियों को मेधा के सहारे संधान करके त्रिपुटीचिन्तन में अनासक्त होकर योगी को आत्मतृप्तवत् आचरण का परामर्श दिया गया है।[१४७] कपिल ने दम को **'सोऽहम्'** पद की प्राप्ति का मूल साधन दर्शाते हुए कहा है–

तेजः क्षमा शान्तिरनामयं शुभं तथाविधं व्योम सनातन ध्रुवम्।
एतैः शब्दैर्गम्यते बुद्धिनेत्रैस्तस्मै नमो ब्रह्मणे ब्राह्मणाय।।[१४८]

योग के लिए जिन साधनों का आश्रय अपरिहार्य है, उनमें से इन्द्रियसंयम एक है।[१४९] वर्णधर्मविवेचन के अन्तर्गत जितेन्द्रियता ब्राह्मण की, युद्ध में विजय क्षत्रिय की, न्यायोचित धनोपार्जन वैश्य की और दमयुक्त सेवाकार्य शूद्र की शोभा के स्रोत हैं।[१५०] हंस तथा साध्यगण के संवाद में दम गुणविवेचन के अन्तर्गत वाक्संयम, आवेगसंयम, इन्द्रियनिग्रह, उदर, उपस्थ तथा तृष्णा पर विजयप्राप्ति दम के लक्षण स्वीकार किए गए हैं।[१५१] इन्द्रियसंयम को सांख्य ज्ञान का अंग दर्शाकर इसे कपिलवत् महत्ता प्रदान की गई है।[१५२] करालजनक तथा वसिष्ठ के संवाद में इन्द्रियसंयम को समस्त तत्त्वों को ईश्वर की ओर प्रेरित करने की योग्यता से युक्त दर्शाया गया है।[१५३] योगाचारी की व्याख्या करते हुए कहा गया है–

विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
पूर्वरात्रे परे चैव धारयेत मनोऽऽत्मनि।।[१५४]

उसके लिए दमविषयक समस्त अपेक्षाओं का निर्वाह वांछित दर्शाया गया है।[१५५] भृगुनन्दन तथा जनकपुत्र के संवाद में जितेन्द्रियता को समस्त विरोधी कार्यों के परिहार की योग्यता से युक्त दर्शाया गया है।[१५६] याज्ञवल्क्य तथा जनक के संवाद के माध्यम से किए गए गुणविवेचन के अनुसार जिन गुणों को सात्त्विक दर्शाया गया है उन सभी का उदय दम के निर्वाह पर आश्रित है।[१५७] याज्ञवल्क्य के अनुसार पुरुष शम तथा दम आदि गुणों की

सृष्टि करने से ही प्रसव धर्म से युक्त माना जाता है।[१५८] जितेन्द्रियता को मोक्षप्राप्ति का साधन मानते हुए प्राणियों से आग्रह किया जाता है कि वे अपनी वशीभूत इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियविषयों को अनासक्त भाव से अनुभव करें। सब विषयों में अनासक्त रहकर मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्नरत रहें।[१५९] भीष्म ने जितेन्द्रियता को युधिष्ठिर के विषादपरिहार का श्रेष्ठतम साधन घोषित किया है।[१६०]

मोक्षधर्मपर्व में विवेचित जितेन्द्रियताविषयक परिशीलन इसे समस्त प्रवत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक धर्म के निर्वाह की योग्यता का प्राणतत्त्व घोषित करता है। इसके अभाव में न तो किसी आश्रमधर्म का निर्वाह संभव है और न ही वर्णोचित व्यवहार। यह योगांग ही नहीं, अपितु सांख्य का भी व्यवहार्य पक्ष है। इसमें अन्य सभी यमों को स्थित दर्शाकर इसे मनुष्य की मोक्षप्राप्ति का परम हेतु सिद्ध किया गया है। इसके महत्त्व के प्रतिपादन के लिए याज्ञवल्क्य जैसे सांख्यशास्त्रज्ञ, जनक जैसे ज्ञानी, प्रह्लाद जैसे मुक्त जीव, नारद जैसे परम भक्त, मंकि जैसे परम त्यागी, व्यास जैसे परम अनुभवी और भीष्म जैसे परम दमाश्रयी के मतों का उद्धरण कर सभी द्वारा एक स्वर से दम को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपरिहार्य सिद्ध करके महाभारतकार ने इसे प्राणियों में धर्मोन्मुखता की प्रेरणा का आधारभूत तत्त्व घोषित किया है।

शान्तिपर्व में उपदेशों का प्राधान्य मिलता है। उसमें आश्रमविषयक, वर्णविषयक, योगविषयक, ध्यानविषयक, सांख्यविषयक तथा मोक्षविषयक योग्यता की प्राप्ति के लिए व्यवहार्य कर्मों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया है। इस प्रयास के लिए उन निकृष्ट वृत्तियों के दुष्परिणामों का प्रावधान किया गया है जो प्राणी में उनसे निवृत्त रहने के संस्कार जगाता है। तदनुसार ही इसमें जितेन्द्रियता के गुण-दोष विवेचन को अनेक माध्यमों से पुरस्कार्य और दण्डनीय सिद्ध किया गया है। अनुशासनपर्व में तद्विषयक दिशानिर्देशों के प्रावधान के कारण यह पर्व अनुशासनपर्व के नाम से आख्यात हुआ है। मनुष्य को किसी भी सद्वृत्ति के निर्वाह के लिए कृतसंकल्प कराने के लिए पहले उस वृत्ति की पुरस्कार्यता सिद्ध की जाती है। तदुपरान्त उसके निर्वाहजन्य सत्परिणामों से अवगत कराया जाता है। इसके बाद उसके समर्थक उपदेशों का सहारा लेकर उसमें उन्हें अपनाने के संस्कार जगाए जाते हैं। इसके पश्चात् उसे उन यथेष्ट दिशानिर्देशों से युक्त किया जाता है, जो उसमें उन सद्वृत्तियों को व्यवहृत करने की क्षमता

उत्पन्न कर सकें। तदनुसार ही महाभारत में शान्तिपर्व के पश्चात् ही अनुशासनपर्व का विधान हुआ है। जब भीष्म ने युधिष्ठिर को विश्रान्त देखा तो उसे शोकमुक्त करने के लिए एक अन्य विधि का आश्रय लिया। यह विधि अनुशासनपर्व का प्रतिपाद्य विषय है।

अनुशासनपर्व के अनुसार जितेन्द्रियता समस्त पुण्य फलों की दायिनी है।[१६१] भीष्म के अनुसार हिंसा वृत्ति, स्तेय तथा परस्त्रीगमन शारीरिक पाप माने गए हैं। इन्हें त्याज्य घोषित किया गया है। प्राणियों को इनका सम्यक् निर्वाह करने का निर्देश दिया गया है।[१६२] अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कोमलता, दम तथा आर्जव को धर्म के लक्षण सिद्ध करके प्राणियों में इनके पालन के संस्कार जगाए गए हैं।[१६३] जितेन्द्रियता को परम शौच घोषित करके ब्रह्मचर्य व्रत में इसके आचरण का आग्रह किया गया है।[१६४] इन्द्रियदमन को ब्राह्मण की उत्तमता का परिचायक बताया गया है।[१६५] दम गुण का निर्वाह करने वाले प्राणियों को नारद द्वारा नमस्कार्य सिद्ध कराकर दम गुण के पालन को सम्मान का साधन घोषित किया गया है।[१६६] भीष्म ने जितेन्द्रियता को दान के पात्र होने की योग्यता माना है।[१६७] परम आयु की प्राप्ति को ब्रह्मचर्य के पालन में निहित दर्शाकर दम गुण के निर्वाह को यथेष्ट घोषित किया गया है।[१६८] जितेन्द्रिय तथा देवोपासक पुरुष को गोलोक में गमन का पात्र दर्शाकर मानवजीवन में दम के निर्वाह को स्पष्ट किया गया है।[१६९] इन्द्रियसंयम को क्षमा का जनक सिद्ध करके दम को दान से श्रेष्ठ घोषित किया गया है।[१७०] दम को सत्य फल की प्राप्ति का स्वरूप घोषित करके स्वर्गलोक में पूजनीयता का कारण माना गया है।[१७१] इसी संवाद में ब्रह्मचर्य (जितेन्द्रियता) को वही महत्त्व दिया गया है जो इसे अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में प्राप्त है।[१७२] दम और जितेन्द्रियता के निर्वाह के बिना ब्राह्मण को पंक्तिपावन नहीं माना गया है।[१७३] मनुष्य के लिए सब अवस्थाओं में लोभ को त्याज्य घोषित किया गया है।[१७४] इससे पूर्व उद्योगपर्व तथा आपद्धर्मपर्व में लोभ को दम का दोष माना गया है। इन्द्रियसंयम को परिवार की सम्पन्नता का स्रोत घोषित करके उसके निर्वाह को अपेक्षित माना गया है।[१७५] गृहस्थ के लिए संयतेन्द्रियता का निर्वाह अपेक्षित दर्शाया गया है।[१७६] राजा के परम धर्म की चर्चा करते हुए कहा गया है–

तत्र राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च।।[१७७]

वैश्य के लिए वाणिज्य-व्यापार, सत्पथ में स्थिति, प्रशम, दम, ब्राह्मण का स्वागत तथा त्याग को सनातन धर्म घोषित किया गया है।[१७८] शूद्र द्वारा विहित सत्य धर्म में रति, जितेन्द्रियता का निर्वाह, अतिथिसेवा में प्रवृत्ति तप का संचय घोषित की गई है।[१७९] वानप्रस्थ धर्म में इन्द्रियदमन आवश्यक स्वीकार किया गया है।[१८०] धर्मयुक्त प्राणी का लक्षणविवेचन करते हुए कहा गया है–

क्षान्तो दान्तो जितक्रोधो धर्मभूताऽविहिंसकः।
धर्मे रतमना नित्यं नरो धर्मेण युज्यते।।[१८१]

जितेन्द्रियता को धर्म का मूल घोषित करते हुए इसके निर्वाह को सर्वत्र अपेक्षित दर्शाकर अनुशासनपर्व में इसकी महत्ता को यथोचित समर्थन दिया गया है। महाभारत का जितेन्द्रियताविषयक विवेचन इसे सभी आश्रमों में व्यवहार्य, सर्वधर्म-अपरिहार्य, समस्त ज्ञानसाधक, ब्रह्मलाभ का श्रेष्ठतम साधन और मानवजीवन की सर्वोपरि आवश्यकता सिद्ध करता है। इसके अभाव में न तो मनुष्य की अभ्युदयसिद्धि संभव है और न ही निःश्रेयसविषयक परमार्थलाभ। आपद्धर्म में इसके अवलम्बन का परामर्श इसे विपत्तिग्रस्त मनुष्य का एकमात्र सहारा घोषित करता हे। वस्तुतः संयम मानवजीवन को गति, सुचारुता एवं सहकारिता आदि शक्तियों से सम्पन्न कराने का एकमात्र आश्रय है। महाभारत में इसकी प्रतिष्ठा के लिए जिन प्राचीन मनीषियों, ऋषियों तथा भक्तों के समर्थन का आश्रय लिया गया है, उनमें से बहुधा शास्त्रप्रणेता, धर्मसूत्रविधाता अथवा स्मार्त धर्म के प्रतिष्ठापक हैं। श्रुति, स्मृति, धर्मसूत्रों और विविध शास्त्रों के उद्धरणों के माध्यम से व्यास ने जितेन्द्रियता की अपेक्षा को सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक अपरिहार्यता ही प्रदान नहीं की, अपितु इसे विविध मनीषियों, मुमुक्षुओं तथा भक्तों एवं मुक्त पुरुषों से व्यवहृत दर्शाकर इसकी व्यावहारिकता भी सिद्ध की है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि समाज का प्राणी के प्रति व्यवहार उसके द्वारा समाज के प्रति अपनाए गए व्यवहार का प्रतिफल होता है। व्यास ने समस्त आश्रमानुयायियों तथा वर्णाश्रितों में इसकी व्यावहारिकता की आवश्यकता को स्पष्ट करके जहाँ धर्म की सनातन परिभाषा **'धारयति इति धर्मः'** को सार्थकता प्रदान की है, वहीं इसके व्यवहार द्वारा जागतिक शान्ति की स्थापना को संभव दर्शाकर धर्म की **'ध्रियते लोका अनेन इति धर्मः'** परिभाषा की यथार्थता भी सिद्ध की है।

सन्दर्भ

१. बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म ईश्वरोवेदस्तत्त्वं तपो वा। उणादि., ४.१४६.
२. अभ्र वभ्र मभ्र चर गत्यर्थाः। चर भक्षणे च। भ्वादिगण
३. अष्टाध्यायी, ५.२.११५.
४. यजुर्वेद, ६.३४.
५. वेदों में योगविद्या, पृष्ठ, २२६.
६. अथेमं विष्णुयज्ञं त्रेधा विभजन्त। वसवः प्रातः सवनं रुद्रामाध्यन्दिनं सवनमादियास्तृतीय सवनम्। शतपथब्राह्मण, १४.१.१.१५.
७. वसवो वै रुद्रा आदित्याः संस्राव भागाः। तैत्तिरीयारण्यक, ३.३.६.७.
८. छान्दोग्योपनिषद्, ३.१६.१–५.
६. पयसा शुक्रममृतं जनित्रं सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना ऊवध्यं वातं सब्वं तदारात्।। यजुर्वेद, १६.८४.
१०. अथर्ववेद, ६.१३३.१–५.
११. वही, ११.५.५.
१२. वही, ११.५.१.
१३. ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षटसहस्राः।
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति। वही, ११.५.२.
१४. ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्। वही, ११.५.६.
१५. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ।। वही, ११.५.१७.
१६. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत।। वही, ११.५.१६
१७. वही, ११.५.२१.
१८. वही, ११.५.२३.
१६. वही, ११.५.२४–२५.
२०. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १७.१२४.
२१. इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन्भर्गो यशः' सह ओजो वयो बलम्।
त्रयस्त्रिंशद्यानि च वीर्याणि तान्याग्निः प्र ददातु मे।। वही, १६.३७.१
२२. यजुर्वेद, सुबोध भाष्य, पृष्ठ ४६६.
२३. कठोपनिषद्, २.१.१५.
२४. यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।। वही, १.३.६.
२५. तैत्तिरीयोपनिषद्, १.६.
२६. तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्यणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। छान्दोग्योपनिषद, ८.४.३.

२७. अथ यद्यज्ञं इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते।
छान्दोग्योपनिषद, ८.५.१.

२८. अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्रानं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्य वात्मानमनुविद्य मनुते। वही, ८.५.२.

२६. मनुस्मृति, २.१०.

३०. श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। वसिष्ठ धर्मसूत्र, १.४.६.

३१. मनुस्मृति, ४.२०४ (११).

३२. ब्रह्मचर्यं सकलेन्द्रियसंयमः। याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.३१२.

३३. ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम्।
अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा। मनुस्मृति, ११.२४४. (१२).

३४. नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत।। वही, २.५६.

३५. पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्।। वही, २.५५.

३६. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलि स्मृतः।। वही, २.७१.

३७. एकाक्षरं परं ब्रह्म, प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते।। वही, २.८३.

३८. वही, २.८८.

३६. वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्।। वही, २.६७.

४०. वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तुनुम्।। वही, २.१००.

४१. इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।। वही, १.८.

४२. उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।। वही, १.१५.

४३. वही, १.२८.

४४. ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि।
ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन्।। वही, १.३२.

४५. मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम्।
भास्करालोकनारलीलपरिवादादि वर्जयेत्।। वही, १.३३.

४६. इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी।। बालकाण्ड, १.८.

४७. धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वीज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्।। वही, १.१२.

४८. धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः।। अयोध्याकाण्ड, २.३१.

४६. अयोध्याकाण्ड, २.३२.

५०. नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्।।
एकचिन्तनमर्थानामर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्।
मंगलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश।। वही, १००.६५–६७.

५१. तद् व्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य वानर।
भ्रातृभार्याभिमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः।। किष्किन्धाकाण्ड, १८.२०.

५२. मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य।।
श्रीमदभागवतपुराण, ५.१६.५.

५३. उद्योगपर्व, ३३.१६–४०.

५४. वही, ३३.४३.

५५. एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा दृष्टिरहिंसैका सुखावहा।। वही, ३३.४८.

५६. दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम्।
मत्तोन्मत्तैदुर्जनैश्चापि वादं यः प्रज्ञावान्वर्जयेत्स प्रधानः।। वही, ३३.६६.

५७. मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत।
अनुपायप्रयुक्तानि मास्म तेषु मनः कृथाः।। वही, ३४.६.

५८. वही, ३४.२३.

५६. वही, ३४.२७.

६०. वही, ३४.४२.

६१. वही, ३४.६१.

६२. निजानुत्पततः शत्रूनपञ्च पञ्च प्रयोजनान्।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद्ग्रसते नरम्।। वही, ३४.६८.

६३. जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः।। वही, ३५.४३.

६४. पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत्।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्यं सुखं वसेत्।। वही, ३५.५८.

६५. भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मतिम्।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरूषः।। वही, ३६.१६.

६६. वही, ४३.१५–१७.

६७. वही, ४७.१०–११.

६८. यदा संहरते कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदात्मज्योतिरात्मैव स्वात्मनैव प्रसीदति।।
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
कामद्वेषौ च जयति तदात्मानं प्रपश्यति।। शान्तिपर्व, २१.३–४.

६६. वही, २१.१३–१७.

७०. गुणवाञ्शीलवान्दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः।। वही, ५६.१६.

७१. वही. ५६.१७.

७२. वही, ६१.११–१२.

७३. वही, ६४.१.

७४. वही, ६४.१७.

७५. धर्मारामान्धर्मपरान्ये न रक्षन्ति मानवान्।
पार्थिवाः पुरुषव्याघ्र तेषां पाप हरन्ति ते।। वही, ६६.२७.

७६. आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य लभते सुखम्।। वही, ६६.३०.

७७. वही, ७१.२–१३.

७८. वही, ७२.२–१५.

७६. वही, ८२.२१–२६

८०. अत उर्ध्वममात्यानां परीक्षेत गुणागुणान्।
संयतात्मा क तप्रज्ञो भूतिकाम च भमिपः।। वही, ८४.१६.

८१. प्रजाः पालयतोऽसम्यगधर्मेणेह भूषतेः।
हार्दं भयं संभवति स्वर्गश्चास्य विरुध्यते।। वही, ८६.१४.

८२. धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन्ह्रसति हीयते तस्माद्धर्मं प्रवर्धयेत्।। वही, ६१.१४.

८३. वही, ६१.१२–१३.

८४. वही, ६२.६; १३६.१०.

८५. वही, ६२.३२.

८६. वही, ६२.३४.

८७. निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ।
अस्मिंल्लोके परे चैव राजा तत्प्राप्नुते फलम्।। वही, ६२.३७.

८८. वही, ६२.४२.

८६. वही, ६२.४८.

६०. वही, ६३.६.

६१. अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्तते।
क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ।। वही, ६३.८.

९२. मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम्।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम्।।
त्यक्तोपात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम्।
कार्ये महति यो युञ्जयाद्धीयते स नृपः श्रियः ।। शान्तिपर्व, ६४.१६–१७.

९३. वही, ६५.१०.

९४. धृतिर्दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरग्रया धैर्यं शौर्यं देशकालोऽप्रमादः।
स्वल्पस्य वा महती वापि वृद्धौ धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि।। वही, १२०.३५.

९५. शान्तिपर्व, १२०.६.

९६. वही, १३०.६.

९७. वही, १३०.८.

९८. वही, १३०.६.

९९. न वाच्यः परिवादो वै न श्रोतव्यः कथंचन।
कर्णाविव पिधातव्यौ प्रस्थेयं वा ततोऽन्यतः।। वही, १३०.१२.

१००. वही, १३१.१३.

१०१. वही, १३२.११–१२.

१०२. वही, १३३.१३.

१०३. वही, १३३.१५.

१०४. वही, १३४.२.

१०५. वही, १३४.४.

१०६. वही, १३४.६.

१०७. वही, १५२.२–१०.

१०८. दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा।
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम्।। वही, १५२.१४.

१०९. वही, १५२.२१.

११०. धर्मस्य विधयो नैके ते ते प्रोक्ता महर्षिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणाम्।। वही, १५४.६.

१११. वही, १५४.७.

११२. दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत्।।
दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम्।।
प्रेत्य चापि मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम्।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते।।
सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति।। वही, १५४.६–१२.

११३. वही, १५४.१५–१६; २१३. १०–११.

११४. वही, १५४.१७-१८.

११५. वही, १५४.२६.

११६. कठोपनिषद्, २.१.६.

११७. शान्तिपर्व, १७१.३२.
११८. वही, १७१.४३.
११६. निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम्।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां शरणागतम्।। वही, १७१.४५
१२०. वही, १७१.५१.
१२१. अनियतशयनासनः प्रकृत्या दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः।
अपगतफलसंचयः प्रहृष्टो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि।। वही, १७२.३५.
१२२. वही, १७२.३७.
१२३. उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्ग सुखात्सुखम्।
श्रद्धधानश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः।। वही, १७४.४.
१२४. सत्यं दानं दमोऽद्रोह आनृशंस्यं क्षमा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।। वही, १८२.४.
१२५. वही, १८२.७–८.
१२६. परिग्रहान्परित्यज्य भवेद्बुद्धया जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमतिष्ठेदिह चामुत्र चाभयम्।। वही, १८२.१३.
१२७. वही, १८४.६ गद्यांश–४–५.; २३५.१२; २८६.३०.
१२८. वही, १८४.१४.
१२६. ये गुरूनुपसेवन्ते नियता ब्रह्मचारिणः।
पन्थानं सर्वलोकानां ते जानन्ति मनीषिणः।। वही, १८५.२४.
१३०. वही, १८७.२७
१३१. इन्द्रियाणि मनश्चैव यदा पिण्डीकरोत्ययम्।
एषः ध्यानपथः पूर्वो मया समनुवर्णितः।। वही, १८८.१०
१३२. सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे श्रुणु।
संप्रदीवृत्तमुदीर्णं च निगृह्णीयाद्द्विजो मनः।। वही, २०७.११.
१३२. वही, २०७.११.
१३३. वही, २१३.१३.
१३४. अभयं सर्व भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति ज्ञानवान्।। वही, २१३.१४.
१३५. वही, २१५.४–८.
१३६. आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया।
वृद्धशुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत्।। वही, २१५.३४.
१३७. वही, २२१.३०.
१३८. सुसंमृष्टगूहाश्चासञ्जितस्त्रीका हुताग्न्यः।
गुरुशुश्रूषवो दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।। वही, २२१.३४
१३६. वही, २२७.६–८.
१४०. संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्यकृतात्मनः।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिह लोके परत्र च।। वही, २२७.२३
१४१. वही, २२७.२८.

१४२. शान्तिपर्व, २२८.१०.
१४३. नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात्सिद्धिं विन्दति कश्चन।। वही, २३१.५.
१४४. वही, २३२.३
१४५. ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं हीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।। वही, २३२.१०.
१४६. वही, २३५.२६.
१४७. शान्तिपर्व, २४२. ४–५.
१४८. वही, २६२. ४५.
१४६. ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं हीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः।। वही, २६६.१५.
१५०. वही, २८२.२१.
१५१. वही, २८८.७–१५.
१५२. वही, २६०.५.
१५३. वही, २६४.१०–११.
१५४. वही, २६४.१३.
१५५. वही, २६४.१४–१७.
१५६. मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वाञ्छसि।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्त यतेन्द्रियः।। वही, २६७.५.
१५७. वही, ३०१.१७–२०.
१५८. वही, ३०३.६
१५६. वही, ३१६. १५–१६.
१६०. परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम्।। वही, ३१६.२०.
१६१. अनुशासनपर्व, ७.१५–२१.
१६२. वही, १३.३–६.
१६३. अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम्।। वही, २३.१६.
१६४. ब्रह्मचर्यं परं तात मधुमांसस्य वर्जनम्।
मर्यादायां स्थितो धर्मः शमः शौचस्य लक्षणम्।। वही, २३.२५.
१६५. अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्।। वही, २३.३४.
१६६. सम्यग्ददति ये चेष्टान्क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः।
सत्यं धनं क्षितिं गाश्च तान्नमस्यामि यादव।। वही, ३२.१०.
१६७. वही, ३७. ८–६.
१६८. धनं प्राप्नोति तपसा मौनं ज्ञानं प्रयच्छति।
उपभोगांस्तु दानेन ब्रह्मचर्येण जीवितम्।। वही, ५७.१०.

१६६. मृदुर्दान्तो देवपरायणश्च सर्वातिथिश्चापि तथा दयावान्।
ईदृग्गुणो मानवः संप्रयाति लोकं गवां शाश्वतं चाव्ययम् च।। अनुशासनपर्व,७२.२
१७०. वही, ७४.१४—१७.
१७१. दमः सत्यफलावाप्तिरुक्ता सर्वात्मना मया।
असंशयं विनीतात्मा सर्वः स्वर्गे महीयते।। वही, ७४.३३.
१७२. वही, ७४.३४—३६.
१७३. वही, ६०.२४.
१७४. वही, ६५.८४.
१७५. श्रावणं नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षपेत्।
यत्र तत्राभिषेकेण युज्यते ज्ञातिवर्धनः।। अनुशासनपर्व, १०६.२६.
१७६. आहिताग्निरधीयानो जुह्वानः संयतेन्द्रियः।
विघसाशी यताहारो गृहस्थः सत्यवाक्शुचिः।। वही, १२८.३६.
१७७. वही, १२८.४६.
१७८. वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः।। वही, १२८.५४.
१७६. स शूद्रः संशिततपाः सत्यसंधो जितेन्द्रियः।
शुश्रूषन्नतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्।। वही, १२८.५७.
१८०. वही, १३०.५.
१८१. वही, १३०.३२.

सप्तम अध्याय

अपरिग्रह

मानवजीवन का उद्देश्य अमृतानन्द की प्राप्ति है। साहित्य के सर्जन का हेतु मानवमन को कान्तासम्मत उपदेश के माध्यम से युक्तियुक्त बनाकर उसके लिए अमृतानन्द की प्राप्ति में सहायक होना है। साहित्य मानवीय समस्याओं के परिहार के लिए श्रेष्ठतम शरणस्थली स्वीकार किया जाता है। यह दर्पण भी है और पथप्रशस्तक भी। इसमें पूर्व घटित घटनाओं और रचनाकालीन तथ्यचित्रण को अवलम्बन बनाकर जीवनोपयोगी आदर्शों की प्रतिष्ठा की जाती है। तदनुसार ही मनुष्य अपनी त्रुटियों को सुधारने के लिए साहित्य की शरण ग्रहण करने के लिए अनुप्रेरित होता है। भेद अशान्ति का मूल है और अभेद शान्ति का जनक। संकीर्णताओं का आश्रय भेद का कारण बनता है और प्राथमिकताओं का विस्तार अभेद का संस्थापक। प्राणी जब निज उदरपूर्ति को धर्म मानकर चलने लगता है तो उदरलोलुपता का शिकार हो जाता है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लालसा उसे उन सभी सम्बन्धों के निर्वाह के प्रति उदासीन बना देती है जो विश्वचक्र की सुव्यवस्थित गति का धुरा माने जाते हैं। उसके सुख की कामना की अतिशयिता उसके स्वयं के लिए दुःख का कारण बन जाती है। वह अमृतमय सुख से सदा सर्वदा के लिए वंचित हो जाता है। वस्तुतः व्यष्टि और समष्टि तत्त्वतः अभिन्न हैं। व्यष्टि की समष्टिरूप प्राप्ति ही मानवजीवन का उद्देश्य है। इसकी प्राप्ति विश्व की परिवार में परिणति पर आश्रित है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति से समूचे विश्व के लिए परिवारवत् स्नेह, उसकी सुव्यवस्था के लिए परिवारवत् यत्नशील रहना तथा उसके उत्थान और गौरव के लिए परिवारवत् सद्भावना अपेक्षित है। यह सभी कुछ त्याग के प्रादुर्भाव द्वारा ही संभव है। जब तक प्राणी के मन में दूसरों के प्रति दुर्भाव, दुःसंकल्प, दुर्मति तथा दुराचार आदि दुरिताओं का पूर्णरूपेण क्षय नहीं हो

जाता तब तक उसके लिए अमृतानन्द की प्राप्ति असंभव है। हमारे मनीषियों ने मनुष्य के लिए परमानन्द की प्राप्ति में सहायक जिन अनुशासनों और संयमों का प्रावधान किया है उनमें से अपरिग्रह एक है। पतञ्जलि भारतीय जीवनदर्शन में यम.नियमों की परिगणना के जनक और इसके सैद्धान्तिक विवेचन के अधिष्ठाता हैं। इनके अनुसार **'विषयाणामर्जनरक्षणक्षय-सङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः'**[1] ही अपरिग्रह है। इसका समर्थन करते हुए भोजवृत्तिकार ने 'भोगसाधनों की अस्वीकृति को अपरिग्रह माना है।'[2] दर्शनशास्त्रकार के अनुसार परिग्रह की व्युत्पत्ति 'ग्रह उपादाने' धातु[3] से 'परि' उपसर्गपूर्वक स्वीकार की गई है। इस दृष्टि से परिग्रह सर्वतः ग्रहण का सूचक है। इससे सर्वथा निवृत्ति ही अपरिग्रह है। उपरिलिखित विवेचन अपरिग्रह को विषयासक्ति से पूर्णरूपेण निवृत्ति का सूचक सिद्ध करता है।

वेदों में अपरिग्रहविषयक संकेत

विश्व में व्यष्टि और समष्टि में अभेद की स्थापना के प्रयास का श्रेय वैदिक साहित्य को जाता है। तदनुसार ही इसमें बीज रूप में वे सभी साधन विद्यमान हैं जो व्यष्टि की समष्टि में परिणति के लिए वांछित हैं। मनुष्य में सद्वृत्तियों का प्रादुर्भाव अन्तर्मन से होता है। तदनुसार ही अथर्ववेद में प्राणी से अपने उद्देश्य की पूर्ति को अपने अन्तर्मन से प्राप्त करने का आग्रह उपलब्ध होता है। अथर्ववेद प्राणियों की श्रेष्ठ आकांक्षाओं का सविता और वायु के धाम में स्थिर रहना उचित मानता है। इसमें प्राणी के कुप्रयत्नजन्य शोक को पाप स्वीकार किया गया है तथा उससे निवृत्ति की कामना की गई है। मनुष्य के वे सभी प्रयास जो लोकमंगल की साधना को समर्पित हों, सत्प्रयत्न कहलाते हैं। इससे अन्य कुप्रयत्न माने जाते हैं। सत्प्रयत्नोन्मुखी होने के लिए सविता और वायु से उत्तम बुद्धि तथा प्रकर्षयुक्त धन के भाग की कामना करते हुए पाप से रक्षा की प्रार्थना की गई है–

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः।
अर्वाग्वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः।।[4]

प्राणी द्वारा किसी भी व्रत का सम्यक् निर्वाह मन, बुद्धि और शरीर के सहयोग द्वारा ही संभव है। 'पापमोचन' सूक्त के माध्यम से प्राणियों में अपरिग्रह के प्रादुर्भाव हेतु किसी भी प्रकार के वाचिक, बौद्धिक अथवा

कायिक कुप्रयास को निषिद्ध घोषित करने के लिए इसमें प्रवृत्ति पाप मानी गई है और ईश्वर से इसकी निवृत्ति की कामना की गई है।[५] अपनी शक्ति का विस्तार तब तक असंभव है जब तक मनुष्य अपनी समस्त ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को सन्मार्गोन्मुखी बनाने में असमर्थ है। यदि मनुष्य की इन्द्रियशक्ति जीवन में सद्‌वृत्तियों के उपार्जन में प्रवृत्त हो तो वह दैवी शक्ति कहलाती है। इसीलिए इन्द्रियों को ऋषि माना गया है।[६] भीष्मपर्व में दैवी और आसुरी सम्पत्ति विवेचन अथर्ववेद से अनुप्रेरित सिद्ध होता है। दूसरों को दास बनाने की वृत्ति, दूसरों का नाश करने का विचार, दूसरों को लूटने की योजना वे कुप्रयत्न हैं, जो अन्ततः मनुष्य के विषाद का कारण बनते हैं। अथर्ववेद में इन वृत्तियों को **'अभिदासति'** कहा गया है और इन्हें शत्रु मानकर 'शत्रु का नाश' नामक सूक्त में उनके विनाश की कामना की गई है।[७] दूसरों को सम्पन्न देखकर मन में उनके अहितचिन्तन का विचार ईर्ष्या कहलाता है। इसे मृतमना, हृदयशोकाग्नि और संकुचित मानसिकता की जननी दर्शाकर इसके विनाश की कामना की गई है।[८] सभी वेदों ने एक स्वर होकर ईश्वर से कामना की है कि वह प्राणियों में सद्‌भावना का प्रादुर्भाव कराए। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे सभी को मित्रभाव से सम्पन्न करें–

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।[९]

पारस्परिक मैत्री के लिए अलोभ, आकर्पण्य तथा अदोषदृष्टि का योग अपेक्षित है। अतः वेद में बीज रूप से अपरिग्रह के पालन की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।

परनिन्दानिषेध तथा परदोषकथन से निवृत्ति वागिन्द्रिय द्वारा अपरिग्रह का निर्वाह सिद्ध होता है। इसीलिए वेदों में वाचिक अपरिग्रह के संकेत उपलब्ध होते हैं। यज्ञ जिन तीन अर्थों का द्योतक है उनमें से देवपूजा एक है। देवपूजा से अभिप्राय बड़ों का आदर तथा सम्मान है। वेद के अनुसार भोगसाधनों के संग्रह हेतु वाणी का संयम ही वाचिक अपरिग्रह है। इसीलिए पुनः पुनः मधुर और शान्तियुक्त भाषण का परामर्श उपलब्ध होता है– **'मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।'**[१०] वाचिक अपरिग्रह के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए प्राणियों को परस्पर प्रेमपूर्वक सुभाषण द्वारा अग्रसर होने का परामर्श दिया गया है।[११] वैदिक वाङ्मय में मनुष्य के कायिक, वाचिक और मानसिक सौष्ठव के प्रयास का प्रावधान उपलब्ध होता है। इसका श्रेष्ठतम

साधन उसके द्वारा अपनी वाणी, मन और बुद्धि का सदुपयोग दर्शाया गया है। 'समृद्धि की प्राप्ति' सूक्त में समृद्धि के लिए मृदु भाषण अपरिहार्य माना गया है।[१२] इसी सूक्त में प्राणी से **'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर'**[१३] के माध्यम से सर्वतः संग्रह को निषिद्ध घोषित करते हुए अकार्पण्य के माध्यम से अपरिग्रह का आश्रय लेने की बात की गई है। 'अपनी शक्ति का विस्तार' सूक्त में मन, चित्त, बुद्धि, संकल्प, श्रवण, दर्शनशक्ति की वृद्धि तथा अपान, व्यान, प्राण और विद्या की वृद्धि के लिए हवि से यज्ञ करने की चर्चा स्पष्टरूपेण इन सभी शक्तियों के उत्कर्ष की आवश्यकता की ओर संकेत है। यह तभी संभव है जब ये सभी सन्मार्गोन्मुखी हों।[१४] इन सभी की उपलब्धि का आधार वाचिक अपरिग्रह का निर्वाह है, क्योंकि जिह्वा सप्तर्षियों में से एक है। सांमनस्य देव को समर्पित 'संघटना का उपदेश' नामक सूक्त में सभी से समानज्ञान का उपार्जन, समान सम्बन्धों की संस्थापना, समान संस्कारों के योग, समान विचार तथा समान व्रत के निर्वाह का आग्रह किया गया है।[१५] इसके लिए अपरिग्रह का सम्यक् निर्वाह अपेक्षित है। इससे पूर्व भी वाक्.संयम अथवा वाचिक अपरिग्रह की महत्ता का स्पष्टीकरण विभिन्न माध्यमों द्वारा स्पष्ट किया गया है। अथर्ववेद के अनुसार प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अभौतिक और भौतिक शक्ति, व्यान, उदान, वाणी और मन संकल्पशक्ति के धारक हैं।[१६] वस्तुतः मनुष्य की वाक्.शक्ति का सदुपयोग ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह के पालन का आधार है। हमारे सभी कर्म वाणी से प्रसूत स्वीकार किए गए हैं। मनुष्य जो वाणी से व्यक्त करता है, उसी का कार्यान्वयन करता है। इस दृष्टि से कायिक अपरिग्रह का निर्वाह तब तक संभव नहीं जब तक मनुष्य वाचिक अपरिग्रह के पालन की योग्यता से सम्पन्न न हो जाए। तदनुसार ही देवताओं से यह कामना की गई है–

भद्रं कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।[१७]

वस्तुतः भद्र श्रवण भद्र कथन पर ही आश्रित है। यह कामना वाचिक अपरिग्रह की अपेक्षा को स्वयं सिद्ध कर देती है।

शक्तिसम्पन्नता और वैभवविषयक साधनों का सर्वतः संग्रह अवांछित होने के कारण ही हमारे साहित्य में शारीरिक अपरिग्रह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। जीवनोपयोगी आवश्यकताओं से अधिक धन.धान्य, वस्त्र. भूमि तथा खाद्यसामग्री के संग्रह का निषेध ही शारीरिक अपरिग्रह है।

प्राणियों में इसके संस्कारों के प्रादुर्भाव के लिए वेद में **'त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः'** का सकारात्मक उपदेश दिया गया है। अलोभ में अपरिग्रह सन्निहित है। इसका समर्थन अथर्ववेद के उस सूक्त में उपलब्ध होता है जिसमें लोभ को गृध्र वृत्ति दर्शाकर बहिष्कृत माना गया है। इन्द्र से की गई एक स्तुति में काम को चिड़िया वृत्ति, क्रोध को भेड़िया वृत्ति, लोभ को गृध्र वृत्ति, मोह को उल्लूक वृत्ति, घमण्ड को गरुड वृत्ति तथा विवाद को श्वान वृत्ति घोषित करके इनके परिहार की कामना की गई है।[१८] यद्यपि वेद प्राणियों की आर्थिक सम्पन्नताविषयक स्तुतियों से ओतप्रोत दिखाई देते हैं तो भी इनका वास्तविक साध्य अकार्पण्य के निर्वाह की सामर्थ्य का उपार्जन है। विद्या को सर्वोत्तम निधि माना गया है। संहिताओं के अनुसार इसके संग्रह का सर्वोत्तम साधन इसका दान है। आर्थिक सम्पन्नता के लिए भी उन्हीं लोगों को समर्थन दिया गया है जिनका मन दान के कर्म में लगा हुआ है। मानसिक शक्ति के संचय की कामना उसके शुभसंकल्प से युक्त होने पर ही सार्थक स्वीकार की गई है –

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[१९]

वस्तुतः यह मन्त्र उत्तरवर्ती साहित्य में रथ के रूपक के माध्यम से जितेन्द्रियता की सिद्धिविषयक परम्परा का सूत्रपात सिद्ध होता है। जब मनुष्य का मन, वाणी और शरीर एकरस होकर मात्र पवित्र कर्मों के लिए प्रयत्नरत हो जाता है तो कायिक, वाचिक और बौद्धिक अपरिग्रह का पालन उसका स्वभाव हो जाता है। अपरिग्रह की अपेक्षा को पराकाष्ठा प्रदान करने हेतु अथर्ववेद के 'अतिथिसत्कार' सूक्त में उसको अर्पित विभिन्न पदार्थों को प्राणियों के लिए अभीष्ट फलों का दायक सिद्ध किया गया है। इसके अनुसार अतिथि को अर्पित दूध अग्निष्टोम यज्ञ के यजन के समान है। उसे अर्पित किया गया घी अतिरात्र यज्ञ के समान फलदायक है जबकि उसको अर्पित मधु को उत्तम, समृद्ध सत्रसद्य यज्ञ की संज्ञा दी गई है।[२०] वेदों के अनुसार अतिथिसेवा व्रत है। इसमें अपरिग्रह का निर्वाह स्वाभाविक है। वेद के अनुसार दानी का धन कभी कम नहीं होता और अदाता को सुख नहीं मिलता।[२१] वेदों में अदानी के साथ न रहने का परामर्श परिग्रह का निषेध है। अहंकारयुक्त दान को निषिद्ध घोषित किया गया है। सम्पन्न प्राणियों से आग्रह किया गया है कि जिस प्रकार रथचक्र नीचे.ऊपर घूमता रहता है, उसी प्रकार धन भी अस्थायी है।[२२] अतः वे प्रमादरहित होकर दान में

प्रयत्नरत रहें। **'अप्रचेतः मोघं अन्नं विन्दते'** के माध्यम से अदाता मनुष्य का धन व्यर्थ घोषित किया गया है। शारीरिक अपरिग्रह का महत्त्व दान के महत्त्व प्रतिपादन में सन्निहित है। शोभालोलुपता, लोकलाज अथवा परलोक के भय से दिया गया दान तुच्छ माना गया है। वेदों में यज्ञविधान पर सर्वाधिक बल दिया गया है। दान यज्ञ के तीन उद्देश्यों में से एक है। वेद के अनुसार यज्ञ मोक्षप्राप्ति का परम साधन है। यह घोषणा दान के महत्त्व को स्वयं सिद्ध कर देती है। सच्चा दान दूसरों की पुष्टि में आत्मतुष्टि का विश्वास है। अपरिग्रह का सम्बन्ध मनुष्य के समाज के प्रति व्यवहार से है। इसका निर्वाह उसकी प्राथमिकताओं को उत्तरोत्तर विस्तार देने में समर्थ है। अविद्वेष अभेद का प्राणतत्त्व है और अलोभ पारस्परिक सद्भावना का जनक। परस्त्रीगमन संयम समाज में सुहृद्ता के संस्कार जगाता है। संक्षिप्ततः उपरिलिखित विवेचन के अनुसार वाक्-संयम, संकल्पसंयम एवं सर्वतः संग्रहनिषेध ही अपरिग्रह है। वेदों में प्रतिपादित यह यम एक सुदृढ, सशक्त, सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक प्रासंगिकता से युक्त परम्परा से सम्पन्न है। महाभारत में इसकी प्रतिष्ठा जिन विविध आश्रयों से हुई है वे सभी इसकी अपेक्षा के स्पष्टीकरण को समर्पित हैं।

उपनिषदों में अपरिग्रहविषयक परामर्श

उपनिषत्साहित्य में अपरिग्रह का समर्थन अकार्पण्य और दानभावना के महत्त्व के स्पष्टीकरण द्वारा हुआ है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार पुण्यसंचय वैभवसाधक हैं और समत्वलाभ मुक्तिसाधक।[२३] वस्तुतः दान में आत्मीयता के भाव के बिना समत्वलाभ असंभव है। तैत्तिरीयोपनिषद् में सबके साथ मनुजोचित व्यवहार के परामर्श के अन्तर्गत सत्य भाषण और तपश्चर्या की चर्चा हुई है। इस उपनिषद् में मनुजोचित व्यवहार में स्वाध्याय के महत्त्व की सिद्धि के लिए स्वाध्याय में प्रवीणताविषयक अन्य अपेक्षाओं के निर्वाह की बात की गई है, जो इस प्रकार है–यथायोग्य सदाचार पालन तथा स्वाध्याय, सत्यभाषण तथा स्वाध्याय, तपश्चर्या तथा स्वाध्याय, दम तथा स्वाध्याय, शम तथा स्वाध्याय, अग्निचयन तथा स्वाध्याय, अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय, आतिथ्य तथा स्वाध्याय, मनुजोचित लौकिक व्यवहार तथा स्वाध्याय।[२४] तप की गणना नियमों में आती है। उसमें प्रवीणता के लिए मनुजोचित व्यवहार उचित घोषित किया गया है। मनुजोचित व्यवहार से अभिप्राय आत्मवत् व्यवहार से है। आत्मवत् व्यवहार में परिग्रह की इच्छा का पूर्णरूपेण अभाव

होता है। परोक्षतः इस माध्यम से इस उपनिषद् में अपरिग्रह का समर्थन उपलब्ध होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में विभिन्न उपासनाओं का वर्णन किया गया है। यहाँ अपनी चित्तवृत्तियों को अत्यन्त साधुता के साथ एक स्थल पर केन्द्रित कर देना ही अभीष्ट है। इन उपासनाओं के माध्यम से भक्ति के सिद्धान्त का विकास भी ढूंढने का प्रयास किया गया है। भक्ति के सिद्धान्त का आधार उपासना ही है।[२५] वस्तुतः अपरिग्रह का सम्बन्ध चित्तवृत्तियों के साधुसम्मत एक स्थल पर केन्द्रित करने से ही है। तदनुसार ही इसमें सर्वतः संग्रह निषद्ध माना गया है। उपनिषत्साहित्य में अपरिग्रह को वेदोक्त समर्थन उपलब्ध होता है।

स्मृतियों में अपरिग्रह-निदर्शन

हमारी संस्कृति का अमरत्व उन साहित्यिक प्रयासों पर आश्रित है जो अपने रचनाकाल में उन जीवनविषयक मान्यताओं की पुनर्स्थापना में संलग्न रहे, जिनका ह्रास हमारी संस्कृति के क्षय का कारण बन सकता था। हमारे साहित्य में धर्म को न तो मात्र उपासनापद्धति स्वीकार किया गया है और न ही जीवन से अलग कोई अन्य सिद्धान्त। हमारे यहां जीवन में धर्म को वही महत्त्व प्राप्त है जो हमारे शरीर की धमनियों में बहने वाले रक्त को। धर्म से अभिप्राय उन अनुशासनों और संयमों का जीवनपर्यन्त निर्वाह है जो मात्र जीवन को जीने योग्य ही नहीं बनाते, अपितु समाज को सशक्त और सुव्यवस्थित रखने में भी सहायक होते हैं। हमारा धर्म जहाँ व्यक्ति द्वारा धारण किए गए कर्तव्यों के निर्वाह का निर्देश देता है, वहीं वह हमारी संस्कृति का धारक भी माना जाता है। जब कभी धर्म के ह्रास की आशंका उत्पन्न होती है, तो हमारे सजग साहित्यकार उसकी पुनर्स्थापना के लिए कोई नया माध्यम लेकर उपस्थित हो जाते हैं। हमारे धर्मशास्त्रों और स्मृतियों की रचना का हेतु भी यही रहा है। श्रौत साहित्य की गुह्यता और गूढ तत्त्वविवेचना सर्वग्राह्य न होने के कारण सामान्य प्राणियों के धर्म से विमुख हो जाने की आशंका ही स्मार्त साहित्य का सोपान है। श्रौत साहित्य में जिन जीवनोपयोगी मान्यताओं को सांकेतिक महत्त्व दिया गया, स्मार्त साहित्य में उन्हीं को धर्म कहकर सर्वस्वीकार्य घोषित किया गया।

मनु ने धर्मसूत्रों के आधार पर जो यम.नियम विवेचन किया है, उसके अनुसार यम.नियमों की संख्या क्रमशः पाँच.पाँच है।[२६] यमों में अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य वचन, अकुटिलता और अस्तेय सन्निहित हैं। नियमों में

अक्रोध, गुरुसेवा, शौच, आहारलाघव तथा अप्रमाद आते हैं। याज्ञवल्क्य ने इनकी गणना में संवर्धन किया है–

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता।
अहिंसास्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः।।
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता।।[२७]

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति का मतैक्य दोनों द्वारा अकल्कता को यम स्वीकार करने से स्पष्ट हो जाता है। अकल्कता से अभिप्राय कुटिलता का निषेध है। प्राणी में कुटिलता की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव लोभ, द्वेष तथा कामपिपासा की अतिशयिता आदि से होता है। यह उसे सर्वतः संग्रह के लिए लालायित कर देती है। याज्ञवल्क्य तथा मनुस्मृति में कुटिलता का निषेध नरकदण्ड और तिर्यक् योनि के भय के माध्यम से किया गया है। अतः स्मृतिकारों ने भी कुटिलता को दुर्वृत्ति ही माना है और यमों के सदा सर्वदा पालन को यथेष्ट घोषित किया है। स्मार्त धर्म में वर्णधर्म विवेचन के अन्तर्गत ब्राह्मण के लिए दानविषयक मान्यताओं का प्रतिपादन उसके लिए उसी दान को यथेष्ट मानता है जो सत्कारपूर्वक दिया गया हो। मनु ने दानधर्म के निर्वाह के लिए ये मर्यादाएं निश्चित की हैं–न्यायोचित धनोपार्जन तथा इसके द्वारा इष्ट और पूर्त कर्मों का निर्वाह।[२८] ब्राह्मण के लिए परिग्रह को निषिद्ध घोषित करते हुए कहा गया है–

संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समन्ततः।
धर्मार्थं नाप्रयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत्।।

परिग्रहग्रस्त ब्राह्मण को दान का अपात्र घोषित करके अपरिग्रह के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। दानमहिमा के वर्णन में विविध वस्तुओं के दान के परिणामस्वरूप विविध फलों की प्राप्ति का आश्वासन अपरिग्रह के समर्थन को समर्पित है।[३०] याज्ञवल्क्यस्मृति में मनु द्वारा प्रतिपादित दानविषयक मान्यताओं का अक्षरशः समर्थन उपलब्ध होता है। गोदान की महिमा दर्शाते हुए कहा गया है कि गोदाता उतने वर्षों के लिए स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है जितने रोएं गौ के शरीर में होते हैं।[३१] विविध दानों के लिए विविध फलों का आश्वासन याज्ञवल्क्य के दानधर्म को मनु के दानधर्म की अनुरूपता प्रदान करता है। परिग्रह से ग्रस्त ब्राह्मणों को पंक्तिपूषक घोषित करके अपरिग्रह का समर्थन किया गया है।[३२] स्मार्त धर्म में अपरिग्रह का

समर्थन अलोभ और दानशीलता की प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा के माध्यम से हुआ है। इस दृष्टि से उत्तरवर्ती साहित्य में अपरिग्रह का विवेचन भी अलोभ, कामानासाक्ति, कटुभाषण निषेध एवं अविद्वेष के निर्वाह में सन्निहित माना गया है।

रामायण में अपरिग्रह-प्रतिष्ठा

वाल्मीकि.रामायण का प्रेरणास्रोत मिथुनरत क्रौञ्च पक्षी की अवांछित हत्या है। इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण का रचनोद्देश्य परिग्रह का पराभव सिद्ध होता है। यह तो सर्वमान्य सत्य है कि राम का जन्म दुर्वृत्तियों के विनाश और सद्वृत्तियो के उदय के लिए हुआ था। रावण समस्त विद्याओं में पारंगत, वैभवसम्पन्न, बलशाली और शास्त्रज्ञान से युक्त होते हुए भी सीताहरण के परिग्रह के दोष के कारण सपरिवार नष्ट हो गया। जबकि उसके द्वारा इस वृत्ति का विरोध करने पर विभीषण को राम की शरण ग्रहण करनी पड़ी। विभीषण का अपरिग्रह में विश्वास ही वह शक्ति थी जिसके सम्बल पर वह लंकाधिपति की पदवी से विभूषित हुआ। बालकाण्ड का आरम्भ अयोध्या नगरवासियों के सच्चरित्र की व्याख्या से आरम्भ होता है। इसके अनुसार अयोध्या से अभिप्राय एक ऐसा नगर है जो युद्ध के भय से सर्वथा मुक्त हो। इस अभय का स्रोत अयोध्यावासियों द्वारा धर्म के निर्वाह को स्वीकार किया गया है। वहाँ के वासी अपवित्र अन्न अथवा भोजन से निवृत्त, दानशील तथा शान्त बतलाए गए हैं।[३३] वे लोग आस्तिक, सत्यवादी, स्वाध्यायसम्पन्न तथा अदोषदृष्टि से युक्त माने गए हैं।[३४] वे सभी अकुटिल और अपमान को सहन करने में असमर्थ दर्शाए गए हैं।[३५] अयोध्यानगरी के दुर्जय होने का श्रेय इसके वासियों द्वारा व्यवहृत अपरिग्रह को देकर रामायण में अपरिग्रहप्रशस्ति का सूत्रपात उपलब्ध होता है। राम के चरित्र. चित्रण के माध्यम से वाल्मीकि ने मानवधर्म के निर्वाह को प्राणियों का आदर्श सिद्ध किया है। उनके राज्याभिषेक का प्रस्ताव रखते हुए दशरथ द्वारा राम का गुणकथन उन्हें अयोध्या का सुपात्र उत्तराधिकारी घोषित करता है। उन्हें अमंगलकारी निषिद्ध कर्मों से निवृत्त दर्शाकर वाल्मीकि ने राम को अपरिग्रह का अवतार घोषित किया है।[३६] उन्हें कल्याण की जन्मभूमि, साधु, दैन्यरहित, सत्यवादी तथा सरलस्वभाव से युक्त माना गया है।[३७] दशरथ द्वारा राम के गुणकथन को सभासदों का समर्थन वाल्मीकि के यम.नियमों के निर्वाह से सम्बन्धित विश्वास को पुष्ट करता है।[३८] राम तथा भरत के संवाद में वसिष्ठ को विनयसम्पन्न, बहुश्रुत और अदोषदृष्टि से

युक्त दर्शाकर अपरिग्रह को ऋष्युचित घोषित किया है।[३९] राम ने भरत से जिस अष्ट वर्ग से निवृत्ति का आश्वासन मांगा है वे क्रोधजन्य आठ दोष हैं। वे इस प्रकार हैं–चुगली, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, अदोषदर्शन, वाणी की कठोरता तथा दण्ड की कठोरता।[४०] परिग्रह इन सभी का जनक है। इनके निषेध में अपरिग्रह का निर्वाह समाविष्ट है। अपरिग्रह को राजगुण दर्शाकर इसे राम द्वारा प्रशंसित सिद्ध किया गया है। किसी के प्रति कुटिल व्यवहार उसके प्रति अपराध माना गया है। मारीच तथा रावण के संवाद में मारीच ने रावण को इसके दुष्परिणामों से अवगत कराकर इससे निवृत्त रहने का परामर्श दिया है।[४१] राजा के लिए अक्रूरता, सद्बुद्धि और जितेन्द्रियता के निर्वाह को अपेक्षित मानते हुए मारीच ने राजा द्वारा इनसे निवृत्ति को समस्त जाति के नाश का कारण माना है।[४२] मारीच ने रावण को परिग्रह से निवृत्त रहने के लिए सीताहरण को रावण के लंकासहित नाश का भय दर्शाया है।[४३] वस्तुतः परिग्रह के आश्रय और अपरिग्रह के निर्वाह की अयोग्यता ही राक्षसकुल के विनाश का कारण दर्शायी गयी है। सभी पर प्रेमदृष्टि रखना ही अपरिग्रह का समुचित निर्वाह है। सुग्रीव को विदा करते समय राम उन्हें सभी के प्रति प्रेमदृष्टि रखने और किसी का अप्रिय न करने का परामर्श देते हैं।[४४]

वाल्मीकि ने रामायण की रचना उन मर्यादाओं की पुनर्स्थापना के लिए की थी जिनकी अवहेलना से हमारी सनातन संस्कृति के क्षय की आशंका उत्पन्न हो गई थी। इसीलिए उन्होंने रामायण के निकृष्ट पात्रों के माध्यम से सद्वृत्तियों से निवृत्ति को विनाश का कारण घोषित किया है तथा उनके निर्वाह को एक आदर्श राज्य की स्थापना का मूल। रामायण में समस्त यम तथा नियमों के निर्वाह को राम में मूर्तिमान् दर्शाकर उन्होंने जनसाधारण में उनके निर्वाह की अपेक्षा के संस्कार जगाए हैं। विशेष रूप से मारीच तथा कुम्भकरण जैसे पात्रों के मुख से रावण के दुश्चरित्र की भर्त्सना करवाकर उन्होंने जनमानस को रामत्व के प्रति उन्मुख बनाने में सफलता प्राप्त की है। आगे चलकर रामचरितमानस में भी इन्हीं यम तथा नियमों के निर्वाह का औचित्य सिद्ध किया गया है। वस्तुतः आदर्श के माध्यम से दिया गया कान्तासम्मत सदुपदेश अधिक प्रभावशाली तथा ग्राह्य होता है। महाभारत में भी इन्हीं आश्रयों का अवलम्बन लिया गया है। रामायण में विवेचित अपरिग्रह का परिशीलन इसे उस युग की समृद्ध परम्परा सिद्ध करता है। यह इसे धर्म की वैयक्तिक परिभाषा का अभिन्न

अंग ही घोषित नहीं करता, अपितु इसे एक अनन्य लोकधारक शक्ति भी सिद्ध करता है। वाल्मीकि.रामायण का समारम्भ उसके प्रतिपाद्य विषय का दर्पण सिद्ध होता है। नारद द्वारा आख्यात राम के संक्षिप्त चरित्र.चित्रण में उन्हें उन समस्त मनुजोचित गुणों से सम्पन्न दर्शाया गया है, जिनकी पुनर्स्थापना के लिए रामायण की रचना हुई थी।[४५]

महाभारत में अपरिग्रह-संस्तुति

महाभारत में भारतीय संस्कृति की पारम्परिक अपेक्षाओं के निर्वाह का प्रतिपादन आद्यन्त उपलब्ध होता है। इसमें समस्त मानवजाति के लिए जो उच्चार, विचार, व्यवहार तथा बुद्धिविषयक परिष्कार के साधन व्यापक रूप से संजोए गए हैं, उन पर दृष्टिपात मात्र से व्यास का यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध होता है कि यह भारतरूपी अपूर्व काव्य समस्त पूर्वप्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान के कोष से सम्पन्न है।[४६] कौरवों तथा पाण्डवों का इतिहास तो मात्र माध्यम है जो शास्त्रवर्णन में व्यास का सहायक सिद्ध होता है। वस्तुतः यह अपने काल में विद्यमान समस्त शास्त्रों का काव्यात्मक संग्रह है। इसमें उसी सांस्कृतिक परम्परा को सम्पन्नता, समृद्धि, सर्वग्राह्यता, सरलता, सर्वबोधगम्यता, व्यवहार्यता तथा अनुकार्यता प्रदान की गई है, जिसका सूत्रपात वेदों में हुआ था। व्यास ने स्पष्टरूपेण स्वीकार किया है कि उन्होंने इस अपूर्व काव्य में वेदों की गुह्यता के सरलीकरण का प्रयास किया है। इसमें समस्त प्राणियों का स्थाननिर्धारण, समस्त वर्णों के कर्तव्य-अकर्तव्य तथा समस्त आश्रमों के आचार एवं व्यवहार का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। इन्हें सर्वसत्कार्य तथा विश्व-अनुकार्य सिद्ध करने के लिए विविध वेदविदों, मनीषियों, नीतिज्ञों, तत्त्ववेत्ताओं, ब्रह्मज्ञानियों, अनुभवी योगियों, धर्मशास्त्रप्रवर्तकों तथा विवेकज ज्ञानियों के माध्यम से सामान्य प्राणी के आचार को पुनः पुनः व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। यही कारण है कि इसमें समस्त धर्मों के निरूपणविषयक विविध माध्यमों का आश्रय लिया गया है। इसके परिणामस्वरूप नीतिशास्त्र, आश्रमधर्म, वर्णधर्म, राजधर्म, दानधर्म, मोक्षधर्म, त्रिगुणविवेचन, दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति विश्लेषण, सांख्य वर्णन तथा योगविद्या प्रतिपादन के विविध सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। यह ग्रन्थ पुनरावृत्ति के दोष से सर्वथा मुक्त है। विविध सम्बलों के आश्रय से धर्मप्रतिष्ठा का प्रयास तथा पुनः पुनः आचारविषयक मान्यताओं का आख्यान विविध सम्प्रदायानुयायियों तथा सामान्य बुद्धि से युक्त प्राणियों में उन्हें व्यवहृत करने के संस्कार जगाने का प्रयास सिद्ध होता है। इसमें पाण्डव

सद्वृत्तियों के प्रतीक हैं तथा कौरव दुर्वृत्तियों के मूर्तिमान् रूप' द्वारा कौरवों पर विजयप्राप्ति दुर्वृत्तियों पर सद्वृत्तियों की विजय की सूचक है। इसके महानायक कृष्ण द्वारा ली गई **'संभवामि युगे-युगे'** की प्रतिज्ञा सिद्ध करती है कि भारतभूमि पर धर्म का लोप असभव है। हमारी संस्कृति सनातन है। महाभारत में मनुस्मृति की तरह वेद को अखिल धर्म का मूल स्वीकार किया गया है। इसमें प्रतिपादित आचार-संहिता सर्वथा सनातन एवं परम्परानुकूल है। इस विषय में व्यास का विश्वास है कि इसमें वही कुछ है जो अन्यत्र है। जो अन्यत्र नहीं, वह इसमें भी नहीं–

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।[४७]

महाभारत में आचारप्रतिपादन के हेतु नीतिविषयक मान्यताओं के लिए धर्म के मूर्तिमान् रूप विदुर का आश्रय लिया गया है। अर्जुन के विषाद के परिहार के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश कराया गया है। गीता के सभी अध्यायों को विविधयोगों की संज्ञा दी गई है। इसमें उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित त्रिगुणविवेचन, कपिल के सांख्यशास्त्र तथा पतञ्जलि के योगदर्शन इन सभी को अभयप्राप्ति के विविध साधन घोषित करके व्यष्टि और समष्टि की एकरूपताविषयक मतैक्य सिद्ध किया गया है। गीता का समारम्भ अर्जुन के अनुचित विषाद की अभिव्यक्ति से आरम्भ होता है। इसके परिहार के लिए कृष्ण आत्मा के अमरत्व को स्पष्ट करते हुए अर्जुन को आत्मनिष्ठ होने का परामर्श देते हुए कहते हैं–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।[४८]

इस कथन में अहङ्कारराहित्य तथा अनासक्ति को शान्ति का स्रोत घोषित करके जीवन में अपरिग्रह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है, क्योंकि मनुष्य में सर्वतः संग्रह की दुर्वृत्ति का प्रादुर्भाव मोह और आसक्ति के द्वारा ही संभव होता है। मनुष्य के लिए ब्रह्मभूत योग्यता जिन दुर्गुणों के परित्याग में निहित दर्शायी गयी है, वे हैं–अहंकार, बल, दर्प, क्रोध तथा परिग्रह।[४६] इनसे वियुक्त प्राणी भगवद्भाव से युक्त हो जाता है। तदनुसार ही अन्त में कृष्ण अर्जुन को आश्वस्त करते हुए कहते हैं–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[५०]

व्यास ने अर्जुन के विषाद के परिहार के लिए भगवान् श्रीकृष्ण को माध्यम बनाया है तथा युधिष्ठिर के विषाद के परिहार के लिए एक नहीं अनेक अवलम्बनों का आश्रय लिया है। युधिष्ठिर की जिज्ञासा की तृप्ति के लिए उन्होंने विविध आख्यानों, उपदेशों, प्रश्नोत्तरों, संवादो, विवेचनों तथा अनुभवों का सफल सुनियोजन किया है। विशदता महाभारत का गुण है तथा साध्यसिद्धि के लिए समस्त उपलब्ध साधनों का आश्रय इसकी विशिष्टता। यही कारण है कि इसमें महान् ज्ञान का द्विविध निरूपण हुआ है। कहीं व्यास ने संक्षेप का आश्रय लिया है तो कहीं विस्तार का। अर्जुन के विषाद को दूर करने के लिए मानवोचित समस्त धर्मों का सार मात्र अठारह अध्यायों के माध्यम से व्यक्त कराया गया है। यह हमें व्यास के संक्षेप के आश्रय से अवगत कराता है। युधिष्ठिर के विषाद को दूर करने के लिए उन्होंने विस्तार की विधि को अपनाया है। यह विस्तार मात्र शान्तिपर्व के ३५० अध्यायों तक सीमित न होकर अनुशासनपर्व के १५१ अध्यायों तक विस्तृत है। व्यास ने दोनों माध्यमों के आश्रय से अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की है। उन्होंने वेदार्थ का विचार इतिहास और पुराण का आश्रय लेकर किया है ताकि अधूरे ज्ञान वाले लोग भी वेदोक्त धर्म का ज्ञानपूर्वक पालन करने में समर्थ हो सकें–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।[५१]

महाभारत में जिन महत्त्वपूर्ण विविध संवादों के माध्यम से धर्मसिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है उनमें से शमीक-शृङ्गी-संवाद का उल्लेख आदिपर्व में उपलब्ध होता है। इसमें यतिधर्म के लिए अक्रोध अपेक्षित है। अक्रोध को यतिधर्म की सिद्धि का मूल घोषित करके शृंगी ने कुटिलता को निषिद्ध दर्शाया है।[५२] उपरिचर तथा इन्द्र के संवाद के माध्यम से इन्द्र द्वारा धर्म की रक्षा को राजकर्तव्य घोषित करते हुए कहा गया है कि धर्म की लोकधारक शक्ति प्राणी के धर्माचार पर आश्रित है। मनुष्य द्वारा पालित धर्म ही उसे शाश्वत लोकों की प्राप्ति कराने में सहायक होता है।[५३] इस माध्यम से मानवधर्म और लोकधर्म परस्पर आश्रित दर्शाए गए हैं। वास्तव में अध्यात्म की आधिभौतिक रूप में परिणति उसके द्वारा विहित धर्म पर ही आश्रित है। इससे जीवन में अपरिग्रह की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। आगे चलकर इसी संवाद में प्राणियों के लिए वस्तुचित शौच की प्राप्ति के लिए दान सर्वोपरि घोषित किया गया है।[५४] इसी आख्यान के अन्तर्गत विदुर के जन्म

का वृत्तान्त उपलब्ध होता है। उनके जन्म का कारण अणीमाण्डव्य द्वारा धर्म को दिया गया शाप है। इस शाप का कारण दण्ड की कठोरता है। अणीमाण्डव्य ने बालपन में कुश के द्वारा एक चिड़िया को बींधा था। इसके परिणामस्वरूप अगले जन्म में उसे चोरी के झूठे अभियोग में शूली पर चढाया गया।[५५] दुष्यन्त तथा शकुन्तला के आख्यान में वाचिक अपरिग्रह की मनोवैज्ञानिक प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है। इसमें परनिन्दाराहित्य, बड़ों का सम्मान, अदोषदृष्टि तथा अक्रोध साधुओं के गुण दर्शाए गए हैं। इससे अन्यथा व्यवहार को असाधु प्रकृति घोषित किया गया है।[५६] ययाति तथा इन्द्र के संवाद में अपरिग्रहसमर्थक उपदेश मिलता है। इसके अनुसार क्रोधी से अक्रोध तथा अक्षमी से क्षमी उसी प्रकार श्रेष्ठ है जिस प्रकार नीच जीवन से मनुष्य योनि तथा अविद्वान् से विद्वान् श्रेष्ठ होता है। ययाति इन्द्र को आक्रोश के बदले में आक्रोश न करने का परामर्श देते हुए कहते हैं कि सहनशील मन का मन्यु ही आक्रोशकारी को जला देता है। उन्होंने इन्द्र को निष्ठुर वचन, नीच उपायों से शत्रु के वशीकरण तथा दूसरों के लिए अहितकारी पापयुक्त वचन से निवृत्त रहने का परामर्श दिया है। ययाति ने मर्माघात को निषिद्ध दर्शाकर कई माध्यमों से प्राणियों में वाचिक परिग्रह के परिहार के संस्कार जगाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार जिसकी वाणी में कटु वाक्यरूपी राक्षस विराजमान हो, उसके दर्शनमात्र से लक्ष्मी रुष्ट हो जाती है। ययाति के अनुसार दान एवं मृदु भाषण त्रिभुवन में सर्वोपरि हैं–

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
यथा मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक्।।[६०]

अपरिग्रह के आश्रय के लिए अहंकार का परिहार आवश्यक है। ययाति ने अहंकार को तपस्या, दान, शम, दम, लज्जा, ऋजुता, सब जीवों पर कृपा तथा ज्ञान के नाश का मूल ही नहीं माना, अपितु अहंकारवश अग्निहोत्र, मौनव्रत, अध्ययन तथा यज्ञाचार को भी अनुचित स्वीकार किया है।[६१] ययाति द्वारा किया गया गृहस्थविवेचन सर्वथा उपनिषदों के अनुकूल है। गृहजनों के लिए धर्मानुसार धनार्जन, नित्य नैमित्तिक कर्मों के उपरान्त अतिथियों को भोजन कराना तथा किसी द्वारा न दिए जाने तक कुछ न लेना ही गृहस्थाचार है।[६२] वानप्रस्थियों के लिए पापराहित्य, दानशीलता और हिंसानिवृत्ति धर्म घोषित की गई है।[६३] ययाति ने भिक्षुकत्व की प्राप्ति अपरिग्रह के सम्यक् निर्वाह में सन्निहित स्वीकार की है। उनके अनुसार जो

घर बनाकर नहीं रहते, नित्य जितेन्द्रिय हैं, थोड़े वस्त्र पहनते हैं, शिल्प से जीविका नहीं कमाते तथा स्वल्प चलते हुए भी नाना देशों में घूमते हैं, वे ही भिक्षुक कहे जाते हैं।[६४] ययाति के अनुसार यतिधर्म तभी मुक्तिसाधक सिद्ध हो सकता है जब इसका अनुयायी गृहस्थ में रहता हुआ भी अनासक्त रहे, कामाचारियों के बीच में रहते हुए भी संयमी बना रहे तथा ग्रामवासी होकर भी भिक्षावृत्ति का आश्रय ले।[६५] अन्यत्र परिग्रह को दुःख का मूल घोषित करते हुए कहा गया है–

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम्।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम्।।[६६]

आदिपर्व का अपरिग्रहविषयक परिशीलन व्यास द्वारा इसके लिए अपनाए गए संक्षेप का स्वयं बोध करा देता है। वस्तुतः यह पर्व व्यास द्वारा प्रतिपादित आचार-संहिता का सूत्रपात सिद्ध होता है।

सभापर्व में मात्र राजधर्म की संक्षिप्त चर्चा उपलब्ध होती है जो सर्वथा वाल्मीकि-रामायण तथा स्मार्त धर्म के अनुकूल है। नारद तथा युधिष्ठिर के संवाद में नारद ने युधिष्ठिर को उन्हीं दोषों के निग्रह का परामर्श दिया है जो वाल्मीकि-रामायण में राम तथा भरत में राजदोष माने गए हैं। इनकी चर्चा इसी सन्दर्भ में पहले हो चुकी है। इसके लिए आश्रय भी वही लिया गया है जो वाल्मीकि ने रामायण में लिया है। यह आश्रय प्रश्नोत्तर शैली है। नारद ने युधिष्ठिर को छः राजगुणों, सात उपायों, बलाबल तथा राजाओं के चौदह दोषों की भली-भाँति परीक्षा करने का परामर्श दिया है। इसमें जिन चौदह दोषों के परिहार पर बल दिया गया है, वे हैं– नास्तिकता, क्रोध, अनवधानता, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियों से अमेल, चित्त की चंचलता, एक के साथ विषय की चिन्ता, अर्थ न जानने वाले लोगों से युक्ति, ज्ञात कर्म के प्रारम्भ की अवहेलना, मन्त्रणा-अभाव, मंगल कार्यों के प्रति उदासीनता तथा विषयों के बारे में सलाह न करना।[६७]

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्।।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्।।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश।।[६८]

रामायण और महाभारत में उपलब्ध राजदोषविषयक साम्य महाभारत

को पूर्वप्रतिपादित निर्देशों से युक्त सिद्ध करता है। व्यास ने स्वयं इसे स्वीकार किया है। उनका अभिप्राय उन यमों और नियमों की सार्वकालिक और सार्वभौमिक अपेक्षा को स्पष्ट करना है, जिनके बिना हमारी संस्कृति की सनातनता की रक्षा असंभव है।

आरण्यकपर्व में अपरिग्रहविषयक अपेक्षा की प्रतिष्ठा के जो प्रसंग उपलब्ध होते हैं उनमें से व्यास-युधिष्ठिर-संवाद सर्वप्रथम है। व्यास के अनुसार शारीरिक दुःख के मूल कारण व्याधि, अनिष्ट की प्राप्ति, श्रम और प्रिय वस्तु की अप्राप्ति हैं।[६९] तदनन्तर पाण्डित्य की प्राप्ति के लिए प्राणियों को यौवन, रूप, जीवन, धनसंचय, प्रभुता और मोह की अतिशयिता से अनासक्त रहने का परामर्श दिया गया है।[७०] आगे चलकर व्यास ने दान, यज्ञ, पण्डितों की पूजा, वेदाध्ययन तथा साधुता को बलवान् धर्म घोषित किया है।[७१] इससे पूर्व युधिष्ठिर तथा द्रौपदी का संवाद अक्रोध की प्रशस्ति का विशिष्ट प्रसंग सिद्ध होता है। इसे प्रजाओं के नाश का मूल, कटु वचनों से जन्य निरादर का कारण, कथ्य एवं अकथ्य के विवेक का हरण करने वाला तथा स्वनाश का जनक मानते हुए क्रोधी पर क्रोध न करने वाले को अपने और दूसरे को महाभय से बचाने वाला कहा गया है।[७२] युधिष्ठिर ने प्राणियों को असत्य की अपेक्षा सत्य, निर्दयता की अपेक्षा सदयता का आश्रय लेने का आग्रह किया है।[७३] युधिष्ठिर ने क्रोध को रजोगुण के आश्रित माना है और इसकी उत्पत्ति का लक्ष्य लोक का नाश स्वीकार किया है।[७४] केवल अर्थ का आश्रय ही परिग्रह है। व्यास ने इसके परिहार के लिए मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम का समन्वित सेवन करने का परामर्श दिया है।[७५] यह परामर्श प्राणियों द्वारा अपरिग्रह के निर्वाह की अनिवार्यता को सिद्ध करता है। युधिष्ठिर तथा सर्प के संवाद में सत्य, दान, क्षमा, शील, अक्रूरता, दम तथा दया ब्राह्मण के लक्षण घोषित किए गए हैं।[७६] यदि ये ही लक्षण किसी शूद्र में विद्यमान हों तो युधिष्ठिर उसे शूद्र स्वीकार नहीं करते।[७७] व्यास ने इस माध्यम से अपरिग्रह को वर्णवैशिष्ट्य का मूल घोषित किया है। मार्कण्डेय तथा युधिष्ठिर के संवाद में शम और अक्रोध को ईश्वर को प्राप्त करने का साधन घोषित किया गया है। ईश्वर को लोभी, कृपण और आत्मा के शत्रुओं के द्वारा अप्राप्य दर्शाकर अपरिग्रह के संस्कार जगाने का प्रयास किया गया है।[७८] मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर से कृपावान्, सर्वभूतहितेरत, मत्सररहित होकर धर्म में तत्पर रहने और अधर्म से निवृत्त रहने का आग्रह किया है।[७९] ब्राह्मण को झूठ के त्याग, अकारण हितकर कर्म करने तथा अक्रोध एवं

अविद्वेष से युक्त होकर धर्म का पालन करने का परामर्श दिया गया है।[८०] व्यास द्वारा की गई शिष्टाचारप्रशस्ति में गुरुसेवा, सत्यकथन, अक्रोध तथा दान को शिष्ट कर्म घोषित किया गया है।[८१] शिष्टाचार से युक्त प्राणी के लक्षणों का विवेचन करते हुए कहा गया है—

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहंकारमत्सराः।
ऋजवः शमसंपन्ना शिष्टाचारा भवन्ति ते।।[८२]

साधु-लक्षणविवेचन के अनुसार, अहिंसा, सत्यवचन, कृतज्ञता, सरलता, अविद्वेष, अभिमानराहित्य, लज्जा, सहिष्णुता, दम, शमबुद्धि, धारणा, प्राणियों पर दया तथा काम एवं द्वेष से निवृत्ति ही साधु के लक्षण हैं।[८३]

ब्राह्मण-धर्मव्याध के संवाद के अनुसार स्वर्ग और नरक दोनों इन्द्रियों से निर्मित हैं। जितेन्द्रियता स्वर्ग है और असंयतेन्द्रियता नरक।[८४] अपरिग्रह के लिए इन्द्रियसंयम अवश्यम्भावी होने के कारण इस उक्ति में अपरिग्रह का परोक्ष समर्थन उपलब्ध होता है। असंग्रह, सन्तोष, आशानिवृत्ति तथा अचापल्य को परम ज्ञान और उत्तम आत्मज्ञान घोषित करके अपरिग्रह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[८५] अपरिग्रह के निर्वाह को शोकरहित स्थान की प्राप्ति का साधन घोषित करते हुए कहा गया है—

परिग्रहं परित्यज्य भव बुद्ध्या यतव्रतः।
अशोकं स्थानमातिष्ठेन्निश्चलं प्रेत्य चेह च।।[८६]

व्यास के अनुसार सत्य, कोमलता, अक्रोध, दान, दम, शम, अविद्वेष, अहिंसा, शौच और जितेन्द्रियता पुण्यशाली पुरुषों के साधन हैं।[८७] युधिष्ठिर तथा यक्ष के संवाद के अनुसार देवता, अतिथि, पितर, सेवक तथा अपनी आत्मा को यथायोग्य पदार्थ न देने वाला व्यक्ति सांस लेते हुए भी मरा हुआ ही है।[८८] इसी प्रसंग में अभिमानराहित्य को सर्वप्रियता, अक्रोध को विषादपरिहारक, काम के परित्याग को धन तथा अलोभ को सुख का मूल घोषित किया गया है।[८९] वस्तुतः यक्ष तथा युधिष्ठिर का संवाद धर्म द्वारा ली गई युधिष्ठिर की परीक्षा का संक्षिप्त विवेचन है। इसमें धर्मविषयक सिद्धान्तों का सारगर्भित संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है। इस संवाद के माध्यम से व्यास ने प्राणियों को धर्म के प्रति उन्मुख होने की प्रेरणा दी है। यक्षरूपी धर्म ने यश, सत्य, दम, शौच, कोमलता, लज्जा, दान, तप और ब्रह्मचर्य को अपने शरीर घोषित किया है।[९०] यही कारण है कि हमारी संस्कृति में इन्हें धर्म के आधारस्तम्भ माना जाता है। अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच तथा

प्रमादराहित्य धर्म की प्राप्ति के द्वार घोषित किए गए हैं।[६१] आरण्यकपर्व में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा के सन्दर्भ व्यास के उस सिंहनाद को यथार्थ घोषित करते हैं, जिसमें उन्होंने प्राणियों से केवल धर्म का आश्रय लेने की बात की है।

उद्योगपर्व में धर्म की प्रतिष्ठा तथा यम-नियमों का विवेचन धृतराष्ट्र के विषाद को दूर करने के लिए हुआ है। उनके विषाद का कारण दूसरों का मान मिटाकर अपना मान चाहने वाले, ईर्ष्यालु, क्रोधी, अर्थ तथा धर्म का उल्लंघन करने वाले, कटु वचनों से युक्त, क्रोध और दीनता के वशवर्ती, कामात्मा एवं द्रोह की भावना से युक्त दुर्योधन के प्रति मोहान्धता है। यह उन्हें जानबूझकर धर्म और काम का परित्याग करने के लिए विवश कर देती हैं।[६२] विदुर धृतराष्ट्र के विषाद के परिहार के लिए उन्हें वेदोक्त राजधर्म का उपदेश करते हैं। इस उपदेश में वर्णाश्रमधर्मविषयक मान्यताएँ भी सन्निहित हैं। उद्योगपर्व में अपरिग्रह के निरूपण के लिए विदुरनीति का आश्रय लिया गया है। विदुरनीति के अनुसार पण्डित बुद्धि से युक्त प्राणी दुर्लभ वस्तु की कामना नहीं करते। खोई हुई वस्तु के विषय में शोक नहीं करते और विपत्ति में विषादग्रस्त नहीं होते।[६३] उनके अनुसार जो स्वयं दोषयुक्त व्यवहार करते हुए दूसरे को उसके दोष बताकर उस पर आक्षेप करता है, वह मनुष्य महामूर्ख है।[६४] विदुर ने राजा के लिए सुख के जिन साधनों को उचित बताया है वे हैं– स्त्रीविषयक अनासक्ति, जुआ, शिकार, मद्यपान, वचन की कठोरता, कठोर दण्डविधान तथा धन के दुरुपयोग से निवृत्ति।[६५] इसके अतिरिक्त जो गुण राजा से सदा व्यवहार्य स्वीकार किए गए हैं, वे हैं– अक्रोध, सुपात्र को दान, शस्त्रों की विशेषज्ञता।[६६] राजा की प्रसिद्धि के स्रोतों की चर्चा करते हुए कहा गया है–

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुर्दानकृच्छुद्धभावः।
अतीव संज्ञायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः।।[६७]

अपरिग्रह की विशिष्टता को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि अपनी उन्नति चाहने वाले व्यक्ति को वही वस्तु खानी या ग्रहण करनी चाहिए जो परिणाम में अनिष्टकर न हो।[६८] अपरिग्रह को समृद्धि का साधन घोषित करते हुए कहा गया है, जो इस जगत् में धर्म तथा अर्थ का विचार करके विजयसाधक सामग्री का संचय करता है, वह उस सामग्री से युक्त होने के कारण सदा समृद्धिशाली होता रहता है।[६९] जिन १२ दोषों को मनुष्य द्वारा सदा सर्वदा त्याज्य घोषित किया गया है, वे हैं–काम, क्रोध, लोभ, मोह,

वाद-विवाद करने की इच्छा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या तथा निन्दा।[१००] इसके विपरीत ब्राह्मण के लिए जिन १२ महाव्रतों का सदा सर्वदा सेवन यथेष्ट घोषित किया गया है वे हैं–धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, तप, अमात्सर्य, लज्जा, सहनशीलता, अदोषदृष्टि, यज्ञकर्म, दान, धैर्य तथा शास्त्रज्ञान।[१०१] इस माध्यम से परिग्रह के निषेध की अपेक्षा तथा अपरिग्रह के निर्वाह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। उद्योगपर्व में प्रतिपादित अपरिग्रहविषयक सामग्री मानवजीवन में अभ्युदयविषयक वैभव तथा निःश्रेयसविषयक ज्ञान के लिए अपरिग्रह के निर्वाह को अपेक्षित सिद्ध करती है। आदिपर्व की भाँति उद्योगपर्व में भी व्यास ने अपरिग्रह के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए संक्षेप का आश्रय लिया है। इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए परम नीतिज्ञ विदुर का अवलम्बन समस्त प्राणियों में इसकी अपरिहार्यता को स्वाभाविकता प्रदान करने में समर्थ सिद्ध होता है। परिग्रह के परिहार हेतु विदुर ने जिस मनोवैज्ञानिक शैली का आश्रय लिया है, वह इस प्रकार मुखरित होती है–

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषणौ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः।।[१०२]

भीष्मपर्व का शीर्षरत्न कृष्ण-अर्जुन का संवाद गीतोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इसका सुनियोजन अर्जुन के विषाद के परिहार के लिए हुआ है। व्यास ने इसमें धर्मविषयक समस्त मान्यताओं की प्रतिष्ठा भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से कराई है। इसमें उल्लिखित धर्मविषयक उपदेश को भगवदादेश घोषित करके प्राणी को प्रवृत्त रहने का सद् आग्रह उपलब्ध होता है। मनुष्य की सर्वतः संग्रह की दुर्वृत्ति का मूल विषयों में आसक्ति की अतिशयिता है। इसके परिणामस्वरूप वह जितेन्द्रिय होने की अपेक्षा असंयतेन्द्रिय हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसके विनाशकारी दुष्परिणामों से अवगत कराते हुए कहा है कि विषयों में आसक्ति की वृद्धि काम की जननी है। काम की तृप्ति में विघ्न होने से क्रोध का जन्म होता है। क्रोध संमोह का जनक है और संमोह स्मृतिभ्रंश का। स्मृति का नाश बुद्धिनाश का कारण बनता है। बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।[१०३] इस दृष्टि से परिग्रह सब दुःखों का मूल सिद्ध होता है। इसके लिए अपरिग्रह आवश्यक है। इसका प्रादुर्भाव इन्द्रियसंयम द्वारा ही संभव है। अपरिग्रह के लिए निःस्पृह होना परम आवश्यक है। इसे शान्ति का मूल घोषित किया गया है।[१०४] राग एवं द्वेष तथा क्रोधराहित्य को परब्रह्म रूप की

प्राप्ति का साधन घोषित किया गया है।[१०५] भगवान् श्रीकृष्ण ने समस्त भूतों से वैरराहित्य, सबके प्रति मैत्रीभाव, ममताराहित्य, अहंकारराहित्य, सुख एवं दुःख के प्रति समभाव, क्षमा, तुष्टि, स्थितप्रज्ञता तथा त्रिविध ईश्वरप्रणिधान के सतत निर्वाह को ईश्वरप्रियता के साधन घोषित किया है।[१०६] दैवी तथा आसुरी सम्पत्तिविवेचन के अन्तर्गत निर्भयता, सात्त्विक वृत्ति, स्वाध्याय, (स्वधर्म के अनुसार आचरण) दान, दम, यज्ञ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफलानासक्ति, शान्ति, अदोषदृष्टि, सब भूतों पर दया, अलोभ, मृदुता, कोमलता, लज्जा, अचापल्य, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, अन्तर्बाह्य शौच, अद्रोह, निरभिमान के आश्रय को दैवी सम्पत्ति का आश्रय घोषित करके अलोभ, मृदुता, अदोषदृष्टि की प्रतिष्ठा के माध्यम से अपरिग्रह के निर्वाह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[१०७] दैवी सम्पत्ति को मुक्ति का और आसुरी सम्पत्ति को बन्धन का कारण घोषित किया गया है।[१०८] इस उक्ति में यजुर्वेद के उस अमर सन्देश का अनुरणन उपलब्ध होता है जिसके अनुसार प्राणियों को दुरिताओं से निवृत्त तथा भद्रताओं में प्रवृत्त रहने का आग्रह किया गया है।[१०९] गीता के त्रिगुणविवेचन में जिन उत्तम, मध्यम और अधम वृत्तियों का विवेचन किया गया है, उनके अनुसार प्राणियों के लिए सत्त्व वृत्ति का आश्रय ही यथेष्ट माना गया है। इसके अनुसार परिग्रह वृत्ति रजोगुणी है। अतः त्याज्य है।[११०] भीष्मपर्व में अपरिग्रहविषयक परिशीलन से पता चलता है कि व्यास का अभिप्राय प्राणियों में धर्म के निर्वाह की योग्यता के संस्कार जगाना था। तदनुसार ही भीष्मपर्व में इसे दैवी सम्पत्ति, सत्त्व गुण, ब्रह्मपद की प्राप्ति का साधक तथा मोक्षसाधक दर्शाकर इसकी आवश्यकता स्पष्ट की गई है। अपरिग्रह से युक्त प्राणी को ब्रह्मभूत होने की योग्यता से युक्त दर्शाकर उनकी प्रकृति का चित्रण इस प्रकार किया गया है–

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।[१११]

शान्तिपर्व में व्यास ने समस्त जीवनविषयक मान्यताओं के विवेचन तथा मनुजोचित धर्म के निरूपण के लिए विस्तार का आश्रय लिया है। इसमें मनुष्य द्वारा व्यवहार्य कर्मों की प्रतिष्ठा भिन्न-भिन्न माध्यमों से की गई है। विविध मनीषियों, धर्मप्रवर्तकों, शास्त्रविदों तथा विशेषज्ञों के माध्यम से जिन धार्मिक अपेक्षाओं को अनुकार्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उन्हीं को व्यवहार्य दर्शाने के लिए विविध आख्यानों का आश्रय लिया गया

है। धर्म का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं, जिसका वर्णन शान्तिपर्व में उपलब्ध न होता हो। इसमें उल्लिखित सामग्री व्यास की उस उक्ति को यथार्थ सिद्ध करती है, जिसके अनुसार उन्होंने महाभारत को योगशास्त्र, विज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्म, अर्थ और काम के वर्णन करने वाले ग्रन्थों के सार से युक्त तथा संसार में सुखपूर्वक जीने के सभी साधनों के वर्णन से सम्पन्न घोषित किया है। व्यास की इस उक्ति की सार्थकता शान्तिपर्व में अपनायी गयी वर्ण्य विषय की विस्तारपूर्वक व्याख्या से स्वयं सिद्ध हो जाती है।

राजधर्म की चर्चा के अन्तर्गत अविश्वास तथा परिग्रह को राज्य के विनाश का कारण माना गया है। इसके विपरीत बुद्धिमान्, न्यायशील, पराए छिद्रों का अनुसन्धान करने वाले, प्रसन्नमुख, चारों वर्णों को नियमों में स्थित करने वाले, उनके न्याय एवं अन्याय को समझने वाले, अक्रोधी, कृपा करने वाले, मनस्वी, नीरोगी, उद्योगी, आत्मश्लाघा से रहित राजा को 'राजसत्तम' पद की योग्यता से युक्त दर्शाया गया है।[११३] इस कथन के अनुसार राजधर्म में दुर्वृत्तियों का त्याग और सद्वृत्तियों का पालन अपेक्षित घोषित किया गया है। राजतन्त्र के प्रादुर्भाव की आवश्यकता के माध्यम से अराजकताजन्य दोषों का वर्णन करते हुए उन्होंने प्राणियों में लोभ और मोह के दुर्भावों के प्रादुर्भाव को वेदधर्म के लोप का कारण घोषित किया है।[११४] वस्तुतः इससे अभिप्राय परिग्रह के प्रतिषेध के माध्यम से अपरिग्रह की प्रतिष्ठा है। भीष्म द्वारा किए गए आश्रमधर्म के विवेचन के अनुसार संन्यासी के लिए दिन में निद्राराहित्य, आत्मस्वार्थ की अनिच्छा, मननशीलता, धार्मिकता, जितेन्द्रियता और अपरिग्रह के निर्वाह को आवश्यक घोषित किया गया है।[११५] गृहस्थ आश्रमी के लिए इन्द्रियसंयम, हव्य-कव्य में आलस्यरहित रहना, द्विजों को सदा सर्वदा अन्नदान, अमात्सर्य, धर्मावलम्बन तथा वेद द्वारा विहित कर्मों में निष्ठा का निर्वाह यथेष्ट माना गया है।[११६] अन्य पर्वों की भाँति शान्तिपर्व में भी विविध यमों की महत्ता ब्राह्मणों के लक्षणों के विवेचन के अन्तर्गत स्पष्ट की गई है। इसके अनुसार ब्राह्मण धर्म के आचरण के लिए इन्द्रियसंयम, शील, दयाभाव, सहनशीलता, आशाराहित्य, सरलता, कोमलता, अक्रूरता और क्षमावत्ता का निर्वाह अपेक्षित है।[११७] अराजक राज्य में व्याप्त अराजकता का मूल अनिष्ट चिन्तन की व्यापकता स्वीकार किया गया है।[११८] इससे अभिप्राय परिग्रह को निषिद्ध घोषित करना है। राजतन्त्र की स्थापना का कारण निष्ठुर वचनकथन,

परस्त्रीगमन और स्तेय माना गया है।[119] इस माध्यम से परिग्रह के परिहार को राजकर्तव्य घोषित किया गया है। शान्तिपर्व में अराजकताजन्य दोषवर्णन वाल्मीकिरामायण का अक्षरशः अनुरणन सिद्ध होता है। राजा के लिए जिन ३६ गुणों का सेवन अपेक्षित माना गया है। उनमें से निष्ठुर प्रचार से निवृत्ति एक है।[120] निष्ठुर आचार को राजधर्म के निर्वाह में निषिद्ध घोषित करके प्राणियों में अपरिग्रह के निर्वाह के संस्कार जगाए गए हैं। राजा के लिए अपरिग्रह के आश्रय को अनिवार्य घोषित करके कहा गया है जो मूढ राजा काम तथा क्रोध के वश में होकर धनसंग्रह करने की इच्छा करता है वह धन या धर्म कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। कृष्ण तथा नारद के संवाद में यथाशक्ति अन्नदान, सहनशीलता, संयम, सरलता और दूसरों की यथायोग्य पूजा को अनायास शस्त्र घोषित किया गया है। इन्हें कटुवादी जाति में व्याप्त कुटिल अभिप्राय, कुवाक्य और दुष्ट संकल्प के परिहार में सक्षम दर्शाकर उनके लिए वाचिक और मानसिक शान्ति का स्रोत घोषित किया गया है।[121] इससे अभिप्राय अपरिग्रह के व्यवहार को अन्नदान, सहनशीलता, संयम तथा सरलता के निर्वाह में सन्निहित दर्शाना है। अन्यत्र की भाँति यहाँ भी समस्त सामाजिक अनुशासनों को परस्पर समाश्रयी सिद्ध किया गया है। इनका सम्यक् निर्वाह सभी के समग्र पालन में सन्निविष्ट दर्शाया गया है।

राजा द्वारा अधर्माचरण को प्रजा के नाश का कारण घोषित करके राजा के लिए समस्त यम-नियमों के यथेष्ट निर्वाह को अपेक्षित घोषित किया गया है।[122] राजा द्वारा अर्थानुष्ठान न करना, कामाचार तथा स्वप्रशंसा में प्रवृत्ति को उसके अविलम्ब नाश का कारण माना गया है।[123] यह राजधर्म में अपरिग्रह के आश्रय को वांछित घोषित करता है। राजा द्वारा धन की विशेष रूप से वृद्धि के लिए जिन आठ गुणों को उद्दीपक माना गया है, वे हैं—धारणा शक्ति, दक्षता, संयम, उत्तम बुद्धि, धैर्य, वीरता, देशकाल का ज्ञान तथा सावधानी।[124] आपद्धर्म में अलोभ के महत्त्व की प्रतिष्ठा अपरिग्रह की अपेक्षासिद्धि के लिए हुई है। लोभ को सब जीवों में अविश्वास, सबके प्रति असम्मान, सब प्राणियों के प्रति द्रोह, अयुक्त व्यवहार, मन और वाणी का आवेग, परनिन्दाप्रवृत्ति, इन्द्रियपरतंत्रता तथा उदरलोलुपता का मूल घोषित करके परिग्रह के परिहार को वांछित घोषित किया गया है।[125] राग एवं द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, विषयासक्ति तथा दूसरों की वृद्धि में परिताप को अज्ञान का मूल दर्शाकर

परिग्रह को त्याज्य घोषित किया गया है।[१२६] अकार्पण्य को दम की सिद्धि के लिए अपरिहार्य दर्शाकर अपरिग्रह के निर्वाह को यथेष्ट घोषित किया गया है।[१२७] मनसा, वाचा, कर्मणा समस्त जीवों के प्रति अद्रोह, अनुग्रह और दान को साधुओं का सनातन धर्म घोषित करके अपरिग्रह के निर्वाह की अनिवार्यता सिद्ध की गई है–

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः।।[१२८]

मोक्षधर्म का प्रारम्भ आश्रमधर्म की व्याख्या से होता है। इसमें सभी वर्णों और आश्रमों के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा सभी प्राणियों के विषय में असत् अभिप्राय व पापभावना का सर्वथा परित्याग ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन घोषित किया गया है। अपरिग्रह को सर्वथा समर्पित एक उपदेश के अनुसार वास्तविक सुख तृष्णा के त्याग में ही निहित है। तृष्णा का त्याग ही अपरिग्रह का निर्वाह है। मनुष्य को मृत्युञ्जयता के लिए दिए गए परामर्श के अनुसार मृत्युञ्जयता के लिए समस्त यम-नियमरूपी सत्य व्रत का आचरण अपेक्षित दर्शाया गया है। यह मात्र सद्वृत्तियों के आश्रय का परामर्श सिद्ध होता है।[१३०] इन्द्र तथा ब्राह्मण के संवाद में अपरिग्रहजन्य शान्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है–जो मनुष्य धनरत्नों का परित्याग करने से उनकी आसक्ति से विमुख तथा आशारहित हुआ है, उसका अग्नि, आदित्य आदि उपद्रव, मृत्यु तथा डाकू लोग कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते।[१३१] परिग्रह को भयावह दर्शाते हुए कहा गया है कि धनवान् क्रोध और लोभ से युक्त होकर विचारशक्ति से रहित होता है। वह वक्रदृष्टि, रूखे मुख तथा कुटिल भौं से विकृत होकर पापकर्म में रत रहता है। क्रोधयुक्त होकर ओष्ठ चबाता हुआ निष्ठुर वचन बोलता है। वह यदि पृथ्वी का राज्य भी दान करने की इच्छा करे तो भी कोई पुरुष उसे देखने की इच्छा नहीं करता।[१३२] मंकि गीता के अनुसार अपरिग्रह का सम्यक् निर्वाह लोभ और तृष्णा में अनासक्ति है। उनका मत है कि धन की लालसा से सुखलाभ नहीं होता। धन प्राप्त होने पर भी बहुत सी चिन्ता रहती है। प्राप्त धन के नष्ट होने से मृत्यु के समान दुःख होता है।[१३३] उन्होंने अर्थलोभ को समस्त दुःखों का मूल माना है। वे अनुभूत अनन्त सुख का मूल अपरिग्रह के यथेष्ट पालन में निहित मानते हैं–

प्रहाय कामं लोभं च क्रोधं पारुष्यमेव च।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान्।।[१३४]

मंकि गीता के माध्यम से अपरिग्रह की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस लोक में जो कुछ काम का सुख है, स्वर्ग में जो कुछ दिव्य महान् सुख है, वह सब तृष्णाक्षय रूपी सुख के सोलहवें अंश के समान भी नहीं है। मंकि का अमरत्व लाभ जिन सात दुरिताओं की निवृत्ति में निहित दर्शाया गया है वे हैं–क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ममता तथा काम।[१३५] वस्तुतः इनमें आसक्ति ही सर्वतः संग्रह के महादोष की जननी है और इनसे निवृत्ति अपरिग्रह के उदय का स्रोत।

इन्द्र तथा कश्यप के संवाद के माध्यम से परिग्रहजन्य विषाद की उत्तरोत्तर वृद्धिप्राप्ति की चर्चा करते हुए कहा गया है कि प्रिय वस्तु के मिलने से कभी तृप्ति नहीं होती। बहुत जल रहने पर भी बढती प्यास कभी शान्त नहीं होती। काष्ठ प्राप्त होने से अग्नि की भाँति प्रिय वस्तुओं के मिलने से विषय तृष्णा उत्तरोत्तर बढती है।[१३६] इस संवाद में परिग्रह के परित्याग और अपरिग्रह के आश्रय को शान्ति का मूल घोषित करके व्यास ने प्राणियों को इसकी अपरिहार्यता से अवगत कराया है। भारद्वाज तथा भृगु के संवाद के अनुसार प्राणियों के लिए क्रोध से तपस्या, मत्सर से धन-सम्पत्ति, मान तथा अपमान से विद्या तथा प्रमाद से आत्मा की रक्षा करनी उचित दर्शायी गयी है।[१३७] इस संवाद के अन्तर्गत आश्रमधर्म का संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है। इसमें समस्त आश्रमों द्वारा व्यवहार्य कर्तव्यों एवं अकर्तव्यों की चर्चा उपलब्ध होती है। ब्रह्मचारियों के लिए परिव्राजक व्रत का निर्वाह उचित माना गया है। ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा आदि से प्राप्त हुई समस्त वस्तुओं को गुरु को अर्पण करने का परामर्श इस आश्रम में अपरिग्रह के पालन को स्वयं सिद्ध कर देता है।[१३८] गृहस्थ के लिए मात्र देवताओं की कृपा से प्राप्त धन के द्वारा गार्हस्थ्य आश्रम का निर्वाह करना यथेष्ट माना गया है।[१३९] वानप्रस्थी के लिए अपरिग्रह के पालन को परम आश्रय घोषित करते हुए कहा गया है– **'वानप्रस्थानां द्रव्योपस्कार इति प्रायशः।'** समस्त आश्रमों में अपरिग्रह की अनिवार्यता की सिद्धि की पराकाष्ठा संन्यास आश्रमी के लिए समस्त स्नेहपाशों से निवृत्ति में दर्शायी गयी है।[१४०] भीष्म ने अनसूया, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, प्रियवादिता, सत्य, दान और अनायास कर्म को महात्माओं का मार्ग दर्शाकर अपरिग्रह को मानवाचार का अभिन्न अंग घोषित किया है।[१४१] इन्द्र तथा प्रह्लाद के संवाद में परब्रह्मदर्शन की योग्यता ममताराहित्य, अहंकाराहित्य, वासनाराहित्य, बन्धननिवृत्ति तथा देह आदि में अनभिमान के अनुभव में निहित दर्शायी गयी

है।[१४२] व्यास तथा शुक के संवाद में गृहस्थ की जिन चार वृत्तियों का विधान मिलता है, उन सभी में अपरिग्रह को गृहस्थ आश्रम का परम आश्रय घोषित किया गया है।[१४३] व्यास के अनुसार अपरिग्रह का पालन वानप्रस्थियों के लिए भी उतना ही अपरिहार्य है, जितना गृहस्थ आश्रमियों के लिए।[१४४] व्यास ने अनिष्ट आचरण से निवृत्ति को ब्रह्मत्व लाभसाधक घोषित करते हुए कहा है–

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा।।[१४५]

जाजलि तथा तुलाधार के संवाद में तुलाधार के सनातन धर्म के सम्यक् ज्ञान का आधार अपरिग्रह का पालन दर्शाया गया है।[१४६] परिग्रह को धर्मदोष घोषित करते हुए कहा गया है कि वित्तपरायण, लोभी तथा नास्तिक लोग ही धर्मह्रास का कारण हैं। यज्ञ में दक्षिणालोलुपता चोरी तथा अकल्याणकारी विपरीत कार्यों की जननी घोषित की गई है।[१४७] सर्वमय विराट् पुरुष को अन्तर्स्थित मानना हमारी परम्परा की विशिष्टता है। हमारा महाभारत से पूर्ववर्ती समस्त साहित्य इसी सत्य की सिद्धि के लिए वचनबद्ध है। प्राणी को इसका आभास कराना इसकी विशिष्टता है। यह आभास तब तक संभव नहीं जब तक व्यक्ति समस्त जीवों को मनसा, वाचा, कर्मणा अपने जैसा नहीं मान लेता। इसके लिए संशयराहित्य स्थिति की उपलब्धि आवश्यक है। यजुर्वेद में इसके लिए प्राणी से आग्रह किया गया है कि वह अनुभव से अपनी आत्मा को सभी आत्माओं में स्थित तथा सभी आत्माओं को अपनी आत्मा में उपस्थित देखें।[१४८] इसके लिए समस्त वैयक्तिक कामनाओं पर अंकुश आवश्यक है। यह अंकुश बाहु, वाक्य, उदर और उपस्थ पर नियन्त्रण द्वारा ही संभव है। महाभारत में कपिल तथा स्यूमरश्मि के संवाद के माध्यम से प्राणी से आग्रह किया गया है कि वह दोनों भुजा, वचन, उदर और उपस्थ की उत्तम रीति से रक्षा करने में प्रयत्नरत रहे। इसमें सर्वतः संग्रह (परिग्रह) का निषेध ब्रह्मलाभ के लिए अपरिग्रह के सदा सर्वदा पालन को निरन्तर अपेक्षित घोषित करता है।[१४९] बाहुरक्षा के लिए कपिल ने प्राणियों से द्यूतक्रीड़ा, स्तेय, उच्छिष्ट दान और क्रोध से निवृत्त रहने का आग्रह किया है। वचनरक्षा हेतु उनसे आक्रोश करने की इच्छा न करने, वृथा वचन न कहने, खलता और लोकापवाद से बचने, सत्ययुक्त, मित तथा प्रमादरहित वचन के प्रयोग का अनुरोध किया है। उदर की रक्षा के लिए सर्वथा अन्नत्याग निषिद्ध घोषित किया गया है

परन्तु अधिक भोजन से निवृत्त रहना भी यथेष्ट माना गया है। इसके लिए अलोलुप होकर साधुसंगति तथा देहयात्रा के निर्वाह के लिए थोड़ा सा आहार अपेक्षित घोषित किया गया है। उपस्थ की रक्षा के लिए भार्याव्रत के सदा सर्वदा निर्वाह का आग्रह किया गया है।[१५०] यह विश्लेषण मानवजीवन में अपरिग्रह के समग्र निर्वाह की अपेक्षा को स्वयं सिद्ध कर देता है।

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक्चतुर्थी स वै द्विजः।।[१५१]

शुक तथा नारद के संवाद में सनत्कुमार के उद्धरण के माध्यम से पापकर्म से निवृत्ति, पुण्य कर्म में प्रवृत्ति, सद्व्यवहार तथा सदाचार के आश्रय को उत्तम कल्याण का साधन माना गया है। इसमें यजुर्वेद सम्मत दुर्वृत्तियों के परिहार और सद्वृत्तियों के उदय का आग्रह उपलब्ध होता है।[१५२] काम और क्रोध को सबसे बड़ी दुर्वृत्तियां मानते हुए प्राणी से इनके परिहार का आग्रह किया गया है।[१५३] क्रोध से तपस्या की रक्षा, मात्सर्य से लक्ष्मी की रक्षा, मान एवं अपमान से विद्या की रक्षा तथा प्रमाद से आत्मरक्षा अपेक्षित स्वीकार की गई है। वस्तुतः इस माध्यम से अपरिग्रह का निर्वाह वांछनीय घोषित किया गया है। अकिञ्चनता, संतोष, कामना तथा चंचलता के त्याग को परम कल्याण का साधन घोषित करते हुए कहा गया है–

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम्।।[१५४]

इससे यह सिद्ध होता है कि जितेन्द्रियता तब तक संभव नहीं, जब तक आदमी अपरिग्रह का आश्रय नहीं ले लेता। जब हमारा स्वयं के प्रति स्नेह सबके प्रति उतना ही प्रगाढ हो उठता है जितना कि वह पहले स्वयं के प्रति होता है तो पृथ्वी स्वतः परिवार का रूप ले लेती है। तदनुसार ही अपरिग्रह के पालन को परम कल्याण का साधन माना गया है। भीष्म का मत है कि परिवार में आसक्तिग्रस्त मनुष्य उसी प्रकार अवसन्न होता है जिस प्रकार तालाब के कीचड़ में फंसा हुआ बूढा हाथी।[१५५] जीवन में अपरिग्रह के निर्वाह की सार्थकता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि साधारण मनुष्य पृथक् रूप से धन का संग्रह करते हुए विशेष धन की अवस्था प्राप्त होने पर भी तृप्त नहीं होते जबकि पण्डित लोग सन्तोषलाभ किया करते हैं।[१५६] शान्तिपर्व में अपरिग्रहविषयक विवेचन जीवन में अपरिग्रह के निर्वाह को नितान्त आवश्यक घोषित करतता है। इसका पालन परिग्रह के सर्वथा

निषेध द्वारा ही संभव है। तदनुसार ही परिग्रह को निषिद्ध घोषित करते हुए उसे निबन्धन का परम कारण ही नहीं माना गया, अपितु मानव का परम दोष भी घोषित किया गया है–

अलं परिग्रहेणेह दोषवान्हि परिग्रहः।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स्वपरिग्रहात्।।[१५७]

अनुशासनपर्व का शीर्षक इसे निर्देशविषयक घोषित करता है। इसमें लोककल्याणसाधक सामग्री के उपार्जन के लिए प्राणियों को उन दायित्वों के प्रति जागरूक रहने तथा उनके पालन में प्रयत्नरत होने के निर्देश उपलब्ध होते हैं, जो समष्टि और व्यष्टि में पूर्णसाम्य स्थापित करने में समर्थ हों। इस पर्व की अन्य विशिष्टता इसमें मानवोचित अनुशासनों के पालन को पुरस्कृत तथा उनकी अवहेलना को दुष्परिणाम की आशंका से ग्रस्त दर्शाकर मनुष्यमात्र को इनके पालन के लिए प्रेरित करने में निहित है। अन्य पर्वों की भाँति इस पर्व में भी परिग्रह को निषिद्ध घोषित किया गया है। भीष्म ने वेदविक्रय, वेददोषवर्णन तथा विक्रय हेतु वेदमन्त्रलेखन को नरक के द्वार घोषित किया है।[१५८] नारद तथा कृष्ण के संवाद में अतिथिसत्कार तथा देवताओं से बचे हुए शेष अन्न के भोजन को सम्मान का मूल घोषित किया गया है।[१५९] वस्तुतः अपरिग्रह को सम्मान का जनक घोषित करके प्राणियों में इसके संस्कार जगाए गए हैं। परिग्रहलोलुपता मनुष्य को कन्याविक्रय जैसी दुर्वृत्ति से ग्रस्त करा सकती है। प्राणियों को इससे निवृत्त रखने के लिए कन्याविक्रय द्वारा आसुर विवाह को असूयायुक्त, पापी, स्तेयी, शठ और धर्मविषम पुत्रों के जन्म का कारण मानते हुए प्राणियों को कन्या के विक्रयसम्बन्धी परिग्रह से निवृत्त रहने के निर्देश दिए गए हैं। महाभारत में केवल कन्याविक्रय को ही निषिद्ध घोषित नहीं किया गया, अपितु पुत्रविक्रय को भी नरक का द्वार घोषित किया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि पुत्रविक्रयी को नरक में अपने ही स्वेद, मूत्र और विष्ठा का भक्षण करना पड़ता है।[१६०] दान अपरिग्रह के अन्तर्निहित स्वीकार किया गया है। भीष्म ने युधिष्ठिर को दानयज्ञ को सदा सर्वदा चालू रखने का आग्रह करते हुए इसे सुदक्षिण तथा सर्वश्रेष्ठ यज्ञ घोषित किया है।[१६१] याचक को दिए गए दान को दयाधर्म घोषित करके जीवन में अपरिग्रह के निर्वाह को पराकाष्ठा प्रदान की गई है।[१६२] मानवजीवन में दान की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

मामेवादत्त मां दत्त मां दत्त्वा मामवाप्स्यथ।
अस्मिँल्लोके परे चैव ततश्चाजनने पुनः।।[१६३]

प्राणियों में अकार्पण्य के संस्कार जगाने के लिए भूमिदान को परम दान, माता को परम गुरु, सत्य को परम धर्म और दान को परम निधि घोषित किया गया है। अनुशासनपपर्व का ६२वां अध्याय दानमहिमा का विशद वर्णन है। इसमें विविध वस्तुओं के दान को विभिन्न फलों से पुरस्कार्य दर्शाकर प्राणियों में दानभावना के संस्कारों को उत्कर्ष प्रदान किया गया है। थके हुए और अपरिचित पथिक को प्रसन्नतापूर्वक अन्नदान धर्मसाधक घोषित किया गया है। धनसंचय का उद्देश्य दान सिद्ध करने के लिए सूर्य द्वारा किरणों से भूमि के रसग्रहण का उद्देश्य पवन द्वारा उनकी पृथ्वी पर पुनर्वृष्टि का उदाहरण दिया गया है।[१६४] अगले अध्याय में विविध नक्षत्रों में विविध वस्तुओं के दान के परिणामस्वरूप विविध फलों की चर्चा का उल्लेख उपलब्ध होता है। इसके अनुसार कृतिका नक्षत्र में घृतसहित पायस का दान उत्तम लोकसाधक है। रोहिणी नक्षत्र में घी, दूध तथा अन्नदान को उत्तम माना गया है। सोम दैवत मृगशिरा नक्षत्र में गोदान स्वर्गलोक के गमन का साधक घोषित किया गया है। आर्द्रा नक्षत्र में खिचड़ीदान क्लेशहारक स्वीकार किया गया है। पुनर्वसु नक्षत्र में घृतयुक्त पिण्डाकार पूपपुञ्ज के दान को उत्तम कुल में जन्म की पात्रता का साधक घोषित किया गया है। आश्लेषा नक्षत्र में चाँदी दान समस्त भयहारक माना गया है। मघानक्षत्र में तिलपूरित वर्धमान पात्र का दान संततिदायक सिद्ध किया गया है। परम सौभाग्य की प्राप्ति पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र में मक्खनसंयुक्त भक्ष्य सामग्री के दान के द्वारा सुलभ घोषित की गई है। तदनुसार ही अन्य नक्षत्रों में दूसरे दानों को वैभव लाभदायक दर्शाया गया है।[१६५] अन्य दानों की भाँति जलदान को भी स्वर्गसाधक घोषित किया गया है। इसमें मनुष्य को कूप और तडागखनन के लिए प्रेरित किया गया है।[१६६] घृतदान को अश्विनीकुमारों की प्रसन्नता का साधक घोषित किया गया है।[१६७]

लोभ को परिग्रह का जनक मानते हुए अलोभ को परम धर्म घोषित किया गया है। इससे अपरिग्रह के निर्वाह का परम धर्म होना स्वयं सिद्ध हो जाता है।[१६८] भीष्म द्वारा गृहस्थ आश्रमविषयक धर्म में अतिथि को परिभाषित करते हुए कहा गया है–**'अनित्यं ही स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते।'**[१६९] गृहस्थ आश्रम के असूयारहित प्रतिपालन को इस लोक में संवृद्धि तथा

परलोक में महत्त्व की प्राप्ति का साधन घोषित किया गया है।[१७०] दीपदान को ऊर्ध्व गतिदायक दर्शाकर व्यास ने प्राणियों में दानभावना के महत्त्व को स्प्ष्ट करते हुए अपरिग्रह की भावना के प्रादुभार्व का प्रयास किया है।[१७१] काम परिग्रह का जनक माना जाता है। तदनुसार ही प्राणियों की समृद्धि काम और क्रोध के संयम में निहित दर्शायी गयी है।[१७२] प्राणियों को निर्देश दिया गया है कि काम को वश में रखते हुए जो विषय अपने प्रतिकूल हों वह दूसरे के विषय में संधान न करे।[१७३] मोक्षार्थी मनुष्य के लिए गृह, जल, वस्त्र, आसन, त्रिदण्ड, शय्या, अग्नि तथा रक्षक के स्थान में अनासक्ति अपेक्षित मानी गई है।[१७४] अपरिग्रह के बिना मोक्षलाभ को असंभव दर्शाकर प्राणियों में इसके सतत निर्वाह की आवश्यकता को स्प्ष्ट किया गया है। वानप्रस्थी के लिए दारपरिग्रहराहित्य आवश्यक माना गया है।[१७५] उमा तथा महेश्वर के संवाद में अपरिग्रह की अनिवार्यता को सिद्ध करते हुए कहा गया है–

धर्मेणार्थः समाहर्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम्।
कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः।।[१७६]

महादेव के अनुसार दान, धर्म, तप, शील, शौच और दया मनुष्यों द्वारा सदा सेवनीय हैं। जो लोग मृदुभाषी, बाधारहित, मधुर व्यवहार से युक्त तथा निष्पाप भाषण की योग्यता से सम्पन्न हैं, वे निश्चित रूप से स्वर्गगामी हैं।[१७७] वस्तुतः उमा तथा महेश्वर के संवाद में मनुष्यों के लिए जिन स्वर्गसाधक दायित्वों का निर्वाह अपेक्षित दर्शाया गया है, उनमें सर्वत्र अपरिग्रह के निर्वाह का निर्देश उपलब्ध होता है। अनुशासनपर्व में अपरिग्रह के महत्त्व का स्पष्टीकरण दान के माध्यम से सर्वाधिक हुआ है। दान प्राणी में सर्वतः संग्रह के दुराग्रह के परिहार में समर्थ होने के कारण ही अपरिग्रह का अंग माना गया है। वस्तुतः इस पर्व में अल्पज्ञों के लिए अपरिग्रह की सार्थकतासिद्धि के लिए दानधर्म के विशुद्ध वर्णन का प्रावधान हुआ है। अनुशासनपर्व के अपरिग्रहविषयक परिशीलन को इस प्रकार सारबद्ध किया जा सकता है–

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः।
धर्मलब्धार्थमोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः।।[१७८]

महाभारत में यमपरिशीलन मनुष्य के विकासपथ की प्रगति को गति, सुगमता, शालीनता तथा भव्यता प्रदान करने को समर्पित है। महाभारतकार

ने कहीं भी उस सनातन पथ का उल्लंघन नहीं किया, जो पूर्व मनीषियों ने इनके पालन के लिए निर्धारित किया था। कृष्णद्वैपायन व्यास ने पूर्वप्रतिपादित उन आचारनिधियों को संवादों के जाज्वल्य, आख्यानों की ज्योति और जिज्ञासातुष्टि की आभा से युक्त करके इन्हें एक ऐसे सुव्यवस्थित, समस्त जीवों के हितचिन्तक, मंगलयुक्त तथा अभेदसम्पन्न समाज के संभाव्य का आधारस्तम्भ घोषित किया है, जिसके सभी प्राणी अन्योन्याश्रित हों। जिसमें किसी भी भेदविषयक समस्या के उत्पन्न होने की आशंका ही न रहे। यमों का पालन एक ऐसे समाज के उदय की पृष्ठभूमि सिद्ध होता है, जिसमें सभी प्राणियों के अन्तर्मन से स्वस्फुरित दायित्वभाव समूचे समाज की अधिकारसम्पन्नता के लिए चिन्तित रहे। समाज में कोई भी गतिरोध, अव्यवस्था अथवा अनियमितता तभी उत्पन्न होती है, जब मनुष्य आत्मलोलुप हो उठता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, जितेन्द्रियता (ब्रह्मचर्य) और अपरिग्रह का समाज के समस्त प्राणियों द्वारा समान रूप से स्वेच्छित पालन वर्णविषयक भेद में अभेद का संस्थापक होकर पारस्परिक द्वेष तथा ईर्ष्या जैसे दुर्गुणों का समूल विनाश कर देता है। सम्पन्नता और विपन्नता लय होकर समानता का रूप धारण कर लेती है। घृणा का विष स्नेह के अमृत से सर्वथा लुप्त हो जाता है। पारस्परिक सद्‌भाव, स्नेह, सहिष्णुता, अविद्वेष से युक्त होकर सभी प्राणी स्थायी आनन्द का उपभोग करने में सक्षम हो जाते हैं। वस्तुतः सभी द्वारा इनका निर्वाह धर्म को लोक को धारण करने की शक्ति से सम्पन्न करता है। व्यास ने इनको व्यवहार्य सिद्ध करने के लिए वेदों, उपनिषदों तथा धर्मशास्त्रों का आश्रय ही नहीं लिया, अपितु उन तत्त्ववेत्ताओं, धर्मप्रवर्तकों, योगविदों तथा सांख्यमनीषियों के संवादों का भी आश्रय लिया है, जिन्होंने जागतिक शान्ति तथा परमानन्द अनुभूति को मानवजीवन का परम लक्ष्य मानकर उसके लिए वांछित अपेक्षाओं का विवेकज प्रतिपादन तथा सैद्धान्तिक विवेचन किया है। विदुर तथा धृतराष्ट्र के संवाद में पूर्व प्रख्यात मनीषियों के कथनों के माध्यम से यमों के सदा सर्वदा पालन का परामर्श दिया गया है। भीष्मपर्व में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के माध्यम से श्रीकृष्ण के मुख से कहीं इन्हें दैवी सम्पत्ति घोषित किया गया है, तो कहीं ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के आधारस्तम्भ तथा भगवद्धर्मनिर्वाह के मूलतत्त्व। इन्हें धृतराष्ट्र का विषादहारक, अर्जुन की दुविधामुक्ति के साधन तथा युधिष्ठिर के संशयपरिहार के स्रोत घोषित करके व्यास ने इनको मनुष्य के कर्तव्यबोध के प्राणतत्त्व घोषित किया है। इनका पालन समस्त

वर्णों, सभी आश्रमों, विविध धर्मों तथा सभी योगसाधनों में अपरिहार्य दर्शाया गया है। इन्हें मनुष्य के अभ्युदय का साधक तथा निःश्रेयस साधना का मूल दर्शाकर इनकी इहलौकिक उन्नति के लिए अपेक्षा तथा पारलौकिक शान्ति के लिए वांछनीयता सिद्ध की गई है। जिस प्रकार अहिंसा को परम धर्म, परम सत्य तथा परम श्रेय घोषित किया गया है, उसी प्रकार समस्त जगत् को सत्य पर आधारित दर्शाया गया है। अस्तेय की स्थापना के लिए स्तेयजन्य घातक तथा विनाशकारी दुष्परिणामों के भय की व्याख्या करते हुए स्तेय को नरक का द्वार तथा अपर जन्म में तिर्यक् योनि का कारण सिद्ध करके जीवन में अस्तेय के निर्वाह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। व्यास द्वारा प्रतिपादित अस्तेय की अपेक्षा सर्वथा स्मृतिसम्मत है। यह आद्यन्त याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रायश्चित्त अध्याय के अनुकूल है। याज्ञवल्क्य ने यम के रूप में ब्रह्मचर्य को जितेन्द्रियता का पर्याय माना है। महाभारत में इसकी चर्चा इसी रूप में हुई है। विदुर ने धृतराष्ट्र को दिए गए नीति-उपदेश में इसके पालन को मनुष्य की मानसिक शान्ति का स्रोत घोषित किया है–

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्।
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।।[१७९]

भगवान् कृष्ण ने जितेन्द्रियता के बिना किसी भी कार्य की सम्पन्नता को असंभव दर्शाकर अर्जुन को दत्तचित्त होकर पुरुषार्थ में रत रहने का परामर्श दिया है। शान्तिपर्व में जितेन्द्रियता राजधर्म के निर्वाह के लिए अनिवार्य, वर्णाश्रम धर्माचरण के लिए अपेक्षित, आपद्धर्म में वांछित, मोक्षसिद्धि में श्रेयस्कर, योगसाधना में यथेष्ट और ब्रह्मानुभूति में परमलाभदायक सिद्ध की गई है। इसमें समस्त अन्य यमों को अन्तर्निहित दर्शाकर इसके स्वाभाविक पालन को परम धर्म घोषित किया गया है। अनुशासनपर्व में प्रतिपादित राजधर्म एवं सामान्य धर्मविवेचन में इसकी आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है। उमा तथा महेश्वर के संवाद में इसे राजा का परम धर्म घोषित किया गया है–

तत्र राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च।।[१८०]

अपरिग्रह यमपरिगणना में अन्तिम होते हुए भी अपेक्षा में सर्वप्रथम है। वस्तुतः सर्वतः संग्रह की दुर्वृत्ति भौतिक द्वन्द्ववाद की जननी है। इस समस्या

के समाधान के लिए भारतीय संस्कृति में एक यम अर्थात् अपरिग्रह के पालन में वर्गविषयक भेद के स्थायी उन्मूलन का प्रावधान उपलब्ध होता है। महाभारत में आद्यन्त प्राणियों में अलोभ, अविद्वेष, अतृष्णा तथा अजगर वृत्ति के निर्वाह पर बल दिया गया है। वास्तव में सर्वतः संग्रह की दुर्वृत्ति जब भाई-भाई में वैमनस्य का कारण बन सकती है तो दूसरे प्राणियों में इसका उदय पारस्परिक वैमनस्य का कारण बनना स्वाभाविक है। महाभारत में परिग्रह के सदा सर्वदा त्याग का परामर्श देते हुए व्यास ने प्रजागरपर्व में इसके पालन को समस्त अनर्थों से मुक्ति का साधन मानते हुए कहा है कि जो अपने आश्रितों को बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है, अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है तथा मांगने पर शत्रु को भी धन देता है उस मनस्वी पुरुष को सारे अनर्थ दूर ही से छोड़ देते हैं। भीष्मपर्व में श्रीकृष्ण ने काम, राग तथा द्वेषरहित अवश्य करणीय प्रशस्त कर्मानुष्ठान को सात्त्विक कर्म घोषित करके जीवन में अपरिग्रह के निर्वाह की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। शान्तिपर्व में अपरिग्रह की महत्ता का प्रतिपादन सर्वत्र उपलब्ध होता है। इसके बिना कोई भी प्रशस्त कर्म संभव नही दर्शाया गया है। व्यास ने यम-नियमों के विधान में स्वयं स्वीकार किया है कि स्वयम्भू मनु ने मानवजाति के कल्याण के लिए जो दस मर्यादाएँ निर्धारित की हैं उनका उल्लंघन मानवजाति को पतन के अथाह गर्त की ओर ही अग्रसर नहीं करता, अपितु अनन्त दुख का कारण भी बनता है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि उनकी यम-नियम-विधान की मुख्य पृष्ठभूमि वेद तथा स्मृतिग्रन्थ है।

सन्दर्भ

१. योगव्यासभाष्य, २.३०.

२. अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः। भोजवृत्ति, २.३०.

३. ग्रह उपादाने (उदात्तस्वरितेत्–क्रयादिगण)

४. अथर्ववेद, ४.२५.६.

५. यन्मेदमभिशोचति येन येन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात्।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः।। वही, ४.२६.७.

६. वही, ६.४१.३.

७. वही, ६.६.१-३.

८. वही, ६.१८.१-३.

६. यजुर्वेद, ३६.१८.

१०. अथर्ववेद, ३.३०.२.

११. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चःसव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। वही, ३.३०.३.

१२. वही, ३.२४.१.

१३. वही, ३.२४.५.

१४. मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्।। वही, ६.४१.१.

१५. सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्।।
समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। वही, ६.६४.१–३.

१६. प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्।। वही, ११.८.४.

१७. यजुर्वेद, २५.२१.; ऋग्वेद, १०.८६.१.

१८. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र।। अथर्ववेद, ८.४.२२.

१६. यजुर्वेद, ३६.४.

२०. अथर्ववेद, ६.६.१–५.

२१. पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्। ऋग्वेद, १०.११७.७.

२२. पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमुपतिष्ठन्त रायः।। वही, १०.११७.५.

२३. यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।।
मुण्डकोपनिषद्, ३.१.१०.

२४. तैत्तिरीयोपनिषद्, अनुवाक ६.

२५. The Principal Upnisadas Dr. S. Radhakrishnan, page137

२६. मनुस्मृति, ४.२०४.

२७. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.३१२-३१३.

२८. दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः।। मनुस्मृति, ४.२२७.

२६. वही, ४.२२७ (१७)

३०. वही, ४.२२६–२३४.

३१. दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति वत्सरात्रोमसंमितान्।
कपिला चेत्तारयति भूयश्चासप्तमं कुलम्।। याज्ञवल्क्यस्मृति, १.२०५.

३२. वही, १.२२४.

३३. नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक्।
नाहस्ताभरणो नापि दृश्यते नाप्यनात्मवान।। बालकाण्ड ६.११

३४. स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे।। बालकाण्ड, ६.१३.
३५. वही, ६.२१.
३६. नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा।। अयोध्याकाण्ड, १.१७.
३७. वही, १.२१.
३८. वही, २.२६–३२.
३६. वही, १००.११.
४०. दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघवः।। वही, १००.६८.
४१. त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः पापमन्त्रितः।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मति।। अरण्यकाण्ड, ३७.७.
४२. अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः।। वही, ४१.१५.
४३. आनयिष्यसि चेत् सीतामाश्रमात् सहितो मया।
नैव त्वमपि नाहं वै नैव लंका न राक्षसाः।। वही, ४१.१६.
४४. ऋषभं च सुविक्रान्तं प्लवङ्गं च सुपाटलम्।
केसरिं शरभं शुम्भं शंखचूडं महाबलम्।।
ये ये मे सुमहात्मानो मदर्थे त्यक्तजीविताः।
पश्य त्वं प्रीतिसंयुक्तो मा चैषां विप्रियं कृथाः।। उत्तरकाण्ड, ४०.७–८.
४५. बालकाण्ड, १.८–१४.
४६. आदिपर्व, १.६१–६६.
४७. वही, ५६.३३.
४८. भीष्मपर्व, २४.७१.
४६. अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। वही, ४०.५३.
५०. वही, ४०.६६.
५१. आदिपर्व, १.२०४.
५२. वही, ३८.८–६.
५३. लोक्यं धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः।
धर्मयुक्तस्ततो लोकान्पुण्यानाप्स्यसि शाश्वतान्।। वही, ५७.६.
५४. उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शुक्रस्य ये नराः।
भूमिदानादिभिर्दानैर्यथा पूता भवन्ति वै।
वरदान महायज्ञैस्तथा शुक्रोत्सवेन ते।। वही, ५७.२७.
५५. वही, ५७.७७–७६.
५६. वही, ६६.११–१५.
५७. वही, ८२.६–७.

५८. नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद्रुशतीं पापलोक्याम्।। आदिपर्व, ८२.८.
५६. अरुन्तुदं पुरुषं रूक्षवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम्।। वही, ८२.६.
६०. वही, ८२.१२.
६१. वही, ८५.२२–२४.
६२. धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत दद्यात्सदैवातिथीन्भोजयेच्च।
अनाददानश्च परैरदत्तं सैषा गृहस्थोपनिषत्पुराणी।। वही, ८६.३.
६३. वही, ८६.४.
६४. वही, ८६.५.
६५. अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः।
ग्राम एव वसन्भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः।। वही, ८७.२.
६६. वही, १४५.२४.
६७. सभापर्व, ५.११, ६६–६८;
६८. अयोध्याकाण्ड, १००.६५–६७.
६६. व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात्।
दुःखं चतुर्भिः शरीरं कारणैः संप्रवर्तते।। आरण्यकपर्व, २.२१.
७०. अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृध्येदेषु न पण्डितः।। वही, २.४५.
७१. दानं यज्ञः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम्।
एष धर्मः परो राजन्फलवान्प्रेत्य चेह च ।। वही, ३४.४५.
७२. वही, ३०.३–६.
७३. वही, ३०.१५.
७४. वही, ३०.२३.
७५. एवमेव पृथग्दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च।
न धर्मपर एव स्यान्नार्थपरमो नरः।
न कामपरमो वा स्यात्सर्वान्सेवेत सर्वदा।। वही, ३४.३८.
७६. वही, १७७.१६.
७७. वही, १७७.२०.
७८. प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन्नरैर्दुष्कृतकर्मभिः।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः।। वही, १८७.२४.
७६. दयावान्सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः।
अपत्यानामिव स्वेषां प्रजानां रक्षणे रतः।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितृन्देवांश्च पूजय।। वही, १८६.२१.
८०. मृषावादं परिहरेत्कुर्यात्प्रियमयाचितः।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत्।। वही, १६८.४०.
८१. गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मञ्शिष्टाचारेषु नित्यदा।। वही, १६८.६०.

८२. आरण्यकपर्व, १९८.७३.
८३. वही, १९८.८७–८८.
८४. इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च।। वही, २०२.१७.
८५. आकिंचन्यं सुसंतोषो निराशित्वमचापलम्।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम्।। वही, २०३.४६.
८६. वही, २०३.४७.
८७. वही, २४५.१७.
८८. देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न च जीवति।। वही, २६७.३६.
८९. मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति।
कामं हित्वाऽर्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत्।। वही, २६७.५७.
९०. यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम।। वही, २६८.७.
९१. वही, २६८.८.
९२. उद्योगपर्व, २६.१३–१४.
९३. नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः।। वही, ३३.२३.
९४. वही, ३३.३५.
९५. वही, ३३.७३–७४.
९६. यः काममन्यू प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च।
विशेषविच्छ्रुतवान्क्षिप्रकारी तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम्।। वही, ३३.८५.
९७. वही, ३३.१०१.
९८. वही, ३४.१४.
९९. समेवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान्योऽधिगच्छति।
स वै संभृतसंभारः सततं सुखमेधते।। वही, ३४.६४.
१००. क्रोधः कामो लोभमोहौ विवित्साकृपासूया मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा वर्ज्याः सदा द्वादशैते नरे।। वही, ४३.८.
१०१. धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य।। वही,४३.१२.
१०२. वही, ३३.५२.
१०३. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। भीष्मपर्व, २४.६२–६३.
१०४. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। वही, २४.१७.
१०५. वही, २६.१०.

१०६. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। भीष्मपर्व, ३४.१३–१४.

१०७. वही, ३८.२–३.

१०८. वही, ३८.५.

१०६. विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव।। यजुर्वेद, ३०.३.

११०. रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।। भीष्मपर्व, ४०.२७.

१११. वही, ४०.५४.

११२. सर्वातिशंकी नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत्।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बाध्यते।। शान्तिपर्व, ५७.२७.

११३. वही, ५७.३०–३२.

११४. भगवन्नरलोकस्थं नष्टं ब्रह्म सनातनम्।
लोभमोहादिभिर्भावैस्तो नो भयमाविशत्।। वही, ५६.२४.

११५. यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः।। वही, ६१.८.

११६. दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो अन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः।
अमत्सरी सर्वलिंगिप्रदाता वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात्।। वही, ६१.१२.

११७. वही, ६३.८.

११८. अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम्।। वही, ६७.३.

११६. वही, ६७.१८.

१२०. चरेद्धर्मानकटुको मुञ्चेत्स्नेहं न नास्तिकः।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत्काममनुद्धतः।। वही, ७१.३.

१२१. वही, ८२.२१–२२.

१२२. यच्च भूतं स भजते भूता ये च तदन्वयाः।
अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे सीदन्ति पार्थिव।। वही, ६२.१२.

१२३. अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः।
अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति।। वही, ६३.१०.

१२४. वही, १२०.३५.

१२५. वही, १५२.७–८.

१२६. वही, १५३.६–७.

१२७. अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता।
अविवित्सानसूया चाप्येषां समुदयो दमः।। शान्तिपर्व, १५४.१६.

१२८. वही, १५६.२१.

१२६. या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्।। शान्तिपर्व,१६८.४५.
१३०. वही, १६६.२७.
१३१. नैवास्याग्निर्न चादित्यो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनज्यानिनिर्मुक्तस्य निराशिषः।। वही, १७०.१२.
१३२. वही, १७०.१४–१५.
१३३. ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशो यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा।। वही, १७१.२६.
१३४. वही, १७१.४७.
१३५. वही, १७१.५१–५२.
१३६. न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति।
संप्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः।। वही, १७३.२५.
१३७. वही, १८२.१०.
१३८. वही, १८४.८. (३).
१३९. धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमवेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्याय-प्रकर्षोपलब्धेन ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा अद्रिसारगतेन वा हव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादो-पलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं प्रवर्तयेत्।। वही, १८४.१०.(४).
१४०. वही, १८५.३. (२).
१४१. अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम्। वही, २१३.१७.
१४२. वही, २१५.२६.
१४३. वही, २३५.२–४.
१४४. वही, २३६.८.
१४५. वही, २४३.६.
१४६. अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले।। वही, २५४.६.
१४७. वही, २५५.६-७.
१४८. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति।। यजुर्वेद, ४०.६
१४९. चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं चतुर्धा चैनमुपयाति निन्दा ।
बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात्तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत्।। शान्तिपर्व, २६१.२२
१५०. वही, २६१.२३–२५.
१५१. वही, २६१.२७.
१५२. निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्।। वही, ३१६.७
१५३. सर्वोपायेन कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
कार्यः श्रेयोर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ।। शान्तिपर्व, ३१६.१०
१५४. वही, ३१६.२०.

१५५. पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरः पंकार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव।। शान्तिपर्व, ३१६.३०.
१५६. परित्यजति यो दुःखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः।। शान्तिपर्व, ३१७.१७.
१५७. वही, ३१६.२६.
१५८. वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः।। अनुशासनपर्व, २४.७०.
१५६. ये भृत्यभरणे सक्ताः सततं चातिथिप्रियाः।
भुञ्जते देवशेषाणि तान्नमस्यामि यादव।। वही, ३२.१२.
१६०. वही, ४५.१६–२०.
१६१. एष ते विततो यज्ञः श्रद्धापूतः सदक्षिणः।
विशिष्टः सर्वयज्ञेभ्यो ददतस्तात वर्तताम्।। वही, ५८.२०.
१६२. वही, ५६.६.
१६३. वही, ६१.३२.
१६४. वही, ६२.१–५१.
१६५. वही, ६३.१–३५.
१६६. वही, ६४.१–६.
१६७. वही, ६४.७–१०.
१६८. तस्मात्सर्वास्ववस्थासु नरो लोभं विसर्जयेत्।
एष धर्मः परो राजन्नलोभ इति विश्रुतः। वही, ६५.८४.
१६६. वही, १००.१८.
१७०. वही, १००.२३.
१७१. यस्मादूर्ध्वगमेतत्तु तमसश्चेव भेषजम्।
तस्मादूर्ध्वगतेर्दाता भवेदिति विनिश्चयः।। वही, १०१.४७.
१७२. वही, ११४.४.
१७३. न तत्परस्य संदद्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते।। वही, ११४.८
१७४. न कुण्डयां नोदके संगो न वाससि न चासने।
न त्रिदण्डे न शयने नाग्नौ न शरणालये।। वही, १२६.२२.
१७५. विमुक्ता दारसंयोगैर्विमुक्ताः सर्वसंकरैः।
विमुक्ताः सर्वपापैश्च चरन्ति मुनयो वने।। वही, १३०.१६.
१७६. वही, १२६.१८.
१७७. श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः।। वही, १३२.२०.
१७८. वही, १३२.१०.
१७६. उद्योगपर्व, ४३.१४.
१८०. अनुशासनपर्व, १२८.४६.

अष्टम अध्याय

शौच

जिस प्रकार उर्वरा शक्ति के बिना धरती पोषक फसल देने में समर्थ नहीं हो सकती, उसी प्रकार मनुष्य के वैयक्तिक आचार के परिष्कार के बिना उसके द्वारा समाज के प्रति सद्‌व्यवहार का पालन असंभव है। वस्तुतः समष्टि का परिष्कार व्यष्टि के परिष्कार पर आश्रित हैं। इस परिष्कार के लिए हमारे मनीषियों ने जिन वैयक्तिक संयमों को आद्यन्त व्यवहार्य मानते हुए उनका स्वानुभूत प्रतिपादन तथा सैद्धान्तिक विवेचन किया है, वे धर्मग्रन्थों में नियमों के नाम से आख्यात हैं। मनुष्य के द्वारा वैयक्तिक संयमों द्वारा अर्जित शारीरिक, वाचिक और मानसिक योग्यता के अभाव में सामाजिक दायित्वों का निर्वाह संभव न होने के कारण ही नियमों का प्रतिपादन हुआ है। इनके परिशीलन के लिए भी यम–परिशीलन सम्मत विधि का आश्रय लिया गया है। यह विधि है–वैयक्तिक सद्‌रुचियों का समर्थन और उनके विरोध का निषेध। यमों की भाँति नियमों का विधिवत् वर्गीकरण भी सर्वप्रथम स्मार्त साहित्य में उपलब्ध होता है। मनु के अनुसार अक्रोध, गुरुसेवा, शौच, आहारलाघव और अप्रमाद पाँच नियमों का निर्वाह यथेष्ट माना गया है।[1] याज्ञवल्क्य ने नियमों की गणना दस की है। यह इस प्रकार है–

> **स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।**
> **नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता।।**[2]

महाभारत में व्यास ने भी मनु द्वारा निर्धारित नियमों की संख्या पाँच ही मानी है। उनके अनुसार स्वयम्भू मनु द्वारा निर्धारित नियम है–शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान। महाभारत में प्रतिपादित इन्हीं पाँच नियमों की गवेषणा इस नियमविधान का विषय है। पतञ्जलि के

योगशास्त्र के अनुसार भी ये ही पाँच नियम व्यवहार्य स्वीकार किए गए हैं। इन सभी का निर्वाह मानव में जीवन को जीने की योग्यता का प्रादुर्भाव कराता है। हमारी संस्कृति में ये सभी नियम दीर्घ परम्परा से युक्त हैं। जीवनविषयक अन्य मान्यताओं की भाँति इनका प्रादुर्भाव भी वेदों से स्वीकार किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ इनका उल्लेख देवस्तुतियों में देवप्रशस्तक गुणवाचक पदों के रूप में उपलब्ध होता है। तदनन्तर उपनिषत्साहित्य में इनका प्रतिपादन तत्त्वज्ञानविषयक संकेतों के रूप में विद्यमान है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती साहित्य में जनसाधारण द्वारा इनकी अवहेलना की आशंका उत्पन्न हो गई। इनकी अपेक्षा की पुनर्स्थापना के लिए धर्मसूत्रों, धर्मग्रन्थों तथा विविध शास्त्रों की रचना हुई, जो स्मार्त साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। सर्वसम्मति प्राप्त जिन पाँच नियमों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उनमें से शौच का महाभारत से पूर्व उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध होता है–

वेदों में शौचविषयक संकेत

शौच पावनता का पर्याय माना जाता है। इसकी व्युत्पत्ति 'शुचिर् पूतीभावे' धातु से निष्पन्न शुचि शब्द से भाव अर्थ में अण् प्रत्यय करके स्वीकार की गई है।[३] वैदिक संहिताओं में इसके लिए जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे हैं–**पूताः**, **पावन**, **पवमान**, **पवित्र**, **शुद्धिः**, **शुद्धाः**, **शुन्धामि**, **शक्रः**, **शुचिः** आदि। शौच के अभाव में मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास असंभव है। सभी वेद एकमत होकर शौच के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं।

यजुर्वेद को प्रशस्त कर्म का शास्त्र माना जाता है। प्रशस्त कर्म के लिए शुद्ध संकल्प एवं पावन मानसिकता परम आवश्यक है। तदनुसार ही सविता देव को वसुओं को शुद्ध करने वाला माना गया है। इसके लिए **'वसोः पवित्रमसि'**[४] मन्त्रांश का प्रयोग किया गया है। भीष्मपर्व में भगवान् कृष्ण स्वयं को **'वसूनां पावकश्चास्मि'**[५] कहकर स्वयं को वसुपावक घोषित करते हैं। शतपथब्राह्मण में जिन आठ वसुओं का उल्लेख मिलता है वे है– अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा तथा नक्षत्र। सबको बसाने वाले होने के कारण ही इनका नाम वसु रखा गया है।[६] **'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'** की उक्ति के अनुसार ये ही आठ वसु मानवशरीर में विद्यमान हैं। इस मन्त्रांश में सविता देव को वसुओं का शुद्धिकर्ता दर्शाकर मात्र

पर्यावरणविषयक शौच की अनिवार्यता ही नहीं सिद्ध की गई, अपितु मनुष्य के बाह्यान्तर शौच की अपेक्षा भी स्पष्ट की गई है। इसी अध्याय में आगे चलकर **'पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ'** मन्त्रांश में देवों को पवित्रता के साधन घोषित किया गया है। मानवशरीर में प्राण तथा मन दोनों पावनकारी शक्तियाँ हैं। तदनन्तर इसी मन्त्र में आदित्यरश्मियों द्वारा प्राणियों को शुद्ध करने की चर्चा उपलब्ध होती है।[७] सूर्यरश्मियों द्वारा पवित्रता का सर्जन विश्वमान्य है। तदनुसार ही लोग घर बनाते समय उसमें धूप के प्रवेश का सुनियोजन करते हैं। मानवशरीर पर सूर्य के प्रकाश का उपयोग आरोग्य-सम्पन्नता का सूचक है। आज भी पाश्चात्य देशों में यह प्रथा सर्वाधिक लोकप्रिय है। अगले मन्त्र में इन्द्र द्वारा वृत्रासुर के वध के लिए जल की सहायता की चर्चा है। वृत्र की व्याख्या करते हुए सातवलेकर जी ने **'वृणोति इति वृत्रः'** के माध्यम से वृत्र का अर्थ घेरने वाला स्वीकार किया है। उनके अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से शारीरिक ज्वरसदृश रोगों को वृत्र कहना सर्वथा उचित है। वस्तुतः जलचिकित्सा से जीवात्मा द्वारा रोगनिवारण ही वृत्रविनाश है। सातवलेकर ने इस मन्त्र में इन्द्र को जीवात्मा का पर्याय माना है। **'प्रोक्षिताः स्थ'** मन्त्रांश छाने गए जल की शुद्धि के माध्यम से प्राणियों की पवित्रता की ओर संकेत है।[८] यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र में जल को माता मानकर उसके द्वारा प्राणियों के शारीरिक शौच का अनुरोध किया गया है। जल को शौचकारक धर्मों से युक्त मानकर प्राणियों की पवित्रता की कामना की गई है।[९] इसी अध्याय में **'चित्पतिर्मा पुनातु'** के माध्यम से ज्ञानविषयक शौच की कामना की गई है। **'वाक्पतिर्मा पुनातु'** मन्त्रांश में वाचस्पति से वाचिक शौच का अनुरोध किया गया है। **'सूर्यस्य रश्मिभिः मा पुनातु'** के माध्यम से आदित्यरश्मियों से पवित्रता की कामना तथा सर्वपावनकारी अधिपति परमात्मा से पवित्रता और शुद्धि के आश्रय का आश्वासन समस्त प्राणियों के व्यक्तिगत जीवन में शौच के सर्वविध निर्वाह की अपेक्षा स्पष्ट करते हैं।[१०] एक मन्त्र में गुरु द्वारा विविध शिक्षाओं से शिष्य की वाक्शुद्धि, नेत्रशुद्धि, नाभिशुद्धि, प्रजनन अंगशुद्धि तथा गुदेन्द्रियशुद्धि की चर्चा उपलब्ध होती है। यह शुद्धि चारित्रिक शौच के व्यवहार द्वारा धर्मानुकूल आचरण के लिए आवश्यक स्वीकार की गई है।[११]

एक अन्य मन्त्र में दृष्टि के निर्मल होने की कामना के साथ-साथ व्यवहारशुद्धि के लिए की गई स्तुति मनुष्य के विकासपथ में शौच के निर्वाह

की आवश्यकता को स्पष्ट करती है।[१२] जल द्वारा पवित्रता की कामना-सम्बन्धी एक मन्त्र के अनुसार प्राणी जल से उसी प्रकार पापशुद्धि की कामना करता है, जिस प्रकार पसीने से युक्त पुरुष स्नान करने से शीघ्र ही निर्मल हो जाता है अथवा जैसे छानने से घी मलरहित हो जाता है–

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः।।[१३]

ईश्वर को बुद्धि को शुद्ध करने वाला मानते हुए उसकी प्रार्थना व स्तुति की चर्चा ईश्वर से बौद्धिक शौच की याचना का संकेत है।[१४] देवों से भद्र श्रवणशक्ति तथा भद्र दृष्टिशक्ति की कामना प्रशस्त कर्मों के लिए शौच के सम्यक् निर्वाह की आवश्यकता का संकेत सिद्ध होती है।[१५] यजुर्वेद में शुद्ध आहार की आवश्यकता का संकेत देते हुए **'उत मेधं शृतपाकं पचन्तु'** के परामर्श के माध्यम से प्राणियों द्वारा वही पकाने का आग्रह किया गया है, जिससे बनने वाला पाक पवित्र और सुन्दर हो।[१६] यजुर्वेद में सत्कर्म की प्रेरणा और सत्कर्म की रक्षा, ज्ञान की पवित्रता और वाक्-माधुर्य पर आश्रित मानी गई है। तदनुसार ही देव सविता से कामना की गई है कि वह ऐश्वर्य के लिए सत्कर्म की प्रेरणा हेतु यज्ञ के पालक को प्रेरित करे। इसी के साथ ज्ञान द्वारा पवित्र करने वाले देव से प्राणियों के ज्ञान को पवित्र करने का आग्रह किया गया है। इसी मन्त्र में देवों से वाक्-माधुर्य का अनुरोध किया गया है।[१७] उद्देश्यतः यजुर्वेद में प्रख्यात दुरिताओं के परिहार और भद्रताओं के उदय की कामना भी अशौच के परिहार तथा शौच के उदय की आवश्यकता को स्पष्ट करती है। वस्तुतः यजुर्वेद में शौचविषयक संकेतों का अभिप्राय शौच को प्रशस्त कर्मानुष्ठान की सर्वप्रथम अपेक्षा सिद्ध करना है। प्रशस्त कर्म के निर्वाह के लिए जिस वाचिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार की आवश्यकता है, वह त्रिविध शौच के निर्वाह द्वारा ही संभव है। तदनुसार ही इसमें वाणी को ऋग्वेद की, मन को यजुर्वेद की तथा प्राणशक्ति को अथर्ववेद की शरण लेने का आग्रह उपलब्ध होता है। वैदिक संहिताओं में जीवनविषयक समस्त आवश्यक मान्यताओं का प्रतिपादन सांकेतिक भाषा में हुआ है। यहीं से हमारी परम्परा का सूत्रपात स्वीकार किया गया है। मनु ने इसकी पुष्टि वेदों को समस्त धर्मों का मूल मानकर की है और शौच को नियमपरिगणना में सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया है।

अथर्ववेद को वेदों में चतुर्थ स्थान प्राप्त है। इस दृष्टि से क्रमानुसार

मनुष्य की वाक्-शक्ति का सम्बन्ध ऋग्वेद से स्थापित दर्शाया गया है, मन का यजुर्वेद से, प्राण का सामवेद से तथा श्रोत्र का अथर्ववेद से। यजुर्वेद में इसी आधार पर प्राणियों से आग्रह किया है कि वे वाणी से ऋग्वेद की, मन से यजुर्वेद की, प्राण से सामवेद की तथा श्रोत्रेन्द्रिय से अथर्ववेद की शरण लें। मनुष्य के उत्तरोत्तर विकास के लिए सद्विचार, सत्कर्म और सदुपासना परम आवश्यक है। ये उसे ज्ञानदृष्टि से सम्पन्न करते हैं। अथर्ववेद में मनुष्य की चित्तवृत्तियों के निरोध के माध्यम से उसके लिए जो विविध शान्तियाँ लभ्य दर्शायी गयी हैं उनमें से सावित्री शान्ति का सम्बन्ध शौच से है। शौच के त्रिविध निर्वाह से मनुष्य के चरमोत्कर्ष की प्राप्ति के पथ को सरलता तथा सुगमता उपलब्ध होती है। अथर्ववेद में शौचविषयक संकेत इसी लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट हैं। 'वर्चः प्राप्ति' सूक्त में मनुष्य में विद्यमान जिन शक्तियों की उन्नति की कामना की गई है वे हैं–पुष्टि, शान्ति, मित्रता तथा वाणी आदि की शक्तियाँ।[१८] वक्तृत्व की उन्नति के लिए वाचिक शौच का निर्वाह नितान्त आवश्यक है। 'विपत्तियों को हटाने का उपाय' सूक्त में वाचिक अशौच का निषेध उपलब्ध होता है। यह वाचिक शौच के निर्वाह की अपेक्षासिद्धि की ओर संकेतित है।[१९] इससे पूर्व 'मधुविद्या' सूक्त में प्राणी की जिह्वा के अग्रभाग, मध्यभाग एवं मूलभाग में तथा चित्त और आचार में माधुर्य की कामना त्रिविध शौच के निर्वाह की आवश्यकता को स्पष्ट करती है।[२०] 'आत्मोन्नति की विद्या' सूक्त में काव्य द्वारा स्तुति की चर्चा कविसम्मत आलंकारिक प्रयोग को स्तुति का प्राणतत्त्व घोषित करती है, जो वाचिक शौच के बिना असंभव है।[२१]

'एक विचार से रहना' सूक्त में सभी से दैहिक, मानसिक और बौद्धिक ऐक्य की स्थापना का अनुरोध किया गया है।[२२] यह सांमनस्य की प्रतिष्ठा का परिचायक है। सांमनस्य सौमनस्य के बिना असंभव है। इस सूक्त में शौच के निर्वाह को सर्वविध ऐक्य का प्राणतत्त्व घोषित किया गया है। इसी का समर्थन इसके पूरक सूक्त में भी उपलब्ध होता है।[२३] 'दुर्गति से बचना' सूक्त के अन्तर्गत असत्य के मुख को क्रूर मुख घोषित किया गया है।[२४] इससे बद्ध प्राणियों की मुक्ति के लिए कामना की गई है। इसमें वाक्-शक्ति का मार्दव सत्य कथन में स्वीकार किया गया है। शौचयुक्त वाणी की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए इस सूक्त में वाचिक शौच के निर्वाह के संस्कारों के प्रादुर्भाव का सांकेतिक प्रयत्न उपलब्ध होता है। इससे पूर्व 'आत्मशुद्धि के लिए प्रार्थना' सूक्त में ईश्वर से प्राणियों को सर्वविध शौच से

युक्त करने का आग्रह उपलब्ध होता है—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तो मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा।।
पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये।।
उमाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे।।[२५]

इस सूक्त में कर्मबल और दीर्घायु की प्राप्ति त्रिविध शौच के बिना असंभव दर्शायी गयी है। ब्रह्मलाभ भी त्रिविध शौच के बिना सर्वथा अप्राप्य दर्शाया गया है। 'अंजन' सूक्त में द्यावापृथिवी, मित्र तथा बृहस्पति से अनुरोध किया गया है कि प्राणी की आंखों को उत्तम अंजन से युक्त करें।[२६] दृष्टि के मलिनता से रहित रहने के लिए अंजन का उपयोग परम आवश्यक है। विविध देवों से आंखों के लिए की गई उत्तम अंजन की कामना सुदृष्टि को प्राप्त करने के अनुरोध की सूचक है। ज्ञान का प्रादुर्भाव तत्त्वदर्शन की क्षमता और अदोषदृष्टि के आश्रय के बिना संभव नहीं। वस्तुतः यह सूक्त प्राणियों में दृष्टि के संस्कारों के प्रादुर्भाव की ओर संकेत सिद्ध होता है। अथर्ववेद में 'अंगानि' सूक्त के माध्यम से यजुर्वेद के उसी कथन का समर्थन किया गया है जिसमें ईश्वर को प्राणियों से भद्र वाक्-शक्ति, उत्तम दृष्टिशक्ति और शुद्ध श्रवणशक्ति से सम्पन्न करने का अनुरोध किया गया है। इस सूक्त में ईश्वर से उत्तम केशशक्ति तथा दन्तमालिन्य की कामना की गई है। इसका सम्बन्ध शौच की समग्रता से है।[२७] 'सर्वप्रियत्वम्' सूक्त में देवप्रियता, राजप्रियता तथा सर्वप्रियता की कामना करते हुए सबके प्रति शुद्धाचार के प्रादुर्भाव के संस्कार जगाए गए हैं।[२८] 'दीर्घायुत्वम्' सूक्त में शतवर्षीय जीवन की कामना को उत्तम दृष्टि के आश्रित तथा उत्तम ज्ञान पर आधारित घोषित करके शौच को प्राणी के सर्वविध सौष्ठव का प्राणतत्त्व घोषित किया गया है।[२९] अथर्ववेद में शौचप्रतिष्ठा का विहंगावलोकन शौच को उन सभी शान्तियों के लिए अनिवार्य घोषित करता है, जिनकी प्राप्ति अथर्ववेद में मानवजीवन का चरम लक्ष्य घोषित की गई है।

वैदिक वाङ्मय में संकेतित जीवनविषयक मान्यताओं को हमारी संस्कृति का उद्गम स्थान स्वीकार किया गया है। **संस्कृति से अभिप्राय उन जीवनमूल्यों का अन्तर्मन से स्वस्फुरित, स्वेच्छित तथा स्वाभाविक**

निर्वाह है, जो कालान्तर में प्राणियों की धमनियों में रक्त की भाँति सदा सर्वदा प्रवाहित रहते हैं। किसी भी उत्तम गुण का प्रादुर्भाव उसकी वाहक शक्ति विशेष के परिष्कार के बिना असंभव है। ईश्वर ने मनुष्य को जिन चार मुख्य शक्तियों से सम्पन्न किया है, वे हैं—हमारी वाक्-शक्ति, मननशक्ति, श्रद्धाशक्ति तथा आत्मशक्ति। हमारी संस्कृति में धर्म को उभयार्थवाची स्वीकार किया गया है। वैयक्तिक दृष्टि से धर्म उन उत्कृष्ट, सुष्ठ एवं परिष्कृत सिद्धान्तों का वाचक है, जिनका आश्रय मनुष्य को शुद्ध, स्वच्छ, निर्विघ्न, अभययुक्त, क्षमाशील, अपरिग्रहसम्पन्न, सन्तुष्ट, द्वन्द्वसहनशील तथा अप्रतिम जीवन जीने की योग्यता से सम्पन्न करता है। जब प्राणी मनसा, वाचा, कर्मणा धर्म से युक्त हो जाता है तो उसके द्वारा अन्य लोगों के लिए प्रस्तुत किया गया जीवन-आदर्श सभी को समान रूप से धर्मपरायण होने की प्रेरणा देता है। समस्त प्राणियों द्वारा विहित धर्म जब समाज की समस्त विषमताओं, विपन्नताओं, शंकाओं, दुविधाओं तथा अन्य जटिल समस्याओं के समाधान की शक्ति से युक्त हो जाता है तब यह **'धारयति लोकान् इति धर्मः'** का बोधक सिद्ध होता है। धर्म की इन दोनों परिभाषाओं की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जिस समग्र परिष्कार की आवश्यकता है वह वाचिक परिष्कार के रूप में ऋग्वेद में, मानसिक परिष्कार के रूप में यजुर्वेद में, भावनात्मक परिष्कार के रूप में सामवेद में तथा ज्ञानात्मक परिष्कार के रूप में अथर्ववेद में बीजरूप से विद्यमान है। इसी पर हमारी संस्कृति की सनातनता आश्रित है। उत्तरवर्ती समस्त प्राच्य वाङ्मय में वेद को अखिल धर्म का मूल मानते हुए ही मनुजोचित अभीष्ट गुणों का प्रावधान वेद को मानवहितकारी, मंगलसाधक, वैषम्यहारक तथा विषादनिवारक अमृतमय कोश घोषित करता है। उत्तरवर्ती मनीषियों, धर्म-प्रवर्तकों, योगज्ञानविशेषज्ञों तथा सांख्यशास्त्रज्ञों द्वारा अपने-अपने मतों की यथार्थता एवं उनकी सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक प्रासंगिकता-सिद्धि के लिए वेद को परम आश्रय स्वीकार करना इस तथ्य को स्वयं सिद्ध कर देता है कि हमारी संस्कृति वेदप्रसूत और हमारी प्राच्य वाङ्मय अमृतसरिता वेदनिःसृत है। उत्तरवर्ती साहित्य में नियमों के सैद्धान्तिक विवेचन तथा अनुभवजन्य प्रतिपादन का मूल उत्स भी तत्सम्बन्धी वैदिक संकेत ही है।

उपनिषदों में शौचविषयक परामर्श

वेदों की गुह्यता के सरलीकरण का सर्वप्रथम प्रयास वेदांगों में उपलब्ध होता है। इसके अन्तर्गत ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषत्साहित्य

समाहित है। वेद में व्यष्टि एवं समष्टि से सम्बन्धित साम्य की सिद्धि चतुर्विध परिष्कार के आश्रित मानी गई है। उपनिषत्साहित्य में इसके लिए तत्त्वज्ञान–मीमांसा का आश्रय लिया गया है। सभी उपनिषद् ब्रह्मविद्या की व्याख्या को समर्पित हैं। इनमें विवेकज ज्ञान के लिए मार्गनिर्देशों का मनोवैज्ञानिक तथा संश्लिष्ट प्रावधान उपलब्ध होता है। इनका विषय आत्मबोध है। इनमें ब्रह्म की कण्-कण में विद्यमानता के विवेकज ज्ञान के लिए जिन आवश्यक साधनों का वर्णन उपलब्ध होता है, उनमें वैयक्तिक संयम तथा सामाजिक अनुशासनों को अन्योन्य अभेद संस्थापना का प्राणतत्त्व घोषित किया गया है। उपनिषत्साहित्य में तत्त्वज्ञान के गूढ विषय को सर्वग्राह्यता प्रदान करने के लिए आख्यान शैली का आश्रय लिया गया है। कठोपनिषद् में नचिकेता के आख्यान के माध्यम से ब्रह्मविद्या के उपदेश के लिए यमगीता का आश्रय लिया गया है। इसके अनुसार ब्रह्मप्राप्ति न तो प्रवचन द्वारा ही लभ्य है और न ही मेधा द्वारा प्राप्य। इसकी प्राप्ति बहुश्रुत होने में भी निहित नहीं। यह उन्हीं द्वारा ज्ञातव्य है, जिन्हें ब्रह्म स्वयं स्वीकार कर लेता है।[३०] ईश्वर के लिए स्वीकार्यता की सिद्धि के लिए जो परिष्कार वांछित है, उन्हीं का विवेचन यमगीता में उपलब्ध होता है। इसकी विशिष्टता शौच के समग्र निर्वाह को ब्रह्मानुभूति का साधन घोषित करने में निहित है। इसमें रथ के रूपक के माध्यम से विभिन्न साधनों की व्याख्या की गई है जिनके आश्रय के बिना ब्रह्मलाभ असंभव है। इसमें शौच को ब्रह्मसाधना का आधार मानते हुए कहा गया है–

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।[३१]

त्रिविध शौच को ईश्वरप्राप्ति का परम मान्य तत्त्व घोषित करके इसे वैयक्तिक धर्म कहा गया है। इससे पूर्व अशौच को निषिद्ध घोषित करते हुए अपवित्र जीवन को ब्रह्मप्राप्ति के पथ का बाधक ही घोषित नहीं किया गया, अपितु आवागमन के चक्र का कारण भी माना गया है।[३२] साधक के लिए ब्रह्मप्राप्ति का जो पथ निर्दिष्ट किया गया है, उसके अनुसार ब्रह्मलाभ के लिए समस्त इन्द्रियों का मन में, मन का ज्ञानस्वरूप बुद्धि में, ज्ञानस्वरूप बुद्धि का महान् आत्मा में तथा महान् आत्मा का शान्तस्वरूप परम पुरुष परमात्मा में स्वेच्छित लय परम आवश्यक है।[३३] यह निदर्शन ब्रह्मजिज्ञासु के लिए वाचिक, मानसिक, ज्ञानात्मक एवं आध्यात्मिक शौच की अनिवार्यता को

स्वयं सिद्ध कर देता है। परब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए मानसिक शौच के महत्त्व को दर्पण से उपमित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में मनुष्य की अपनी आकृति यथारूप परिलक्षित होती है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसके लिए **'यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि'** मन्त्रांश का उद्धरण उपलब्ध होता है।[३४] मानसिक शौच समस्त कामनाओं के परिहार द्वारा ही संभव है। कठोपनिषद् में कामनाओं के सर्वतः त्याग को अमरत्वप्राप्ति तथा ब्रह्मलाभ का साधक घोषित करके प्राणियों में मानसिक शौचविषयक सत्संस्कारों का प्रादुर्भाव कराया गया है।[३५] अध्यात्म पथ में आसक्ति को मनोमालिन्य स्वीकार किया जाता है। ईश्वरप्राप्ति के लिए इसके परिहार को आवश्यक घोषित करते हुए कहा गया है कि जब तक मन से आसक्ति का मल नहीं धुल जाता तब तक ईश्वर की अनुभूति असंभव है–

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।।[३६]

मुण्डकोपनिषद् में यज्ञ-याग आदि श्रौत कर्मों को इष्ट स्वीकार किया गया है, जबकि बावली, कूपखनन तथा वृक्षारोपण को पूर्त कर्म दर्शाया है। इनमें आसक्ति को वास्तविक श्रेय से अनभिज्ञता का कारण घोषित किया गया है। ये स्वर्गलाभदायक तो हैं, परन्तु ब्रह्मलाभ की योग्यता से युक्त नहीं। इसके परिणामस्वरूप इन कर्मों में रत रहने वाले प्राणी को आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती। मोक्षलाभ उन्हीं प्राणियों द्वारा संभव स्वीकार किया गया है जो मनसा, वाचा, कर्मणा अनासक्त हों। विषयों से अनासक्ति ही शौच की पराकाष्ठा है। अतः मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मलाभ के लिए परम शौच के आश्रय को श्रेयस्कर स्वीकार किया गया है।[३७] ऐतरेयोपनिषद् में मननशक्ति, शासनशक्ति, ज्ञानशक्ति, अनुभवशक्ति, दर्शनशक्ति, अनुभवशक्ति, धृतिशक्ति, बुद्धिशक्ति, स्मरणशक्ति, संकल्पशक्ति तथा मनोरथशक्ति को ईश्वर के नाम घोषित करके प्राणियों से इन्हें पावन बनाए रखने का आग्रह किया गया है। किसी भी शक्ति का सदुपयोग उसकी शुद्धता पर आश्रित होता है।[३८] कैवल्योपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति वेदान्त के गम्भीर अध्ययन, श्रवण, मनन, योगाभ्यास तथा अन्तःकरण की शुद्धि पर आश्रित स्वीकार की गई है।[३९] जाबालोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मप्राप्ति के लिए त्रिविध शौच के निर्वाह को यज्ञोपवीत संस्कार से अधिक श्रेयस्कर माना है।[४०] उनके अनुसार मानसिक शौच का निर्वाह ब्रह्मप्राप्ति का विशिष्ट साधन है।[४१] एक उपनिषद्

के अनुसार पवित्र कर्मानुष्ठान त्रिविध शौच के निर्वाह के बिना असंभव है।[४२] उपनिषदों में विवेचित शौचनिदर्शन में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति को शौच के सम्यक् निर्वाह पर आश्रित दर्शाकर प्राणियों में पूत वाक्, पावन मन तथा सत्त्वबुद्धि की प्राप्ति के सत्संस्कार जगाए गए हैं। ये मनुष्य में वासुदेव महत्ता का प्रादुर्भाव कराने के लिए सर्वथा अपेक्षित है। उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य मनुष्य का तत्त्वज्ञानात्मक परिष्कार है। तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा के प्रादुर्भाव के लिए जिन सत्संस्कारों की आवश्यकता है, उनका उदय त्रिविध शौच के आश्रित दर्शाकर उपनिषदों में इस नियम को सभी द्वारा अनुकार्य सिद्ध किया गया है।

स्मृतियों में शौच-निदर्शन

जनसाधारण के लिए जीवनविषयक मूल्यों का सर्वप्रथम निर्धारण स्मृतिग्रन्थों, धर्मसूत्रों और शास्त्रों में उपलब्ध होता है। इन सभी ग्रन्थों के समुच्चय को स्मार्त साहित्य माना जाता है। मनु मानवधर्म के संस्थापक के रूप में आज भी विश्वमान्य हैं। यद्यपि स्मृतियों की संख्या अनिश्चित है तो भी इनमें २० स्मृतियाँ मुख्य स्वीकार की गई हैं। उद्धरणों के लिए मुख्य रूप से मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति का आश्रय लिया जाता है। यह परिशीलन भी इन दोनों स्मृतियों के विहंगावलोकन पर आधारित है। धर्मशास्त्रों में शौच को नियमपरिगणना में प्रथम स्थान प्राप्त है। इससे शौच का निर्वाह अन्य नियमों के पालन का आधार सिद्ध होता है। मनु ने शौच को मनुस्मृति के प्रतिपाद्य विषयों में से एक घोषित किया है।[४३] इससे मनुस्मृति में शौच का धर्मनियम के रूप में निर्धारण स्वयं सिद्ध हो जाता है। मनु ने ब्रह्मचर्य आश्रम के यथेष्ट निर्वाह के लिए उपनयन संस्कार के उपरान्त शिष्य की शौच-शिक्षा गुरु का दायित्व घोषित किया है।[४४] क्योंकि त्रिविध शौच के अभाव में ब्रह्मचर्य आश्रम का यथार्थ पालन संभव नहीं। दैहिक शौच की व्याख्या करते हुए मनु ने कहा है–

एका लिंगे गुदे तिस्त्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता।।[४५]

मनु ने प्राणियों के लिए शौच को सर्वतः संग्राह्य घोषित करके इसे मानवजीवन की अनन्य निधि सिद्ध किया है। शौचवियुक्त ब्राह्मण को पंक्तिभ्रष्ट दर्शाकर उसे भोजन न कराने का निर्देश वर्णधर्म में सुपात्रता के लिए शौच के निर्वाह को यथेष्ट सिद्ध करता है।[४६] श्राद्ध कर्म में शौच,

अक्रोध और अत्वरा के निर्वाह को वांछित माना गया है।[४७] इस माध्यम से शौच को दान धर्म का अभिन्न अंग सिद्ध किया गया है। अशुद्ध ब्राह्मण के लिए शौचोपलब्धि जल के स्पर्श द्वारा, क्षत्रिय के लिए वाहन के स्पर्श द्वारा, वैश्य के लिए चाबुक के स्पर्श द्वारा और शूद्र के लिए छड़ी के स्पर्श द्वारा संभव दर्शायी गयी है।[४८] मनु ने समस्त वर्णों के यथेष्ट निर्वाह के लिए शौच का आश्रय अवश्यम्भावी दर्शाया है। आश्रम धर्म के यथेष्ट निर्वाह के लिए शौच की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए मनु ने कहा है–

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्।।[४९]

इससे अभिप्राय यह है कि शारीरिक शौच के लिए पूर्वनिर्दिष्ट मृतिका का प्रयोग गृहस्थी के लिए एक बार, ब्रह्मचारी के लिए दो बार, वानप्रस्थी के लिए तीन बार तथा संन्यासी के लिए चार बार वांछित दर्शाया गया है। सनातन धर्म के अनुयायियों में यह प्रथा आज भी विद्यमान है। धर्मलक्षणविवेचन में जो सद्गुण धर्म के लक्षण घोषित किए गए हैं, उनके नाम हैं–धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, जितेन्द्रियता, ज्ञान, विद्या, सत्य तथा अक्रोध। मनु के अनुसार धर्म के इन दस लक्षणों का अध्ययन, तदुपरान्त इनका आचरण मनुष्य के लिए परम गति का साधक है।[५०] मनु के अनुसार चारों वर्णों के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, त्रिविध शौच तथा जितेन्द्रियता का निर्वाह वांछित है।[५१] त्रिगुणविवेचन में शौच को सत्त्व गुण का लक्षण मानकर मनु ने इसे सभी प्राणियों के लिए अपरिहार्य सिद्ध किया है।[५२] इससे पूर्व प्रजा द्वारा शौचाचार के आश्वासन को राजा का दायित्व दर्शाकर राजा को अशौचमुक्त माना गया है।[५३] परोक्षतः इस निर्देश में **'यथा राजा तथा प्रजा'** की भावना का अनुरणन होता है। जब तक राजा स्वयं शौच से युक्त नहीं होगा तब तक उसकी प्रजा में शौचाचार के संस्कारों का उदय असंभव है। द्रव्यशुद्धि की चर्चा के अन्तर्गत मिट्टी तथा जल आदि साधनों को द्रव्यशुद्धि का साधन न मानते हुए उसी द्रव्य को शुद्ध माना गया है, जिसके संग्रह के लिए अन्याय का आश्रय न लिया गया हो।[५४] शौच के श्रेष्ठतम स्रोतों का वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है–

अद्‌भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।।[५५]

इसके अनुसार जीवन में सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों के लिए शौच का

निर्वाह परम आवश्यक है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में धर्मनिधारण मनु के सर्वथा अनुकूल हुआ है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनु की भाँति याज्ञवल्क्य ने भी उपनयन संस्कार के उपरान्त शौच-शिक्षा को गुरु का दायित्व माना है।[५६] स्त्रियों द्वारा सर्वत्र शौचनिर्वाह की योग्यता को दैवी वरदान घोषित करते हुए याज्ञवल्क्य ने उस द्वारा विहित शौच को सोम देवता का वरदान माना है। उसके वाक्माधुर्य को गन्धर्वों की अनुकम्पा का परिणाम घोषित किया है। उसकी सर्वविध शुचियुक्त योग्यता को अग्नि की कृपा दर्शाया है।[५७] इस माध्यम से याज्ञवल्क्य ने प्राणियों में शौच के निर्वाह को अभीष्ट सिद्ध किया है। मनुस्मृति में उपलब्ध धर्मलक्षणों को याज्ञवल्क्य ने धर्मसाधन स्वीकारते हुए उनका परिगणन इस प्रकार किया है–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, दम, दान, संयम, दया तथा धृति।[५८] उन्होंने प्राणियों से आग्रह किया है कि आयु, बुद्धि, धन, वाणी, वेष, शास्त्रज्ञान एवं कर्म के उपयुक्त ऐसी जीवनवृत्ति स्वीकार करनी चाहिए, जो टेढ़ी और मत्सरता से युक्त न हो।[५९] इस माध्यम से उन्होंने उपर्युक्त साधनों को सदा सर्वदा अपनाए रखने का आग्रह किया है। स्नातकोपयोगी आवश्यकताओं का विवेचन इसमें शौच को परम आवश्यक दर्शाता है–

शुक्लाम्बरधरो नीचकेशश्मश्रुनरवः शुचिः।
न भार्यादर्शनेऽश्नीयान्नैकवासा न संस्थितः।।[६०]

स्नातकाचार के लिए सर्वविध शौच को अपेक्षित दर्शाया गया है। संन्यास धर्म के निरूपण में याज्ञवल्क्य ने संन्यासियों के लिए अन्तःकरण की शुद्धि परम आवश्यक मानी है। उनके अनुसार मानसिक शौच के बिना ज्ञान असंभव है।[६१] स्वच्छ आचार को आत्मवत् व्यवहार का आधार घोषित करते हुए याज्ञवल्क्य ने किसी धर्म के आचरण में कोई आश्रम कारण नहीं माना। उन्होंने आश्रम धर्म का निर्वाह कर्म के आश्रित माना है। उनके अनुसार अपने को अरुचिकर कर्मों का दूसरों के प्रति अव्यवहार ही परम धर्म है।[६२] उन्होंने जिन यम-नियमों के निर्वाह को धर्म घोषित किया है, वे हैं–सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लज्जा, त्रिविध, शौच, विवेक, धैर्य, दम, संयतेन्द्रियता तथा विद्या।[६३] याज्ञवल्क्य ने वेदसम्मत वचन, तप, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, दम, श्रद्धा, उपवास तथा धारणा को ज्ञान का हेतु घोषित किया है।[६४] वेदसम्मत वचन वाचिक शौच का द्योतक है। स्मार्त साहित्य में शौचविषयक सन्दर्भों के

परिशीलन से आभास मिलता है कि शौच वैयक्तिक धर्म का आधारतत्त्व है। तदनुसार ही इसे कहीं धर्म का लक्षण दर्शाया गया है तो कहीं धर्म का साधन। विविध धर्मों के वहन में इसके आश्रय को वांछित दर्शाकर स्मार्त साहित्य में शौच को नियमों में सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है।

रामायण में शौच-प्रतिष्ठा

वाल्मीकि ने रामायण की रचना बर्बरता के विनाश तथा मर्यादा की स्थापना हेतु की थी। इसका सोपान एक अवांछित वृत्ति से युक्त व्याध द्वारा निर्दोष क्रौञ्च पक्षी की हत्या माना जाता है। जब इस निषिद्ध कर्म के परिणामस्वरूप वाल्मीकि के मर्माहत हृदय ने उन्हें तपस्वी के लिए उचित मर्यादाओं के अतिक्रमण के लिए विवश कर दिया और उन्होंने क्रोधवश व्याध को नित्य निरन्तर अशान्ति से ग्रस्त रहने का शाप दे दिया।[६५] इसी के प्रायश्चित्त के लिए उन्होंने उत्तम तीर्थ में विधिपूर्वक स्नान करके दैहिक शौचोपार्जन किया।[६६] ब्रह्मोन्मुखी प्राणी में वाचिक शौच के आश्रय के परित्याग से जो शोकाकुलता उत्पन्न होती है, महर्षि वाल्मीकि अपनी वाणी के अशुद्ध व्यवहार पर उसी से शोकाकुल हो उठे। उन्होंने ब्रह्मा से अनुरोध किया कि उनका निषाद को क्रोधवश कहा गया वाक्य छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही रहे। इसके निर्वाह के लिए ब्रह्मा ने उन्हें यथेष्ट वरदान देते हुए उनसे श्रीराम के चरित्र का वर्णन करने का आग्रह किया। वाल्मीकि-रामायण में राम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित हैं। उनके द्वारा विहित धर्म तद्युगीन जनता का धर्म है। राम के चरित्र–चित्रण में जिन मर्यादाओं के पालन की चर्चा उपलब्ध होती है, वह वाल्मीकि की धर्मविषयक मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करती है। राम ने जिन मर्यादाओं का पालन किया है, वे उनके गुण कहकर प्रतिष्ठित हुई हैं। वाचिक शौच का निर्वाह राम में आचार के रूप में विद्यमान दर्शाया गया है–

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते।।[६७]

उनकी वाणी में सत्य को स्थित दर्शाकर वाल्मीकि ने उन्हें सामान्य प्राणियों के लिए आदर्श घोषित किया है।[६८] राम को बाह्यान्तर शौच का मूर्तिमान् रूप सिद्ध करने के लिए उन्हें **'शुचिः'** पद से अलंकृत किया गया है।[६९] उनकी अमंगल कार्यों में अप्रवृत्ति उन्हें शौचाचार से सर्वथा युक्त सिद्ध करती है। रामत्व को शौच के सम्यक् निर्वाह में प्रतिष्ठित दर्शाकर जनमानस

में उनके आदर्श का अनुकरण करने की प्रेरणा जगाई है।[७०] उन्हें आलस्यरहित तथा प्रमादशून्य दर्शाकर वाल्मीकि ने राम को धर्म के शौच लक्षण का धारक घोषित किया है।[७१] वाल्मीकि द्वारा चित्रित राम का चरित्र मनुनिर्दिष्ट धर्मलक्षणों और याज्ञवल्क्यनिर्धारित धर्मसाधनों से सर्वथा सम्पन्न सिद्ध किया गया है। उनके द्वारा विहित विविध शौचविषयक मान्यताओं को जनानुकार्य दर्शाने के लिए उन्हें उनका मूर्तिमान् रूप दर्शाया गया है।

महाभारत में शौच-संस्तुति

महाभारत प्राच्य साहित्य की बृहदतम कृति मानी जाती है। इसमें समस्त पूर्ववर्ती साहित्य के प्रतिपाद्य विषय का अनुरणन उपलब्ध होता है। वैदिक गुह्यता के सरलीकरण में सफलता इसे पंचम वेद की संज्ञा का पात्र सिद्ध करती है। औपनिषदिक तत्त्वज्ञान की संश्लिष्टता को सर्वग्राह्यता प्रदान करने की योग्यता से युक्त होने के कारण इसके कृष्णार्जुन उपदेश को गीतोपनिषद् कहा गया है। स्मार्त साहित्य में निर्धारित वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, युगधर्म तथा मोक्षधर्म को युगानुकूल आवश्यकता के अनुसार पुनरुद्धरण इसे धर्म का महाशास्त्र सिद्ध करता है, प्राच्य वाङ्मय सुरसरि धारा में महाभारत को वही स्थान प्राप्त है जो भगीरथी के प्रवाहपथ में हरिद्वार को। जिस प्रकार गंगा की पतितपावनी शक्ति को भगीरथी के साथ अलकनन्दा का योग व्यापकता प्रदान करता है, उसी प्रकार महाभारत की पतितपावनी शक्ति श्रौत और स्मार्त साहित्य के योग में निहित स्वीकार की गई है। तदनुसार ही महाभारत को विश्वकोश की संज्ञा से अभिहित किया गया है। विद्या का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं, जो व्यास की लेखनी के स्पर्श से धन्य न हो उठा हो। व्यास ने लोगों के धर्मोन्मुखी बनाने के लिए जिन विविध शैलियों का आश्रय लिया है, वे हैं—संवादात्मक शैली, दृष्टान्त शैली, उपमा शैली तथा प्रश्नोत्तर शैली। इसकी विशिष्टता मोक्षविदों के मुख से मोक्षधर्म के वर्णन, धर्मप्रवर्तकों के संवादों द्वारा विविध धर्मनियमों के कथन तथा विभिन्न आख्यानों के माध्यम से विशिष्ट जीवनमूल्यों की प्रशस्ति में निहित है। महाभारत की रचना का उद्देश्य इतिहासवर्णन न होकर मनोरंजक कथा के माध्यम से लोगों को धर्म की महत्ता से अवगत कराना है। इसका प्रेरणास्रोत उस युग में धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास है। धर्म की पुनर्स्थापना के लिए व्यास ने सनातन सांस्कृतिक मूल्यों को एक ऐसी विधि से पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया है, जो सभी

के लिए बोधगम्य ही नहीं, व्यवहार्य भी है। यमप्रतिपादन की भाँति महाभारत का नियमविवेचन भी साधारण बुद्धि से युक्त मनुष्यों के लिए सर्वथा उपयोगी सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवत में महाभारत का रचनोद्देश्य अल्पबुद्धि प्राणियों को श्रेयप्राप्ति का मार्गदर्शन कराना है।[७२] भारतीय संसकृति में प्रतिपादित पूर्वनिर्दिष्ट श्रेयप्राप्ति के पथ को समता, सरलता, सुगमता प्रदान करके व्यास भारतीय धर्मविषयक परम्परा को अमरत्व प्रदान करने में सिद्धहस्त सिद्ध होते हैं।

आदिपर्व के शृंगी तथा शमीक के संवाद में पुत्र को सत्पथ का उपदेश देना पिता का कर्तव्य माना गया है। पिता बालक का दूसरा गुरु माना जाता है। शमीक ने शृंगी को जो उपदेश दिया है उसमें शान्ति का आश्रय परम आश्रय माना गया है। शान्ति की प्राप्ति के लिए त्रिविध शौच के निर्वाह का महत्त्व पूर्वनिर्दिष्ट है।[७३] मनु ने मनुस्मृति में शौचनिदर्शन करते हुए शारीरिक शौच के लिए मृत्तिका द्वारा परिमार्जन यथेष्ट स्वीकार किया है और मानसिक शौच सत्य आचरण में निहित स्वीकार किया है। विद्या की शुचि तपस्याश्रित मानी गई है तथा बौद्धिक शौच का संभाव्य ज्ञान में स्वीकार किया गया है। मानसिक शौच के लिए सत्य को सर्वत्र मानवजीवन की अभीष्ट निधि घोषित किया गया है। शकुन्तला तथा दुष्यन्त के संवाद में सत्य को समस्त वेदाध्ययन और सर्व तीर्थस्थान के समकक्ष दर्शाकर सत्याचार द्वारा मानसिक शौच की उपलब्धि को यथेष्ट सिद्ध किया गया है।[७४] वाचिक शौच से अभिप्राय अनिष्ट तथा मिथ्या कथन से निवृत्ति है। इसके निर्वाह को पाण्डित्य का लक्षण घोषित करते हुए पण्डितों द्वारा मर्मघातक वाक्यरूपी बाणों का प्रयोग निषिद्ध दर्शाया गया है। ययाति तथा अष्टक के संवाद में मुनि के लिए उन्हीं मर्यादाओं का पालन यथेष्ट माना गया है, जो याज्ञवल्क्य ने वानप्रस्थ आश्रम में व्यवहार्य दर्शायी है। जिस प्रकार याज्ञवल्क्य वानप्रस्थी के लिए शुद्ध आहार और शुद्ध आचार को वांछित स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार व्यास ने मुनियों के लिए शुद्ध आहार, मानसिक शौच तथा वाक्-शुद्धि का निर्वाह अपरिहार्य माना है।[७५] ब्राह्मण-कुन्ती-संवाद में निन्दित और निष्ठुर कर्म को आपद्धर्म तक के निर्वाह में त्याज्य दर्शाकर व्यास ने प्राणियों में शौच के निर्वाह को सदा सर्वदा अपेक्षित स्वीकार किया है।[७६] आदिपर्व में प्रतिपादित शौचविषयक साधनविवेचन के परिशीलन से जो निष्कर्ष निकलता है, उसके अनुसार आश्रमधर्म तथा आपद्धर्म के पालन के लिए त्रिविध शौच का निर्वाह सर्वथा

अत्याज्य है।

आरण्यकपर्व में शारीरिक दुःख के कारणों के अन्वेषण के अनुसार दुःख की उत्पत्ति के चार अधिष्ठान स्वीकार किए गए हैं। ये हैं–व्याधि, अनिष्टप्राप्ति, श्रम और प्रिय वस्तु की अप्राप्ति। इनके शीघ्र प्रतिकार को आधि तथा व्याधि का निवारण घोषित किया गया है। आधि का प्रतिकार ज्ञान तथा अनासक्ति के आचरण में स्वीकार किया गया है। इसके लिए मानसिक शौच का आश्रय ही परम साधन माना गया है–

ज्ञानान्वितेषु मुख्येषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम्।[७७]

मनु के अनुसार व्यास भी दस लक्षणों से युक्त धर्म के आश्रय को परम आश्रय मानते हैं। धर्ममर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले को सभी प्राणियों द्वारा वध्य दर्शाया है।[७८] शान्तिपर्व में शौच को मनु द्वारा निर्दिष्ट धर्म की दस मर्यादाओं में से एक माना गया है।[७९] अतः लोभ और काम के वश में होकर शौचाचार की अवहेलना दण्डनीय मानी गई है। शौचाचार को ब्राह्मण का धर्म घोषित करते हुए धर्मव्याध-आख्यान में शौच की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है।[८०] धर्मव्याध द्वारा निर्दिष्ट आचार के अनुसार सभी प्राणियों के लिए झूठ का त्याग, बिना कहे ही परहित-अनुष्ठान तथा काम, क्रोध और द्वेष से जन्य दुर्भाव से उद्वेलित होकर धर्म का त्याग न करना ही यथेष्ट है।[८१] यह आचार त्रिविध शौच के निर्वाह द्वारा ही संभव है। धर्मव्याध द्वारा की गई शिष्टाचार-मीमांसा के अनुसार शिष्टाचार तीन प्रकार का स्वीकार किया गया है–पहला वेदोल्लिखित, दूसरा धर्मशास्त्रनिर्दिष्ट तथा तीसरा शिष्टों द्वारा व्यवहृत।[८२] महाभारतकार ने महाभारत में प्रतिपादित आचार-संहिता में तीनों प्रकार के शिष्टाचार को समन्वित करने का सफल प्रयास किया है। श्रौत तथा स्मार्त धर्म में शौच नियम के रूप में आख्यात है। अतः इसका त्रिविध निर्वाह धर्म का अभिन्न अंग सिद्ध होता है। ब्राह्मण तथा मार्कण्डेय के संवाद मे प्राणियो की ब्रह्मप्राप्ति के लिए कठोपनिषद् में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या का आश्रय श्रेष्ठ दर्शाया गया है। इसका अक्षरशः पुनरुद्धरण इसे स्वयं सिद्ध कर देता है। कठोपनिषद् के अनुसार शरीररूपी रथ का कुशल सारथित्व त्रिविध शौच के आश्रय के बिना असंभव है। महाभारत में इसकी यथार्थता को सिद्ध करने के लिए कहा गया है कि जो सारथि इन्द्रियरूपी घोड़ों को सन्मार्गोन्मुखी बना सकता है, वही जितेन्द्रियता लाभ कर सकता

है।[८३] व्यास तथा युधिष्ठिर के संवाद में उत्तम बुद्धि को उत्तम कुल में जन्म लेने में सहायक दर्शाया गया है तथा उत्तम बुद्धि की प्राप्ति नियमनिर्वाह में निहित दर्शायी गयी है।[८४] मनु ने बुद्धि की उत्तमता मानसिक शौच के निर्वाह द्वारा ही संभव दर्शायी है। यक्ष तथा युधिष्ठिर के संवाद में दक्षता को धर्म का, दान को यश का तथा सत्य को स्वर्ग का एकमात्र साधन स्वीकार किया है।[८५] उनके अनुसार शील ही सुख का एक एकमात्र उपाय है। जीवन में शालीनता का परम स्रोत स्वच्छ आचार है। सुख को शिष्ट कथन, शिष्ट आहार, शिष्ट व्यवहार तथा शिष्ट चिन्तन के आश्रित दर्शाकर महाभारत में शौच के त्रिविध निर्वाह को सर्वथा अपेक्षित दर्शाया गया है। इसी संवाद में शौच को धर्म का शरीर मानते हुए कहा गया है–

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम।।[८६]

वस्तुतः यक्ष तथा युधिष्ठिर का संवाद युधिष्ठिर की परीक्षा के हेतु धर्म द्वारा यक्ष रूप में किए गए धर्मविषयक प्रश्नों का समूह है। इस संवाद में शौच को धर्म का रूप ही घोषित नहीं किया गया, अपितु उसकी प्राप्ति का द्वार भी स्वीकार किया गया है। युधिष्ठिर द्वारा इन सभी का पालन उसे धर्म के स्नेह का पात्र सिद्ध करता है।[८७] आरण्यकपर्व में शौच की अपरिहार्यता की सिद्धि के लिए जिन आख्यानात्मक, संवादात्मक तथा प्रश्नोत्तर शैलियों का आश्रय लिया गया है, उससे अल्पबुद्धि व्यक्तियों में शौच के महत्त्व का आभास स्वयं सिद्ध हो जाता है।

उद्योगपर्व में विदुर के नीतिकथन के द्वारा जिन अभीष्ट जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा हुई है, वे सभी पूर्ववर्ती साहित्य में सर्वत्र व्यवहार्य दर्शाए गए हैं। युधिष्ठिर तथा विदुर के संवाद का अवतरण धृतराष्ट्र की अशान्ति के परिहार के लिए हुआ है। वस्तुतः विदुर का नीति-उपदेश प्रत्येक विश्रान्त मन को शान्ति देने में समर्थ सिद्ध होता है। इसमें दिए गए आचारविषयक परामर्श सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकता से युक्त है। इस कथन के माध्यम से मानवाचार की व्याख्या करने का सफल प्रयास किया गया है। इसके अनुसार धर्म ही कल्याणकारक है। क्षमा ही शान्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। विद्या ही परम दृष्टि है तथा अहिंसायुक्त आचरण ही सुख का परम साधन है।[८८] धर्म के निर्वाह में त्रिविध शौच का निर्वाह स्वतः सन्निहित हो जाता है। जबकि मनु ने बौद्धिक शौच के लिए विद्या तथा तप का आश्रय

यथेष्ट दर्शाया है। कटु वचननिषेध और दुष्ट पुरुषों के अनादर को इस लोक में शोभा का मूल दर्शाकर सामान्य जीवन में स्वच्छ आचार का महत्त्व स्पष्ट किया गया है।[६६] शौच को मानवजीवन की सर्वोपरि आवश्यकता सिद्ध करते हुए मनुष्य के लिए वाचिक शौच में सदा प्रवृत्त रहने के लिए उपदेश न देने वाला आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करने वाले होता और कटु वचन बोलने वाली स्त्री को उसी प्रकार छोड़ देने का आग्रह किया गया है जिस प्रकार समुद्र की सैर करने वाला मनुष्य छिद्रयुक्त नाव को छोड़ देता है।[६०] धीर पुरुष के लक्षणों का विवेचन करते हुए उसके लिए दुर्बल के अपमान तथा बलवानों के साथ युद्ध से निवृत्ति एवं सावधान रहकर शत्रु के साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार में प्रवृत्ति अपेक्षित दर्शायी गयी है।[६१] समस्त भूतों को शान्तिदान, सत्यवादिता, मार्दव, अपरिग्रह तथा मानसिक शौच के निर्वाह को प्रसिद्धि के स्रोत घोषित करके इनके सदा सर्वदा निर्वाह को अपेक्षित दर्शाया गया है।[६२] विदुर ने धृतराष्ट्र से शान्ति की प्राप्ति के लिए असद् उपायों, अन्यायपूर्वक युद्ध तथा कपटपूर्ण कार्यों को सर्वथा त्याग देने का परामर्श दिया है।[६३] परोक्षतः यह शौच के समग्र निर्वाह की ओर संकेत है। विदुर द्वारा निर्दिष्ट विविध रक्षासाधनों की चर्चा करते हुए कहा गया है–

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते।।[६४]

सत्य को धर्म का रक्षक दर्शाकर धर्म की रक्षा के लिए मानसिक शौच का निर्वाह आवश्यक दर्शाया गया है। मनु ने स्मृति में सत्य को मानसिक शौच का स्रोत माना है। वाचिक शौच की आवश्यकता स्पष्ट करते हुए विदुर ने सर्वत्र वाक्-संयम के निर्वाह का आग्रह किया है, क्योंकि वाचिक अशौच द्वारा किया गया घाव कभी नहीं भरता।[६५] विदुर ने मनुष्यों की मृत्यु का कारण अन्वेषण करते हुए जिन आयुनाशक दोषों की चर्चा की है, वे हैं–अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्याग का अभाव, क्रोध, अत्यधिक जानने की अभिलाषा और मित्रद्रोह।[६६] वस्तुतः शौचविषयक मर्यादाओं का उल्लंघन ही मनुष्य के नाश का कारण है। दूत की नियुक्तिविषयक योग्यताओं की चर्चा करते हुए उसके द्वारा मानसिक शौच के निर्वाह को अभीष्ट दर्शाया गया है।[६७] विदुरनीति में अशौचविवेचन के द्वारा शौचप्रशस्ति के लिए विविध मलों की चर्चा विदुर की नीतिनिपुणता की परिचायक सिद्ध होती है। उनके अनुसार अभ्यास न करना वेद का मल है। ब्राह्मणोचित नियमों का पालन न करना ब्राह्मण का मल है। क्रीड़ा एवं हास-परिहास की

उत्सुकता पतिव्रता स्त्री का मल है। पति के बिना परदेश में रहना स्त्रीमात्र का मल है। चाँदी सोने का मल है। रांगा चाँदी का मल है। सीसा रांगें का मल है और उसका अपना मैलापन सीसे का मल है।[९८] इस विश्लेषण के माध यम से प्राणियों में उन्हीं गुणों का आश्रय लेने के संस्कार जगाए गए हैं, जो शौचसाधक हों। वाचिक अशौच को दम के अठारह दोषों में से एक घोषित करके इसे जितेन्द्रियता के पथ में बाधा माना गया है।[९९] अतः यह सर्वथा त्याज्य है। सनत्सुजात द्वारा आख्यात आश्रम धर्म के विवेचन में ब्रह्मचारी के लिए बाह्यान्तर शौच आवश्यक दर्शाया गया है।[१००] उद्योगपर्व में शौचपरिशीलन व्यास की शौचविषयक पूर्वप्रतिपादित मान्यताओं में आस्था का द्योतक सिद्ध होता है। इसीलिए उन्होंने इसे सर्वग्राह्यता प्रदान करने का सफल प्रयास किया है।

भीष्मपर्व में धर्म की महत्ता के प्रतिपादन के लिए औपनिषदिक विधा का आश्रय लिया गया है। उपनिषत्साहित्य का सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से है। भगवद्गीता में इसका प्राधान्य सर्वत्र विद्यमान उपलब्ध होता है। अध्यात्म विद्या के अनुसार स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति ही ब्रह्मलाभ है। भीष्मपर्व में स्थितप्रज्ञ की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि स्थितप्रज्ञता के लिए दुःख में उद्वेगराहित्य, सुख में अनासक्ति तथा प्रेम, भय और क्रोध से निवृत्ति आवश्यक है।[१०१] वस्तुतः इससे अभिप्राय सर्वविध मलिनता से निवृत्ति है। चित्त की प्रसन्नता को बुद्धि की स्थिरता का मूल घोषित किया गया है। इसके लिए प्रीति और द्वेष से मुक्ति आवश्यक स्वीकार की गई है।[१०२] निष्काम कर्मानुष्ठान को आत्मशुद्धि का स्रोत घोषित करते हुए परम शुचि के लिए निष्काम कर्म की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। योगाभ्यास के लिए शुचियुक्त स्थान का परामर्श सर्वथा स्मार्त धर्म के अनुकूल है।[१०३] ईश्वर ने उन्हीं भक्तों को ईश्वरप्रिय स्वीकार किया है, जो शुचियुक्त हों।[१०४] वस्तुतः इससे अभिप्राय शौचाचार को भक्तियोग का अंग स्वीकार करना है। शौच को ज्ञान का आधार घोषित करते हुए उसे दम्भराहित्य, सब भूतों पर दया, क्षमा, नम्रता, गुरुसेवा, धृति और मनोनिग्रह के समकक्ष सिद्ध किया है।[१०५] दैवी तथा आसुरी सम्पत्तिविवेचन में शौच को दैवी सम्पत्ति घोषित करके उन्हीं सद्वृत्तियों में से एक घोषित किया गया है, जिनका सर्वप्रथम उल्लेख यजुर्वेद में उपलब्ध होता है।[१०६] अशौच को आसुरी सम्पत्ति दर्शाकर प्राणियों में इसके त्याग के संस्कार जगाए गए हैं।[१०७] शौच को शारीरिक तप दर्शाकर इसके सदा सर्वदा पालन को अपरिहार्य माना गया है।[१०८] भीष्मपर्व

में किया गया ब्राह्मणधर्मविवेचन इस प्रकार है–

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।[१०६]

भीष्मपर्व में शौच का परम स्थान दिया गया है। इसे भक्तियोग का आधार, ब्राह्मणधर्म का विशेष गुण तथा दैवी सम्पत्ति माना गया है। इसके निर्वाह को पराकाष्ठा प्रदान करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्म की भाँति पवित्रता को अपना ही रूप स्वीकार किया है।[११०] अर्जुन द्वारा कृष्ण को दिया 'परम पवित्र' विशेषण भगवान श्रीकृष्ण के इससे पूर्व कथन की पुष्टि करता है।[१११] यज्ञ, दान और तप आदि कर्म को विवेकी पुरुषों का हेतु दर्शाकर विवेक के लिए शौच की अपरिहार्यता को सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक प्रासंगिकता प्रदान की गई है।[११२] भीष्मपर्व में निर्धारित शौच के महत्त्व का विहंगावलोकन इसे श्रौत, औपनिषदिक और स्मार्त परम्परा से युक्त सिद्ध करता है। जिस प्रकार वेदों में विविध देवो के लिए पूतः तथा पवमान आदि पदों का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने विभूतिवर्णन में स्वयं को पवित्रता का मूर्तिमान् रूप घोषित किया है और अर्जुन द्वारा भगवान श्रीकृष्ण को 'परम पवित्र' विशेषण से अलंकृत किया गया है। सम्पत्तिविवेचन में उन्हीं सद्वृत्तियों को दैवी सम्पत्ति दर्शाया गया है, जिन्हें मनु ने धर्म के लक्षण तथा याज्ञवल्क्य ने धर्म के साधन घोषित किया है।

शान्तिपर्व को आचारकोश की संज्ञा देना अतिशयोक्ति नहीं। इसमें धर्म के शास्त्रीय स्वरुप का विवेचन ही उपलब्ध नहीं होता, अपितु आख्यानाश्रित प्रतिपादन भी उपलब्ध होता है। इसमें राजधर्म, आपद्धर्म, आश्रमधर्म, वर्णधर्म तथा मोक्षधर्म की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। इसके लिए व्यास ने विविध विवेकज ज्ञानियों, धर्मप्रवर्तकों तथा अनुभवसम्पन्न तत्त्ववेत्ताओं के मुख से महाभारत में सरलीकृत उन्हीं दस मर्यादाओं की व्याख्या की है, जिनका पालन मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस के पथ को प्रशस्त करता है। राजधर्म के अन्तर्गत राजा के कर्तव्य तथा अकर्तव्य एवं सभासदों और मन्त्रियों की नियुक्ति से सम्बन्धित योग्यताओं के वर्णन के माध्यम से सर्वजनोपयोगी आचार का अनन्य विश्लेषण किया गया है। राजा के लिए प्रजा का आदर्श होना स्वाभाविक दर्शाया गया है। युधिष्ठिर को दिए गए राजोचित निर्देश सशक्त राजतन्त्र की रीढ की हड्डी सिद्ध होते हैं। राजा के लिए स्वयम्भू मनु द्वारा निर्दिष्ट दस मर्यादाओं का पालन परम आवश्यक

घोषित किया गया है–

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद्विद्यते परम्।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम्।।[११३]

मानसिक शौच की प्राप्ति के लिए कामनाओं का त्याग सर्वोपरि है। इसीलिए मोक्षधर्मपर्व में कामनाओं के परिहार को शुद्ध बुद्धि का आधार माना गया है।[११४] वर्णधर्मविवेचन में ब्राह्मणों के लिए जिन लक्षणों से युक्त होना अनिवार्य माना गया है, उनमें से शौच सर्वप्रथम है।. अन्य लक्षण हैं–सदाचार, यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन, नित्य व्रतपालन, सत्यपरायणता, दान, अक्रूरता, दम, अद्रोह, क्षमा, दया तथा तपस्या।[११५] भृगु द्वारा किया गया आश्रमधर्म-विवेचन शौच को ब्रह्मचर्य आश्रमविषयक मर्यादाओं का मूल घोषित करता है।[११६] वानप्रस्थी के लिए शौच का निर्वाह अपरिहार्य स्वीकार किया गया है।[११७] भीष्म द्वारा प्रतिपादित आश्रमधर्म के अनुसार ब्रह्मचारी के लिए पवित्रता, निपुणता, गुणयोग, गौरवयुक्त वाक्-संयम एवं जितेन्द्रियता अनिवार्य घोषित की गई है।[११८] इसमें भी ब्रह्मचर्य-आश्रमविषयक अन्यत्र प्रतिपादित मान्यताओं की भाँति शौच को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। वानप्रस्थी के लिए नियमों का पालन अनिवार्य दर्शाया गया है।[११९] व्यास के अनुसार आश्रमधर्म का परम साध्य मानसिक शौच लाभ है।[१२०] वाचिक शौच से सम्बन्धित मान्यताओं का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–

यद्ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत्।
तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन्भेषजमात्मनः।।[१२१]

शौचाचार को ब्रह्मभाव की प्राप्ति का साधन घोषित करते हुए कहा गया है कि जो मनसा, वाचा, कर्मणा प्राणिमात्र के विषय में पापभाव धारण नहीं करता, वही ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है।[१२२] स्यूमरश्मि तथा कपिल के संवाद में कपिल ने हिंसायुक्त यज्ञ को अधर्म मानते हुए दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यज्ञ को बुद्धिमान् मनुष्यों की चित्तशुद्धि का कारण मानते हुए इन्हें सनातन धर्म घोषित किया है।[१२३] पूर्वकालीन ब्राह्मणों के लक्षणों का विवेचन करते हुए उनके द्वारा संयम, यज्ञसम्पादन, स्वाध्याय, शौच तथा सदाचार के निर्वाह की प्रशस्ति शौच की सनातन अनिवार्यता को सिद्ध करती है।[१२४] युधिष्ठिर तथा भीष्म के संवाद में मोक्ष के यथायोग्य उपाय की चर्चा के अन्तर्गत क्षमा द्वारा क्रोध के मल को नष्ट करने तथा संकल्प वर्जन द्वारा काम को त्यागने को मोक्ष का यथायोग्य उपाय स्वीकार

किया गया है।[125] इसी संवाद में प्राणी से आग्रह किया गया है कि वह बुद्धि से वचन और मन को स्थिर करे और ज्ञानशुद्धि के माध्यम से बुद्धि को शुद्ध करे। तदनुसार चैतन्यप्रकाश के द्वारा आत्मा की शान्ति को नियमित करे। इस प्रकार पवित्रता से युक्त होकर शान्तभाव से उस वृत्ति को विशुद्ध आत्मा में क्रम से लीन करके निज रूप में निवास करे।[126] भीष्म द्वारा किए गए मोक्षधर्म के विवेचन में योग के साधनों की चर्चा इस प्रकार उपलब्ध होती है–

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः।।[127]

मोक्षधर्म में नेत्र, मन और वचन से किसी को भी दूषित न करने को अपेक्षित मानकर जीवन में त्रिविध शौच के सम्यक् निर्वाह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[128] बुद्धि द्वारा अर्जित मानसिक शौच तथा देहाभिमान के त्याग को मोक्षप्राप्ति का मूल स्वीकार किया गया है।[129] इसकी प्राप्ति सैंकड़ों जन्मों में अल्प कर्मों द्वारा अथवा एक ही जन्म में महत् प्रयत्न द्वारा सुलभ दर्शायी गयी है। भीष्म का विश्वास है कि जैसे मनुष्य सहज में ही निज शरीर में लगी हुई धूल को झाड़कर शुद्ध करता है उसी प्रकार अनेक महत् प्रयत्नों से वह अपने राग तथा द्वेष आदि मलों को भी धो सकता है।[130] अन्यत्र कहा गया है कि जो लोग शुद्ध चित्त से श्रवण, मनन, ध्यान तथा अभ्यास से शुद्ध चिन्मात्र वस्तु को जानने की इच्छा करते हैं, वे द्वैत जाल को तोड़कर उस शुद्ध परम गति को प्राप्त होते हैं।[131] पर्यावरण में जलविषयक शौच के प्रावधान के लिए इन्द्र तथा वृत्र के आख्यान के माध्यम से यह भय दिखाया गया है कि जो मनुष्य मोह के वश में होकर अल्प विचार से जल में मल, श्लेष्म तथा विष्ठा परित्याग करेगा, वह ब्रह्महत्या के दोष का भागी होगा।[132] भीष्म ने पापकर्म से निवृत्ति, पुण्यशीलता के निर्वाह और साधुओं के साथ सदाचार पालन को कल्याण के स्रोत घोषित किया है। ये सभी कुछ शिष्टाचार पर आश्रित है।[133] नेत्रविषयक तथा मानसिक एवं वाचिक कायिक शौच के निर्वाह की अपरिहार्यता सिद्ध करते हुए कहा गया है कि मनुष्य नेत्र, मन, वचन और कर्म से चार प्रकार के कर्मों को जिस भाव से करता है उसी भाव से उसे फल की प्राप्ति होती है।[134] शुचियुक्त प्राणी के लिए चाण्डाल का महालाभदायक स्पर्श भी निषिद्ध घोषित किया गया है।[135] मनुष्य द्वारा शौचयुक्त तपस्या को ख्याति का कारण दर्शाया गया है।[136] सभी आश्रमों तथा सभी वर्णों के लिए सदा सर्वदा व्यवहार्य संयमों को इस

प्रकार निर्दिष्ट किया गया है–

स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयताः।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप।।[१३७]

यह निदर्शन शौच को सर्वत्र अपरिहार्य सिद्ध करता है। इहलोक और परलोक में परम सुख की प्राप्ति देहधारियों द्वारा देहनिष्ठ नाम और रूप को आत्मधर्म रूप मानने में निहित दर्शायी गयी है।[१३८] शौचाचार तथा समस्त प्राणियों के विषय में दया तथा अहिंसा आदि व्रतों के अनुष्ठान को सांख्य और योगदर्शनों की अनेकता में एकता की झांकी सिद्ध करके शौचाचार को योग तथा सांख्य दोनों दर्शनों के विवेकज ज्ञान का मूल स्वीकार किया गया है।[१३९] सांख्य दर्शन के अनुयायी मुनि से आग्रह किया गया है कि वह शब्द आदि विषयों से अन्तःकरण के सहित इन्द्रियों को निवृत्त करते हुए पवित्र मन वाला होकर परमात्म तत्त्व जानने के निमित्त २२ प्रकार के प्राणायामों द्वारा परम पुरुष परमात्मा की ओर प्रेरित हो।[१४०] वसिष्ठ द्वारा विवेचित मोक्षधर्म के अनुसार चिदात्मा जीव इस लोक में शुद्ध-बद्ध पुरुष की संगति में शुद्धधर्मा होता है तथा मुक्त के संग से युक्त होने पर विमुक्तधर्मा।[१४१] उनके अनुसार चिदात्मा जीव की शुचिकर्मा के साथ संगति शुचिसिद्धि का परम साधन है।[१४२] भीष्म ने तत्त्वज्ञान के ग्रहण करने की पात्रता का आधार श्रद्धा, गुणवत्ता, परापवादराहित्य, शौच, योगरति, पाण्डित्य, शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान, क्षमाशीलता, लोकमंगल की साधना, पुण्यशीलता, शास्त्रविधि-प्रियता, विवादराहित्य, बहुविज्ञता, अहितनिवृत्ति, शम तथा दम के सर्वत्र निर्वाह आदि का समाश्रय स्वीकार किया है।[१४३] भीष्म का मत है कि जिस प्रकार ज्ञानफलार्थी के लिए ज्ञान का परिचय अनिवार्य है, उसी प्रकार धर्मफलार्थी के लिए धर्म का परिचय अपेक्षित है।[१४४] भीष्म ने उसी ब्राह्मण को दान का पात्र माना है, जो वेदज्ञ, अनृशंस, पवित्र, दान्त, सत्यवादी, सरलतापूर्वक व्यवहार करने वाला, शुद्ध कुलसम्बद्ध तथा पवित्र कर्म करने वाला हो।[१४५] वस्तुतः दान की पात्रतासिद्धि के माध्यम से ब्राह्मण के सनातन लक्षणों का पुनरुद्धरण शौच को ब्राह्मण का परम धर्म सिद्ध करता है।

याज्ञवल्क्य के त्रिगुणविवेचन में सत्त्व गुणों की परिगणना करते हुए धैर्य, आनन्द, ऐश्वर्य, प्रीति, प्रकाश, सुख, शौच, आरोग्यता, संतोष, श्रद्धा, अकार्पण्य, असंरंभ (क्रोधराहित्य) क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, आनृण्य, मार्दव, लज्जा, अचापल्य, पवित्रता, विनीतता, सदाचार, अलोलुपता, असम्भ्रम,

इष्ट और अनिष्ट के वियोग की व्याख्या से निवृत्ति, दान के सहारे आत्मग्रहण, अस्पृहता, परोपकारिता तथा सब प्राणियों के प्रति दया का उल्लेख उपलब्ध होता है।[१४६] ये ही गुण भीष्मपर्व में दैवी सम्पत्ति के नाम से आख्यात है। इन्हीं के आश्रय को परम आश्रय माना गया है। वस्तुतः शौच के निर्वाह को समस्त धर्मों के निर्वाह का मूल तत्त्व दर्शाने की सर्वत्र चेष्टा उसकी अनिवार्यता को सिद्ध करती है। भीष्म ने कैवल्यलाभ मानसिक शौच के आश्रित स्वीकार किया है।[१४७] विविध आश्रमों के धर्मविधान को शौचसिद्धि के साधन घोषित करके एक प्रश्नसूचक वाक्य के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में ही जिसकी चित्तशुद्धि होती है उस कृतकृत्य विपश्चित् पुरुष को अन्य तीनों आश्रमों से क्या प्रयोजन है?[१४८] मानसिक शौचलाभ को मोक्षप्राप्ति का आधार घोषित करते हुए कहा गया है–

भावितैः कारणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे।।[१४९]

शौचाचार के निर्वाह को ब्रह्मलाभ की योग्यता से युक्त दर्शाते हुए कहा गया है कि जब मनुष्य मन, वचन और कर्म से सब प्राणियों के विषय में पाप की इच्छा नहीं करता, तब वह ब्रह्मभाव के लाभ का अधिकारी हो जाता है।[१५०] वस्तुतः कैवल्य, स्थितप्रज्ञता, सांख्य दर्शन में दक्षता, योगसिद्धि, आश्रमधर्म में कुशलता तथा वर्णधर्म में निपुणता का लाभ शौच के सम्यक् निर्वाह द्वारा ही संभव है। श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद में प्रतिपादित परा प्रकृति के अष्टादश गुण इस प्रकार हैं–प्रीति, कार्य, उद्रेक, लघुता, सुख, अकार्पण्य, असंरंभ, संतोष, क्षमा, श्रद्धानता, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, आर्जव, समता, सत्य तथा अनसूया। उनके अनुसार परा प्रकृति के अष्टादश गुण ही सत्त्व गुण हैं।

शान्तिपर्व में विविध धर्मों के निरूपण का विहंगावलोकन शान्तिपर्व को शौच की अपरिहार्यता की सिद्धि से ओतप्रोत दर्शाता है। इसके निर्वाह के बिना मनुष्य न तो आश्रमपरायण हो सकता है और न ही वर्णानुयायी। इतना ही नहीं, इसका निर्वाह आपद्धर्म में भी वांछित दर्शाया गया है। शौच मनुष्य की समस्त उपलब्धियों का श्रेष्ठतम साधन माना गया है। प्राणियों को वाचिक, मानसिक तथा कायिक शौच से युक्त करने के लिए वेदों में उसके वाचिक, मानसिक तथा कायिक परिष्कार के लिए जिन साधनों के आश्रय को युक्तियुक्त दर्शाया गया था, महाभारत में भी वे ही साधन यथेष्ट

स्वीकार किए गए हैं। उनको गुह्यता, संकेतात्मकता तथा दार्शनिकता की गहनता से मुक्त करके कृष्णद्वैपायन व्यास ने जनसामान्य को इस परम व्रत के निर्वाह की महत्ता से अवगत कराकर उनमें इसके निर्वाह के संस्कार जगाए हैं। **वस्तुतः सनातन से अभिप्राय आदिकाल से प्रादुर्भूत तथा सदा सर्वदा प्रासंगिक है।** हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को इसीलिए सनातन कहा जाता है। जब कभी इनके लोप की आशंका हुई है तभी किसी न किसी महान् आत्मविद् द्वारा इनकी पुनर्स्थापना का प्रयास होता रहा है। महाभारतकार ने अध्यात्म और व्यवहारपक्ष के समावेश के माध्यम से यजुर्वेद के उस अमर सन्देश को व्यवहार्य घोषित किया है जिसके अनुसार मृत्युञ्जयता के पश्चात् अमरत्वलाभ के लिए विद्या तथा अविद्या का सम्यक् ज्ञान अपरिहार्य है–

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।[१५१]

अनुशासनपर्व में दानधर्म के माध्यम से शिष्टाचार और सदाचारविषयक निर्देशों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। इसके अनुसार ब्राह्मण के लिए तीनों वर्णों के दैव अथवा पितृकार्यों में कायिक शौच का निर्वाह अनिवार्य है। जो इस मर्यादा का उल्लंघन करता है, वह पाप का भागी बनता है। इतना ही नहीं, ब्राह्मणों के लिए जन्म तथा मृत्यु आदि के अशौच से निवृत्ति के बिना लोभवश निमन्त्रण को स्वीकार करना गोहत्या के पाप के समकक्ष दर्शाया गया है।[१५२] ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन, व्रताचरण और चरित्र-संशोधन सर्वथा व्यवहार्य है। अन्यथा उसे दिया गया अन्नदान गोवध और मिथ्या वचन से जनित अधर्म के समान है।[१५३] आश्रमधर्म के अपालन को नरक का द्वार घोषित करके शौच के निर्वाह की प्रेरणा देने का प्रयास किया गया है।[१५४] गंगासुत भीष्म ने आश्रमधर्म के पालन को स्वर्ग का द्वार दर्शाकर शौच के निर्वाह को स्वर्गसाधक घोषित किया है।[१५५] नारद द्वारा विवेचित नमस्कार्य प्राणियों में उत्तम व्रत वाले मुनि, पवित्र और सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मणों के नाम उल्लिखित हैं।[१५६] ब्राह्मण के लिए निर्दिष्ट आचार के अनुसार उसके लिए अमृतोपम वस्तु का आहार, शौचनिर्वाह, सत्य भाषण, नित्य नियमस्थिति तथा जितेन्द्रियता अपेक्षित घोषित करते हुए कहा गया है–

अमृताशी सदा च स्यात्पवित्री च सदा भवेत्।
ऋतवादी सदा च स्यानियतश्च सदा भवेत्।।[१५७]

भीष्म ने आचार को आयुष्यवर्धन, श्रीसम्पन्नता तथा निःश्रेयस साधना

का स्रोत घोषित करके प्राणियों में शौच के संस्कार जगाने का प्रयास किया है।[१५८] इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि शतवर्षीय जीवन के लिए सदाचार, श्रद्धा तथा असूयाराहित्य परम आवश्यक है।[१५९] प्राणविषयक शौच के यथेष्ट निर्वाह के लिए प्राणियों के लिए झूठे हाथ से सिर का स्पर्श करना, सिर के बाल ग्रहण करना और सिर पर प्रहार करना निषिद्ध घोषित किया गया है।[१६०] वाचिक अशौच को निषिद्ध घोषित करते हुए प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे दूसरों के मर्म पर आघात न करें। निष्ठुर वचन न कहें। दूसरों को नीचा न दिखाएं। जिस बात को कहने से दूसरों को उद्वेग होता है वैसी पापयुक्त अकल्याणकारी बात न कहें। अन्यथा उन्हें पापियों का लोक प्राप्त होगा।[१६१] बुद्धिमान् मनुष्य के लिए नित्यप्रति स्नान, शुच्यालंकरण एवं सब पर्वों में ब्रह्मचर्य का पालन यथार्थ घोषित किया गया है।[१६२] अशौच को निषिद्ध घोषित करने के लिए अपवित्र मनुष्य के निकट बैठकर भोजन करना वर्जित दर्शाया गया है। यह भी कहा गया है कि मनुष्य को धर्मशास्त्रों में निषिद्ध भोजन को पीठ के पीछे छिपाकर नहीं खाना चाहिए।[१६३] इससे अभिप्राय निषिद्ध भोजन का सर्वथा त्याग है। अशुद्ध विचारों वाले गुरु की शिष्यों द्वारा अवज्ञा तथा अशुद्ध विचारों वाले बड़े भाई की छोटे भाईयों द्वारा अवज्ञा की आशंका के माध्यम से अशौच को निषिद्ध घोषित किया गया है।[१६४] गृहस्थ धर्म के निर्वाह में मानसिक शौच का महत्त्व दर्शाते हुए गृहस्थ धर्मानुयायी के लिए पंच यज्ञ-याजन, मानसिक शौच, सत्य कथन, असूयाराहित्य, दान, ब्राह्मणसम्मान तथा स्वच्छ गृह में निवास अपरिहार्य घोषित किया गया है।[१६५] उमा तथा महेश्वर के संवाद के अनुसार सन्तों द्वारा मानसिक शौच का निर्वाह उन्हें चन्द्रलोक में विचरण की योग्यता से युक्त करता है।[१६६] जीवन में शुचि के निर्वाह को पराकाष्ठा प्रदान करते हुए कहा गया है–

कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत्सेव्य इति ब्रह्माब्रवीतस्वयम्।।[१६७]

इतना ही नहीं, महेश्वर के अनुसार पवित्र स्वभाव और पवित्र अनुष्ठानकर्ता शूद्र को द्विज जातियों से भी श्रेष्ठ मानना चाहिए।[१६८] यह देवोक्ति सिद्ध करती है कि ब्राह्मणत्व के विषय में न तो योनि ही कारण है और न ही संस्कार और न ही शास्त्रज्ञान तथा सन्तति। ब्राह्मणत्व प्राप्ति का एकमात्र आश्रय पवित्र आचार है। इसकी पुष्टि करते हुए शौचाचार को

समस्त धर्मों का मूल घोषित किया गया है तथा स्वर्गप्राप्ति का साधन दर्शाया गया है। महेश्वर द्वारा सामान्य धर्मलक्षणविवेचन के अनुसार दान, धर्म, तप, शील, शौच तथा सब प्राणियों के प्रति दया सदा सर्वदा सेवनीय माने गए हैं। अनुशासनपर्व में आख्यात दानधर्म, सदाचार एवं उमा तथा महेश्वर के संवाद के माध्यम से विवेचित वर्णाश्रम धर्मविषयक सन्दर्भ शौच को मनुष्य का परम आश्रय घोषित करते हैं। अन्य पर्वों की भांति इस पर्व में भी इसकी महत्ता को स्पष्ट करने के लिए इसके निर्वाह को पुरस्कार्य और अवहेलना को दुष्परिणाम से ग्रस्त दर्शाया गया है।

सारांशतः महाभारत में पर्वानुसार विवेचित शौच का महत्त्व व्यास के उस संकल्प की सिद्धि को समर्पित है, जिसमें उन्होंने मानवजीवन के अभीष्ट फलचतुष्टय में धर्म को सर्वोपरि स्वीकार किया है। श्रौत साहित्य में जहाँ साशन सिद्धि के लिए अर्थ और काम की सिद्धि के साधन जुटाए गए हैं, वहीं अनशन उपलब्धि के लिए मोक्षसाधक साधनों का प्रावधान दिया गया है। यह परम्परा उत्तरोत्तर समृद्धि को प्राप्त होती रही। स्मार्त साहित्य के अन्तर्गत विविध धर्मशास्त्रों तथा दर्शनशास्त्रों में धर्म, दर्शन और योगविषयक सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। यह वेदों की गुह्यता तथा उपनिषदों की सांकेतिकता से मुक्त होते हुए भी संश्लिष्टता के प्राधान्य के कारण सर्वग्राह्य नहीं हो पाया। इसके परिणामस्वरूप समाज के बहुसंख्यक साधारण वृद्धि से युक्त प्राणियों के कुपथगामी हो जाने की आशंका बलवती होती चली गई। क्योंकि स्मार्त साहित्य के सभी ग्रन्थ एक विशिष्ट ज्ञानशाखा से सम्बद्ध होने के कारण मानवाचार की समग्रता के निरूपण में समर्थ नहीं हो पाए। मानवसमाज में व्याप्त धर्म के उत्तरोत्तर ह्रास के परिणामस्वरूप त्रेता युग में सामान्य जनों के परित्राण के लिए राम को धर्म का मूर्तिमान् रूप दर्शाकर मर्यादापालन को मानवजीवन का परम श्रेय सिद्ध किया गया है। हमारी संस्कृति के अनुसार जनसाधारण में धर्म का लोप ही युग के अन्त का मुख्य कारण माना जाता है। हमारी परम्परा रही है कि सनातन सांस्कृतिक मूल्यों को युग का आनुकूल्य प्रदान होता रहे। महाभारतकार ने इस दायित्व के निर्वाह के लिए वेदोक्त अविद्याविद्या, सम्भूति-असम्भूति तथा अध्यात्म एवं आधिदैविक की साम्यसिद्धि को ही सरलता, व्यापकता एवं विशदता प्रदान नहीं की, अपितु उपनिषदों के तत्त्वज्ञान को भी सर्वबोधगम्य बनाया है। उन्होंने कपिल के सांख्य दर्शन तथा पतञ्जलि के योग दर्शन में

समन्वय स्थापित करके इसी सत्य को सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है कि विविध दार्शनिकों, मनीषियों, तत्त्ववेत्ताओं एवं धर्मप्रवर्तकों द्वारा निर्दिष्ट विभिन्न पथ एक ही लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट हैं। अतः मूलभूत अन्तर से युक्त होते हुए भी लक्ष्यविषयक एकता से सम्पन्न हैं। उनके द्वारा किया गया शौचविषयक विवेचन इसी लक्ष्य को समर्पित है। उन्होंने शौच के निर्वाह को धर्ममर्यादा घोषित करके इसके उल्लंघन को निषिद्ध घोषित किया है और पालन को धर्म-आग्रह–

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दमोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमम्भसोऽम्भएव।।[१६६]

सन्दर्भ

१. अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाधवम्।
अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः।। मनुस्मृति, ४.२०४.(१३)

२. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.३१३.

३. इगन्ताच्च लघुपूर्वात्। अष्टाध्यायी, ५.१.१३७.

४. यजुर्वेद, १.२.

५. भीष्मपर्व, ३२.२३.

६. 'अष्टौ वसवः ...अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं
चादित्यश्च द्यौश्च' चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव, एते हीँ दं सर्वं वासयन्ते।
शतपथ ब्राह्मण, ११.६.६.६.

७. पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।
देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवम्।।
यजुर्वेद,१.१२.

८. यजुर्वेद, १.१३. सुबोध भाष्य, पृ० १६.

९. आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः
पुनन्तु......परि दधे भद्रं वर्णं पुष्यन्।। वही, ४.२.

१०. वही, ४.४.

११. वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि।
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रॉस्ते शुन्धामि॥वही,क्ष४

१२. चक्षुस्त आ प्यायतां..............................तत्ते शुध्यतु। यजुर्वेद, ६.१५.

१३. वही, २०.२०.

१४. वही, २५.१८.

१५. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।। यजुर्वेद, २५.२१.

१६. वही, २५.३४.

१७. देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं न पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।। वही, ३०.१.

१८. अथर्ववेद, १.६.१.

१६. निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वं।
सर्वाश्चण्डस्य नृप्त्यो नाशयामः सदान्वाः।। वही, २.१४.१.

२०. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि।।
मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः।। वही,१.३४.२–३.

२१. वही, ५.१.५.

२२. वही, ६.७३.१.

२३. सं वः पृच्यन्तां सं मनांसि समु व्रता।
सं वोयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ।।
संज्ञपनं वो मानसोथो संज्ञपनं हृदः।
अधो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः।। वही,६.७४.१–२.

२४. वही, ६.८४.१.

२५. वही, ६.१६.१–३.

२६. स्वाक्तं मे द्यपृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम्।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत्।। वही,७.३०(३१).

२७. वही, १६.६०.१–२.

२८. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।। वही,१६.६२.१.

२६. पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।।
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।।
भूयेम शरदः शतम् । भूयसीः शरदः शतम्।। वही,१६.६७.१–८.

३०. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।। कठोपनिषद्, १.२.२३

३१. वही, १.३.८.

३२. यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।। वही, १.३.७.

३३. यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छान्त आत्मनि।। कठोपनिषद्, १.३.१३.

३४. वही, २.३.५.

३५. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। कठोपनिषद्, २.३.१४.

३६. वही, २.३.१५.

३७. इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।।
मुण्डकोपनिषद्,१.२.१०.

३८. ऐतरेयोपनिषद्, ३.१.२.

३६. कैवल्योपनिषद्, १.१४.

४०. जाबालोपनिषद्, ५.२.

४१. वही, ६.३.

४२. अथर्वशिरोपनिषद्, ७.

४३. वृत्तीणां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च।। मनुस्मृति,१.११३.

४४. उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च।। वही, २.६६.

४६. सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्।। वही,३.१२६.

४६. वही, ३.१२६.

४७. वही, ३.२३५.

४८. वही, ५.६६.

४६. वही, ५.१३७.

५०. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।
दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्।। वही,६.६२–६३.

५१. वही, १०.६३.

५२. वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्।। वही, १२.३१.

५३. लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम्।। वही, ५.६७.

५४. सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।। वही, ५.१०६.

५५. वही, ५.१०६.

५६. उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।। याज्ञवल्क्यस्मृति, १.१५.

५७. सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः।। वही, १.७१.

५८. वही, १.१२२.

५६. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।। याज्ञवल्क्यस्मृति,१.१२२.
६०. वही, १.१३१.
६१. कर्तव्याशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्वातन्त्र्यकरणाय च।। वही,३.६२.
६२. नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत्।। वही, ३.६५.
६३. वही, ३.६६.
६४. वही, ३.१६०.
६५. बालकाण्ड, २.१५.
६६. वही, २.२०.
६७. अयोध्याकाण्ड, १.१०.
६८. न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते।। वही,१.१४.
६६. सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञः' नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः।। वही,१.१५.
७०. नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा।। वही, १.१७.
७१. वही, १.२४.
७२. श्रीमद्भागवतपुराण,१.४.२५.
७३. आदिपर्व, ३८.११.
७४. सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च वदतो राजन्समं वा स्यान्न वा समम्।। वही,६६.२३.
७५. धौतदन्तं कृत्तनखं सदा स्नातमलंकृतम्।
असितं सितकर्मस्थं कस्तं नार्चितुमर्हति।। वही, ८६.१५.
७६. कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कदाचन।
इति पूर्वे महात्मानः आपद्धर्मविदो विदुः।। वही, १४६.११.
७७. आरण्यकपर्व, २.३२.
७८. वही, ३४.३४.
७६. शान्तिपर्व, ३०६.२६.
८०. जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः।
कामक्रोधौ वशे यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः।। आरण्यकपर्व, १६७.३३.
८१. मृषावादं परिहरेत्कुर्यात्प्रियमयाचितः।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत।। आरण्यकपर्व, १६८.४०.
८२. वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचीर्णश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्।। वही, १६८.७८.
८३. आरण्यकपर्व, २०२.२१–२३, कठोपनिषद्, १.३.५–८.

८४. शुभानुशयबुद्धिर्हि संयुक्तः कालधर्मणा।
प्रादुर्भवति तद्योगात्कल्याणमतिरेव सः ।। कठोपनिषद्, २४५.२५.

८५. दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम्।। वही,२६७.४६.

८६. वही, २६८.७.

८७. अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचममत्सरः।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम।। वही,२६८.८.

८८. एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा दृष्टिरहिंसैका सुखावहा।। उद्योगपर्व, ३३.४८.

८९. द्वे कर्मणी नरः' कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते।
अब्रुवन्परुषं किंचिदसतो नार्थयंस्तथा।। वही,३३.५०.

९०. वही, ३३.६७–६८.

९१. वही, ३३.८७.

९२. यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुर्दानकृच्छुद्धभावः।
अतीव संज्ञायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः।। वही, ३३.१०१.

९३. वही, ३४.६.

९४. वही, ३४.३७.

९५. संरोहति शरैर्बिद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम्।। वही, ३६.६४–६५.

९६. वही, ३७.६.

९७. वही, ३७.२५.

९८. अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम्।
कौतूहलम्मला साध्वी विप्रवासम्मलाः स्त्रियः।।
सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम्।। वही, ३६.६४–६५.

९९. वही, ४३.१५.

१००. गुरुं शिष्यो नित्यमभिमन्यमानः स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्न दधीत रोषमेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः।। वही, ४४.८.

१०१. भीष्मपर्व, २४.५६.

१०२. प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
, प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। वही, २४.६५

१०३. वही, २८.११.

१०४. अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। भीष्मपर्व, ३४.१६.

१०५. वही, ३५.७.

१०६. तेजः क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। वही, ३८.३.

१०७. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।। भीष्मपर्व, ३८.७.

१०८. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। वही, ३६.१४.

१०६. वही, ४०.४२.

११०. पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।। वही, ३१.१७.

१११. परं ब्रह्म परं धाम पवित्र परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।। वही, ३२.१२.

११२. यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।। वही, ४०.५.

११३. शान्तिपर्व, ६३.६.

११४. यद्यत्त्यजति कामानां तत्सुखस्याभिपूर्यते।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते।। वही, १७१.४८.

११५. वही, १८२.३–४.

११६. वही, १८४.८. (३)

११७. वही, १८५.१.

११८. शुचिर्दक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिषुरिवात्वरः।
चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रियः।। वही, २३४.१०.

११६. वही, २३६.६.

१२०. वही, २३७.२.

१२१. वही, २३७.१०.

१२२. यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा।। वही, २५४.१७.

१२३. वही, २६१.१६.

१२४. यत एवंविधा विप्राः पुराणा यज्ञवाहनाः।
त्रैविधवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः।
यजन्तोऽहरहर्यज्ञैर्निराशीर्बन्धना बुधाः।। वही,२६२.१३

१२५. वही, २६६.५.

१२६. वही, २६६.१२–१३.

१२७. वही, २६६.१५.

१२८. न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत्क्वचित्।। वही, २६६.४.

१२६. बाह्ये चाभ्यन्तरे चैव कर्मणा मनसि स्थितः।
निर्मलीकुरुते बुद्धया सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते।। शान्तिपर्व, २७१.१०.

१३०. लीलयाल्पं यथा गात्रात्प्रमृजयादात्मनो रजः।
बहु यत्नेन महता दोषनिर्हरणं तथा।। वही, २७१.१३.

१३१. शुद्धां गतिं तां परमां परैति शुद्धेन नित्यं मनसा विचिन्वन्।
ततोऽव्ययं स्थानमुपैति ब्रह्म दुष्प्रापमभ्येति स शाश्वतं वै।
इत्येतदाख्यातमहीनसत्त्व नारायणस्येह बलं मया ते।। शान्तिपर्व, २७१.५५.

१३२. वही, २७३.५०–५२.

१३३. निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम्।। वही, २७६.१६.

१३४. चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते। वही, २७६.१५.

१३५. पापानुबन्धं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी शुचिः कुसलिलं यथा।। वही, २८०.७.

१३६. नित्यं भद्राणि पश्यन्ति विषयांश्चोपभुञ्जते।
प्राकाश्यं चैव गच्छन्ति कृत्वा निष्कल्मषं तपः।। वही, २८०.२८.

१३७. वही, २८५.२४.

१३८. वही, २८७.३४.

१३६. तुल्यं शौचं तपोर्युक्तं दया भूतेषु चानघ।
व्रतानां धारणं तुल्यं दर्शनं न समं तयो।। वही, २८६.६.

१४०. वही, २६४.१०–११.

१४१. वही, २६६.२६.

१४२. शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना।। वही, २६६.२८.

१४३. वही, २६६.३३–३४.

१४४. वही, २६७.८.

१४५. अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः।
योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद्वेदविद्द्विजः।। वही, २६७.१४.

१४६. वही, ३०१.१७–२०.

१४७. मन्यन्ते यतयः शुद्धा अध्यात्मविगतज्वराः।
अनित्यं नित्यमव्यक्तमेवमेतद्धि शुश्रुम।। वही, ३०३.११.

१४८. वही, ३१३.२७.

१४६. वही, ३१३.२६.

१५०. वही, ३१३.३४.

१५१. यजुर्वेद, ४०.१४.

१५२. अशौचो ब्राह्मणो राजन्योऽश्नीयाद् ब्राह्मणादिषु।
ज्ञानपूर्वमथो लोभात्तस्याधर्मो गवानृतम्।। अनुशासनपर्व, २४.४५.

१५३. अवेदव्रतचारित्रास्त्रिभिर्वर्णैर्युधिष्ठिर।
मन्त्रवत्परिविष्यन्ते तेष्वधर्मो गवानृतम्।। वही, २४.४७.

१५४. वही, २४.७१.

१५५. वही, २४.८८.

१५६. अनुशासनपर्व, ३२.१६.
१५७. वही, ६३.७.
१५८. आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात्कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च।। वही, १०७.६.
१५६. वही, १०७.१३.
१६०. उच्छिष्टो न स्पृशेच्छीर्षं सर्वे प्राणास्तदाश्रयाः।
केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत्।। वही,१०७.३५.
१६१. नारुंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा परं उद्विजेत न तां वदेद्रुशतीं पापलोक्याम्।। वही, १०७.५६.
१६२. उपवासं च कुर्वीत स्नातः शुचिरलंकृतः।
पर्वकालेषु सर्वेषु ब्रह्मचारी सदा भवेत्।। वही, १०७.८१.
१६३. वही, १०७.८३.
१६४. वही, १०८.३.
१६५. वही, १२६.१०–११.
१६६ ये त्वन्ये शुद्धमनसो दयाधर्मपरायणाः।
सन्तश्चकचराः पुण्याः सोमलोकचराश्च ये।। वही, १२६.४३.
१६७. वही, १३१.४७.
१६८. वही, १३१.४८.
१६६. उद्योगपर्व, ४०.१६.

नवम अध्याय

सन्तोष

मानवसृष्टि स्रष्टा के रचना-कौशल का श्रेष्ठतम सर्ग है। चेतना के वरदान से युक्त होने के नाते सभी मनुष्यों की समृद्धि, शान्ति, सुख, मंगल और कल्याण एक दूसरे के प्रति उन दायित्वों के निर्वाह पर आश्रित हैं, जो समाज में लोकमंगल की साधना में सक्षम हों। सड़क के नियम के अनुसार प्रत्येक मनुष्य से बाईं ओर चलना अपेक्षित है। इस दायित्व की पूर्ति उसकी अपनी सुरक्षा का आश्वासन सिद्ध होती है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी प्राणी का निजी सुख दूसरों के सुख के प्रति जागरूकता पर आश्रित है। मानवजीवन के पथ को सुगम, सरल, निष्कंटक, समतल और सुखद बनाने के लिए उसके द्वारा जिन दायित्वों की पूर्ति का प्रावधान किया गया है, उनका निर्वाह प्राणी द्वारा उनके स्वेच्छित पालन पर ही निर्भर करता है। समाज के परिष्कार के लिए व्यक्ति का परिष्कृत होना आवश्यक है। वैयक्तिक परिष्कार से अभिप्राय एक ऐसी जीवनपद्धति को अपनाने का संकल्प है, जो समूचे समाज के कल्याण, समृद्धि तथा शान्ति को समर्पित हो। वेद विश्व के सर्वप्रथम बोधक ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें मानवजीवन का लक्ष्य उसके व्यष्टि स्वरूप की समष्टिरूप प्राप्ति दर्शाया गया है। इस पथ पर अग्रसर होने के लिए जो सोपान निर्धारित किया गया है, उसका प्रथम चरण दायित्वबोध है। समस्त मानवजाति को परस्पर आश्रित मानते हुए वेदों में दायित्वबोध को अधिकारबोध पर प्राथमिकता दी गई है। उनके अनुसार मनुष्य का वैयक्तिक कल्याण, सुख और शान्ति समस्त मानव समाज की समृद्धि, सुख और शान्ति में निहित है। वेदों की विशिष्टता इनकी सांकेतिकता है। तदनुसार ही उन्हें गुह्य माना जाता है। इनमें मानव के लिए जो आचार-संहिता निर्दिष्ट की गई है, वह भी संकेतों के रूप में ही विद्यमान है। प्राणी द्वारा जिन विशिष्ट गुणों का ग्रहण वांछित माना गया है,

उन्हें संहिताओं में देवगुण घोषित करके ऋचाओं का सर्जन हुआ है। मानव द्वारा इनका नित्यप्रति पाठ उसमें उनके ग्रहण के संस्कार जगाता है। उत्तरकाल में जिन विशिष्टताओं को यमों और नियमों के नाम से अभिहित किया गया, उनके लिए वेदों में विविध संकेतों का प्रावधान उपलब्ध होता है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती साहित्यकारों की सभी रचनाओं में वेदों को अखिल धर्म (वैयक्तिक तथा सामाजिक आचरण) का मूल स्वीकार किया गया। तदनुसार ही सन्तोष की परिचर्चा का आरम्भ भी वेद ही है। महाभारत में सन्तोषविषयक जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसकी पृष्ठभूमि श्रौत और स्मार्त साहित्य ही सिद्ध होते हैं। व्यास ने स्वयं भी महाभारत का रचनोद्देश्य वेदों की गुह्यता का सरलीकरण स्वीकार किया है। इस स्वीकारोक्ति के प्रकाश में महाभारत में सन्तोषविषयक विवेचन वेदों में सन्तोषसमर्थक संकेतों से आरम्भ करना ही यथेष्ट है।

वेदों में सन्तोषविषयक संकेत

सन्तोष को नियमपरिगणना में तृतीय स्थान प्राप्त है। इस वैयक्तिक संयम का मूल भी वेद हैं। इसका सम्यक् निर्वाह समाज में अपरिग्रह के स्वेच्छित निर्वाह के संभाव्य की स्वाभाविकता को स्पष्ट करता है। इसकी व्युत्पत्ति सम् उपसर्गपूर्वक 'तुष् तुष्टौ'[१] एवं 'तुष् प्रीतौ'[२] से स्वीकार की गई है। इस दृष्टि से सन्तोष तुष्टि एवं प्रीति के समग्र निर्वाह का पर्याय सिद्ध होता है। सामान्यतः अलोलुपता एवं न्यूनाधिक शोकोल्लासराहित्य ही सन्तोष है। इसके निर्वाह के लिए वेदों में जो संकेतसूचक पद उपलब्ध होते हैं, वे हैं–**'तोशतमाः'**[३], **'तुषयन्ती'**[४], **तोशमानाः'**[५]। अन्य यमों और नियमों की भाँति इसका समग्र निर्वाह भी इसके मनसा, वाचा, कर्मणा अनुकरण द्वारा ही संभव है। हमारे मन में भौतिक विपन्नता के परिणामस्वरूप भाग्य, समाज तथा ईश्वर के प्रति अक्रोध के भाव का उदय ही मानसिक सन्तोष के पालन का लक्षण है। जब प्राणी सम्पन्नता के साथ मिलकर भोगलोलुपता का ग्रास बन जाता है, तब मानसिक असन्तोष से ग्रस्त होता है। वास्तव में अतृष्णा ही सन्तोष की जननी है। प्राणी को इसका महत्त्व **'मा गृधः'** के अमर उपदेश द्वारा दर्शाया गया है। इसी महामन्त्र[६] में **'मा गृधः'** से पूर्व **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः** का परामर्श दिया गया है जो 'तुष् प्रीतौ' का संकेत है। **'मा गृधः'** में 'तुष् तुष्टौ' का भाव स्वयं सिद्ध है। ऋग्वेद में नित्य पुरुषार्थ के आश्रय में प्रयास की असफलता को ईश्वर का न्याय मानकर बुद्धि को विकाररहित रखने का परामर्श उपलब्ध होता हैं। सभी वेद एक मत होकर प्राणियों में

त्रिविध सन्तोष के निर्वाह के संस्कार जगाने को आद्यन्त प्रयत्नरत सिद्ध होते हैं। इसका समग्र निर्वाह यथेष्ट होने के कारण ही इस विवेचन में इस नियम का वाचिक, मानसिक तथा कायिक विश्लेषण नहीं किया गया। जिस प्रकार किसी विषय के पूर्णत्व का परिचय अंश-विभाजन द्वारा सम्भव नहीं, उसी प्रकार इस नियम की आवश्यकता के स्पष्टीकरण के लिए इसकी समग्र अभिव्यक्ति का आश्रय ही यथार्थ है।

ऋग्वेद को 'सुविचार-वेद' भी कहा जाता है। मनुष्य के समग्र परिष्कार के लिए मानसिक परिष्कार परम आवश्यक है। हमारे वाचिक तथा कायिक शिष्टाचार एवं प्रशस्त कर्म भावाश्रित होते हैं। मन बुद्धि को प्रेरित करता है। वह प्रेरणा वाणी द्वारा व्यक्त होकर उस भाव की कर्म में परिणति का आग्रह करती है। मनुष्य को उस कर्म का फल उस कर्म के अनुरूप प्राप्त होता है। अतः प्रशस्त कर्म के लिए विचारों का सुसंस्कृत होना परम आवश्यक है। हमारी कर्मभूमि की पावनता और उर्वरता पूर्णरूपेण भावाश्रित होती है। ऋग्वेद में सन्तोषविषयक वैचारिक परिष्कार का जो मनोवैज्ञानिक सुनियोजन उपलब्ध होता है, उसके अनुसार प्राणी को असन्तोषपूर्वक द्यूतजन्य धनसंग्रह से वर्जित किया गया है। उसे पुरुषार्थपूर्वक कृषि-कर्म का परामर्श दिया गया है और सन्तोषपूर्वक पुरुषार्थ को सम्पन्नता का स्रोत दर्शाया गया है–

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः।।[७]

जिस प्रकार ऋग्वेद में वैचारिक परिष्कार के प्रावधान के अन्तर्गत मानव-मन में सन्तोषविषयक आवश्यकता का मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन हुआ है, उसी प्रकार यजुर्वेद में मनुष्य को प्रशस्त कर्म की आवश्यकता से अवगत कराया गया है। सत्कर्म की रक्षा, ज्ञान से पवित्रता और वाक्-माधुर्य का जो सन्देश यजुर्वेद में उपलब्ध होता है, उसके अनुसार जो आठ गुण वैदिक प्रशस्त कर्म के आधार माने गए हैं, वे हैं–उद्यम, साहस, धैर्य, बल, पराक्रम, उत्साह, स्फूर्ति तथा बुद्धि। सत्कर्म के लिए मनुष्य से जो आचरण अपेक्षित है, उसको सातवलेकर ने दस अपेक्षाओं द्वारा स्पष्ट किया है। ये हैं–(क) सत्कर्म करने में किसी प्रतिबन्ध की परवाह न करना, (ख) सत्कर्म करने के कार्य में आने वाली सब विपत्तियों को आनन्द से सहन करना, (ग) सत्कर्म करने के लिए अपने आपको योग्य बनाने के लिए आन्तरिक और बाह्य इन्द्रियों को अपने अधीन रखना, (घ) किसी समय और किसी कारण भी

स्तेय का आश्रय न लेना, (ङ) सब काल तथा सब अवस्था में सब प्रकार की पवित्रता रखना, (च) सदा सर्वदा आत्मिक बल को धारण करना, (छ) अपनी बुद्धि का तेज ज्ञान से बढ़ाना, (ज) सत्य पर दृढ रहना, (झ) अक्रोध का पालन करना तथा हर प्रकार की अवस्था में मन, बुद्धि और आत्मा को शान्त रखना, (ञ) परमेश्वर की महत्ता में विश्वास रखना।[८] इससे पूर्व यजुर्वेद में कहा गया है–'जो लोग ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलते हैं, ईश्वर उन्हें प्रेरणा दे।'[९] इस स्तुति से अभिप्राय सन्तोष के निर्वाह को ईश्वर की अनुकम्पा दर्शाना है। यजुर्वेद में मनुष्यों से आग्रह किया गया है कि वे प्रशस्त कर्म में रत रहकर शतवर्षीय जीवन के अधिकारी बनें।[१०] इस मन्त्र में प्रशस्त कर्म द्वारा आत्मोन्नति का जो मार्ग निर्दिष्ट किया गया है, सातवलेकर ने उसके लिए जिन मर्यादाओं का पालन वांछित दर्शाया है, वे हैं–(क) सर्वव्यापी ईश्वर को अपने कर्मों का द्रष्टा मानना, (ख) अपने सुख को समस्त मानवता के सुख में निहित स्वीकार करना, (ग) दान करके बचे हुए का स्वतः भोग करना, (घ) लोभ न करना, (ङ) धन को सबकी सम्पत्ति स्वीकार करना, (च) आत्मोन्नति के इस मार्ग पर दृढ विश्वास रखना, (छ) इसे उद्धार का एकमात्र मार्ग स्वीकार करना, (ज) सत्कर्म को बन्धन का कारण न मानना।[११] कर्मविषयक यजुर्वेदीय परामर्श जिन कर्मों को आत्मोन्नति का मार्ग दर्शाता है, उनका अनुष्ठान त्याग और अलोभ के आश्रय के बिना असंभव है। त्याग और अलोभ का पालन ही त्रिविध सन्तोष का सम्यक् निर्वाह है। यजुर्वेद में सन्तोष के विरोध का निषेध करते हुए कहा गया है कि जो लोग मात्र बल के आश्रय को आत्मोन्नति का मार्ग मानते हैं, वे प्रगाढ अन्धकार से व्याप्त हैं। मरने के बाद उन्हें आत्मघाती लोगों की अपगति प्राप्त होती है–

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।[१२]

इस मन्त्र में यही स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि यद्यपि दैहिक बल आत्मा की ही देन है तथापि अपने अज्ञानवश इसका दुरुपयोग प्राणी को पतन के गर्त की ओर खींच ले जाता है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में सन्तोषसमर्थक प्रशस्त कर्म को आत्मोन्नति का मार्ग सिद्ध किया गया है। निष्कर्षतः यजुर्वेद में मनुष्य के कर्मक्षेत्र का सौष्ठव सन्तोष के समग्र पालन में निहित दर्शाया गया है।

अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' कहा गया है। इसका सम्बन्ध मनुष्य की मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार आदि अन्तःशक्तियों से है। ऐतरेयब्राह्मण में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद मनुष्य के वाणी पर संस्कार में सक्षम दर्शाए गए हैं जबकि मनुष्य के दूसरे भाग (मानसिक) को सुसंस्कृत करने का दायित्व अथर्ववेद का स्वीकार किया गया है।[१३] ऋग्वेद मनुष्य के वाचिक परिष्कार से सम्बद्ध है। यजुर्वेद का उद्देश्य उसको उत्तम कर्म के ज्ञान से संयुक्त करना है जबकि सामवेद उसे उपासनाविषयक ज्ञान से सम्पन्न कराने को समर्पित है। वास्तव में ब्रह्मज्ञान का संभाव्य वेदत्रयी के समाश्रय में ही निहित है। अथर्ववेद का प्रतिपाद्य विषय मनुष्य को ब्रह्मज्ञान की महत्ता से अवगत कराना है। अथर्व शब्द के निर्वचन से ही यह वेद एकाग्रता का सूचक सिद्ध होता है। थर्व शब्द चंचलता का द्योतक है और अथर्व एकाग्रता का।[१४] जिस प्रकार तीनों वेदों में सन्तोष को तत्रोल्लिखित परिष्कारों का साधन घोषित किया गया है, उसी प्रकार अथर्ववेद में स्थितप्रज्ञता के लिए सन्तोष का निर्वाह अपरिहार्य स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद का समारम्भ 'मेधाजनन' नामक सूक्त से होता है। इसके एक मन्त्र के अनुसार बुद्धि के संवर्धन के लिए गुरु और शिष्य दोनों का नियमन आवश्यक स्वीकार किया गया है। बुद्धि के संवर्धन के लिए स्वेच्छाविहार सर्वथा त्याज्य स्वीकार किया गया है। स्वेच्छाविहार का निषेध ही सन्तोष है।[१५] अथर्ववेद में निष्काम कर्मानुष्ठान को आत्मज्योति का मार्ग दर्शाया गया है। इसके एक मन्त्र के अनुसार जो उत्तम विद्वान् यज्ञ (दान, संगतिकरण और देवपूजा) को फैलाते हैं, वे आत्मज्योति को प्राप्त करने वाले स्वर्ग-सुख की अपेक्षा नहीं करते–

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।।[१६]

अथर्ववेद में 'पञ्चौदन अज' सूक्त के माध्यम से सन्तोष के सर्वत्र निर्वाह को शान्ति का स्रोत दर्शाया गया है। इसके अनुसार तपे हुए पात्र में रहता हुआ भी जो तप्त नहीं होता, वह उत्क्रान्त होने का अधिकारी है।[१७] 'अतिथि-सत्कार' सूक्त में सन्तोषपूर्वक अतिथि को दी गई विविध वस्तुओं को विविध फलों का साधक दर्शाया गया है। अतिथि-सत्कार की महत्ता स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस व्रत का निर्वाह मनुष्य को देवों की रक्षाशक्ति से सम्पन्न करता है।[१८] वस्तुतः अतिथि.सत्कार के निर्वाह को गृहस्थ धर्म की मूल अपेक्षा माना जाता है। इसकी पूर्ति सन्तोष के निर्वाह के बिना असंभव है। अथर्ववेद में प्रतिपादित वाक्-माधुर्य का संकल्प वाचिक

सन्तोष के स्वाभाविक पालन की ओर संकेत है।[१९] इससे पूर्व वाक्-माधुर्य को एकता का प्राणतत्त्व घोषित किया गया है।[२०] वस्तुतः इस सूक्त में सभी प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे एकता के लिए भावात्मक समानता तथा मानसिक सद्‌भावना के पालन में रत रहें। इसमें मनुष्य की वैयक्तिक शान्ति जागतिक शान्ति में अन्तर्निहित मानी गई है। इसकी उपलब्धि त्रिविध संयम से जन्य सन्तोष पर आश्रित है।

उपनिषदों में सन्तोषविषयक परामर्श

उपनिषत्साहित्य में तत्त्वज्ञानविषयक संकेतों के माध्यम से मनुष्य को ब्रह्म के विवेकज ज्ञान से सम्पन्न करने के साधनों का प्रावधान उपलब्ध होता है। उसमें जिन शैलियों का आश्रय लिया गया है, वे हैं–संवाद शैली, प्रश्नोत्तर शैली तथा आख्यान शैली आदि। ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय की तात्त्विक व्याख्या से सम्बद्ध है। इसके शान्तिपाठ में विश्व का पूर्णत्व परब्रह्म के पूर्णत्व द्वारा ही संभव दर्शाया गया है। जिस प्रकार जगत् ब्रह्म की पूर्णता से पूर्ण है, उसी प्रकार वह भी परिपूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही रहता है। इस माध्यम से प्राणी से सदा सर्वदा अतृष्णा का आश्रय ग्रहण करने का परामर्श दिया गया है।[२१] कठोपनिषद् में अतिथिसेवा का अथर्ववेदोचित समर्थन गृहस्थाचार में सन्तोष के स्वाभाविक निर्वाह की अपेक्षा को स्वयं सिद्ध कर देता है। इससे अन्यथा आचरण को उसकी संतति और वैभव के नाश का कारण घोषित करते हुए कहा गया है–

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।।[२२]

कठोपनिषद् के अनुसार मनुष्य के सामने श्रेय और प्रेय दोनों ही उपस्थित होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य उनको पृथक्-पृथक् मानकर श्रेय को प्रेय से श्रेष्ठतर समझते हुए श्रेय का ग्रहण करता है। मन्दबुद्धि मनुष्य केवल प्रेय का उपार्जन करने का प्रयास करता है। श्रेय से अभिप्राय भोगसामग्री से निवृत्ति का मार्ग है और प्रेय से अभिप्राय भोगासक्ति। भोगलोलुप प्राणी को मन्दबुद्धि घोषित करके जीवन में अतृष्णा की आवश्यकता स्प्ष्ट की गई है।[२३] सम्पत्ति के मोह से मोहित प्रमादग्रस्त प्राणियों को यमपाश से बद्ध दर्शाकर भोगविषयक असन्तोष के निषेध के संस्कार जगाए गए हैं।[२४] इस उपनिषद् का उद्देश्य अतृष्णा के उदय को ब्रह्मनुभूति का परम साधन घोषित

करना है। इसकी पराकाष्ठा अतृष्णा को अमरत्व की प्राप्ति का साधन दर्शाने में इस प्रकार परिलक्षित होती है–

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।[२५]

प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के लिए तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा तथा अध्यात्मविद्या का योग अवश्यम्भावी दर्शाया गया है।[२६] ब्रह्मचर्य की यमरूप में व्याख्या के अन्तर्गत उसके द्वारा त्रिविध संयम का निर्वाह अपेक्षित दर्शाया गया है। तप द्वन्द्वसहनशीलता का वाचक है। द्वन्द्वों को ईश्वरेच्छा स्वीकार कर सह लेना ही सन्तोष है। मुण्डकोपनिषद् में विद्या-अविद्या की चर्चा में ईशावास्योपनिषद् का अनुरणन उपलब्ध होता है। अविद्या से अभिप्राय भोगविषयक सम्पन्नतासाधक साधनों का ज्ञान है। इनका एकांगी ज्ञान इसीलिए अन्धकार स्वीकार किया गया है कि मात्र इसका संचय मनुष्य के सर्वांगीण विकास का साधक सिद्ध नहीं हो सकता। इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि मनुष्य में भोगासक्ति की अतिशयिता की दुर्वृत्ति को जन्म देती है। तदनुसार ही अतृष्णा के प्रादुर्भाव के लिए इसके निषेध का मनोवैज्ञानिक प्रावधान किया गया है।[२७] इस उपनिषद् में मात्र इष्ट तथा पूर्त कर्मानुष्ठान को स्वर्गसाधक तो दर्शाया गया है, ब्रह्मप्राप्ति में सहायक नहीं।[२८] वस्तुतः इन कर्मों के अनुष्ठान को धर्म का एकांगी निर्वाह दर्शाया गया है। ये मनुष्य के समग्र विकास में सहायक सिद्ध नहीं होते। मुण्डकोपनिषद् में मृत्युञ्जयता तथा ब्रह्मप्राप्ति शान्त स्वभाव, अजगरवृत्ति के आश्रय, संयमवृत्ति के निर्वाह, श्रद्धा के अनुकरण तथा रजोगुणराहित्य के पालन में निहित दर्शायी गयी है।[२९] इन संकेतों द्वारा सन्तोष के त्रिविध निर्वाह को अपरिहार्य सिद्ध किया गया है। इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मविद्या के उपदेश का पात्र उसी शिष्य को माना गया है, जो स्वयं को गुरु का शरणागत स्वीकार करता है। उसके लिए पूर्णतया शान्तचित्त होना अपेक्षित है। जब तक वह शम-दम आदि साधनों से युक्त नहीं हो जाता, तब तक उसे ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं माना जा सकता।[३०] शम तथा दम लोकसंग्राहक होने के कारण यमों की श्रेणी में आते हैं। इनका उदय त्रिविध सन्तोष के निर्वाह पर आश्रित है। अन्यत्र ईश्वरानुभूति को समस्त दोषराहित्य में निहित दर्शाकर असन्तोष के दोष को त्याज्य स्वीकार किया गया है।[३१] इस उपनिषद् के अनुसार विशुद्ध अन्तःकरण से युक्त प्राणी को समस्त भोगों की कामना की सिद्धि की क्षमता से युक्त दर्शाया गया है। उसके लिए भी ब्रह्मविद् की सेवा अपेक्षित दर्शायी

गयी है। भूतिकाम ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अतः मनुष्य के लिए ब्रह्मज्ञानविषयक कामना करने का संकेत दिया गया है।[३२] इस उपनिषद् के अनुसार वही पुरुष पूर्णकाम है, जिसकी समस्त कामनाएं सर्वथा विलीन हो गई हों। उसी को श्रेष्ठ मानते हुए कहा गया है–

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।।[३३]

वस्तुतः पूर्णकाम अवस्था की प्राप्ति कामनाओं के परिहार द्वारा ही संभव है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मचारियों के लिए कपटशून्यता, इन्द्रियदमन तथा शम को अनिवार्य दर्शाते हुए सन्तोष के निर्वाह का संकेत उपलब्ध होता है। इन सभी सद्वृत्तियों का संचय सन्तोष के आश्रय द्वारा ही संभव है।[३४] जिस अनुवाक में तप को मनुष्य के जीवन का परम साध्य घोषित किया गया है उसमें इसका पालन अतिथि की सेवा, मनुजोचित लोकव्यवहार तथा उपस्थसंयम के निर्वाह द्वारा ही संभव दर्शाया गया है।[३५] गुरु तथा शिष्य के दायित्वों से सम्बन्धित अनुवाक में शिष्य को धर्माचरण, स्वाध्याय, सत्यकथन तथा अप्रमाद की शिक्षा देना गुरु का दायित्व स्वीकार किया गया है तथा उससे आग्रह किया गया है कि वह उसे सनातन परम्परा के निर्वाह, उच्छेद से निवृत्ति, सदा सर्वदा धर्मपालन, प्रशस्त कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति, स्वाध्याय में रति, वेदकार्य तथा पितृकार्य के सदा सर्वदा निर्वाह की अपेक्षा से अवगत कराए।[३६] गुरु द्वारा शिष्य के लिए जिस पथ का अनुसरण करने के आग्रह की चर्चा उपलब्ध होती है, उसका अनुसरण सन्तोष के त्रिविध निर्वाह के बिना असंभव है। अगले अनुवाक में गुरु शिष्य को मात्र अनवद्य कर्मों के सेवन का परामर्श देता है और अन्य कर्मों को त्याज्य दर्शाता है। शिष्य के लिए केवल शिष्टाचार का आश्रय वांछित दर्शाया गया है।[३७] वस्तुतः इन सभी कर्मों के लिए अतृष्णा का आश्रय अवश्यम्भावी है। इस उपनिषद् के अनुसार समस्त आनन्दों की उपलब्धियाँ कामनाओं की निवृत्ति में निहित दर्शायी गयी हैं। इसके अन्तर्गत अतृष्णा को मानव-गन्धर्वानन्द, देवगन्धर्वानन्द, पितृलोकानन्द, देवानन्द, कर्मदेवानन्द, इन्द्रानन्द, बृहस्पत्यानन्द, प्रजापत्यानन्द तथा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का स्रोत दर्शाकर सन्तोष के निर्वाह को ब्रह्मत्व की प्राप्ति का साधक सिद्ध किया गया है।[३८] श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य के समस्त सात्त्विक कर्म ईश्वर की इच्छा का परिणाम आभासित होने लगते हैं तब कामनाक्षय का उदय होता है। कामनाक्षय ही ईश्वर की प्राप्ति सर्वोत्तम मार्ग है।[३९] अध्यात्मोपनिषद्

में विषयभोगों के वासनाराहित्य को वैराग्य का उदय स्वीकार किया है तथा **'अहम्'** के **'सर्वम्'** में विलय को ज्ञान की परम अवस्था स्वीकार किया है। इन वृत्तियों का पूर्ण परिहार स्थितप्रज्ञता का जनक माना गया है।[४०]

उपनिषत्साहित्य में सन्तोषविषयक विवेचन के अनुसार असन्तोष का सर्वत्र परिहार ही पूर्णकाम-अवस्था की प्राप्ति में सहायक होकर मनुष्य के विकास को पराकाष्ठा प्रदान करने वाला परम साधन है। इनके अनुसार समस्त यम और नियम सन्तोष के आश्रय द्वारा ही पालनीय है। उपनिषत्-साहित्य का उद्देश्य लोगों को ब्रह्मविद्या के महत्त्व से अवगत कराना है। इनके अनुसार इस विद्या का उपदेश उन्हीं लोगों को करना उचित है जो सब प्रकार की वासनाओं से सर्वथा निर्लिप्त हैं। वासनाओं में आसक्ति के परिणामस्वरूप निःश्रेयससम्बन्धी दायित्वों की अवहेलना ही असन्तोष है। सभी उपनिषद् एक स्वर होकर प्राणियों से कामनाओं के परिहार का आग्रह करते जान पड़ते हैं। इनके अनुसार अतृष्णा का उदय ब्रह्मविद्या के उपार्जन की योग्यता की मूलभूत आवश्यकता है। जब तक मनुष्य की कामनाओं पर संयम का अंकुश नहीं लगता, तब तक वह सन्मार्गोन्मुखी नहीं हो सकता। सभी नियमों के पालन के लिए सन्तोष के निर्वाह को अपरिहार्य दर्शाकर उपनिषत्साहित्य में इसके त्रिविध निर्वाह की सार्थकता स्पष्ट की गई है।

स्मृतियों में सन्तोष-निदर्शन

स्मार्त साहित्य में सन्तोष की अपरिहार्यता के स्पष्टीकरण के लिए इसे नियम घोषित किया गया है। इसीलिए व्यासभाष्य में संसार के समस्त कामसुख तथा दिव्यसुखों को वासनाक्षयरूपी सुख का सोलहवां भाग माना है।[४१] अन्यत्र कहा गया है कि जो सुख सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त शान्तचित्त योगियों को उपलब्ध होता है वह धनैश्वर्य के लोभ से इधर-उधर दौड़ने वालों को नहीं मिलता–

सन्तोषामृत तृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्।।[४२]

मनु को स्मार्त धर्म का प्रवर्तक माना जाता है। उन्होंने धर्म की दोनों परिभाषाओं के सम्यक् निर्वाह के लिए जिन मर्यादाओं को स्थापित किया, वे यम और नियमों के नाम से आख्यात हैं। इनमें से **'धारयति इति धर्मः'** की सिद्धि के लिए उनके द्वारा नियमों का प्रतिपादन किया गया तथा **'धारयति लोकान् इति धर्मः'** की यथार्थता के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने

यमों के निर्वाह को अपरिहार्य घोषित किया। सन्तोष की चर्चा करते हुए उन्होंने प्राणियों से आग्रह किया है कि वे तृष्णा, लोभ तथा लालच को त्यागकर सन्तोषपूर्वक जीवननिर्वाह करें। यही सुख का मूल है। इसके विपरीत आचरण दुःख का कारण है।[४३] वस्तुतः प्राणी जब स्वार्थ के वश में होकर दूसरों के अधिकारों के हनन का दुस्साहस करता है तथा उनकी अधिगृहीत वस्तुओं को कुप्रभावों से अपनी भोगतृप्ति के लिए अनधिकार ग्रहण करने की चेष्टा करता है तो उसके मन में लोगों द्वारा उसके अपने प्रति उस ही व्यवहार किए जाने की आशंका उसके मानसिक दुःख का कारण बनती है। अतः सन्तोषपूर्वक भोग ही सर्वोपरि है। मनु द्वारा की गई सन्तोषप्रशस्ति का मूल यजुर्वेद के **'त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः'** इस अमर सन्देश में उपलब्ध होता है। मनु ने स्मार्त धर्म की मर्यादाओं की प्रतिष्ठा वेद को समस्त धर्म का मूल स्वीकार कर की थी। उनके यम-नियमों के प्रतिपादन में तद्विषयक वैदिक मान्यताओं का अनुरणन स्वाभाविक है। सन्तोष के विधिवत् आचरण के लिए जिस अन्य संयम का आश्रय अपेक्षित है वह है—इन्द्रियों के विषय में कामवश अधिक आसक्ति से निवृत्ति। इसका नियमन मन द्वारा ही संभव है। मनु ने इसकी आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहा है—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्।।[४४]

मनु ने नास्तिकता, देवनिन्दा, वेदनिन्दा, द्वेष, दम, अभिमान, क्रोध और क्रूरता को सर्वथा त्याज्य घोषित करके सन्तोष के निर्वाह को सुलभ बनाने के लिए समस्त दुर्वृत्तियों के त्याग को यथेष्ट दर्शाया है।[४५] सन्तोष के समग्र निर्वाह के लिए मनु ने हस्तचापल्य, पादचापल्य, नेत्रचापल्य, कुटिल वाक्-चापल्य को त्याज्य घोषित करके मनुष्य को सन्तोषसमर्थक प्रयत्नों की योग्यता से युक्त करने का प्रयास किया है।[४६] सन्तोष को परम धन घोषित करते हुए मनु ने दान लेने में समर्थ होते हुए भी इसके प्रसंग के त्याग को परामर्श दिया है। प्रसंग के त्याग से अभिप्राय परिवार आदि के पालन के चलते रहने पर भी बार-बार लोभवश दान न लेना है।[४७] मनुस्मृति में दानधर्म के सन्तोषपूर्वक अनुष्ठान के लिए दिया गया परामर्श सन्तोष की सर्वत्र अपरिहार्यता को स्पष्ट करता है।[४८] संन्यास आश्रम के अनुयायियों के लिए कमण्डल, दण्ड, वस्त्र आदि की सुन्दरता, नवीनता या अधिकता की अतृष्णा तथा विषयभोगों की अभिलाषा से निवृत्ति को यथेष्ट स्वीकार कर

संन्यास आश्रम में सन्तोष की अपरिहार्यता सिद्ध की है।[४९] भिक्षाविषयक नियमों के निर्धारण के अनुसार भिक्षा न मिलने पर विषाद और भिक्षा मिलने पर हर्ष-लाभ को त्याज्य घोषित किया गया है। संन्यासियों के लिए उतनी ही भिक्षा मांगनी उचित मानी गई है जिससे जीवननिर्वाह हो सके। उनके लिए दण्ड, कमण्डलु आदि की मात्रा में आसक्ति भी निषिद्ध स्वीकार की गई है। इस दृष्टि से संन्यासी मूर्तिमान् सन्तोष सिद्ध होता है।[५०]

याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित धर्मसाधनों के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, पवित्रता, दम, दान, संयम, दया और धैर्यसाधन आते हैं–

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।।[५१]

याज्ञवल्क्य के अनुसार सन्तोष संयम के पालन में निहित है। वस्तुतः संकल्पसंयम, वाक्-संयम अथवा निकृष्ट कर्मों से निवृत्ति ही सन्तोष की तीन अवस्थाएं हैं। तदनुसार इस श्लोक में संयम को धर्मलक्षण घोषित किया गया है। मनु ने जिन मर्यादाओं का संन्यास आश्रम में निर्वाह अपेक्षित दर्शाया है, याज्ञवल्क्यस्मृति में उन्हीं का समर्थन उपलब्ध होता है। इससे पूर्व वानप्रस्थी के लिए एक दिन, एक मास, छः मास या वर्ष भर के लिए धनसंचय स्वीकृत है। प्रतिवर्ष आश्विन मास में उसके त्याग का प्रावधान इस आश्रम में सन्तोष के निर्वाह की अपेक्षा को स्पष्ट करता है।[५२] वानप्रस्थी के लिए दान न लेने का परामर्श उसके इस आश्रम में आजगर व्रत के निर्वाह को यथेष्ट घोषित करके 'तुष् प्रीतौ' युक्त आचार का परामर्श सिद्ध होता है। वानप्रस्थी के लिए सुख-दुःख साम्य का परामर्श इस आश्रम में सन्तोष की अपरिहार्यता का वाचक है।[५३] यतिधर्म में प्रमादराहित्य तथा लोभराहित्य का आश्रय सन्तोष के निर्वाह को यतिधर्म का अंग घोषित करता है।[५४] उसके लिए निर्धारित कर्तव्यों में इन्द्रियदमन तथा राग-द्वेष से निवृत्ति यथेष्ट दर्शाए गए हैं।[५५] याज्ञवल्क्यस्मृति में विवेचित अपर जन्म योनिविधान के अनुसार इस जन्म में आत्मज्ञान, शौच, शान्तहृदयता, तपस्या, इन्द्रियनिग्रह, धर्मनिष्ठा, स्वाध्याय का आश्रय एवं सत्त्व गुणों से सम्पन्न होना मनुष्य को देवयोनि में जन्म की पात्रता से युक्त कराता है।[५६] मोक्षप्राप्ति के साधनों की चर्चा के लिए जिन साधनों का आश्रय अपेक्षित माना गया है, वे हैं–विद्या की प्राप्ति के लिए आचार्य की सेवा, वेदशास्त्रों में विवेक, उनमें प्रतिपादित ध्यानकर्म का अनुष्ठान, सत्संगति, प्रिय एवं हितकर वचन, स्त्रियों के दर्शन एवं स्पर्श का त्याग, सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि,

अपरिग्रह का निर्वाह, जीर्ण तथा काषाय वस्त्रों का प्रयोग, शब्द, स्पर्श आदि विषयों से निवृत्ति, तन्द्रा से निवृत्ति, आलस्य का त्याग, शौचनिर्वाह, रजोगुण एंव तमोगुण आदि का त्याग, भाव-शुद्धि तथा निःस्पृहता एवं शम।[५७] इस माध्यम से भी मनुष्यों को विविध संयमों के प्रति उन्मुख रहने का परामर्श दिया गया है। यह जीवन में सन्तोष के निर्वाह की यथार्थता को स्पष्ट करता है। वसिष्ठस्मृति के अनुसार गृहस्थ आश्रमी के लिए क्रोध तथा हर्ष को संयमित रखना आवश्यक माना गया है।[५८] उसके लिए समस्त प्राणियों का पोषण धर्म है।[५९] वसिष्ठस्मृति का गृहस्थाश्रम-वर्णन पूर्व स्मृतिकारों के सर्वथा अनुकूल है। इसमें उदरम्भरिताविषयक असन्तोष को त्याज्य घोषित किया गया है। समस्त आश्रमधर्मों में पिशुनता, मात्सर्य, अभिमान, अहंकार, अनार्जव, आत्मस्तव, परिग्रह, दम्भ, लोभ, मोह, क्रोध तथा असूया सर्वथा निषिद्ध दर्शाए गए हैं।[६०] इससे अभिप्राय प्राणियों में दुर्वृत्तियों के माध्यम से सद्वृत्तियों के समर्थक संस्कारों को जगाने का प्रयास है। सन्तोष का प्रादुर्भाव लोभ के परिहार द्वारा ही संभव है। हारीतस्मृति के अनुसार अतिथिसेवा गृहस्थ का परम धर्म मानी गई है। उसे अतिथि के प्रति विष्णुवत् व्यवहार करने का परामर्श दिया गया है।[६१] अतिथिसत्कार भारत की सनातन पारम्परिक निधि है। यह गृहस्थियों द्वारा सन्तोष के आचरण के माध्यम से ही संभव है। तदनुसार ही वेदों, उपनिषदों और स्मृतियों में अतिथि को देवतुल्य दर्शाया गया है। समस्त स्मृतिकारों ने एकमत होकर धर्मपालन में सन्तोष की अपरिहार्यता सिद्ध की है। सभी आश्रम तथा वर्णधर्मविषयक विवेचनों में इसे धर्म का लक्षण घोषित किया गया है। वस्तुतः हमारी संस्कृति में अधिकार दायित्वपालन जनित स्वीकार किए गए हैं। तदनुसार ही वेदों में धन के त्यागपूर्वक भोग का परामर्श उपलब्ध होता है।

रामायण में सन्तोष-प्रतिष्ठा

स्मार्त साहित्य के पश्चात् भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के निर्वाह से सम्पन्न रचना वाल्मीकि.रामायण के नाम से प्रसिद्ध है। वाल्मीकि ने रामायण में राम को उन सभी मर्यादाओं का मूर्तिमान् रूप सिद्ध किया है, जिनका पालन उस युग में वांछित था। स्मार्त साहित्य में जिन गुणों को अपरिहार्य माना गया था, उन्हें यम-नियमों में बद्ध करके धर्म के लक्षण घोषित किया गया। रामायण में इन सभी को मनुजोचित मर्यादाओं का नाम दिया गया। इनके पालन को धर्म और अतिक्रमण को पाप दर्शाया गया है। रामायण का श्रीगणेश अयोध्या नगरी के गुणाख्यान से होता है। इसमें वहाँ

की तद्युगीन प्रजा का संक्षिप्त चरित्रपरिचय उपलब्ध होता है। उनके द्वारा मर्यादापालन की चर्चा करते हुए पुरवासियों को प्रसन्नचित्त, धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभ तथा अपने-अपने धन से सन्तुष्ट दर्शाते हुए कहा गया है–

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टाः धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।।[६२]

वहाँ के जनसाधारण को धर्मशील, संयमी, सदा सर्वदा प्रसन्नचित्त, शीलयुक्त और सदाचार से सम्पन्न दर्शाया गया है।[६३] शौच और सन्तोष को अयोध्यावासियों का धर्म सिद्ध करते हुए कहा गया है कि उस नगरी में कोई भी पुरुष ऐसा नहीं था जो अपवित्र अन्न का भोजन करने वाला, अदानी अथवा असंयतेन्द्रिय हो।[६४] उस नगरी को सत्पुरुषों से युक्त दर्शाकर कहा गया है कि वहाँ के सब वर्णानुयायी निज धर्म के पालन से संलग्न रहते थे।[६५] रामायण में राम का गुणस्तवन राज्याभिषेकविषयक सर्ग में उपलब्ध होता है। यह उन्हें सन्तोष का मूर्तिमान् रूप सिद्ध करता है। सभासदों द्वारा राम के गुणकथन के अनुसार श्रीराम सबके सुख में अपना सुख स्वीकार करते हैं और सबके दुःख को अपना दुःख मानकर विह्वल हो उठते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण हृदय से धर्म का आश्रय ले रखा है। वे कल्याण का सम्यक् आयोजन करने वाले हैं। निन्दनीय बातों की चर्चा में उन्हें कभी रुचि नहीं होती। यह स्तवन श्रीराम को सन्तोष की मूर्ति सिद्ध करता है।[६६] सभासदों द्वारा समस्त प्रजाओं के लिए कमनीय, मनुष्यों के आनन्दवर्धक तथा जितेन्द्रिय राम अपने सद्गुणों द्वारा उसी प्रकार शोभासम्पन्न है, जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से होता है।[६७] सन्तोाष से अभिप्राय सुख-दुःख, भय-क्रोध, लाभ-हानि, उत्पत्ति तथा विनाश की प्राप्ति पर दैव के प्रति अक्रोध की अभिव्यक्ति है। इन्हें हंसकर सहन कर लेना ही सन्तोष है। वन-गमन के माध्यम का यह कथन इसी पारम्परिक सत्य की पुष्टि करता है–

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्।।[६८]

राम कैकेयी को अपने राज्याभिषेक में विघ्न का कारण नहीं मानते। न ही दशरथ को इसका कारण मानते हैं। वह इसे दैव का न्याय मानकर सन्तुष्ट रहते हैं।[६९] जटायु द्वारा रावण को दिए गए उपदेश में राजा के लिए भोगविषयक सन्तोष को धर्म दर्शाया गया है। इसके अनुसार बुद्धिमान् पुरुष वह कर्म न करे, जिसकी दूसरे लोग निन्दा करें। जैसे पराए पुरुषों के स्पर्श

से अपनी स्त्री की रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरों की स्त्रियों की भी रक्षा करनी चाहिए।[७०] किष्किन्धाकाण्ड में बाली-वध के औचित्य की सिद्धि के लिए राम ने बाली-वध का कारण निन्दित कर्मों का आश्रय घोषित किया है। उन्होंने बाली के अधर्माचार की भर्त्सना करते हुए कहा था–जो लोकाचार से भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करता है, उसे रोकने या राह पर लाने के लिए मैं दण्ड के सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं देखता।[७१] राम ने उसको उचित दर्शाने के लिए मनुस्मृति का उदाहरण दिया है।[७२] यह इस तथ्य को स्वयं सिद्ध कर देता है कि रामायण में प्रतिपादित मर्यादाविषयक मान्यताएँ मनु द्वारा निर्धारित धर्म की तद्युगीन व्याख्या है। मनु के अनुसार मनुष्य यदि पाप करके राजा के दिए हुए दण्ड को भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर साधु पुरुषों की भाँति स्वर्ग को जाते हैं। बाली-वध का प्रसंग साधारण प्राणियों में परस्त्रीलोलुपता से निवृत्ति के संस्कार जगाता है। रामायण में राम के अवतार का कारण भी वही है जो महाभारत में कृष्ण के अवतार का कारण माना जाता है और वह कारण है-पाप का उदय तथा धर्म का लोप। वास्तव में यदि काल को चक्र मान लिया जाए तो धर्म और पाप उसकी दो अरें सिद्ध होतीं हैं, जो कालक्रमानुसार अधोगति और ऊर्ध्वगति को प्राप्त होती रहती हैं। जब धर्म की अवहेलना उसे अधोमुखी होने के लिए विवश कर देती है तो एक ऐसी शक्ति का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी हो जाता है जो साधुओं के परित्राण और दुष्कृतों के विनाश की योग्यता से युक्त हो। रामायण में राम का जीवनोद्देश्य भी साधुओं का परित्राण और दुष्कृतों का विनाश है। उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित करके वाल्मीकि ने जनसाधारण को धर्मोन्मुखी बनाने का सफल प्रयास किया है।

महाभारत में सन्तोष-संस्तुति

यद्यपि महाभारत का रचनोद्देश्य अखिल विश्व के लिए चतुष्फलप्राप्ति की साधनसामग्री का सुनियोजन करना है, तो भी इसके रचनाकार व्यास ने धर्म के आश्रय को परम आश्रय स्वीकार किया है। इसमें अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बन्धित सिद्धियों के लिए धर्माचरण को आवश्यक घोषित किया गया है। इसमें धर्म की उभयपक्षीय परिभाषाओं को सार्थकता प्रदान करने का दायित्व मनुष्यों के द्वारा वैयक्तिक धर्म तथा लोकधर्म के समग्र निर्वाह को सौंपा गया है। तदनुसार ही इसमें विविध धर्मों की विशद, सरल तथा सर्वबोधगम्य व्याख्या उपलब्ध होती है। इसमें सभी धर्मों का सार साधारण

भाषा में व्यक्त किया गया है। युद्धवर्णन महाभारत का प्रतिपाद्य विषय नहीं। यह तो एक माध्यम है, जिसका आश्रय लेकर व्यास ने वेदोचित विविध शान्तियों के साधनों का सुनियोजन करने का सफल प्रयास किया है। इसमें धर्मपक्ष की विजय और अधर्मपक्ष की पराजय का पूर्वाभास संजय को प्रेरित करते हुए उसके अधरों से इस प्रकार स्वस्फुरित होता है–

यत्र योगेश्वरो कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिमम।।[७३]

वस्तुतः यह विश्वास भी परम्परागत है, क्योंकि किसी भी देश की सम्पन्नता और पुण्यशालीनता बुद्धिशक्ति और शारीरिक शक्ति की सहकारिता पर ही निर्भर करती है। यजुर्वेद में इसकी चर्चा इस कण्डिका में उपलब्ध होती है–

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।।[७४]

महाभारत में आद्यन्त धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। इसके अनुसार धर्म उन वैयक्तिक संयमों और सामाजिक अनुशासनों के समुच्चय का द्योतक है जिनका सदा सर्वदा पालन व्यक्ति के व्यष्टिरूप को समष्टिरूप में परिणत करने की योग्यता से युक्त कराने में समर्थ है। शान्तिपर्व में व्यास ने धर्म के जिन विशिष्ट लक्षणों को धर्ममर्यादा के नाम से अभिहित किया है वह मनु द्वारा निर्धारित पाँच यम तथा पाँच नियम हैं।[७५] इनमें से सन्तोष नियमपरिगणना में द्वितीय माना जाता है। इसका क्रमबद्ध परिशीलन महाभारत में इसकी अपरिहार्यतासिद्धि को स्वयं स्पष्ट कर देता है।

आदिपर्व में ययाति-अष्टक.संवाद के माध्यम से प्राणियों में सुख-दुःख को ईश्वर का न्याय मानकर सन्तुष्ट रहने के संस्कार जगाने का प्रयास किया गया है। ययाति के स्वर्ग से पतन का कारण अहंकार दर्शाया गया है। ययाति के अनुसार सुख में प्रसन्न और दुख में दुःखी होकर क्रोध या द्वेष का आश्रय आत्मशक्ति के क्षय का कारण है। उन्होंने सुख-दुःख को पूर्वकृत कर्मों का फल तथा ईश्वरीय न्याय का परिणाम माना है। अतः प्राणियों को परामर्श दिया है कि सुख-दुःख में प्रसन्न या दुःखी होना किसी प्रकार उचित नहीं। उनका विश्वास है कि धीर मनुष्य सुख-दुःख में समभाव का आश्रय लेकर असन्तोष में लिप्त नहीं होते–

दुःखे न तप्येन्न सुखेन हृष्यतेत्समेन वर्तते सदैव धीरः।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो न संज्वरेन्नापि हृष्येत्कदाचित्।।[७६]

ययाति के अनुसार मनुष्य को अति सम्मान का पात्र होने पर भी हर्षयुक्त नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार अपमानित होने पर खेदयुक्त होना भी उचित नहीं। उनके अनुसार 'तुष् प्रीतौ' का आचरण साधुसम्मत है।[७७] ययाति द्वारा मुनिधर्म-वर्णन के अनुसार मुनियों की सिद्धिप्राप्ति पूर्णकाम अवस्था की प्राप्ति द्वारा ही संभव है।[७८] ययाति के अनुसार ज्ञानी राजा के लिए देवाज्ञा के अनुसार विपत्ति से ग्रस्त होने पर भी निष्ठुर व्यवहार अनुचित है।[७९] इस आख्यान में ययाति को सन्तोष का मूर्तिमान् रूप सिद्ध करने का सफल प्रयास किया गया है, क्योंकि न तो वे प्रतर्दन द्वारा स्वेच्छा से किए गए उपकार को स्वीकार्य मानते हैं और न ही शिवि द्वारा किए गए उपकार को ग्राह्य। ययाति की सन्तोषवृत्ति को उसकी परम गति का साधन दर्शाकर महाभारत में सन्तोष के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। इसका लक्ष्य सामान्य प्राणियों में इसमें निष्ठा के संस्कार जगाना है।[८०] आदिपर्व में विविध विवेकज ज्ञानियों के माध्यम से किया गया सन्तोषमाहात्म्य का वर्णन कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा लिए गए आख्यान शैली के आश्रय को मनोवैज्ञानिक ही सिद्ध नहीं करता, अपितु सन्तोषविषयक मान्यताओं को बोधगम्यता से युक्त करने में भी योग्य सिद्ध होता है।

आरण्यकपर्व में द्यूतकाण्ड के उपरान्त पाण्डवों की वनवासविषयक गतिविधियों का वर्णन उपलब्ध होता है। व्यास ने पाण्डवों के विषाद के परिहार के लिए ब्राह्मणों के उपदेश के माध्यम से सन्तोष की महत्ता का प्रतिपादन किया है। ब्राह्मण वर्ग के अनुसार मनुष्य की आधि-व्याधि का कारण अनिष्ट की प्राप्ति, श्रम और प्रिय वस्तु की अप्राप्ति ही होते हैं। इनका निवारण इन कारणों के प्रतिकार अथवा इनका चिन्तन न करने में माना गया है।[८१] व्यास का मत है कि मनुष्य के मन को विकृत करने के लिए दो कारण दोषी होते हैं। ये कारण हैं–विषय की चिन्ता तथा विषय में प्रीति।[८२] उनका मत है कि असन्तोष से समय बिताने वाले लोग मूर्ख हैं। उनके अनुसार सन्तोष ही परम सुख है। इसीलिए वह संसार में परम धन माना जाता है–

असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः।
अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्।
तस्मात्संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः।।[८३]

व्यास ने असन्तोष को औत्सुक्य और प्रवृत्ति (अत्यासक्ति) का मूल स्वीकार किया है।[८४] व्यास ने सत्य, क्षमा, जितेन्द्रियता और अलोभ को देवयान मार्ग की ओर ले जाने वाला दर्शाकर प्राणियों से उनका आश्रय लेने का आग्रह किया है।[८५] युधिष्ठिर तथा द्रौपदी के संवाद में सन्तोष को धैर्यवान् पुरुष का लक्षण माना गया है। जो निर्बुद्धि लोग बहुत फल पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होते, उनके मरने के बाद न तो उनको धर्म का फल ही मिलता है और न ही सुख।[८६] द्रौपदी के अनुसार जो दुर्बुद्धि काम और लोभ के वश में होकर धर्म की ओर ध्यान नहीं देता, वह इस लोक और परलोक में प्राणियों द्वारा मारे जाने योग्य है।[८७] सन्तोषपूर्वक आचरण और अहंकारराहित्य को तीर्थफल दर्शाकर सन्तोष के माहात्म्य को स्पष्ट किया गया है।[८८] मार्कण्डेय के अनुसार अविद्या, अतप तथा अदान के परिणामस्वरूप न तो लोक में ही सुख मिलता है, न ही परलोक में।[८९] धर्मव्याध-आख्यान के अनुसार काम-क्रोध पर विजय, दम्भ, लोभ और कुटिलता का त्याग तथा धर्माचरण में सन्तोष शिष्टाचार के अंग हैं।[९०] इसी आख्यान में अन्यत्र सन्तोष को शिष्टाचार दर्शाते हुए इसका पालन उत्तम मार्ग का अनुसरण घोषित किया गया है–

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता।
कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम्।।[९१]

असन्तोष मात्सर्य का जनक है। प्राणियों में सन्तोषवृत्ति को उजागर करने के लिए अमात्सर्य से युक्त आचरण को सुख, धर्म, धन तथा स्वर्ग का साधक घोषित किया गया है।[९२] इसी आख्यान में आगे चलकर सन्तोष के आश्रय को परम सुख और शोकराहित्य का मूल मानते हुए प्राणियों से खेदमुक्त रहने का आग्रह किया गया है।[९३] मुद्‌गिलदुर्वासा.आख्यान में मुद्‌गिल द्वारा सन्तोष के आश्रय से क्षुधाधर्म और जिह्वाशक्ति पर विजय को उनकी परम गति का साधन दर्शाया गया है।[९४] यक्ष-युधिष्ठिर.संवाद में सन्तोष-माहात्म्य के वर्णन के लिए दान की महत्त्वप्रशस्ति का आश्रय लिया गया है। अदानी मनुष्य को सांस लेता हुआ मृत घोषित करके मानवजीवन में दान की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। इस संवाद के अनुसार जो व्यक्ति देवता, अतिथि, पितर, सेवक तथा अपनी आत्मा को यथायोग्य पदार्थ नहीं देता, वह साँस लेता हुआ भी मृत ही है।[९५] दान को मरने के समय का मित्र घोषित करके जनसाधारण को इसके महत्त्व से अवगत कराया गया है।[९६]

दान को मनुष्य का आधार सिद्ध करके प्राणियों में अलोभ के संस्कारों के उदय के माध्यम से सन्तोष का माहात्म्य स्पष्ट किया गया है–

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम्।
लाभानां श्रेयमारोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा।।[६७]

यक्ष स्वयं धर्म है। उसके द्वारा यक्ष का रूप धारण करके युधिष्ठिर की धर्मपरीक्षा के हेतु पूछे गए प्रश्न और युधिष्ठिर द्वारा दिए गए उनके धर्मोचित उत्तर वस्तुतः प्राणियों में धर्मविषयक ज्ञान के संस्कार जगाने को हीं निर्दिष्ट है। सन्तोष को परम सुख दर्शाकर उसे मानवजीवन की परम उपलब्धि सिद्ध किया गया है। इसकी प्रतिष्ठा के लिए युधिष्ठिर ने परम धनी उसी को माना है, जिसके लिए प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख एवं भूत-भविष्यत् समान हैं।[६८] युधिष्ठिर द्वारा यक्ष से मांगे गए वरदान में युधिष्ठिर ने लोभ, मोह और क्रोध पर विजय की जिस योग्यता की कामना की है तथा अपने मन को दान, तप और सत्यनिष्ठ रहने की योग्यता से युक्त करने का जो आग्रह यक्षरूपी धर्म से किया है, वह निश्चित रूप से सन्तोष को मानवधर्म का मूल सिद्ध करता है।[६६] वस्तुतः आरण्यकपर्व में सन्तोषमाहात्म्य का वर्णन प्राणियों को सन्तोष नियम के पालन की महत्ता से ही अवगत नहीं कराता, अपितु उनको इसके निर्वाह के लिए भी सत्प्रेरित करता है।

उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र तथा विदुर के संवाद में राजधर्म, एवं वर्णाश्रमधर्म का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। इसके लिए गुण और दोषों के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर धर्म और अधर्म के विश्लेषण का मनोवैज्ञानिक प्रयास किया गया है। पण्डितलक्षण-विवेचन के अन्तर्गत सन्तोष को पाण्डित्य का मूल दर्शाया गया है। इसके अनुसार जो सर्दी-गर्मी, भय-अनुराग, सम्पत्ति तथा दरिद्रता में समभाव युक्त रहते हैं, वे ही पण्डित हैं।[१००] विदुर ने उन्हीं प्राणियों को पण्डित माना है, जो दुर्लभवस्तु की कामना नहीं करते, खोई हुई वस्तु के विषय में शोक नहीं करते तथा विपत्ति में घबराते नहीं। वस्तुतः इस माध्यम से सन्तोषविषयक मर्यादाओं का पालन ही पाण्डित्य स्वीकार किया गया है।[१०१] विदुर के अनुसार सम्मानित होने पर हर्षराहित्य और अनादर होने पर सन्ताप से रहित होना ही पाण्डित्य है। इसके विपरीत न चाहने वालों को चाहना और चाहने वालों से द्वेष करना मूढत्व के लक्षण माने गए हैं।[१०२] मनुष्य के लिए जिन छः गुणों का अनुकरण सदा सर्वदा अपरिहार्य माना गया है, वे हैं–सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया, गुणों में दोष

दिखाने की प्रवृत्ति का अभाव, क्षमा तथा धैर्य। इसके विपरीत जो छः दुर्गुण त्याज्य घोषित किए गए हैं, वे हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य। इन पर विजय मनुष्य को पाप से बचने में सहायक दर्शायी गयी है।[१०३] इसी चर्चा के अन्तर्गत प्रह्लाद तथा सुधन्वा के संवाद में उसी व्यक्ति को सदाचारी माना गया है, जो सुख में प्रसन्न नहीं होता, दूसरे के दुःख के समय हर्ष नहीं मानता तथा दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता।[१०४] असन्तोष को त्याज्य घोषित करते हुए कहा गया है जो पेड़ से कच्चे फल को तोड़ता है, वह उन फलों के रस से ही वंचित नहीं रहता, अपितु उस वृक्ष के बीज के नाश का भी कारण बनता है।[१०५] सन्तोष का समर्थन करते हुए परामर्श दिया गया है कि विजय के लिए साधनसामग्री का संग्रह धर्म तथा अर्थ का विचार करके करना ही उचित है। ऐसा संग्रह मनुष्य को समृद्धशाली बनाने में सहायक सिद्ध होता है।[१०६] असन्तोष को मनुष्य की दरिद्रता का कारण घोषित करते हुए कहा गया है कि चंचल चित्त वाले तथा इन्द्रियों के गुलाम पुरुष को सुख-साधन उसी प्रकार त्याग देते हैं जैसे सूखे सरोवर को हंस।[१०७] वस्तुतः इस माध्यम से सन्तोष को समृद्धि के साधनों का मूल घोषित किया गया है। चित्तवृत्तियों के निरोध को कल्याण का कारण दर्शाकर प्राणियों में सन्तोष के संस्कार जगाए गए हैं।[१०८] धृतराष्ट्र को असन्तोष के त्याग का परामर्श देते हुए विदुर उन्हें इस धन में मन न लगाने का परामर्श देते हैं, जो अत्यन्त क्लेश उठाने, धर्म का उल्लंघन करने अथवा शत्रु के सामने सिर झुकाने से प्राप्त होता हो।[१०९] अर्थविषयक असन्तोष तथा लोभ को जितेन्द्रियताप्राप्ति के पथ में बाधक घोषित करके सन्तोष के निर्वाह को दमसिद्धि का मूल दर्शाया गया है। सनत्सुजात द्वारा किए गए आश्रमधर्म के विवेचन में यम तथा नियमों के पालन को मृत्युञ्जयता का स्रोत घोषित करके ब्रह्मचारियों के लिए सन्तोष को अपरिहार्य सिद्ध किया गया है।[११०] उद्योगपर्व में विदुर द्वारा धृतराष्ट्र के विषाद को दूर करने के लिए समस्त परामर्शों में सन्तोष का सर्वाधिक स्तवन उपलब्ध होता है। उनके विषाद का मूल कारण पुत्रमोहजन्य असन्तोष है। यह संवाद सन्तोष के निर्वाह को मानवधर्म का अनन्य अंग घोषित करता है।

भीष्मपर्व के महत्त्व का मूल इसमें सन्निविष्ट श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद है। इसका उद्देश्य समस्त प्राणियों को धर्म की पुनर्स्थापना के लिए अनुप्रेरित करना है। इसमें औपनिषदिक तत्त्वज्ञान का प्राधान्य होने के कारण ही

भीष्मपर्व का यह अंश गीतोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुतः यह उपदेश अर्जुन के विषाद-परिहार तक सीमित न होकर जनमानस में व्याप्त विषाद के परिहार तथा धर्मविषयक विविध शंकाओं के उन्मूलन तक व्यापक है। इसमें प्रतिपादित धर्मविषयक जीवनमूल्य सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकता से सम्पन्न हैं। श्रीमद्भगवद्गीताा विश्व के उन विशिष्ट ग्रन्थों में से है, जिन्हें विश्व की समस्त प्रचलित भाषाओं में अनुवाद का सौभाग्य प्राप्त है। इसके अनुसार सुख और दुःख में आह्लाद तथा विषाद से निवृत्ति ब्रह्मप्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन है।[१११] इसमें प्राणी को सर्वथा शोकमुक्त रहने के लिए दिए गए परामर्श के मूल में समस्त हानि-लाभ, यश-अपयश तथा जीवन-मरण को ईश्वर का न्याय मानने की भावना निहित है। इसी आधार पर श्रीकृष्ण अर्जुन को सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान मानकर युद्ध में प्रवृत्त होने का परामर्श देते हुए कहते हैं कि ऐसा करने से उसे कोई पाप नहीं लगेगा।[११२] स्थितप्रज्ञता के लिए जो निरुद्वेग अवस्था वांछित है, जो प्रेम, भीति और क्रोधराहित्य अपेक्षित है, उनका मूल सदा सर्वदा सन्तोष के निर्वाह में स्थित है।[११३] गीता में कामजन्य असन्तोष को मनुष्य के सर्वनाश का कारण मानते हुए कहा गया है कि विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष की विषयों में आसक्ति बढ़ती रहती है। इससे काम की उत्पत्ति होती है। कामतृप्ति में विघ्न क्रोध को जन्म देता है। क्रोधजन्य सम्मोह स्मृतिभ्रंश का कारण बनता है। स्मृतिभ्रंश बुद्धि के नाश का और बुद्धि का क्षय मनुष्य का सर्वनाश है।[११४] वस्तुतः श्री तुष्टि ही चित्त की प्रसन्नता का मूल है। गीता में चित्त की प्रसन्नता को स्थितप्रज्ञता का मूल दर्शाया गया है।[११५] जिस प्रकार उपनिषदों ने कामनाओं से रहित मनुष्य को पूर्णकाम स्वीकार किया है उसी प्रकार भीष्मपर्व में कामराहित्य और निःस्पृहता को शान्ति का मूल घोषित किया गया है।[११६] तुष्टि को ईश्वरजन्य दर्शाकर जनसाधारण को इसके महत्त्व से अवगत कराया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार प्राणियों के अहिंसा, समता, तुष्टि, तपस्या, दान, यश तथा अपयश आदि नाना प्रकार के भाव उन्हीं से उत्पन्न होते हैं–

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।[११७]

सन्तोष को ईश्वरप्रियता का साधन दर्शाते हुए स्तुति-निन्दा में समभाव, परिमित वचन और अनायास उपलब्धि में सन्तोष के निर्वाह को अपेक्षित

दर्शाया गया है।[११८] सन्तोष को भक्तियोग का मूल दर्शाकर साधारण प्राणियों में इसकी अपरिहार्यता के संस्कार जगाए गए हैं–

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।[११९]

आहार गुणविवेचन के अनुसार उसी आहार को सात्त्विक दर्शाया गया है, जो आयुवर्धक, सत्त्ववर्धक, सामर्थ्यवर्धक, आरोग्यसाधक, चित्त की प्रसन्नता का वर्धक तथा सुख और प्रीतिवर्धक हो। वस्तुतः चित्त की प्रसन्नता को निर्वाह्य दर्शाने के लिए निकृष्ट आहार को निषिद्ध दर्शाया गया है।[१२०] सन्तोष को मानसिक तप घोषित करके इसे तपसिद्धि का साधन सिद्ध किया गया है।[१२१] धारणा के त्रिगुणविवेचन में चित्त की एकाग्रता के निमित्त मन, प्राण तथा इन्द्रियों की क्रिया के त्यागरूपी योग के नियमित रूप से निर्वाह की धारणा को सत्त्वगुणी माना गया है।[१२२] इस माध्यम से विषयान्तरों की धारणा से निवृत्ति की अपेक्षा सिद्ध की गई है। भीष्मपर्व में सन्तोष-संस्तुति का उद्देश्य प्राणियों को सदा सर्वदा सन्तोष के प्रति उन्मुख रहने के लिए अनुप्रेरित करना है। इसमें सन्तोष को समस्त योगों की सिद्धि का अनन्य अंग घोषित करके इसके निर्वाह को अपरिहार्य सिद्ध किया गया है।

शान्तिपर्व का प्रतिपाद्य विषय युद्धक्षुब्ध युधिष्ठिर के विषाद का परिहार तथा राज्यविषयक कर्तव्यबोध है। स्वजनों के विनाश के परिणामस्वरूप युधिष्ठिर के मन में श्मशान-वैराग्य उसके शोक का कारण बनता है। उसे राजकार्य में प्रवृत्त कराने के लिए किए गए सभी प्रयास असफल हो जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण उसे भीष्म के पास जाने का आग्रह करते हैं। वास्तव में शान्तिपर्व विविध धार्मिक मान्यताओं की विशद व्याख्या का अमरकोश है। इसमें सभी धर्ममूलक सिद्धान्तों को सरलता, सर्वग्राह्यता और सर्वबोधगम्यता से सम्पन्न करने का सफल प्रयास किया गया है। जनमानस को कर्तव्य-अकर्तव्य से सम्बन्धित ज्ञान से युक्त कराना ही इसका उद्देश्य है। इसमें उपलब्ध सन्तोषमहत्ता सर्वथा परम्परानुकूल होते हुए भी गुह्यता, संकेतात्मकता, सैद्धान्तिक संश्लिष्टता तथा शास्त्रीय दुरुहता से सर्वथा मुक्त है। राजधर्मवर्णन में राजा का श्रेष्ठत्व प्रजा द्वारा अनुपालित संयमों और अनुशासनों में निहित दर्शाया गया है।[१२३] राजा के लिए सन्तोष को अपरिहार्य सिद्ध करते हुए कहा गया है कि जो मूढ राजा काम-क्रोध के वश में होकर धनसंग्रह की इच्छा करता है, वह धन या धर्म कुछ भी प्राप्त नहीं कर

सकता।[१२४] भीष्म के अनुसार लोभ के वश में होकर अधर्माचरण से धनोपार्जन शास्त्र के प्रतिकूल है। ऐसा करने से राजा का धर्म और अर्थ दोनों मिथ्या हो जाते हैं।[१२५] जो धन का लोभी राजा मोह के वश में होकर प्रजा से शास्त्रविरुद्ध कर ग्रहण करने के लिए उसे पीड़ित करता है, वह स्वयं ही अपना नाश करता है।[१२६] युधिष्ठिर तथा भीष्म के संवाद में सन्तोष का महत्त्व लोभजन्य दुष्परिणामों की व्याख्या के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। भीष्म के अनुसार लोभ पाप का अधिष्ठान है। शठता का मूल कारण भी पाप है। उनके अनुसार क्रोध, काम, मोह, माया, अभिमान, गर्व तथा पराधीनता, अक्षमा, तर्कशून्यता, कुकर्म में प्रवृत्ति, कूटविद्या, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का अभिमान, सब जीवों में अविश्वास, सबके प्रति असम्मान, प्राणियों के प्रति द्रोह, परधनहरण, परनारीगमन, वचन और मन का आवेग, दूसरों की निन्दा करने की प्रवृत्ति, इन्द्रियपरतंत्रता, उदरम्भरिता, मृत्यु का भयंकर वेग, बलवती ईर्ष्या आदि समस्त पाप लोभ के कारण से ही उत्पन्न होते हैं। सन्तोष को दम के मूल कारणों में से एक मानते हुए कहा गया है कि अकृपणता, अक्रोध, सन्तोष, प्रियवादिता, अदोषदृष्टि और अनसूया आदि गुणों का उदय ही दम है–

अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता।
अविवित्सानसूया चाप्येषां समुदयो दमः।।[१२८]

अन्यत्र दम के लक्षणविवेचन के अन्तर्गत दूसरे की वस्तु की अभिलाषा का त्याग, सदा धैर्य और गम्भीरता का निर्वाह, भयत्याग तथा क्रोध को दम के लक्षण दर्शाकर सन्तोष को दम के निर्वाह मे सहायक माना गया है।[१२९]

शान्तिपर्व के उत्तरार्ध का सम्बन्ध मोक्षधर्म के विवेचन से है। तदनुसार ही यह मोक्षधर्मपर्व के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रतिपाद्य विषय औपनिषदिक तत्त्वज्ञान, कपिल के सांख्यदर्शन तथा पतञ्जलि के योगदर्शन की सरल और सर्वग्राह्य व्याख्या है। इसके लिए इसमें विविध विवेकज ज्ञानियों द्वारा मोक्षसमर्थक अनुभवों की व्याख्या का प्रावधान हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रवृत्तिमूलक धर्मविषयक मान्यताओं को सर्वबोधगम्यता प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया है। इसकी विशिष्टता समस्त ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित सामग्री को मोक्ष द्वारा निर्दिष्ट करने में निहित है। इसमें दर्शाया गया है कि वैयक्तिक संयमों और सामाजिक अनुशासनों के यथेष्ट निर्वाह के बिना न तो सुष्ट लोकव्यवहार सम्भव है और न ही उत्कृष्ट ब्रह्मत्व लाभ।

इसमें प्रसंगानुकूल वर्णाश्रमधर्म का विवेचन प्रख्यात मनीषियों के अनुभव के सार की व्याख्या द्वारा किया गया है। मुमुक्षु के लिए यथासमय प्राप्त सुख-दुःख एवं प्रिय-अप्रिय की उपासना तथा सदा सर्वदा प्रयत्नरत रहना अपरिहार्य माना गया है।[१३०] ब्राह्मण के गुणों के कथन के अन्तर्गत विद्या को परम दृष्टि तथा परम बल माना गया है। राग को परम दुःख तथा त्याग को परम सुख दर्शाया गया है।[१३१] ब्राह्मण के लिए एकाकीता, समता, सत्यता, सच्चरित्रता, मर्यादा, दण्डत्याग, सरलता और सर्वत्र आसक्तिहीनता अपरिहार्य स्वीकार की गई है।[१३२] मनुष्य के लिए सुख-दुःख को ईश्वरीय न्याय मानकर सुखलाभ में हर्षराहित्य और दुःख मिलने पर असन्तोषराहित्य को श्रेयस्कर घोषित किया गया है।[१३३] इस माध्यम से असन्तोष को त्याज्य दर्शाकर सन्तोष को स्वीकार्य दर्शाया गया है। भीष्म ने मानवजीवन का सुख लाभ-हानि तथा मान-अपमान में समभाव, धनविषयक व्यर्थ आयास के अभाव, सत्य वाक्य तथा वैराग्य में प्रवृत्ति एवं कर्म में अनासक्ति में निहित दर्शाया है।[१३४] मंकि गीता के अनुसार जब तक मनुष्य के काम, क्रोध, लोभ तथा क्रूरता आदि भावों का सर्वतः परिहार नहीं होता तब तक वैराग्य का उदय असम्भव है।[१३५] आजगर व्रत के निर्वाह को सन्तोष का मूल दर्शाते हुए इसके लिए सुख-दुःख, लाभ-हानि रति-अरति, जीवन तथा मरण को दैव का न्याय मानना अनिवार्य दर्शाया गया है।[१३६] इस व्रत के आचरण को समस्त सुखों का साधन दर्शाते हुए इसका उदय भय, लोभ तथा मोह के परिहार तथा मानराहित्य के आश्रय में निहित दर्शाया गया है–

अजगरचरितं व्रतं महात्मा य इह नरोऽनुचरेद्विनीतरागः।
अपगतभयमन्युलोभमोहः स खलु सुखी विहरेदिमं विहारम्।।[१३७]

कश्यप तथा इन्द्र के संवाद में उत्कृष्ट जीवननिर्वाह के लिए सन्तोष, अप्रमाद, यज्ञ, दान और तपस्या में रति, ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान एवं त्याज्य विषयों के परित्याग को अपेक्षित दर्शाया गया है।[१३८] भारद्वाज-भृगु.संवाद में क्रोध और लोभ पर विजय को ज्ञान का उदय माना गया है। इसी को आत्मसंयम दर्शाकर प्राणियों में अलोभ के प्रादुर्भाव के संस्कार जगाए गए हैं।[१३९] भृगु के अनुसार जो लोग क्रोध, लोभ, मोह और असत्य से आच्छादित रहते हैं। वे इस लोक और परलोक में सुखी नहीं रह सकते।[१४०] त्रिगुणविवेचन के अन्तर्गत मन में प्रहर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और मानसिक शान्ति का उद्भव ही सत्त्व गुण माने गए हैं।[१४१] सात्त्विक वृत्ति का आश्रय सर्वत्र समस्त धर्मों का मूल स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से व्यास ने सन्तोष को

सर्वत्र अपरिहार्य सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है। आत्मतत्त्व के जिज्ञासु के लिए जिन नियमों में निष्ठा आवश्यक है, वे हैं-सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों के क्लेशों से रहित रहना, सदा सत्त्व गुण में स्थिति, लोभराहित्य, अपरिग्रह, शौच तथा सन्तोष।[१४२] सन्तोष को ईश्वर के साक्षात्कार का साधन मानते हुए उसका निर्वाह रस से जिह्वा, गन्ध से नासिका, शब्द से श्रवणेन्द्रिय, स्पर्श से त्वचा तथा रूप से नेत्र की निवृत्ति में ही निहित दर्शाया गया है।[१४३] मोक्षधर्मपर्व में आख्यात गुरु-शिष्य-संवाद में उद्धृत त्रिगुण-विवेचन में प्रमोह, हर्षजनित प्रीति, असन्देह, धृति और स्मृति को सत्त्वगुण दर्शाकर सन्तोष के निर्वाह को सत्त्व गुण का आश्रय दर्शाया गया है।[१४४] इसके विपरीत असन्तोष, परिताप, शोक, लोभ और क्षमाहीनता को रजोगुण के चिह्न घोषित करके मुमुक्षुओं द्वारा इन्हें त्याज्य दर्शाया गया है।[१४५] सन्तोष के निर्वाह को महात्माओं का मार्ग दर्शाकर समस्त प्राणियों को इसके निर्वाह के लिए अनुप्रेरित किया गया है–

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम्।।[१४६]

दुःख में शोक से रहित रहना तथा समृद्धियुक्त होने पर हर्षित न होने को बुद्धिमता, ज्ञानतृप्ति, क्षमाशीलता तथा मनोज्ञता सिद्ध करके सन्तोष के पालन को मानवजीवन में अपेक्षित दर्शाया गया है।[१४७] बलि तथा इन्द्र के संवाद में नाश-विनाश, ऐश्वर्य, सुख-दुःख, उत्कर्ष-अपकर्ष में हर्षोद्वेगराहित्य को विद्वता का मूल दर्शाकर सन्तोष की अपेक्षा सिद्ध की गई है।[१४८] उद्वेगराहित्य के लिए धृति, अप्रमाद, दम, धर्मज्ञान एवं आत्मवत्ता की प्राप्ति तथा हर्ष, मद एवं क्रोधराहित्य आवश्यक घोषित किया गया है।[१४९] सब भूतों में समदृष्टि, यदृच्छालाभ में तुष्टि, पापराहित्य, तेजस्विता, अल्पाहार, जितेन्द्रियता तथा काम एंव क्रोध पर विजय को ईश्वरानुभूति के साधन दर्शाया गया है।[१५०] व्यास ने मोक्ष की उपलब्धि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि पाँच नियमों के स्वेच्छित पालन में निहित स्वीकार की है। यह कथन मोक्षलाभ क़े लिए सन्तोष के निर्वाह के महत्त्व को स्वयं स्पष्ट कर देता है।[१५१] मनुष्यों से मानसिक तृष्णा, शोक और संकल्प के परिहार के लिए सन्तोषपूर्वक सत्त्व गुण का आश्रय लेने का अनुरोध किया गया है। सन्तोष को मोक्षप्राप्ति का साधन दर्शाते हुए जिन अन्य गुणों के आश्रय का परामर्श दिया गया है, वे हैं-शोकराहित्य, ममताहीनता, शान्त एवं प्रसन्नचित्त रहना।[१५२] तुलाधार तथा जाजलि के संवाद में कामना

तथा लोभ के परिहार के लिए इनका अनुसरण करने वाले दोषियों की सन्तान को इन दुर्गुणों से युक्त होने की आशंका का भय दर्शाया गया है।[१५३] कपिल तथा नहुष के संवाद में ब्रह्मपद के अधिकारी पुरुष के लिए उपस्थ, उदर, बाहु और वचन की रक्षा को यथेष्ट दर्शाकर सन्तोष के सम्यक्निर्वाह का समर्थन किया गया है।[१५४] नारद-शुक.संवाद में कल्याण की इच्छा करने वाले व्यक्ति के लिए काम और क्रोध का निग्रह आवश्यक दर्शाया गया है। सन्तोष को पाण्डित्य का मूल दर्शाते हुए धनलोलुपता के निषेध के लिए सन्तोष का समर्थन किया गया है–

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं संतोषं यान्ति पण्डिताः।।[१५५]

बद्धमुक्त लक्षणविवेचन के अनुसार परा प्रकृति के जो अष्टादश गुण सात्त्विक माने गए हैं वे हैं–प्रीति, कार्य, उद्रेक, लघुता, सुख, अकार्पण्य, असंरम्भ, सन्तोष, श्रद्धान्धता, क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, आर्जव, समता, सत्य तथा अनसूया।[१५६] उनका आश्रय मोक्षसाधक है। सन्तोष को पुनः पुनः सात्त्विक गुण दर्शाकर इसे शिष्टाचार का अंग घोषित किया गया है। वस्तुतः इससे अभिप्राय इसे धर्म की उभयार्थी परिभाषाओं के कार्यान्वियन में अपरिहार्य सिद्ध करना है। संक्षिप्ततः शान्तिपर्व में प्रतिपादित सन्तोष-महत्ता की अभिव्यक्ति के माध्यम से इस नियम को सदा सर्वदा आचरणीय दर्शाकर जीवन में वैयक्तिक संयमों के आश्रय को सामाजिक अनुशासनों के निर्वाह की योग्यता का मूल दर्शाने में सफलता प्राप्त की है। परिष्कृत समाज के लिए परिष्कृत व्यक्तियों का होना अवश्यम्भावी है। इसी आधार पर सन्तोष को समस्त धर्मों का मूल घोषित किया गया है।

अनुशासनपर्व में यथेष्ट आचार-प्रतिपादन के माध्यम से प्राणियों को सदाचार मे प्रवृत्त रहने के लिए अनुशासित करने के जो प्रयास उपलब्ध होते हैं, उन्हीं के कारण इस पर्व को अनुशासनपर्व का नाम दिया गया है। युधिष्ठिर द्वारा शिष्ट व्यवहार और पारलौकिक कल्याण के इच्छुक मनुष्यों के लिए कर्तव्याकर्तव्यविषयक प्रश्नों का उत्तर देते हुए भीष्म ने परिग्रह में अनासक्ति, सब जीवों के प्रति सुहृदभाव और कर्मफल के अस्तित्व की स्वीकृति को शिष्टाचार घोषित किया है।[१५७] कर्मफल की स्वीकृति ही परोक्षतः सन्तोष के निर्वाह का परोक्ष संकेत है। महाभारत में जिन लोगों को नारद द्वारा नमस्कार्य दर्शाया गया है, वे हैं–सब जीवों के विषय में सदा प्रसन्नचित्त रहने वाले गृहस्थी, उत्तम व्रत वाले मुनि, अलोलुप और पुण्यशील

ब्राह्मण।[१५८] भीष्म ने सम्मान की पात्रता जिन सद्‌गुणों के आश्रय में दर्शायी है वे हैं–अक्रोध, सत्य वचन, अहिंसा, इन्द्रियसंयम, सरलता, अद्रोह, अभिमानराहित्य, लज्जा, सहनशीलता, तपस्या तथा मनोनिग्रह।[१५९] इस सन्दर्भ में संयम और अभिमानराहित्य सन्तोष के समर्थक गुण हैं। परोक्षतः इस विवेचन में सन्तोष के आश्रय को सम्मान का मूल दर्शाया गया है। दान को दयाधर्म घोषित करके सन्तोष के निर्वाह को अपरिहार्य सिद्ध किया गया है। भीष्म द्वारा किए गए दानधर्म के विवेचन के अनुसार सच्चे मन से विविध वस्तुओं के दान को विविध फलदायक दर्शाया गया है। उनके अनुसार मौन व्रत का निर्वाह ज्ञान का मूल है और दान समस्त सौभाग्य की प्राप्ति का।[१६०] जलदान को कीर्तिप्राप्ति का साधन दर्शाया गया है और समस्त भूतों को सान्त्वनादान शोक से मुक्ति का।[१६१] बारह वर्षों तक भोगपरित्याग तथा नियमों के पालन के परिणामस्वरूप मनुष्य वीर स्थान से भी श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।[१६२] भीष्म ने प्राणियों की पूजनीयता लोभ के सर्वथा त्याग तथा प्रियवादिता में स्वीकार की है।[१६३] राजधर्म की व्याख्या करते हुए भीष्म ने प्रजा का सन्तोष राजा के नियमनिर्वाह में निहित स्वीकार किया है।[१६४] भूमिदान को महादान घोषित करते हुए माता को परम गुरु, सत्य को परम धर्म तथा दान को परम निधि घोषित किया गया है।[१६५] अन्नदान के लिए द्वेष का त्याग और अमात्सर्य का आश्रय अपेक्षित दर्शाकर दान के महाव्रत के निर्वाह के लिए सन्तोष का आश्रय अवश्यम्भावी माना गया है।[१६६] प्राणियों के लिए सदा सर्वदा नियमस्थिति तथा नियतेन्द्रियता का आश्रय अपेक्षित मानते हुए उनसे अमृतोपम वस्तु का आहार करने और शौच का निर्वाह करने के लिए कहा गया है।[१६७] प्रतिग्रह के विषय में संयम को तपस्या का रक्षक दर्शाकर तपस्या के लिए सन्तोष का आश्रय अवश्यम्भावी घोषित किया गया है।[१६८] मनुष्य के लिए लोभ का सर्वथा परित्याग अनिवार्य दर्शाते हुए अलोभ को परम धर्म घोषित किया गया है। इस परामर्श में यजुर्वेद के **'त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः'** का अमर सन्देश अनुरणित होता है।[१६९] मंगल कामना से युक्त प्राणी के लिए परनिन्दा और अप्रिय कथन को निषिद्ध दर्शाया गया है।[१७०] इसमें भी वाणीविषयक सन्तोष की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। परधनलोभजन्य मोह को दयाहीनता और भय का कारण दर्शाया गया है।[१७१] वस्तुतः लोभ और मोह को दयाधर्म के निर्वाह में बाधक दर्शाकर प्राणियों में शिष्टाचार के संस्कार जगाने का सत्प्रयास किया गया है। प्राणियों द्वारा समदृष्टि के निर्वाह, दण्डराहित्य तथा अक्रोध के पालन को

परलोक में सुख का साधन दर्शाकर सन्तोष के महत्त्व को परोक्ष समर्थन दिया गया है।[१७२] उमा-महेश्वर.संवाद में सब जीवों पर दया, उनके सम्बन्ध में सरल व्यवहार तथा सब भूतों के प्रति आत्मवत् आचरण को धैर्य का मूल सिद्ध करके सन्तोष के सर्वत्र निर्वाह को धर्म दर्शाया गया है।[१७३] सन्तोष को पर धन में ममताराहित्य, परस्त्री से निवृत्ति और धर्म से प्राप्त हुए धन के उपभोग में निहित दर्शाकर उसे स्वर्गलाभसाधक घोषित किया गया है।[१७४] सन्तोष को स्वर्ग का द्वार घोषित करते हुए कहा गया है कि स्वाध्याय, दया, शौच तथा सत्य के साथ सन्तोष का निर्वाह मनुष्यों को स्वर्गगमन का अधिकारी बनाता है–

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः।
स्वैरर्थैः परिसंतुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः।।[१७५]

अनुशासनपर्व में विवेचित दानधर्म के माध्यम से सन्तोषनिर्वाह-विषयक अपेक्षाएँ प्राणियों को इसके स्वाभाविक निर्वाह के लिए अनुप्रेरित करती हैं। व्यास ने असन्तोष से निवृत्ति अलोभ के आचरण में निहित स्वीकार की है तथा सन्तोष के महत्त्व की प्रशस्ति के लिए दानधर्म की श्लाघा की गई है। सद्गुणों के समर्थन तथा दुर्गुणों के निषेध का मणिकाञ्चन संयोग महाभारत की अनन्य विशिष्टता बनकर मुखरित होता है। इस ग्रन्थ में सन्तोष को मनुष्य के अभ्युदय का साधक तथा निःश्रेयसपथ का प्रशस्तक सिद्ध करके व्यास ने भारतीय यम-नियमों की परम्परा को अनुपम ही सिद्ध नहीं किया, अपितु इसके यथावत् संरक्षण का भी सफल प्रयास किया है। उन्होंने अपने इस प्रयास में हमारी संस्कृति के अक्षय वट के मूल को सरलता के उर्वरक, सर्वग्राह्यता के अमृत और सर्वबोधगम्यता के पौष्टिक सहयोग से सशक्त और सुदृढ ही नहीं बनाया, अपितु उसे अमरत्व प्रदान करने में भी सफलता प्राप्त की है।

सन्दर्भ

१. भ्वादिगण
२. दिवादिगण
३. ऋग्वेद, १.१६६.५.
४. वही, १०.२७.१६.
५. यजुर्वेद, १२.६६; अथर्ववेद, ३.१७.५.

६. ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।। यजुर्वेद, ४०.१.
७. ऋग्वेद, १०.३४.१३.
८. यजुर्वेद, सुबोध भाष्य, पृष्ठ ४६४.
६. देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं न स्वदतु।। वही, ३०.१.
१०. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। वही, ४०.२.
११. यजुर्वेद, सुबोध भाष्य, पृष्ठ ६३४.
१२. यजुर्वेद, ४०.३.
१३. तद्वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुरुते मनसैव ब्रह्म संस्करोति।। ऐतरेयब्राह्मण, ५.३३
१४. अथर्ववेद, सुबोधभाष्य, भूमिका, पृष्ठ ६
१५. इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।। अथर्ववेद, १.१.३.
१६. वही, ४.१४.४.
१७. उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्।। वही, ६.५.६.
१८. वही, ६.६.४५.१–३.
१६. वाचं वदत भद्रया। वही, ३.३०.३.
२०. अनुव्रतः'पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।। वही, ३.३०.२.
२१. ईशावास्योपनिषद्, शान्तिपाठ
२२. कठोपनिषद्, १.१.८.
२३. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। वही, १.२.२.
२४. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।। वही, १.२.६.
२५. वही, २.३.१४.
२६. प्रश्नोपनिषद्, १.१०.
२७. मुण्डकोपनिषद्, १.२.६.
२८. इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।। वही, १.२.१०.
२६. तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।। वही, १.२.११.
३०. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।। वही, १.२.१३.
३१. वही, ३.१.५.
३२. वही, ३.१.१०.
३३. वही, ३.२.२.

३४. तैत्तिरीयोपनिषद्, १.४.
३५. वही, १.६.१.
३६. वही, १.११.१.
३७. वही, १.११.२.
३८. वही, २.८.३–१०.
३६. आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः।। श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६.४
४०. वासनाऽनुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदाऽवधिः।
अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः।।
लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मयादोपररतेऽस्तु सा।
स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते।। अध्यात्मोपनिषद्, ४१–४२.
४१. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशी कलाम्।। व्यासभाष्य, २.४२.
४२. वेदों में योगविद्या, पृष्ठ २४८.
४३. सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।। मनुस्मृति, ४.१२.
४४. वही, ४.१६.
४५. वही, ४.१६३.
४६. वही, ४.१७७.
४७. प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्राशाम्यति।। वही, ४.१८६.
४८. दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः।। वही, ४.२२७.
५०. अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः।। वही, ६.५७.
५१. याज्ञवल्क्यस्मृति, १.१२२.
५२. वही, ३.४७.
५३. यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति।
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च।। वही, ३.५३.
५४. वही, ३.५६.
५५. वही, ३.६१.
५६ आत्मज्ञः शौचवान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः।
धर्मकृदवेदविद्यावित्सात्त्विको देवयोनिताम्।। वही, ३.१३७.
५७. वही, ३.१५६–१५६.
५८ गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणाऽनुज्ञातः स्नात्वाऽसमानार्षाममस्पृष्टमैथुनं यवीयसीं सदृशीं भार्यां विन्देत। वसिष्ठस्मृति, २१८.
५६. वही, २३०.

६०. पैशुन्यमत्सराभिमानाहंकारश्रद्धानार्जवात्मस्तवपरगर्हादम्भलोभमोहक्रोधासूयाविवर्जनं सर्वाश्रमिणां धर्म् इष्टः। वसिष्ठस्मृति, २६६.
६१. तस्मात् प्राप्ताय यतये भिक्षां दद्यात् समाहितः।
विष्णुरेव यतिच्छाय इति निश्चित्य भावयेत्।। हारीतस्मृति, ४.६३.
६२. बालकाण्ड, ६.६.
६३ सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः।। वही, ६.६.
६४ नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनंगदनिष्कधृक्।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान्।। वही, ६.११.
६५. वही, ६.१६.
६६. अयोध्याकाण्ड, २.४१–४२.
६७. वही, २.४७.
६८. वही, २२.२२.
६९. न लक्ष्मणास्मिन् मम राज्यविघ्ने माता यवीयस्यभिशंकितव्या।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचिज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम्।। वही, २२.३०.
७० न तत् समाचरेद् धीरो यत् परोऽस्य विगर्हयेत्।
यथाऽऽत्मनस्तथान्येषां दारा रक्ष्या विमर्शनात्।। अरण्यकाण्ड, ५०.८.
७१. किष्किन्धाकाण्ड, १८.२१.
७२. वही, १८.३१–३२; मनुस्मृति, ८.३१८, ३१६.
७३. भीष्मपर्व, ४०.७८.
७४. यजुर्वेद, २०.२५.
७५. शान्तिपर्व, ३०६.१२.
७६. आदिपर्व, ८४.८.
७७ न मान्यमानो मुदमाददीत न संतापं प्राप्नुयाच्चावमानात्।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके नासाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते।। वही, ८५.२५.
७८ यस्तु कामान्परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः।
आतिष्ठेत मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात्।। वही, ८६.१४.
७९. वही, ८७.१६.
८०. वही, ८८.१–२६.
८१. आरण्यकपर्व, २.२१–२२.
८२. स्नेहात्कारणरागश्च प्रजज्ञे वैषयस्तथा।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः।। वही, २.२८.
८३. वही, २.४४.
८४. मनो यस्येन्द्रियग्रामविषयं प्रति चोदितम्।
तस्यौत्सुक्यं संभवति प्रवृत्तिश्चोपजायते।। वही, २.६४.
८५. वही, २.७३.
८६. वही, ३२.३१–३२.

८७. कामाल्लोभाच्च धर्मस्य प्रवृत्तिं यो न पश्यति।
स वध्यः सर्वभूतानां प्रेत्य चेह च दुर्मति।। आरण्यकपर्व, ३४.३४.

८८. प्रतिग्रहादुपावृत्तः संतुष्टो नियतः शुचिः।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते।। वही, ८०.३१.

८६. वही, १८१.३८.

६०. कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम्।
धर्म इत्येव संतुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसंमताः।। वही, १६८.५८.

६१. वही, १६८.६१.

६२. वही, २००.४०.

६३. असंतोषपरा मूढाः संतोषं यान्ति पण्डिताः।
असंतोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम्।। वही, २०६.२०.

६४. वही, २४६.१–३६.

६५. वही, २६७.३६.

६६. वही, २६७.४५.

६७. वही, २६७.५३

६८. तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः।। वही, २६७.६४.

६६. जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत्।। वही, २६८.२३.

१०० यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते।। उद्योगपर्व, ३३.१६.

१०१. नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः।। वही, ३३.२३.

१०२. वही, ३३.३२.

१०३. वही, ३३.६६–७०.

१०४. न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रतीतः।
दत्त्वा न पश्चात्कुरुते अनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः।। वही, ३३.६४

१०५. वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति।। वही, ३४.१५.

१०६. वही, ३४.६४.

१०७. चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समतिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा।। वही, ३६.३८

१०८. वही, ३६.४३.

१०६. अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण च।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः।। वही, ३६.६१.

११०. वही, ४४.१६.

१११. यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। भीष्मपर्व, २४.१५
११२. सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। वही, २४.३८.
११३. दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। वही, २४.५६
११४. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशादबुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। वही, २४.६२–६३.
११५. वही, २४.६५.
११६. वही, २४.७१.
११७. वही, ३२.५.
११८. तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।। वही, ३४.१६.
११६. वही, ३४.१४.
१२०. वही, ३६.८.
१२१. मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। वही, ३६.१६.
१२२. वही, ४०.३३.
१२३. शान्तिपर्व, ५७.३५–३६.
१२४. कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजानुतिष्ठति।
न स धर्मं न चाप्यर्थं परिगृह्णाति बालिशः।। वही, ७२.७.
१२५. मा स्माधर्मेण लाभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम्।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य योऽपशास्त्रपरो भवेत्।। वही, ७२.१३.
१२६. अर्थमूलोऽपहिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन्प्रजाः।। वही, ७२.१५.
१२७. वही, १५२.२–८.
१२८. वही, १५४.१६.
१२६. दमो नान्यस्पृहा नित्यं धैर्यं गाम्भीर्यमेव च।
अभयं क्रोधशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते।। वही, १५६.१२.
१३०. सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः।। वही, १६८.३०.
१३१. नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति विद्यासमं बलम्।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।। वही, १६६.३३.
१३२. वही, १६६.३५.
१३३. तयोरेकतरे मार्गे यद्येनमभिसंनयेत्।
न सुखं प्राप्य संहृष्येन्न दुखं प्राप्य संज्वरेत्।। वही, १७०.५.

१३४. सर्वसाम्यमनायासः सत्यवाक्यं च भारत।
निर्वेदश्चाविवित्सा च यस्य स्यात्स सुखी नरः।। शान्तिपर्व, १७१.२.
१३५. प्रहाय कामं लोभं च क्रोधं पारुष्यमेव च।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान्।। वही, १७१.४७.
१३६. सुखमसुखमनर्थमर्थलाभं रतिमरतिं मरणं च जीवितं च।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि।। वही, १७२.३०.
१३७. वही, १७२.३७.
१३८. वही, १७३.४६.
१३६. सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत्पवित्रं ज्ञातव्यं तथा चैवात्मसंयमः।। वही, १८२.६.
१४०. वही, १८३.११ (२).
१४१. वही, १८७.३३.
१४२. निर्द्वन्द्वा नित्यसत्त्वस्था विमुक्ता नित्यमाश्रिताः।
असंगीन्यविवादीनि मनः शान्तिकराणि च।। वही, १८८.४.
१४३. वही, १६५.५.
१४४. वही, २०५.२२; २१२.२६.
१४५. अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा।
लिंगानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुतः।। वही, २१२.२७.
१४६. वही, २१३.१७.
१४७. न हि दुःखेषु शोचन्ति न प्रहृष्यन्ति चर्द्धिषु।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः।। वही, २१६.२७.
१४८. नाशं विनाशमैश्वर्यं सुखदुःखे भवाभवौ।
विद्वान्प्राप्यैवमत्यर्थं न प्रहृष्येन्न च व्यथेत्।। वही, २२०.७३.
१४६. वही, २२७.२८.
१५०. समः सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन्।
धुतपाप्मा तु तेजस्वी लध्वाहारो जितेन्द्रियः।।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम्।। वही, २३२.१२.
१५१. वही, २३६.२६.
१५२. वही, २४३.१२–१३.
१५३. इष्टापूर्तादसाधूनां विषमा जायते प्रजा।
लुब्धेभ्यो जायते लुब्धः समेभ्यो जायते समः।। वही, २५५.६.
१५४. द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक्चतुर्थी स वै द्विजः।। वही, २६१.२७.
१५५. वही, ३१७.१६.
१५६. वही, ३२८.१३.
१५७. अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत्।। अनुशासनपर्व, १३.५.
१५८. वही, ३२.१२–२१.

१५६. अनुशासनपर्व, ३७.८–६.
१६०. धनं प्राप्नोति तपसा मौनं ज्ञानं प्रयच्छति।
उपभोगांस्तु दानेन ब्रह्मचर्येण जीवितम्।। वही, ५७.१०.
१६१. वही, ५७.२०–२१.
१६२. वही, ५७.२४.
१६३. य एव नो न कुप्यन्ति न लुभ्यन्ति तृणेष्वपि।
त एव नः पूज्यतमा ये चान्ये प्रियवादिनः।। वही, ५८.२२.
१६४. वही, ६१.४१.
१६५. नास्ति भूमिसमं दानं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दानसमो निधिः।। वही, ६१.८६.
१६६. वही, ६२.१२.
१६७. अमृताशी सदा च स्यात्पवित्री च सदा भवेत्।
ऋतवादी सदा च स्यानियतश्च सदा भवेत्।। वही, ६३.७.
१६८. प्रतिग्रहे संयमो वै तपो धारयते ध्रुवम्।
तदधनं ब्राह्मणस्येह लुभ्यमानस्य विस्रवेत्।। वही, ६४.३१.
१६६. वही, ६५.८४; यजुर्वेद, ४०.१.
१७०. वही, १०७.६८.
१७१. लोभान्मोहादनुक्रोशादभयाद्वाप्यबहुश्रुतः।
नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः।। वही, ११२.१६
१७२. वही, ११४.६.
१७३. आर्जवं धर्म इत्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते।
आर्जवेनह संयुक्तो नरो धर्मेण युज्यते।। वही, १३०.३०.
१७४. परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः।। वही, १३२.१०.
१७५. वही, १३२.३४.

दशम अध्याय

तप

भारतीय प्राच्य वाङ्मय का उद्देश्य मनुष्य के आध्यात्मिक (वैयक्तिक) रूप को आधिदैविक विकास से सम्पन्न करना है। इसकी महत्ता उन संयमों के स्वेच्छित और स्वाभाविक पालन के उदय में निहित मानी गई है, जो प्राणी की प्राथमिकताओं के विस्तार में सहायक सिद्ध होते हैं। मनुष्य द्वारा संकीर्ण वृत्ति का अनुसरण उसमें दुरिताओं का आश्रय लेने के दुस्साहस का प्रादुर्भाव कराता है। जबकि उन दुर्वृत्तियों का स्वेच्छापूर्वक त्याग उन सद्वृत्तियों के उदय में सहायक होता है जो उसके स्व के केन्द्र को निस्व की परिधि में विलीन करने में सर्वथा सक्षम हैं। हमारी संस्कृति का प्रादुर्भाव श्रौत साहित्य से स्वीकार किया गया है। इसमें प्रतिपादित मनुष्य के विकासविषयक साधनों की प्रचुरता के आधार पर वेद अखिल धर्म का मूल माने गए हैं। मनुष्य के जीवन का परम उद्देश्य विश्वरूप की प्राप्ति के माध्यम से सच्चिदानन्दसिद्धि है। इसका संभाव्य वैयक्तिक नियमन और सामाजिक अनुशासन द्वारा ही प्राप्य है। हमारे मनीषियों ने विश्व के समस्त पदार्थों को सबके लिए समान रूप से भोग्य बनाने के लिए सभी प्राणियों से उन दुर्वृत्तियों के परिहार का प्रयास करने के लिए कहा है, जो पारस्परिक समानता की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होती हैं। इसके लिए वैयक्तिक आचार-संहिता का प्रतिपादन वांछित माना गया है और प्राणियों के लिए पाँच संयमों का निर्वाह अपेक्षित घोषित किया गया। ये संयम कालान्तर में नियमों के नाम से प्रतिष्ठित हुए। वेदों में इनकी प्रतिष्ठा इन्हें देवगुण दर्शाकर की गई तथा प्राणियों द्वारा की गई स्तुतियों में सद्भावनाविषयक गुणों की कामना के माध्यम से प्राणियों में इनके पालन के स्वाभाविक संस्कार जगाने का प्रयास किया गया। नियमों के रूप में प्रतिष्ठित होकर ये संयम शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान के नाम से प्रसिद्ध

हुए। इनका सैद्धान्तिक विवेचन तथा निदर्शन स्मार्त साहित्य से आरम्भ हुआ और उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता हुआ समूचे प्राच्य साहित्य को उच्छिष्ट करने में सफल हुआ।

वेदों में तपोविषयक संकेत

वेदों में 'तप' शब्द को अभिव्यक्त करने वाली जिन तीन धातुओं का प्रयोग उपलब्ध होता है, वे महर्षि पाणिनि के धातुपाठ में संताप, ऐश्वर्य तथा दाह अर्थों की वाचक स्वीकार की गई हैं।[१] वेदों में तप का निरूपण विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है। तप से अभिप्राय प्राणी द्वारा समस्त मानसिक विकारों, वाणीविषयक विकारों तथा दैहिक विषमताओं के पराभव के मनसा, वाचा, कर्मणा परिहार का प्रयास है। मानसिक दुरिताओं का पराभव मन में संयतेन्द्रियता के उदय द्वारा संभव है। वाणीविषयक दुरिताओं का निषेध वाणीसंयम, कटु वचननिषेध तथा मिथ्या कथननिषेध द्वारा संभव है। कायिक विषमताओं के लिए दैहिक द्वन्द्वसहनशीलता का उपार्जन अवश्यम्भावी है।

ऋग्वेद की एक ऋचा के अनुसार इन्द्र के द्वारा अनिष्ट कथन के परिहार की चर्चा के माध्यम से अनिष्ट कथन के निषेध का जो संकेत उपलब्ध होता है, वह प्राणियों में वाक्-संयम के निर्वाह की ओर निर्दिष्ट है।[२] अग्नि की एक स्तुति में अग्नि से आग्रह किया गया है कि वह जन्मरहित अंश को अपने तेज तथा ज्वाला से तप्त करे। इसमें प्राणियों से अनुरोध किया गया है कि वे अपने ज्ञान तथा विवेकरूपी तप से सुकृत लोकों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नरत हों।[३] एक सूक्त के अनुसार प्रेतमुक्ति हेतु प्रेतों से तप के परिणामस्वरूप स्वर्गप्राप्त प्राणियों को प्राप्त करने का आग्रह किया गया है। इस ऋचा में तप को पाप से अपराभूत दर्शाकर तप का उद्देश्य परम गति की प्राप्ति सिद्ध किया गया है। इस मन्त्र में प्रेत से कामना की गई है कि वह तपस्वियों के उसी लोक को प्राप्त करे।[४] इससे अगले मन्त्र में पूर्वजों को तप से युक्त तथा सत्य एवं यम के वर्धक दर्शाया गया है।[५] वस्तुतः यम से अभिप्राय अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य है। तप को इन सभी यमों के पालन की योग्यता से युक्त दर्शाकर मनुष्यों को तप में रत रहने का संकेत दिया गया है तथा प्रेत को तप से जन्य उत्तम गति प्राप्त करने का संकेत दिया है। तत्पश्चात् दूरदर्शी विद्वान् लोगों को तप से युक्त ही नहीं दर्शाया गया, अपितु तप से उत्पन्न भी दर्शाया गया है। नियम में स्थित प्रेतात्मा से उन्हीं लोकों को प्राप्त करने का आग्रह किया

गया है। वस्तुतः इस सूक्त में तप की प्रशस्ति से सम्बन्धित संकेत उत्तम लोकों की प्राप्ति के लिए दुरिताओं के परिहार हेतु प्राणियों में द्वन्द्वसहनशीलता की अभिरुचि को अनुप्रेरित करते हैं। ऋग्वेद को मनुष्य के सद्विचारों का उत्पत्तिस्थान माना जाता है। इसका विषय सूक्तों के माध्यम से मनुष्य में उत्तम विचारों का प्रादुर्भाव कराना है। इसमें निर्दिष्ट संकेत मनुष्य द्वारा विहित प्रशस्त कर्म की सशक्त पृष्ठभूमि सिद्ध होते हैं। दशम मण्डल ऋग्वेद का अन्तिम मण्डल है। इसकी एक ऋचा में ऋत एवं सत्य की उत्पत्ति परमात्मा के महान् दीप्तिमान् तप का परिणाम स्वीकार की गई है। इससे अभिप्राय ऋत और सत्य के आश्रय के लिए मिथ्या कथन, मिथ्या व्यवहार एवं अनिष्ट भावों के पराभव के लिए मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयत्नरत रहने का परामर्श देते हुए त्रिविध तप को मानवजीवन की सर्वोपरि अपेक्षा दर्शाया गया है।

यजुर्वेद का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहारविषयक परिष्कार से है। इसमें सत्कर्म को मनुष्य की व्यष्टि को समष्टि में परिणत करने में समर्थ दर्शाया गया है। इसके लिए प्राणी से आद्यन्त दुरिताओं के पराभव और भद्रताओं के उपार्जन के लिए प्रयत्नरत रहने का आग्रह किया गया है। इसका समारम्भ मनुष्य की हीन भावना के परिष्कार के प्रयास से होता है। उत्तम कर्म के लिए जिस दृढ निश्चय, अदम्य साहस एवं पवित्र निष्ठा की आवश्यकता होती है, उसकी चर्चा सांकेतिक रूप में प्रथम अध्याय में उपलब्ध होती है। उसके द्वारा असत्य का आश्रय छोड़कर सत्य की शरण लेने की चर्चा उपलब्ध होती है।[६] मनुष्य के लिए उन्नति हेतु उदार दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह किया गया है।[७] प्रथम अध्याय का प्रतिपाद्य विषय प्राणियों को उनकी समस्त योग्यताओं से अवगत कराकर उन्हें हीन भावना से मुक्त कराना है। एक मन्त्र में प्राणियों से **'ऊर्ध्वचितः मृगूणां अंगिरसां तपसा तप्यध्वम्'** का अनुरोध किया गया है।[८] इस माध्यम से तप को मनुष्य के हृदय तथा मस्तिष्क के परिष्कार का स्रोत दर्शाया गया है। वस्तुतः प्रशस्त कर्म के लिए सर्वांगीण सामर्थ्य का उपार्जन अनिवार्य है। मनुष्य का कार्यक्षेत्र तथा उसके द्वारा किए गए समस्त पुरुषार्थों की पूर्ति हृदय तथा मस्तिष्क की शक्तियों पर निर्भर करती है। जब तक प्राणी का मन और मस्तिष्क विविध द्वन्द्वों को सहर्ष सहन कर लेने की योग्यता से युक्त नहीं हो जाता तब तक उसके द्वारा किसी भी पुरुषार्थविषयक प्रयत्न के प्रति अभिरुचि का उदय असंभव है। अग्नि की एक स्तुति मे तपस्पति

अग्नि द्वारा स्तोता के तप को अंगीकार करने की चर्चा उपलब्ध होती है। वस्तुतः इसमें **'तपस्यति मे तप अन्वमंसत'**[६] के माध्यम से अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह साधक द्वारा लिए गए तप के अवलम्बन को सशक्त और समृद्ध बनाने की कृपा करे। यजुर्वेद के अनुसार प्राणी को दक्षता के लिए विशेषज्ञों का आश्रय लेना अपरिहार्य है। इसके अनुसार मनुष्य की दुरिताओं का पराभव और उसके द्वारा भद्रताओं का संचय उनके परिहार एवं उपार्जन सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान के बिना असंभव है। तभी इसमें **'तपसे कौलालम्'** का आग्रह उपलब्ध होता है। तप से अभिप्राय समस्त कायिक, वाचिक तथा मानसिक द्वन्द्वों की सहनशक्ति की प्राप्ति है। इसके लिए चित्त की एकाग्रता, सद्‌गुणों का संचय तथा प्रशस्त कर्मानुष्ठान का नित्य निरन्तर आश्रय आवश्यक है। तप से जिन अर्थों का अभिबोध होता है, वे हैं–जनता में उत्साहसंचार, सत्कर्मपथ में आने वाली बाधाओं को सहर्ष सहन करना, समस्त कर्मों के अनुष्ठान में दत्तचित्तता, धर्मनियमों का उत्तम पालन, सद्‌गुणों का ग्रहण, विशिष्ट कर्तव्यों की पूर्ति, चित्त की शान्ति, मन का दमन, इन्द्रियसंयम, परोपकार, योग्य सज्जनों का सम्मान, उत्तम प्राणियों से मित्रता, इन दोनों की सहायता, निज उत्कर्ष हेतु पुरुषार्थ, आत्मोन्नति की सिद्धि, ईश्वरभक्ति, सत्य धर्मोपदेश तथा वीर्यसंरक्षण।[१०] वस्तुतः मनुष्य को दुराग्रह के निषेध के लिए जिस वाचिक, कायिक तथा मानसिक संयम का आश्रय लेना पड़ता है, उसके लिए जो पुरुषार्थ उचित है, वही तप है। यजुर्वेद में तपस्या की योग्यता से युक्त होने के लिए कौलाल का आश्रय अपेक्षित दर्शाया गया है। वस्तुतः कौल से अभिप्राय उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाला प्राणी है। इसका निहितार्थ उत्तम कुल में उत्पन्न होकर कुलीन कर्मों में रति है। कौलाल वही है जो अपने कुल की उत्तमता के संवर्धन के लिए कुलीन कर्मों मे प्रयत्नरत रहे। उत्तरवर्ती काल में कुल को तभी उत्तम स्वीकार किया गया है जब इसमें जन्म लेने वाले उत्तम कर्म के अनुयायी हों। **'तपसे कौलालम्'** का अभिप्रेत अर्थ तप के निर्वाह हेतु उन्हीं लोगों का आश्रय स्वीकार करना है जो मनसा, वाचा, कर्मणा कुलीन कर्मों को अपना धर्म मानते हों। इससे पूर्व कौलाल को परिभाषित करते हुए ऋग्वेद में उसी पुरुष को कौलाल माना गया है जो शान्तचित्त, अहिंसायुक्त कर्मों में प्रवृत्त तथा तपस्वी हो।[११] यजुर्वेद में उत्तम कुल में उत्पत्तिमात्र को कौलाल पद से विभूषित होने का कारण नहीं माना गया, अपितु उसके लिए दिव्यदृष्टि से युक्त होना, जितेन्द्रिय होना तथा ऊर्ध्वरेता होना आवश्यक स्वीकार किया

गया है।[१२] यजुर्वेद के वसुविभाग में समस्त कर्मों की योग्यता विशिष्ट आश्रयों द्वारा ही संभव दर्शायी गयी है। नियमविभाग के अन्तर्गत यम-नियमों के निर्वाह की योग्यता के लिए यम-नियमों में दक्ष विद्वानों का आश्रय लेने का परामर्श दिया गया है। यजुर्वेद में निर्दिष्ट तपोविषयक संकेतों के अनुसार दुरिताओं के पराभव तथा भद्रताओं के संचय के लिए द्वन्द्वसहनशीलता का सर्वांगीण निर्वाह परम आवश्यक सिद्ध होता है।

अथर्ववेद का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तःकरण को विकास की पराकाष्ठा प्रदान करने से है। यही कारण है कि इसे प्राणी के दूसरे भाग को सुसंस्कृत करने की योग्यता से युक्त होने का श्रेय प्राप्त है। समस्त सिद्धियाँ मनुष्य के कायिक, वाचिक और मानसिक सहकारिता द्वारा ही संभव है। अथर्ववेद में मनुष्य के बौद्धिक दायित्वों का सांकेतिक विश्लेषण और विवेचन उपलब्ध होता है। इसमें प्रतिपादित तप के सूचक संकेत भी तप को मनुष्य के बौद्धिक परिष्कार का मूल सिद्ध करते हैं। 'हृदय के दो गीध' नामक सूक्त में मनुष्य के काम और लोभरूपी दो दुर्भावों को निकृष्ट दर्शाकर प्राणियों द्वारा इन्हें बन्धन में रखने की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। इनका परिहार कामसंयम और लोभसंयम द्वारा ही संभव है। काम और लोभविषयक उद्वेगों को हँसते-हँसते सहकर मानसिक संयम का निर्वाह ही तप है।[१३] अथर्ववेद का समारम्भ 'मेधाजनन' सूक्त से होता है। इस सूक्त का प्रतिपाद्य विषय बुद्धिसंवर्धन है। इसमें प्राणी वाचस्पति से अनुरोध करता है कि उसे बुद्धि-संवर्धन सम्बन्धी पुस्तकीय तथा विवेकज ज्ञान से सम्पन्न कराए। इसमें वाक्-सम्बन्धी नियमन का जो प्रावधान उपलब्ध होता है उसके अनुसार ज्ञान की स्थिरता के लिए नियमों का आश्रय आवश्यक है। वाचिक नियमन से अभिप्राय वाक्-संयम द्वारा उन वाचिक दोषों के परिहार का प्रयास है जो समाज में पारस्परिक भेदभाव, द्वेष तथा कलह के जनक माने जाते हैं।[१४] तप को प्राणियों की उन्नति का साधन दर्शाते हुए कहा गया है कि ज्ञान का उपार्जन करने वाला विद्यार्थी जब ज्ञानसम्पन्न हो जाता है, तब वह तप के बल पर उन्नत होता है। इसके परिणामस्वरूप वह केवल ब्रह्म के तत्त्वज्ञान से ही युक्त नहीं होता, अपितु अमरत्वसाधक समस्त दिव्य गुण तथा दिव्य पदार्थ उसके साथ रहते हैं–

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्।।[१५]

ब्रह्मचर्य के लिए तप का निर्वाह अनिवार्य है। उसके द्वारा व्यवहार्य उदर तथा अधरसंयम एवं वीर्यसंरक्षण अपरिहार्य है। इनका संभाव्य तद्विषयक द्वन्द्वसहनशीलता पर आश्रित है। इसी आधार पर अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्य' सूक्त में राजा द्वारा ब्रह्मचर्यरूपी तप को राष्ट्र के विशेष संरक्षण की योग्यता से युक्त दर्शाया गया है।[१६] इतना ही नहीं, देवों का अमरत्व भी ब्रह्मचर्य रूपी तप के आश्रित घोषित किया गया है।[१७] इससे पूर्व 'मेखलाबन्धन' सूक्त में मेखलाबन्धन संस्कार का अभिप्राय ज्ञान, तप, परिश्रम तथा कटिबद्धता दर्शाया गया है। मेखला की उत्पत्ति तप से स्वीकार की गई है और उससे आग्रह किया गया है कि वह प्राणियों को तप की शक्ति और उत्तम इन्द्रियों से सम्पन्न करे।[१८] इस सूक्त में तप का महत्त्व दर्शाते हुए कहा गया है कि समस्त क्लेशदायक असुविधाओं को सहर्ष सहन करना ही तप है। अथर्ववेद के 'मातृभूमि' सूक्त का समारम्भ किसी भी राष्ट्र को भौगोलिक अखण्डता तथा भावात्मक एकता से युक्त कराने वाले साधनों की व्याख्या से आरम्भ होता है। इसके लिए जिन सात साधनों का संचय अवश्यम्भावी दर्शाया गया है, वे हैं–सत्यव्रत, सरलता, उग्रता, दक्षता, तप, ज्ञान तथा यज्ञ (दान-संगतिकरण तथा देवपूजा)।[१९] इस मन्त्र में तप को राष्ट्रसंरक्षण के आधारों में से एक दर्शाकर तप के अवलम्बन से भेदविषयक कथन, मनन तथा कर्म के परिहार के संस्कार जगाए गए हैं। इससे पूर्व ब्राह्मणगुणविवेचन के अन्तर्गत तप को ब्राह्मण के लक्षणों में से एक दर्शाते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण की जिह्वा धनुष की डोरी होती है। वाणी धनुष का दण्डा होती है। तप से तीक्ष्ण बने हुए दाँत बाणरूप होते हैं।[२०] ब्राह्मण उन देवसेवित आत्मबल के धनुषों से देवशत्रुओं पर आघात करते हैं। इस निहितार्थ युक्त मन्त्र में तप को ब्राह्मण का लक्षण सिद्ध किया गया है। उसे प्राणियों द्वारा धर्मविषयक कर्तव्यों के पालन के लिए उत्तरदायी माना गया है। उसके द्वारा आचरित व्यवहार को प्राणियों का आदर्श बनने की योग्यता से युक्त होना स्वाभाविक स्वीकार किया गया है। अग्रिम मन्त्र में ब्राह्मणों द्वारा तप तथा क्रोधपूर्वक अधर्म के परिहार के लिए प्रवृत्त होना यथेष्ट स्वीकार किया गया है।[२१] एक मन्त्रांश में व्रत तथा तप को यश की प्राप्ति का साधन दर्शाते हुए तथा पुण्य लोकों की उपलब्धि का मूल दर्शाते हुए कहा गया है– **'तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः।'**[२२]

वेदों में तप के समर्थक संकेतों का संक्षिप्त विवेचन यह सिद्ध करता

है कि वेदनिर्दिष्ट मानव के समग्र विकास के लिए उपयोगी अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को उचित है कि वह संकीर्णताओं के पराभव तथा आत्मविस्तार की प्राप्ति के लिए सदा सर्वदा कटिबद्ध रहे। उसकी पूर्णत्वप्राप्ति वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति, निजी साधनों के स्वच्छन्दतापूर्वक उपभोग तथा उपलब्ध साधनसामग्री को वैयक्तिक प्रयोग तक सीमित रखने में निहित न होकर इन दुराग्रहों के पराभव पर ही आश्रित है। वेदों में मनुष्य की संघविरोधी वासनाओं को विविध पशुवृत्तियाँ स्वीकार किया गया है। मनुष्य के विकास पथ में बाधक छः मुख्य शत्रुओं के नाम हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर। इसी आधार पर मद को गरुड वृत्ति, लोभ को गृध्र वृत्ति, काम को चिड़िया वृत्ति, मत्सर को कुक्कुर वृत्ति, मूढता को उल्लूक वृत्ति तथा क्रूरता को भेड़िया वृत्ति का नाम दिया गया है। इनसे युक्त आचार को पाशविक दर्शाकर मनुष्य से आग्रह किया गया है कि वह इनसे निवृत्ति के लिए तप का आश्रय ले।

उपनिषदों में तपोविषयक परामर्श

उपनिषदों का उद्देश्य प्राणियों के ज्ञान को परिमार्जित करना है। इनमें मनुष्यों के आध्यात्मिक परिष्कार के साधन सर्वथा वेदानुकूल है। इनमें इन साधनों को अपरिहार्य दर्शाने के लिए दृष्टान्त शैली, प्रश्नोत्तर शैली, संवाद शैली तथा प्रत्यक्षकथन शैली का आश्रय लिया गया है। अन्य यम-नियमों की भाँति तप का विश्लेषण भी संकेतात्मक है। व्यासभाष्य के अनुसार तप की सिद्धि संयतेन्द्रियता में सहायक स्वीकार की गई है।[२३] कठोपनिषद् में यम-नचिकेता-संवाद में इन्द्रियों के मन में विलय तथा मन के बुद्धि में लय को, बुद्धि के आत्मा में लय की योग्यता से युक्त माना गया है। तदुपरान्त आत्मा का शान्तस्वरूप परम पिता परमात्मा में विलय मानवजीवन का साध्य घोषित किया गया है। इस उपनिषद् में प्राणियों से साध्यसिद्धि के लिए सदा सर्वदा जागरूक रहने का आग्रह किया गया है।[२४] ईश्वर को तपस्याजनित दर्शाकर मानवजीवन में सर्जनात्मक कर्म के लिए तप की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[२५] इस उपनिषद् के अनुसार मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि की अचंचलता की प्राप्ति ही परम गति है। इस माध्यम से त्रिविध संयमरूपी तप के पालन को परम गति का साधन दर्शाया गया है। प्रमाद के पूर्ण परिहार को योगसिद्धि का साधन दर्शाते हुए तप को योगांग सिद्ध किया गया है।[२६] कठोपनिषद् की भाँति प्रश्नोपनिषद् में भी सृष्टि की उत्पत्ति प्रजापति द्वारा विहित तप का परिणाम स्वीकार की गई

है।[२७] इससे पूर्व अध्यात्मविषयक प्रश्नों की जिज्ञासा का पात्र वही पुरुष माना गया है, जो श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तप से युक्त हो। इससे अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि तप का निर्वाह ब्रह्मविद्या के उपार्जन का मूल है।[२८] महर्षि पैप्पलाद के अनुसार जो लोग तपस्यापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए श्रद्धासहित अध्यात्म विद्या द्वारा परमात्मा की खोज करते हैं, वे परम गति से युक्त होते हैं।[२९] इसका समर्थन करते हुए तप, ब्रह्मचर्य तथा सत्य के समुचित निर्वाह को ब्रह्मप्राप्ति का मूल दर्शाया गया है।[३०] जहाँ इस उपनिषद् में सृष्टि को ब्रह्मा के तप का परिणाम स्वीकार किया गया है, वहीं तप को ब्रह्मा द्वारा जनित दर्शाया गया है।[३१] विविध लोकों का निर्माण तप, मन्त्र तथा कर्म के उपरान्त दर्शाया गया है। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म की वृद्धि संकल्परूप तप से स्वीकार की गई है। तदुपरान्त अन्न, प्राण, मन, पंच महाभूत एवं समस्त लोक तथा कर्म और उनके फलों की उत्पत्ति दर्शायी गयी है–

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणा मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।।[३२]

इसके अतिरिक्त भिक्षावृत्ति, तप, श्रद्धा के सेवन एवं रजोगुणराहित्य को ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधक दर्शाकर प्राणियों के लिए इसके पालन के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।[३३] तप को परम अमृतरूप ब्रह्म सिद्ध करके इसके निर्वाह को ब्रह्मरूप की प्राप्ति का साधन दर्शाया गया है।[३४] तप को ब्रह्मसिद्धि का साधन दर्शाकर ईश्वरप्राप्ति के लिए द्वन्द्वसहनशीलता की महत्ता स्पष्ट की गई है।[३५] ईश्वर की प्राप्ति के लिए लक्षणयुक्त तप का आश्रय आवश्यक दर्शाते हुए उसकी प्राप्ति हेतु लक्षणरहित तप को त्याज्य दर्शाया गया है।[३६] तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को तप द्वारा प्राप्य दर्शाकर तप को ही ब्रह्म सिद्ध किया गया है।[३७] इसमें भी उसी औपनिषदिक विश्वास का अनुरणन उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार द्वन्द्वसहनशीलता से युक्त आचरण सर्वसिद्धि-साधक है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में परमात्मा का हृदय रूपी गुफा में निवास उसी प्रकार अदृश्य दर्शाया गया है जिस प्रकार तिलों में तेल, दही में घी, स्रोतों में जल तथा अरणियों में अग्नि। उसका ग्रहण सदा सर्वदा सत्यनिष्ठ और तप से युक्त रहने से ही संभव दर्शाया गया है।[३८] ईश्वरप्राप्ति के लिए आत्मविद्या तथा तप के आश्रय को सर्वोपरि दर्शाकर इस उपनिषद् में

सामान्य प्राणियों में तप की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है।[३९] श्वेताश्वतर ऋषि की ब्रह्मोपलब्धि तप के आश्रित दर्शाकर श्वेताश्वतरोपनिषद् में तप को अद्वितीय समर्थन प्रदान किया गया है।[४०] ब्रह्मचारी द्वारा विहित तप को ब्रह्मविद्याप्राप्ति की पात्रता का मूल दर्शाकर छान्दोग्योपनिषद् में तप के निर्वाह को आध्यात्मिक समर्थन प्रदान किया गया है।[४१] इस उपनिषद् में ब्रह्मा द्वारा वेदत्रयी की रचना का मूल तप में निहित दर्शाया गया है।[४२] बृहदारण्यकोपनिषद् में मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या करते हुए समस्त कामनाओं के परिहार के उपरान्त जनक के समान विदेह अवस्था की प्राप्ति को मोक्ष का मूल स्वीकार किया गया है। कामनाओं के परिहार के लिए तज्जन्य द्वन्द्वों को सहन करने की कटिबद्धता आवश्यक है। यही तप है। इस उपनिषद् में ईशावास्योपनिषद् में आख्यात विद्या-अविद्या-सम्बन्धी चर्चा का अनुरणन उपलब्ध होता है। इसके अनुसार ईश्वर की प्राप्ति न तो अविद्या के अन्धे अनुकरण द्वारा संभव है और न ही मात्र विद्या के एकांगी उपार्जन द्वारा। इसके लिए अतिशयिता विरोधी संयम का निर्वाह आवश्यक है।[४३] मैत्रय्युपनिषद् के बृहद्रथ आख्यान में राजा बृहद्रथ द्वारा की गई तपस्या को तत्त्व के उपदेश के अधिकार से युक्त माना है।[४४] इसी उपनिषद् के अनुसार तपस्या द्वारा सत्त्व (ज्ञान) पर अधिकार प्राप्त होता है। सत्त्व से मन वश में आता है और मन पर अधिकार प्राप्त होने से मनुष्य आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है–

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते।।[४५]

उपनिषद्-विवेचित तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत तप के निर्वाह को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। सभी उपनिषद् एक स्वर होकर चित्तवृत्तियों के निरोध को ब्रह्मप्राप्ति का आधारभूत साधन घोषित करते हैं। तप को सृष्टि का मूल दर्शाकर इसे सदा सर्वदा वांछित दर्शाया गया है। मनुष्य का चरम विकास जिस पूर्णकाम अवस्था की प्राप्ति में निहित दर्शाया गया है, उसकी प्राप्ति भी प्राणियों द्वारा वाणी, उदर और उपस्थ के समग्र संयम के निर्वाह द्वारा ही संभव दर्शायी गयी है।

स्मृतियों में तपोनिदर्शन

स्मार्त साहित्य का सम्बन्ध उन स्मृतियों, धर्मशास्त्रों, नीतिशास्त्रों तथा दर्शनग्रन्थों से है जिनमें श्रौत साहित्य द्वारा प्रतिपादित जीवनमूल्यों का

सैद्धान्तिक प्रतिष्ठापन उपलब्ध होता है। हमारा समस्त साहित्य मनुष्य के द्वारा व्यष्टिसम्बन्धी तथा समष्टिसमर्थक दायित्वों के निर्वाह को निर्दिष्ट है। मनुस्मृति में ऋषियों द्वारा किए गए धर्मसम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए मनु ने वेद को अखिल धर्म का मूल माना है। इस उत्तर में मनुस्मृति का रचनोद्देश्य परिलक्षित होता है। मानवजीवन के सभी अंगों को नियमित करने वाले सिद्धान्त ही स्मार्त धर्म के नाम से आख्यात हैं। धर्मग्रन्थों की रचना मनुष्य के लिए व्यष्टिसम्बन्धी दायित्वों तथा समष्टिसम्बन्धी कर्तव्यों के सम्यक् निर्वाह की योग्यता के लिए हुई है। हमारे यहाँ धर्म के व्यष्टिगत और समष्टिगत रूपों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। व्यष्टिगत धर्मसिद्धान्तों में मनुष्य की वैयक्तिक आचारसंहिता को समष्टि के प्रति उन्मुख करने के लिए जो कर्तव्य वांछित माने गए हैं, वे नियमों के नाम से प्रसिद्ध हैं। नियमक्रम में तप को चतुर्थ स्थान प्राप्त है। योगदर्शन के अनुसार द्वन्द्वसहनशीलता ही तप है। मनु ने सृष्टि के संरचनाविषयक वर्णन में ब्रह्मा द्वारा तप की उत्पत्ति सृष्टि की रचना से पूर्व दर्शायी है।[४८] इसमें औपनिषदिक मान्यताओं का अक्षरशः अनुसरण उपलब्ध होता है। मनु के अनुसार स्वयम्भू मनु का जन्म भी विराट् पुरुष की तपस्या का परिणाम है।[४९] विविध युगों में विभिन्न यम-नियमों के प्राधान्य की चर्चा के अन्तर्गत तप को सत्ययुग का प्रधान धर्म दर्शाया गया है।[५०] इससे अभिप्राय यही सिद्ध करना है कि तप का आश्रय वैयक्तिक सम्पन्नता और सामाजिक वैपुल्य का मूल स्रोत है। समाज के चारों वर्णों के उत्पत्तिसम्बन्धी वर्णन में ब्राह्मण को ब्रह्मा की तपस्या का परिणाम मानते हुए उसे सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा के लिए उत्तरदायी दर्शाया है।[५१] ब्रह्मचर्य आश्रम में वेदज्ञान के उपार्जन के लिए तप का आश्रय वांछित दर्शाया है।[५२] यह उक्ति स्वाध्याय के लिए तप के निर्वाह को अपेक्षित घोषित करती है। मनु ने स्वाध्याय और तप को परस्पर अन्योन्याश्रित दर्शाते हुए तप के निर्वाह के लिए स्वाध्याय का सेवन उचित घोषित किया है।[५३] ब्राह्मण के लिए प्रत्येक अवस्था में तप अपरिहार्य दर्शाया गया है।[५४] मनु के अनुसार माता-पिता तथा आचार्य का नित्य प्रिय करना ही तप है। इन तीनों की सेवा-शुश्रूषा श्रेष्ठतम मानी गई है। इनकी आज्ञा के बिना दूसरे धर्म का आचरण निषिद्ध घोषित किया गया है।[५५] दुर्वृत्तिपरिहार के परामर्श में असत्य को यज्ञनाशक, विस्मय को तपस्यानाशक, ब्राह्मण को कहे गए दुर्वाच्य को आयुनाशक और किए गए दान की प्रशंसा को दाननाशक दर्शाया गया है।[५६] इस माध्यम से मनु ने प्राणियों को तपस्या में

अभिमानरहित होकर रत रहने का परामर्श दिया है। अभिमानरहित होकर की गई तपस्या को फलदायक दर्शाकर मनु ने प्राणियों में तपोविषयक दम्भराहित्य के संस्कार जगाए है। तप को शौच का साधन दर्शाकर उन्होंने तद्विषयक व्यास के विश्वास का समर्थन किया है—

'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।'[५७]
ज्ञानं तपोऽग्निरहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम्।।[५८]

वानप्रस्थ आश्रम में तपवृद्धि के लिए दिए गए परामर्श के अनुसार मनु ने ग्रीष्मऋतु में पञ्चाग्नि लेने, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रहने और हेमन्त ऋतु में गीला वस्त्र धारण करने का परामर्श दिया है। मनु ने वानप्रस्थी के लिए कृशकायता हेतु तपस्या के कठोर व्रत के पालन का आग्रह किया है।[५९] पाप के प्रायश्चित्त के लिए पाप के निवारण से आश्वस्त होने तक मनु ने प्राणियों से तप का आचरण करते रहने का आग्रह किया है। मनु तप को सुखों का मूल ही नहीं मानते अपितु उनकी स्थिरता का आधार मानते हुए मनु ने तप को सुख का अन्तिम लक्ष्य माना है।[६०] मनु ने तप को वर्णधर्म का मुख्य आश्रय दर्शाते हुए विविध वर्णानुयायियों के लिए भिन्न-भिन्न तपों का सुनियोजन किया है—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्।।[६१]

मनु ने समस्त औषधियों, आरोग्यताओं, विद्याओं तथा विविध लोकों में स्थितियों को तप द्वारा प्राप्य दर्शाकर जीवन में इसके निर्वाह को सर्वोपरि सिद्ध किया है। उनका विश्वास है कि मनुष्य जो वाचिक, मानसिक अथवा कायिक पाप करते हैं तपस्वी लोग उन्हें तप से ही भस्म कर देते हैं।[६२] ब्राह्मण के लिए जिन छः कर्मों के अनुष्ठान को मोक्षसाधक दर्शाया गया है, वे हैं—वेद का अभ्यास, तप, इन्द्रियसंयम, अहिंसा तथा गुरुसेवा।[६३] मनु ने तप को पापहारक तथा स्वाध्याय को मोक्षसाधक दर्शाते हुए ब्राह्मणों के लिए इनकी अपरिहार्यता सिद्ध की है।[६४] मनु ने तप को पूर्व जन्म के ज्ञान का कारण दर्शाकर सदा सर्वदा स्वाध्याय, शौच, तपस्या तथा अविद्वेष के आचरण का आग्रह प्रस्तुत किया है।[६५] मनुस्मृति में तपोनिदर्शन तप के व्यष्टिगत आचरण को समष्टि के उत्कर्ष का स्रोत सिद्ध करता है। इसमें मनु द्वारा व्यक्त वह आस्था पूर्णरूपेण सिद्ध होती है, जिसके अनुसार

मनुस्मृति का उद्देश्य जनसाधारण के जीवन को आदर्श जीवन की योग्यता से सम्पन्न करना है।

याज्ञवल्क्य ने वानप्रस्थ आश्रमानुयायियों के लिए जिस आचार-संहिता का प्रतिपादन किया है वह सर्वथा मनुस्मृति के अनुकूल है। मनुस्मृति में वानप्रस्थी के लिए जो दैहिक द्वन्द्वसहनशीलता निर्धारित की गई है वही याज्ञवल्क्य ने भी की है। इसने कियद् अंश में उदारता का परिचय देते हुए वानप्रस्थियों के लिए ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि सेवन, वर्षाऋतु में गीली भूमि पर शयन तथा हेमन्त ऋतु में गीले वस्त्र पहनने का अनुरोध तो किया है, परन्तु इसका विकल्प यथाशक्ति तपश्चर्या ही स्वीकार किया है।[६६] वानप्रस्थी के लिए आह्लाद तथा विषादराहित्य को अपेक्षित दर्शाते हुए उनके लिए किसी भी प्रकार की हर्षाभिव्यक्ति अथवा कटु कथन निषिद्ध दर्शाए गए हैं।[६७] उदर द्वन्द्वसहनशीलता की अपरिहार्यता सिद्ध करते हुए वानप्रस्थी के लिए केवल आठ ग्रास अन्न ही सेव्य दर्शाया गया है–**'ग्रामादाहृत्य वा ग्रासानष्टौ भुञ्जीत वाग्यतः।'**[६८] संन्यासी के लिए प्रिय-अप्रिय के प्रति उदासीनता, त्रिदण्डधारण, एकान्तवास तथा लौकिक कर्मसंन्यास का आचरण यथेष्ट दर्शाकर इस आश्रम में तप की महत्ता स्पष्ट करते हुए उसके लिए अन्तःकरण की प्राणायाम द्वारा शुद्धि यथेष्ट मानी गई है।[६९] मनु ने त्रिविध प्राणायाम के आश्रय को तप घोषित किया है। अतः तप का आश्रय यतिधर्म का अंग सिद्ध होता है। याज्ञवल्क्य ने जिन व्रतों के पालन को धर्म घोषित किया है। वे हैं–सत्य, अस्तेय, अक्रोध, विवेक, धैर्य, दम, इन्द्रियसंयम तथा स्वाध्याय।[७०] इन सभी के लिए द्वन्द्वसहनशीलता अपेक्षित है। इस दृष्टि से तप धर्म का मूल सिद्ध होता है। याज्ञवल्क्य ने तप को देव योनि में जन्म का कारण दर्शाकर इसे आजन्म अपरिहार्य दर्शाया है। वस्तुतः याज्ञवल्क्यस्मृति में तपोविषयक निर्देश मनु के विश्वास का समर्थन सिद्ध होते हैं। इन दोनों स्मृतियों का पारस्परिक अभेद यह सिद्ध करता है कि तप सब धर्मों के निर्वाह के लिए परम आवश्यक है। हम निःस्वार्थविषयक कर्म में तब तक समर्थ नहीं हो सकते, जब तक हम तद्विरोधी स्वार्थसमर्थक द्वन्द्वों को सह लेने की योग्यता से युक्त नहीं हो जाते। औशनसस्मृति के अनुसार गुरुसेवा और शौचनिर्वाह ब्रह्मचारी के धर्म माने गए हैं।[७१] मनु ने इन दोनों को तप के आश्रित माना है। अत्रिस्मृति में तप को सभी वर्णानुयायियों का धर्म दर्शाकर मनुप्रतिपादित तपविषयक मान्यताओं को समर्थन दिया गया है।[७२] अत्रिस्मृति में जिन कर्मों को इष्ट घोषित किया गया है, वे हैं–अग्निहोत्र,

तप, स्वाध्याय एवं अतिथिसत्कार।[७३] इसी स्मृति के नियमविवेचन में नियमों की संख्या दस स्वीकार की गई है–

शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः।
व्रतमौनोपयासाश्च नियमा दश।।[७४]

वस्तुतः इस संवर्धन के माध्यम से स्मृतिनिर्दिष्ट-नियमों को सरलता प्रदान करने का प्रयास किया गया है। अन्य आश्रमों के पालन द्वारा गृहस्थ आश्रम में तप को स्वयं विहित दर्शाया गया है। वस्तुतः शंखस्मृतिकार ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का सम्यक् निर्वाह गृहस्थ आश्रम के सहयोग द्वारा ही संभव है। यह आश्रम ही उनके क्षुधा-पिपासा आदि उद्वेगों के उन्मूलन के लिए उत्तरदायी है।[७५] व्यासस्मृति के अनुसार वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन ही तप है।[७६] इसमें उस औपनिषदिक मान्यता को समर्थन दिया गया है जिसमें स्वाध्याय को तप घोषित किया गया है। इस विहंगावलोकन से जो निष्कर्ष निकलता है वह तप को सभी स्मृतिकारों द्वारा समर्थित सिद्ध करता है। विविध साहित्यिक शाखाओं का विवेचन यह सिद्ध करता है कि भारतवर्ष में जीवनविषयक जिन मान्यताओं का सूत्रपात वेदों में हुआ था, वे उत्तरोत्तर संवर्धन और सरलता को प्राप्त होकर प्राणियों के जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ स्वीकार की जाने लगी। जब कभी इन मान्यताओं के ह्रास की आशंका उत्पन्न हुई तब ही हमारे मनीषी इनकी पुनर्स्थापना के लिए कृतसंकल्प हुए।

रामायण में तपःप्रतिष्ठा

स्मार्त साहित्य में जो जीवनविषयक मान्यताएँ धर्मसाधनों, धर्मलक्षणों अथवा धर्मनियमों तथा योगांगों के नाम से प्रतिपादित हुई, वे ही विश्व के आदिकाव्य वाल्मीकिरामायण में मर्यादाओं के रूप में चित्रित हुईं। इनके पालन की अवहेलना को जघन्य दुष्परिणामों से युक्त दर्शाकर महर्षि वाल्मीकि ने जनसाधारण में इनके पालन के संस्कारों को उजागर करने में सफलता प्राप्त की है। वाल्मीकि-रामायण वस्तुतः तपस्या के महत्त्व के स्पष्टीकरण को समर्पित है। इसका समारम्भ तप शब्द से ही होता है। इसका प्रथम श्लोक महर्षि वाल्मीकि द्वारा दिए गए आत्मपरिचय से सम्बद्ध है–

तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम्।।[७७]

तत्पश्चात् वाल्मीकि द्वारा क्रोधवश छिन्नमिथुन कौञ्चघातक व्याध को दिए गए शाप ने उन्हें उद्वेलित कर दिया। इसका कारण उनके द्वारा तपस्वी के लिए उचित मर्यादा का उल्लंघन था। उनका अन्तर्मन चीत्कार कर उठा और उनके भाव यूँ स्वस्फुरित हो उठे–**'शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया।'**[७८] यह पश्चात्ताप उनकी स्थितप्रज्ञता का कारण बना। ब्रह्मा ने उन्हें उनके द्वारा उच्चरित अनुचित शब्दों को श्लोक तक सीमित रहने का आश्वासन दिया। इसमें संकलित विश्वामित्र की घोर तपस्या-सम्बन्धी प्रकरण तपस्या को वर्णोत्थान का कारण सिद्ध करता है। वस्तुतः विश्वामित्र के विविध तपस्या-प्रसंगों के माध्यम से मानवजीवन में तपस्या के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा के द्वारा उनकी तपस्या पर व्यक्त सन्तोष उन्हें ऋषिश्रेष्ठ के पद से विभूषित होने में सहायक सिद्ध होता है। ऋषिश्रेष्ठ पद की प्राप्ति के पश्चात् भी उनके मन में ब्रह्मर्षि के पद हेतु पनपती लालसा का प्रतिरोध करते हुए ब्रह्मा ने उन्हें जितेन्द्रियता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नरत रहने का आग्रह किया था।[७९] राम द्वारा बाल्यकाल में विश्वामित्र की यज्ञरक्षा के लिए प्रस्थान तपस्वियों की रक्षा को क्षत्रिय धर्म घोषित करता है। इसके अतिरिक्त वाल्मीकिरामायण तप के प्रसंगों के बाहुल्य से युक्त सिद्ध होती है। इसमें गंगाजी के आगमन में भगीरथ की अद्‌भुत तपस्या, चूली ऋषि की तपस्या, भृगु की तपस्या तथा तप द्वारा सुखप्राप्ति के प्रसंग जनमानस में तप के आश्रय के प्रति आस्था जगाते हैं। यहाँ तक कि रावण आदि के राज्यसुख, शक्ति तथा आयु का मूल भी तप दर्शाया गया है। इस दृष्टि से वाल्मीकि-रामायण में तप की महत्ता का विशद और व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है। इसे आख्यान शैली के आश्रय में जो व्यावहारिकता उपलब्ध हुई है, उसका श्रेय वाल्मीकि द्वारा आचरित तप को ही जाता है।

महाभारत में तपःसंस्तुति

अन्य यमों तथा नियमों की भाँति महाभारत में तप का भी विशद, व्यापक, सर्वग्राह्य तथा मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन उपलब्ध होता है। व्यास ने इसके समर्थन के लिए समस्त उपलब्ध स्रोतों का सफल प्रयोग किया है। इसमें आद्यन्त तप के आश्रय को मानवजीवन की सार्थकता का स्रोत घोषित किया गया है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि महाभारतकार ने मानवोपयोगी समस्त विषयसामग्री को महाभारत में संकलित करने का

प्रयास किया है। यह इसे परम ज्ञानकोश, परम धर्मकोश तथा आदर्श आचारसंहिता घोषित करता है। इसमें औपनिषदिक, स्मार्त और अन्य श्रौत आख्यानों का पुनरुद्धरण उपलब्ध होता है, जिसका आश्रय विविध प्राणियों के लिए भिन्न-भिन्न धर्मलक्षणों के निर्वाह हेतु भिन्न-भिन्न आदर्शों का नियोजन किया गया है।

आदिपर्व में धौम्य ऋषि तथा उनके शिष्य आरुणि, उपमन्यु, वेद तथा उत्तंक के आख्यान के माध्यम से तपस्या के वैशिष्ट्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है। इन चारों द्वारा निर्वाहित द्वन्द्वसहनशीलता को इनके लिए सर्वलाभदायक सिद्ध किया गया है। आरुणि को गुरु ने क्यारी से बहते हुए जल को रोकने की आज्ञा दी थी। जब वह उसको रोकने में समर्थ न हो सका तो स्वयं उस स्थान पर लेट गया, जहाँ से पानी बह रहा था। जब ऋषि धौम्य को उसका पता चला तो वे उसकी खोज में निकले। उन्होंने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर वरदान दिया कि वह उद्दालक नाम से प्रसिद्ध होगा। इस आख्यान में उद्दालक की ख्याति का मूल आरुणि की तपस्या में निहित दर्शाया गया है। उपमन्यु की द्वन्द्वसहनशीलता की परीक्षा के लिए धौम्य ने उसे उदरविषयक संयम की आज्ञा दी थी। उसका दायित्व गोरक्षा था। उसे जीविकासम्बन्धी कोई आदेश नहीं दिया गया था। पूछे जाने पर उसने बताया कि वह भिक्षा से अपनी जीविका का निर्वाह करता रहा। गुरु ने उसे अपनी आज्ञा के बिना भिक्षा का अन्न ग्रहण करने के लिए न कहा। उसके अनुसार वह पहली बार ली गई भिक्षा को गुरु को देकर दूसरी बार माँगी गई भिक्षा पर अपना निर्वाह करने लगा। धौम्य ने इसे गुरुकुल के नियमों के विरुद्ध बताया। उपमन्यु ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और गौओं का दूध पीकर जीवननिर्वाह करने लगा। गुरु ने इसे भी अनुचित घोषित कर दिया। उपमन्यु बछड़ों द्वारा छोड़े गए फेन पर जीवननिर्वाह करने लगा। धौम्य ने इसे बछड़ों की वृत्ति का लोप घोषित किया। उपमन्यु से इसे छोड़ देने का आग्रह किया। अन्ततः उपमन्यु को उदरपूर्ति के लिए आक के पत्तों का भक्षण करना पड़ा। इनकी उष्णता के परिणामस्वरूप वह दृष्टिहीन हो गया और वह कुएँ में गिर पड़ा। धौम्य ने अश्विनीकुमारों की सहायता से उसे पुनः दृष्टि से युक्त किया। उपमन्यु की गुरुभक्ति से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने उसे मंगलप्राप्ति के वर से सम्पन्न किया। इसी प्रकार वेद ने शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वसहनशीलता के परिणामस्वरूप कल्याण और आरोग्यता प्राप्त की। उत्तंक द्वारा गुरुपत्नी

की आज्ञा के पालन के परिणामस्वरुप उसे उत्तम ज्ञान से सम्पन्न किया।[८०] ब्रह्मचर्य आश्रम में तप के निर्वाह को आगामी जीवन में सुख और सम्पन्नता का स्रोत दर्शाकर व्यास ने इसका उपनिषत्समर्थक महत्त्व स्पष्ट किया है। यह आख्यान ब्रह्मचर्य को मानवजीवन की अग्निपरीक्षा का काल सिद्ध करता है, जो मानवाचार को शुद्ध स्वर्णिम आभा से युक्त करने में समर्थ है। अष्टक तथा ययाति के संवाद में ययाति के पुण्यक्षय का कारण उन मान्यताओं की अवहेलना है जिनका आश्रय लेकर उसने पुण्यसंचय किया था। ययाति के अनुसार पुण्य की प्राप्ति के लिए आक्रोश करने वाले प्राणी पर आक्रोश करना त्याज्य है। उनका मत है कि सहनशील प्राणी का मन्यु ही आक्रोशकारी को जला देता है।[८१] इनके अनुसार वाक्-संयम सर्वोपरि है। ययाति शत्रु को नीच उपायों से वश में लाने के पक्ष में नहीं है।[८२] ययाति ने स्वश्लाघा को पुण्यक्षय का कारण माना है।[८३] उनके अनुसार अहंकार का आश्रय मनुष्य द्वारा अर्जित तपस्या, दान, शम, दम, लज्जा, ऋजुता और सब जीवों पर कृपा के क्षय का कारण बनता है।[८४] ययाति ने महाराज शिवि की लौकिक और पारलौकिक ख्याति का मूल दान, तपस्या, सत्य, धर्म, लज्जा, श्री, सौम्यता और तितिक्षा के आश्रित माना है।[८५] ब्राह्मणों द्वारा निरन्तर द्वन्द्वसहनशीलता के व्यवहार को ब्रह्मतेज का मूल घोषित करते हुए मनुष्य का परम बल तप घोषित किया गया है।[८६] आदिपर्व में तप की प्रशस्ति का उद्देश्य इसे समस्त बाह्य तथा आन्तरिक शक्तियों का मूल सिद्ध करना है। इसे इहलौकिक और पारलौकिक ख्याति का स्रोत दर्शाकर व्यास ने इसकी अभ्युदय और निःश्रेयसविषयक आवश्यकता स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

आरण्यकपर्व में तप की महत्ता विविध आश्रयों के उल्लेख के माध्यम से स्पष्ट की गई है। वस्तुतः मानसिक संताप को दैहिक परिताप का कारण माना गया है। तदनुसार ही मनुष्य से आग्रह किया गया है कि वह आसक्तिजन्य द्वन्द्वों को सहकर अनासक्ति का आश्रय लेने का प्रयास करे। अनासक्ति मानसिक दुःख को उसी प्रकार शान्त कर देती है जैसे अग्नि जल को।[८७] व्यास ने गृहस्थाचार की व्याख्या करते हुए अन्य आश्रमों की सेवा, अतिथिसत्कार तथा उदरविषयक द्वन्द्वसहनशीलता को गृहस्थियों का तप घोषित करके गृहस्थाश्रम-धर्म का अक्षरशः अनुमोदन किया है।[८८] व्यास ने जिन आठ गुणों के आश्रय को धर्म का मार्ग दर्शाया है, वे हैं—यज्ञ, स्वाध्याय, दान, तपस्या, सत्य आचरण, क्षमा, दया, इन्द्रियदमन तथा अलोभ।

इनमें से प्रथम चार को पितृलोक मार्ग पर ले जाने वाले दर्शाया गया है। इससे पूर्व ऋग्वेद में तप द्वारा पितृलोक की प्राप्ति सुलभ दर्शायी गयी है।[८९] सर्प तथा युधिष्ठिर के संवाद में मनुष्य की श्रेष्ठता का कारण उत्तम जाति या कुल में उत्पत्ति नहीं स्वीकार की गई, अपितु उन संयमों के पालन में निहित दर्शाया गया है जो मनुष्य की श्रेष्ठता के चिह्न स्वीकार किए गए हैं। वे हैं—सत्य, दम, जितेन्द्रियता, तप, दान, अहिंसा और धर्म का सदा सर्वदा पालन—

सत्यं दमस्तपो योगमहिंसा दाननित्यता।
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप।।[९०]

भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्माचरण को राज्यप्राप्ति से श्रेयस्कर सिद्ध करते हुए तप को धर्म का मूल कारण दर्शाया है।[९१] उनके अनुसार युधिष्ठिर की बुद्धि दान, सत्य, तप, श्रद्धा, शान्ति, क्षमा और धैर्य की ओर अधिक है।[९२] व्यास ने महाभारत में जिस युधिष्ठिर के पुनः पुनः पृथ्वी पर आगमन को श्रेयस्कर सिद्ध करते हुए महाभारत की रचना की है, उसका उपरिलिखित गुणों से सम्पन्न होना अपेक्षित है। धर्मपालन द्वन्द्वसहनशीलता द्वारा ही संभव है। अतः तप का पालन सर्वोपरि है। सब से उत्तम लक्षणों का विवेचन करते हुए व्यास ने शुभ योनि में जन्म को उत्तमत्ता का कारण न मानते हुए जिन लक्षणों के योग को श्रेष्ठता का आधारतत्त्व घोषित किया है, वे है—स्वाध्याय, तप, व्रत, गुरुपूजा, सत्य, शील, क्षमा तथा दान।[९३] श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवाद में तप को पारलौकिक सुख का स्रोत घोषित किया गया है।[९४] जो दुर्वृत्तियाँ इहलोक और परलोक में सुख के क्षय का कारण बनती है, उनका सेवन दुर्भाग्य घोषित किया गया है। वे हैं—अविद्या, अतप, अदान और संतति-वृद्धि में निरोध—

ये नैव विद्यां न तपो न दान न चापि मूढाः प्रजने यतन्ते।
न चाधिगच्छन्ति सुखान्यभाग्यास्तेषामयं चैव परश्च नास्ति।।[९५]

किसी भी सत्य की सिद्धि के लिए उसके पालन द्वारा संभव श्रेष्ठ लाभ का वर्णन तथा उससे निवृत्तिजन्य भयावह दुष्परिणामों का विवेचन वह मनोवैज्ञानिक विधि है जो प्राणियों में उसके सदा-सर्वदा निर्वाह को स्वाभाविक बना देती है। जब किसी सत्कर्म का पालन तथा सद्गुण का आश्रय किसी समाज का स्वभाव बन जाता है तब वह सत्कर्म अथवा सद्गुण परम्परा में परिणत हो जाता है। व्यास ने तप, दान, सत्य और अहिंसा को ईश्वर के

शरीर में स्थित दर्शाकर[९६] उन्हीं औपनिषदिक तथा स्मार्त मान्यताओं का अनुमोदन किया है जिनके अनुसार विश्व ईश्वर द्वारा किए गए तप का परिणाम सिद्ध होता है। धर्मव्याध द्वारा विषयविषयक द्वन्द्वसहनशीलता को सत्य का सार घोषित कराया गया है। यह मान्यता तप को सत्य का मूल घोषित करती है।[९७] क्रोधराहित्य, परनिन्दाराहित्य, अभिमानराहित्य तथा ईर्ष्याराहित्य को शिष्टाचार के अंग दर्शाकर तद्विषयक द्वन्द्वसहनशीलता की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[९८] इससे अभिप्राय तप को शिष्टाचार का अंग सिद्ध करना है। यक्ष तथा युधिष्ठिर के संवाद में उपलब्ध धर्मचर्चा के अन्तर्गत त्याग को सर्वप्रियता, शोकराहित्य, धनप्राप्ति तथा सुख का मूल दर्शाते हुए अभिमान के त्याग को सर्वप्रिय्रता का साधक, क्रोध के त्याग को शोकराहित्य से युक्त दर्शाकर काम के त्याग को सम्पन्नता का मूल सिद्ध करके लोभ के त्याग को सुख का स्रोत दर्शाया गया है।[९९] इन सभी त्यागों के लिए जो द्वन्द्वसहनशीलता अनिवार्य है, वह तप द्वारा ही संभव है। परोक्षतः इस संवाद में तप को त्याग का मूल और त्याग को सर्वविध सुखप्राप्ति का साधन दर्शाया गया है। युधिष्ठिर द्वारा यक्षरूपी धर्म से तप के निर्वाह में योग्यता की आकांक्षा तप को धर्म का मूल घोषित करती हैं। वस्तुतः आरण्यकपर्व में मनीषियों द्वारा किया गया तप का समर्थन इसकी अपरिहार्यता की सिद्धि की ओर निर्दिष्ट है। किसी भी अपेक्षा को सर्वग्राह्यता प्रदान करने के लिए अनुभवी व्यक्तियों द्वारा उसकी महत्ता की प्रशस्ति स्वाभाविक स्वीकार की जाती है। व्यास ने सर्वत्र इसी का आश्रय लिया है। तदनुसार ही उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि महाभारत में उन्हीं विषयों की चर्चा उपलब्ध है, जो अन्यत्र विद्यमान है। उनका उद्देश्य उन्हीं सनातन मान्यताओं को अपेक्षित सिद्ध करना था जो पूर्वकाल में मनुष्यों की इहलौकिक सम्पन्नता और पारलौकिक सुख का मूल मानी गई थी।

उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र के पुत्रमोह के परिहार के लिए संजय द्वारा अपनायी गयी स्पष्टवादिता धृतराष्ट्र को भावी विनाश से अवगत कराती हुई उसके मानसिक विषाद का कारण बनती है। धृतराष्ट्र उसके उन्मूलन के लिए विदुर का आश्रय लेने का निश्चय करते हैं। उनके विषाद का कारण युधिष्ठिर की बात की अनभिज्ञता है।[१००] विदुर द्वारा दिया गया नीति-उपदेश उद्योगपर्व का विशिष्ट अंग सिद्ध होता है। इसके अनुसार समस्त द्वन्द्वों को सहर्ष सहन कर लेना ही पाण्डित्य है।[१०१] इस माध्यम से तप को पाण्डित्य का आधारतत्त्व दर्शाया गया है। उद्योगपर्व में माता-पिता, अग्नि, आत्मा और

गुरु आदि पंच अग्नियों का सेवन यथेष्ट माना गया है।[१०२] स्मार्त धर्म में मातािा-पिता और गुरु की सेवा को तप स्वीकार किया गया है। इस माध्यम से श्रेष्ठताप्राप्ति के लिए तप का आश्रय अपेक्षित स्वीकार किया गया है। शुद्ध यज्ञ की प्राप्ति देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि की पूजा में निहित दर्शायी गयी है। शंखस्मृति में इनको गृहस्थ आश्रम का तप घोषित किया गया है।[१०३] विदुर ने दूसरों के सामने निज पराक्रमश्लाघा, क्रोधजन्य कटु वचन के निषेध को सर्वप्रियता का कारण दर्शाया है। वस्तुतः इससे अभिप्राय भी तद्विषयक तप को समर्थन देना है।[१०४] कठोपनिषद् की भाँति उद्योगपर्व में भी रथ के रूपक के माध्यम से संसारपथ का सुखपूर्वक अतिक्रमण समस्त द्वन्द्वों की सहनशीलता में निहित दर्शाया गया है।[१०५] विदुर के अनुसार प्राणी के लिए शिश्न तथा उदरजन्य वेगों की धैर्यपूर्वक रक्षा उचित मानी गई है।[१०६] वस्तुतः इस माध्यम से भी तप के आश्रय को यथेष्ट दर्शाया गया है। सनत्सुजात ने ब्रह्मचर्य के सतत पालन को मृत्युञ्जयता का स्रोत दर्शाया है। ब्रह्मचर्य का पालन तप के आश्रय के बिना संभव नहीं। अतः इस उक्ति में ब्रह्मचर्यविषयक तप की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[१०७] कामनाओं के अनुगमन को मनुष्य के नाश का कारण स्वीकार किया गया है जबकि इनसे निवृत्ति को आवागमन से मुक्ति का स्रोत।[१०८] सनत्सुजात ने तपस्या के सकाम भाव तथा निष्काम भाव के आधार पर सकाम तपस्या को परलोकसाधक सिद्ध किया है तथा निष्काम तपस्या को मोक्षदायक।[१०९] सनत्सुजात के तपस्याविवेचन के अनुसार तपस्या में बाधक दुर्वृत्तियाँ तपस्या के बारह दोष हैं। तपस्या का संभाव्य इनके सर्वथा परिहार में ही निहित है। ये दोष हैं–काम, क्रोध, लोभ, मोह, वाद-विवाद में प्रवृत्ति, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा और ईर्ष्या।[११०] सनत्सुजात ने इन सभी को त्याज्य दर्शाया है। इसके लिए जिन महाव्रतों का आश्रय उचित दर्शाया गया है, वे हैं–धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, तप, अमात्सर्य, लज्जा, सहनशीलता, अदोषदृष्टि, यज्ञ, दान, धैर्य तथा स्वाध्याय।[१११] सनत्सुजात के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति द्वन्द्वसहनशीलता के आश्रय के बिना असंभव है। इसके लिए समस्त कामनाओं पर विजय आवश्यक है।[११२] इस कथन में औपनिषदिक पूर्णकाम अवस्था की प्राप्ति का अनुरणन उपलब्ध होता है। ब्रह्मचारी द्वारा लिए गए तपस्या के आश्रय को मृत्युञ्जयता का स्रोत दर्शाकर इस आश्रम में तपोविषयक नियम के पालन का समर्थन किया गया है।[११३] उद्योगपर्व का मुख्य विषय भले ही संधिप्रयास तथा सैन्यसंग्रह है तो भी इसमें उपलब्ध

धर्मतत्त्व का विवेचन व्यास की धर्म को सर्वोपरि आश्रय सिद्ध करने की कामना से युक्त है।

भीष्मपर्व में धर्मनिरूपण श्रीकृष्णार्जुन उपदेश के माध्यम से हुआ है। भीष्मपर्व का यह अंश औपनिषदिक तत्त्वज्ञान के सरलीकरण को समर्पित है। तदनुसार ही गीता गीतोपनिषद् के नाम से विख्यात है। इसमें मनुष्य की इहलौकिक सम्पन्नता और पारलौकिक सद्गति कामनाओं के त्याग में सुलभ दर्शायी गयी है। विवेकानन्द ने त्याग को गीता की सर्वोत्कृष्ट शिक्षा स्वीकार किया है। भीष्मपर्व में भगवान् श्रीकृष्ण को यज्ञ और तपस्या का भोक्ता दर्शाकर जनसाधारण में इसके आश्रय के संस्कार जगाए गए हैं।[११४] श्रीकृष्ण के विभूतिवर्णन में उन्हें पृथ्वी में गन्ध, अग्नि में तेज, समस्त प्राणियों की जीवनशक्ति और तपस्वियों का तप दर्शाया गया है। वस्तुतः तप को तपस्वियों की ब्रह्मरूपप्राप्ति का मूल सिद्ध किया गया है।[११५] ईश्वरानुभूति के लिए आवश्यक वेद (स्वाध्याय), यज्ञ, तप और दान का ईश्वरप्रणिधान ही परम रूप की प्राप्ति का साधन दर्शाया गया है।[११६] श्रीकृष्ण ने अहिंसा, समता, तुष्टि, तपस्या, दान, यश, अपयश को स्वयं से प्रादुर्भूत दर्शाकर तद्विषयक औपनिषदिक और स्मार्त मान्यताओं को समर्थन दिया है।[११७] विराट् रूप के दर्शन के लिए ईश्वर-प्रणिधान को सर्वोपरि सिद्ध करते हुए ईश्वर-प्रणिधान के समर्थक तप को ईश्वर-प्रणिधान का स्रोत दर्शाया गया है।[११८] इहलौकिक सुखों में अनासक्ति, अनन्य योग से भक्ति, एकान्तवास तथा अध्यात्म ज्ञान में निष्ठा को ज्ञान दर्शाकर तप को ज्ञान का स्रोत दर्शाया गया है।[११९] अभिमानराहित्य को दैवी सम्पत्ति दर्शाकर इसकी प्राप्ति के लिए तप के आश्रय का परोक्ष आग्रह किया गया है।[१२०] तप की दैहिक, मानसिक और वाचिक व्याख्या के अन्तर्गत देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा ज्ञानियों की पूजा, पवित्रता, सरलता और अहिंसा के अनुष्ठान को शारीरिक तप घोषित किया गया है।[१२१] जो वचन किसी को उद्वेग देने वाले न हों तथा सत्ययुक्त, प्रिय एवं हितकारी हों उसी का कथन, स्वाध्याय का आश्रय तथा अपने कर्म के अभ्यास को वाचिक तप माना गया है। मानसिक प्रसन्नता, निष्ठुरताराहित्य, समभाव के आश्रय, विषयनिवृत्ति तथा व्यवहारविषयक छलराहित्य को मानसिक तप सिद्ध किया गया है। इन तीनों प्रकार की तपस्याओं का निष्काम योग से युक्त होना तथा श्रद्धापूर्वक आचरण ही सात्त्विक तपस्या दर्शाया गया है।[१२२] स्व प्रशस्ति के लिए दम्भपूर्वक की गई तपस्या को राजसी तप कहा गया है। इसे स्थिर नहीं माना गया। जबकि

ज्ञान और हठ का आश्रय लेकर अपने शरीर और इन्द्रियों को दुःख देते हुए दूसरों की पीड़ा हेतु की गई तपस्या तामसिक घोषित की गई है।[१२३] ब्राह्मण के प्रणवोच्चारण से युक्त दान और तपस्या को प्रशस्त कर्म दर्शाकर प्राणियों में तपस्या का आश्रय लेने के संस्कार जगाए गए हैं।[१२४] भगवान् श्रीकृष्ण ने सद् यज्ञ, सद् दान एवं सद् तपस्या के पालन के लिए सद्भाव के आश्रय को अपेक्षित माना है। असद् यज्ञ, असद् दान तथा असद् तपस्या को इस लोक और परलोक में फलरहित दर्शाकर तपस्या के लिए सत् का आश्रय आवश्यक घोषित किया है।[१२५] भीष्मपर्व में त्याज्य और अत्याज्य कर्मों के विवेचन के अन्तर्गत यज्ञ, दान और तपस्या को अत्याज्य घोषित किया गया है।[१२६] इसकी औचित्यसिद्धि के लिए यज्ञ, दान और तप को विवेकी पुरुषों की पवित्रता का कारण बताया गया है।[१२७] इस माध्यम से तपोविषयक स्मार्त मान्यताओं का अनुमोदन किया गया है। स्मृतिकारों ने भी तप को मनुष्य की चित्तशुद्धि का स्रोत दर्शाया है। भीष्मपर्व का श्रीकृष्ण-अर्जुन-उपदेश अंश स्वतन्त्र रूप से मोक्षशास्त्र सिद्ध होता है। इसमें औपनिषदिक तत्त्वज्ञान को सहज, सरल और सर्वग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया है। प्रत्यक्षतः इसकी रचना का उद्देश्य धर्मभीरु अर्जुन को धर्म के लिए प्रेरित करना है। तो भी यह उन सभी साधनों से सम्पन्न है जो जनसाधारण के संशयविमोचन में सक्षम है।

शान्तिपर्व में युधिष्ठिर के युद्धजन्यविषाद के परिहार के लिए जो परम आश्रय अपनाया गया है, वह भीष्म द्वारा किया गया विविध धर्मों का विवेचन है। भीष्म विवेकज ज्ञान से सर्वथा युक्त थे। वे तप, धर्म तथा सदाचार की मूर्ति थे। उनकी श्लाघा करते हुए व्यास ने उन्हें शरशय्या पर निरापद् लेटे हुए दर्शाया है। वे श्रद्धा, दम और शम से युक्त बहुत से तपस्वी महात्माओं से घिरकर उसी प्रकार शोभित हुए, जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा शोभित होते हैं।[१२८] भीष्म तथा युधिष्ठिर के संवाद का समारम्भ राजधर्म सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों से होता है। भीष्म ने युधिष्ठिर को संशयरहित होकर राज्यसंचालन के लिए धर्म और व्यवहार के अनुसार यथानियम प्रजापालन का परामर्श दिया है।[१२९] यह समस्त यम-नियमों के निर्वाह को राजधर्म का अंग घोषित करता है। राजा के लिए अज्ञान का आश्रय त्याज्य दर्शाया गया है। अज्ञान से अभिप्राय मनुष्य में राग-द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, विषयासक्ति, वैर, मात्सर्य और पापकर्म में प्रवृत्ति का उदय है।[१३०] इसका परिहार ज्ञान के आश्रय में निहित है। इन समस्त

दोषों का निवारण इनसे उत्पन्न द्वन्द्वों की सहनशीलता पर निर्भर करता है। इस कथन में तप को ज्ञान का मूल दर्शाने का परोक्ष प्रयत्न किया गया है। विज्ञान का अवलम्बन करके धर्म की जो विधियाँ बताई गई हैं वे हैं–इन्द्रियनिग्रह, दान, यज्ञ, स्वाध्याय क्षमा, धैर्य, अहिंसा, सब जीवों के प्रति समभाव, सत्य, सरलता, दक्षता, कोमलता, लज्जा, अचापल्य, अक्रोध, सन्तोष, प्रियवादिता, अदोषदृष्टि तथा असूयाहीनता। इनके पालन के लिए वांछित संयम ही तप है।[१३१] मनुष्य को ब्रह्मा के तप का परिणाम दर्शाकर उन्हें मनुष्य की हृदय रूपी गुफा में स्थित स्वीकार किया गया है और उनकी उपलब्धि जितेन्द्रियता में ही निहित दर्शायी गयी है। संयमरूप तप के आचरण को संन्यास स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जिस स्थान में संयमी निवास करता है वह वन और आश्रम के सदृश हुआ करता है–

दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत।
यत्रैव हि वसेद्दान्तस्तदरण्यं स आश्रमः।।[१३२]

भीष्म ने तप को जगत् का मूल कारण मानते हुए कहा है कि जो मूढ तपस्या नहीं करता, वह कभी कर्मफल नहीं प्राप्त करता। उनके अनुसार यह दृश्यमान जगत् प्रजापति के तप का परिणाम है। ऋषियों द्वारा वेदों की प्राप्ति भी तप द्वारा ही संभव हो पाई है। उन्होंने उपनिषदों की भाँति समस्त अन्नों को तपस्या से उत्पन्न स्वीकार किया है तथा योगियों की त्रिलोकदर्शन से युक्त परम दृष्टि भी तप के प्रभाव द्वारा ही संभव मानी है। उनके अनुसार समस्त रोगनाशक औषधियाँ, आरण्य तथा त्रिविद्या का उपार्जन तपस्या द्वारा ही संभव है। उन्होंने तप को सब साधनों का मूल दर्शाया है। उनके अनुसार संसार के सभी दुर्जय, दुःसाध्य और दुःसह्य कर्म तपस्या द्वारा सुलभ हैं। वे तप को प्राणियों का परम बल स्वीकार करते हैं। उन्होंने तपस्या को समस्त पापों का हरण करने वाली घोषित करते हुए इसे मद्यपान, स्तेय, भ्रूणहत्या तथा गुरुस्त्रीगमन जैसे पापों से निवृत्ति का साधन दर्शाया है। उनके अनुसार तपस्या अनेक रूपा है। वे विषयासक्ति से निवृत्ति तथा अनशन को सर्वोपरि तप मानते हैं। उनके अनुसार तप अहिंसा, सत्य वचन, दान और जितेन्द्रियता से बढ़कर है तथा उपवास श्रेष्ठतम तप है। उन्होंने तप को ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, मृगश्रेष्ठ तथा अन्य स्थावर एवं जंगम जीवों की सिद्धि का मूल स्वीकार किया है। उनके अनुसार तप का आश्रय सर्वोपरि है। यह मात्र अभीष्ट फलसाधक ही नहीं, देवत्व की

प्राप्ति की योग्यता से भी युक्त है–

इमानीष्टविभागानि फलानि तपसा सदा।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात्।।[१३३]

व्यास ने धर्म को परम आश्रय मानते हुए कहा है कि धर्म सर्वोपरि है, अर्थ मध्यम है तथा काम कनिष्ठ है। इस दृष्टि से धर्मोपार्जन को मानवजीवन में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त होना यथेष्ट है।[१३४] मोक्षधर्म वर्णन के अनुसार वचन, मन, तपस्या, त्याग तथा योग की परब्रह्म से परिणति ही अभीष्ट की प्राप्ति है।[१३५] मंकि गीता में औपनिषदिक मान्यताओं का समर्थन करते हुए कहा गया है कि मनुष्य कामनाओं के जिस-जिस अंश का परित्याग करता है, उसी ओर से सुखी होता है।[१३६] मंकि आख्यान में मंकि के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति उसकी पूर्णकाम अवस्था की प्राप्ति में निहित दर्शायी गयी है।[१३७] मानवजीवन में तपस्या को अपरिहार्य दर्शाते हुए कहा गया है कि समस्त कार्यों और कामनाओं की मूल बुद्धि तथा इन्द्रियाँ हैं। यदि इनको पिंजरे में बद्ध पक्षियों की तरह शरीर के बीच रोककर रखा जाए तो प्राणी समस्त भयों से मुक्त हो जाता है।[१३८] व्यास ने तप की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार वस्त्र का मल क्षार के आश्रय से साफ हो जाता है, उसी प्रकार विषयों के परित्याग का निबन्धन तथा उपवासपूर्वक तपस्या से लोगों का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। उनके अनुसार तपोवन में बहुत समय तक की गई तपस्या तथा धर्म के बल से पापनिवृत्ति के परिणामस्वरूप मनुष्य के समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं।[१३९] इस कथन में तप को मानसिक शौच का साधन दर्शाकर व्यास ने मनु तथा याज्ञवल्कीय मान्यताओं का अनुमोदन किया है। व्यास ने उदरम्भरिता, कर्मासक्ति, स्वाध्यायराहित्य, अशौच तथा अनाचार को शूद्र-वृत्ति घोषित किया है।[१४०] वस्तुतः इससे अभिप्राय मानवजीवन में तप के निर्वाह की श्रेष्ठतासिद्धि है। व्यास के परामर्श के अनुसार प्राणी को सावधान होकर क्रोध से तपस्या, मात्सर्य से धनसम्पत्ति, मान तथा अपमान से विद्या एवं प्रमाद से आत्मा की रक्षा करनी उचित है–

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेत मत्सरात्।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः।।[१४१]

भृगु द्वारा किए गए ब्राह्मणधर्म के विवेचन में त्यागशील और बुद्धिमान् ब्राह्मण के लिए तपस्या में रति, जितेन्द्रियता, मौन व्रत का अवलम्बन,

संयतेन्द्रियता, कामसंयम तथा आसक्ति से रहित रहना अपेक्षित है।[१४२] वानप्रस्थी के लिए शीतोष्ण सहन को यथेष्ट दर्शाकर भृगु ने तपसम्बन्धी मनु एवं याज्ञवल्कीय मर्यादाओं का अनुमोदन किया है।[१४३] सावित्री-जापक-संवाद में एकाग्रचित होकर तप करने को धर्मसिद्धि का स्रोत घोषित किया गया है।[१४४] जापक द्वारा निष्ठापूर्वक किए गए तप को समस्त सिद्धियों का कारण दर्शाकर मोक्षलाभ के लिए तप की अपेक्षा सिद्ध की गई है। महाभारत में परमात्मा का साक्षात्कार समस्त इन्द्रियों के अन्तर्मुखी होने पर ही संभव दर्शाया गया है। इसके लिए तप अपरिहार्य है। निर्गुण ईश्वरोपलब्धि बाह्य मार्ग के अनुसरण द्वारा असंभव दर्शायी गयी है। इसके लिए तपस्या का आश्रय आवश्यक घोषित किया गया है।[१४५] प्राणियों के लिए जिन कर्मों का सेवन वांछित माना गया है, वे हैं–सत्य, शौच, सरलता, वैराग्य, अध्ययनजनित यश, मन को जीतने में पराक्रम, सन्तोष, क्षमा, धैर्य बुद्धि, मन तथा तपस्या।[१४६] बलि के राज्य में लक्ष्मी का निवास बलि द्वारा आचरित सत्य, दान, व्रत, तपस्या, पराक्रम तथा धर्माचरण के कारण संभव दर्शाया गया है।[१४७] इस माध्यम से तप को सम्पन्नता का स्रोत दर्शाकर प्राणियों में उसके आचरण के संस्कार जगाए गए हैं। धुरन्धर पुरुष का लक्षण-विवेचन करते हुए उसी प्राणी को धुरन्धर माना गया है जो सर्वविध द्वन्द्वसहनशील हो।[१४८] भीष्म ने उन्हीं लोगों को ब्रह्मधाम के लाभ के अधिकारी माना है जो सदा सर्वदा मोक्षधर्म के पालन में रत, अल्पाहारी तथा जितेन्द्रिय हैं।[१४९] इसकी पुष्टि असितदेवल तथा जैगीषव्य संवाद के माध्यम से की गई है। इसके अनुसार मनीषियों के लिए निन्दा-स्तुति में समभाव, पुण्य कर्मों का गोपन, पर अहित से निवृत्ति, शोक-विषाद से रहित रहना, क्रोधराहित्य, जितेन्द्रियता, ईर्ष्या तथा हिंसा से रहित रहना, अनासक्ति का आश्रय यथेष्ट दर्शाया गया है।[१५०] व्यास ने उत्तम महत् तपस्या, विद्या की पारदर्शिता तथा यज्ञ और दान को ब्राह्मणों की यशबुद्धि का मूल माना है।[१५१] योगवर्णन में जिन पाँच दुर्वृत्तियों को योगदोष कहा गया है, वे हैं–काम, क्रोध, लोभ, भय तथा स्वप्न। इनके परिहार के लिए शम, संकल्पत्याग, बुद्धि-अनुशीलन और सत्त्व गुण के सेवन को यथेष्ट दर्शाकर तप को योगसिद्धि का मूल दर्शाया गया है।[१५२] योगी के लिए समदृष्टि, सन्तोष, पापराहित्य, तेजस्विता, अल्पाहार, जितेन्द्रियता तथा काम-क्रोध पर विजय को अपरिहार्य दर्शाकर योगाभ्यास के लिए तप का आचरण आवश्यक दर्शाया गया है।[१५३] व्यास तथा शुक के संवाद में आश्रमधर्म के विवेचन के अन्तर्गत तद्विषयक स्मार्त मान्यताओं

का अनुमोदन उपलब्ध होता है।[१५४] इसमें ब्रह्मचारी के लिए शास्त्रोचित नियमों का पालन उचित दर्शाया गया है जो ब्रह्मचर्य आश्रम में तप के आचरण की स्वाभाविकता को सिद्ध करता है।[१५५] गृहस्थ आश्रमी के लिए भी स्मृतियों में प्रतिपादित गृहस्थाचार को यथेष्ट दर्शाया गया है। उसके लिए अल्पाहारी एवं अमृतभोजी होना अनिवार्य है। अन्य आश्रमवासियों का पालन उनका दायित्व माना गया है।[१५६] शंख ने गृहस्थाचार को गृहस्थ का तप दर्शाया है।[१५७] व्यास ने वानप्रस्थियों के लिए स्मार्त साहित्य द्वारा प्रतिादित पाँच नियमों का पालन अपेक्षित दर्शाकर तप को वानप्रस्थ आश्रम का अंग घोषित किया है–

यमेषु चैवात्मगतेषु न व्यथेत्स्वशास्त्रसूत्राहुतिमन्त्रविक्रमः।
भवेद्यथेष्टा गतिरात्मयाजिनो न संशयो धर्मपरे जितेन्द्रिये।।[१५८]

व्यास ने मन और इन्द्रियों की एकाग्रता की साधना को ही परम तप घोषित किया है।[१५९] उनके अनुसार सत्य, दम, दान, तपस्या, त्याग एवं शम सत्त्व गुण हैं। यह उक्ति तप को सर्वग्राह्यता प्रदान करने के प्रयत्न से अनुप्रेरित है।[१६०] व्यास ने प्राणियों से जिस कामतरु के उच्छेदन को मानवजीवन का लक्ष्य घोषित किया है, वह पूर्णत्व में बाधक दुर्वृत्तियों का समूह है। इसके उच्छेदन के लिए क्रोध, अभिमान, विवित्सा, अज्ञान, प्रमाद, असूया, पूर्वकृत दुष्कर्म, संमोह, चिन्ता, शोक, भय तथा लोभ का परिहार अपेक्षित माना गया है।[१६१] यह सब तप द्वारा ही संभव है। गृहस्थ धर्म को सर्वोप्परि दर्शाते हुए कहा गया है कि गार्हस्थ्य सुख हेतु की गई समस्त चेष्टाओं का मूल है। यह ही यज्ञ है और यह ही तपस्या है–

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते।।[१६२]

व्यास ने वाणी, मन, क्रोध, तृष्णा, उदर और उपस्थ आदि इन्द्रियों के प्रबल वेग की सहनशीलता को मुनिवत् आचरण दर्शाया है।[१६३] तप को मुनिधर्म घोषित करके सामान्य प्राणियों में इसके पालन के संस्कार जगाने का प्रयास किया गया है। व्यास के अनुसार मनसा, वाचा, असद् मार्ग से निवृत्ति ही स्वाध्याय, तपस्या और त्याग की प्राप्ति का मूल है।[१६४] याज्ञवल्कीय ज्ञान की सिद्धि तपस्यापूर्वक सूर्यदेव की उपासना का परिणाम दर्शायी गयी है।[१६५] शान्तिपर्व में तपोविषयक विवेचन के अनुसार तप पुरुषार्थ साधक भी है और परमार्थ लाभदायक भी है। यह प्रवृत्तिधर्मलक्षण भी है और योगांग

भी। इसका आश्रय कर्म, भक्ति तथा ज्ञानयोग की साधना के लिए सर्वथा अपेक्षित है। मनुष्य का पूर्णत्व स्व के केन्द्र के निस्व में विसर्जन पर आश्रित है। यह विसर्जन तब तक संभव नहीं, जब तक मनुष्य उन समस्त द्वन्द्वों को सहन करने में सक्षम नहीं हो जाता, जो उसके पूर्णत्व की प्राप्ति के पथ में बाधक है। तदनुसार ही इसके आश्रय को सर्वत्र अपरिहार्य सिद्ध किया गया है। इसकी प्राप्ति उन्हीं साधनों के द्वारा संभव दर्शायी गयी है जो श्रौत और स्मार्त साहित्य में पूर्वप्रतिपादित है।

अनुशासनपर्व का मुख्य विषय दानधर्म वर्णन है। इसमें स्तेयजन्य हीन योनि का वर्णन भी उपलब्ध होता है। श्राद्धप्रकरण भी इसका एक अंग है। इसमें उपलब्ध तपस्यासमर्थक मान्यताओं के अन्तर्गत तपस्यायुक्त मनुष्य को दान का पात्र घोषित करके प्राणियों में तपस्या के प्रति आस्था के संस्कार जगाए गए हैं। भीष्म के अनुसार दान और सम्मान का पात्र होने के लिए मनुष्य द्वारा अक्रोध, सत्य वचन, अहिंसा, इन्द्रियसंयम, सरलता, अद्रोह, अभिमानराहित्य, लज्जा, सहनशीलता, तपस्या तथा मनोनिग्रह का निर्वाह परम आवश्यक है।[१६६] देवशर्मा-विपुल-आख्यान में तपस्या को चरित्ररक्षण का साधन दर्शाया गया है। उन्होंने देवशर्मा की पत्नी रुचि के शरीर में तपोबल द्वारा प्रवेश प्राप्त करके उसकी कामसंकल्प की पूर्ति को निष्फल बना दिया था। किन्तु गुरु को इसके बारे में न बताकर उसने जो मिथ्याचरण किया था उसके लिए उसको पाप का भागी बनना पड़ा।[१६७] भीष्म के अनुसार अर्धमास अथवा एक महीने का उपवास तपस्या नहीं है। अपने शरीर और कुटुम्ब को कष्ट देकर उपवास करने की वृत्ति को भीष्म तपस्वी वृत्ति नहीं मानते। उनके अनुसार त्याग ही श्रेष्ठ तपस्या है। इसमें उपवास एवं ब्रह्मचर्य का वहन स्वयं हो जाता है।[१६८] गृहस्थी की तपस्या विघसाशन (देवताओं, पितरों, भृत्यों और अतिथियों से रोष बचे हुए भोजन का ग्रहण) ही मानी गई है।[१६९] जमदग्नि ने प्रतिग्रह के विषय में संयम को तपस्या का रक्षक दर्शाकर लोभ को तपस्यारूपी धन का नाशक घोषित किया है।[१७०] श्रीकृष्ण तथा पृथिवी के संवाद में गृहस्थियों के लिए जिस वैश्वदेव आचार को अपेक्षित दर्शाया है, वह भी विघसाशन की ही व्याख्या सिद्ध होता है। ये दोनों उद्धरण गृहस्थाचारियों द्वारा उदरसंयम एवं सहर्ष दानजन्य द्वन्द्वसहनशीलता को गृहस्थी का तप सिद्ध करते हैं।[१७१] भीष्म के अनुसार माता-पिता और गुरु की आज्ञा मानना उचित है। उसमें विचार करना अनुचित है।[१७२] भीष्म द्वारा किया गया यह परामर्श मनुस्मृति के उस

निर्देश का अक्षरशः अनुमोदन करता है जिसके अनुसार माता-पिता और गुरु की आज्ञा का पालन ब्रह्मचारी के लिए उचित तप है। तिर्यक् योनि विधान में विविध दुष्कृत्यों के लिए विविध तिर्यक् योनियों में जन्म लेने की चर्चा के माध्यम से प्राणियों में कामनाओं को संयत करने के लिए द्वन्द्वसहनशीलता को अपरिहार्य माना गया है। इनका मूल लोभ, मोह और भय में निहित दर्शाया गया है।[१७३] भीष्म का मत है कि दान-अदान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय करने से मनुष्य को जैसे हर्ष तथा शोक का अनुभव होता है उसी प्रकार दूसरों के लिए भी समझे।[१७४] इसमें दूसरों का अप्रिय करने, दूसरों को दुःख देने का प्रयास न करने तथा दान देने के लिए उचित द्वन्द्वों को सहन करना ही मनुष्य के चरित्र का मूल स्वीकार किया गया है और यह तप द्वारा ही संभव है। उमा-महेश्वर-संवाद में राजा के लिए इन्द्रियदमन, स्वशाखोक्त वेदपाठ, अग्निहोत्र, दान और अध्ययन को अपेक्षित दर्शाकर राजा द्वारा तप का आचरण आवश्यक दर्शाया गया है।[१७५] इससे पूर्व इसी संवाद में गृहस्थियों के लिए विघसाशी होना अपेक्षित दर्शाया गया है।[१७६] महेश्वर द्वारा वर्णाश्रम धर्मविवेचन के अन्तर्गत गृहस्थी के लिए मानसिक शौच, असूयाराहित्य, दान, ब्राह्मणसम्मान, अभिमानराहित्य, सरलतायोग, स्निग्धवचन कथन तथा अतिथि के प्रति अनुराग आदि प्रधान धर्म माने गए हैं।[१७७] वस्तुतः समस्त प्राच्य साहित्य गृहस्थ आश्रम को अन्य आश्रमों का आश्रय स्वीकार करता है। इसके सहयोग के बिना किसी भी आश्रम का समग्र निर्वाह असंभव माना गया है। तदनुसार ही आश्रमों के स्थायित्व एवं पोषण के लिए सदा सर्वदा प्रयत्नरत रहना ही गृहस्थ धर्म का मूल स्वीकार किया गया है। मनु की भाँति उमा तथा महेश्वर के संवाद में भी वानप्रस्थियों के लिए ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्निसेवन अपरिहार्य दर्शाया गया है।[१७८] वैश्य-धर्म विवेचन में वैश्य के लिए सत्यवादिता, अहंकाराहित्य, निर्द्वन्द्वता, स्वाध्याय में रति और शौच अपेक्षित दर्शाकर वैश्यों के लिए तप आवश्यक दर्शाया गया है।[१७९] उमा के अनुसार मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा ही बद्ध अथवा मुक्त होता है। इसमें परोक्षतः त्रिविध तप के निर्वाह की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[१८०] भगवान् श्री महादेव ने दानधर्म, तप, शील, शौच तथा दयावत्ता को मानवों का श्रेष्ठ धर्म दर्शाकर सभी द्वारा उनके पालन को वांछित दर्शाया है। उमा-महेश्वर-संवाद में द्वन्द्वसहनशील पुरुषों के लिए स्वर्गप्राप्ति सुलभ दर्शायी गयी है–

कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किंचन।
ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चिद्बध्यन्ते ते न कर्मभिः।।[१८१]

महाभारत में किये गये तपोविषयक परिशीलन से जो निष्कर्ष निकलता है,उसके अनुसार व्यास ने अन्य यम-नियमों की भाँति तप की अपेक्षा के स्पष्टीकरण के लिए भी तत्त्ववेत्ताओं, धर्मप्रवर्तकों, विवेकज ज्ञानियों, त्रिकालविख्यात दार्शनिकों तथा मनीषियों एवं देवो द्वारा तप के आश्रय को धर्म सिद्ध कराया है। व्यास ने इस नियम को गुह्यता, तत्त्वात्मकता एवं दार्शनिक संश्लिष्टता से मुक्त करके सरल और सर्वग्राह्य बनाने में पूरी सफलता प्राप्त की है। महाभारत में वर्णाश्रम धर्मविवेचन के जो विविध सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं, उन सभी में उद्देश्यविषयक एकता तप को मानव की आचारसंहिता का अभिन्न अंग घोषित करती है। जब तक हमारे मन में किसी भी सत्कर्म की प्रेरणा का स्वस्फुरन नहीं होता तब तक उसके लिए किये गए पुरुषार्थ में तन्मयता की पराकाष्ठा उपलब्ध नहीं होती। मानव की साधारण वृत्ति उसे श्रेयस्कर के लिए प्रयत्नरत और हानिकारक से निवृत्त रहने के लिए प्रेरित करती रहती है। तदनुसार ही तप के आश्रय को देवधर्म की प्राप्ति का साधन, ब्रह्मत्व लाभदायक, दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति का स्रोत एवं भावी जन्म में देवयोनि में जन्म लेने का कारण सिद्ध किया गया है। इस नियम के समग्र पालन द्वारा मनुष्य का व्यष्टिरूप उत्तरोत्तर समष्टिरूप की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता दर्शाया गया है। इसे मनुष्य के पूर्णत्वप्राप्ति के पथ का प्रशस्तक दर्शाकर सभी के जीवन में इसके निर्वाह की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। इसका मूल उत्स भी वेद है। अतः महाभारत में तपपरिशीलन इसे वैदिक गुह्यता का सरलीकरण सिद्ध करता है–

तपसा ये अनाधृष्यस्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्।।[१८२]

सन्दर्भ

१. तप संतापे (भ्वादिगण), तप ऐश्वर्ये (दिवादिगण), तप दाहे (चुरादिगण)।
२. यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान। ऋग्वेद, १०.२३.४.
३. अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्।। वही, १०.१६.४.
४. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तॉश्चिदेवापि गच्छतात्।। ऋग्वेद, १०.१५४.२.

५. ये चित पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितृन् तपस्वतो यम तॉश्चिदेवापि गच्छतात्।। ऋग्वेद, १०.१५४.४.
६. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।। यजुर्वेद, १.५.
७. वही, १.११.
८. वही, १.१८.
९. वही, ५.४०.
१०. यजुर्वेद, ३०.७., सुबोध भाष्य, पृ. ४७८.
११. ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अर्ध्वयवो धर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्।। ऋग्वेद, ७.१०३.८.
१२. यजुर्वेद, ७.४६.
१३. अथर्ववेद, ७.६५ (१००) १–३.
१४. सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।। वही, १.१.१–४.
१५. वही, ११.५.५.
१६. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।। वही, ११.५.१७.
१७. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।। वही, ११.५.१९
१८. श्रद्धाया दुहिता तपसोधि जाता स्वस ऋषीणां भूतकृताम् बभूव।
सा नो मेखले मति मा धेहि मेधामथो नो धेहि तपं इन्द्रियं च।। वही, ६.१३३.४.
१९. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। वही, १२.१.१.
२०. वही, ५.१८.८.
२१. अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्।। वही, ५.१८.९.
२२. वही, ४.११.६.
२३. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। व्यासयोगभाष्य, २.४३.
२४. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।। कठोपनिषद्, १.३.१४
२५. यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत।। एतद्वै तत्।। वही, २.१.६.
२६. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।। वही, २.३.१०–११.
२७. वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते।। प्रश्नोपनिषद्, १.४
२८. वही, १.२.
२९. वही, १.१०.
३०. तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्। वही, १.१५.
३१. प्रश्नोपनिषद्, ६.४.
३२. मुण्डकोपनिषद्, १.१.८; २.१.७.

३३. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।।
मुण्डकोपनिषद्, १.२.११.

३४. वही, २.२.११.

३५. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।। वही, ३.१.५.

३६. वही, ३.२.४.

३७. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत।। तैत्तिरीयोपनिषद्, ३.२.२

३८. तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।।
श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.१५

३९. वही, १.१६.

४०. वही, ६.२१.

४१. छान्दोग्योपनिषद्, ४.१०.२.

४२. स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्।। वही, ४.१७.२.

४३. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।। बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.७.

४४. वही, ४.४.१०.

४५. मैत्रेय्युपनिषद्, १.१.

४६. वही, १.४.२.

४७. तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। व्यासभाष्य, २.३२.

४८. मनुस्मृति, १.२५.

४९. तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः।। वही, १.३३.

५०. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।। वही, १.८६.

५१. तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये।। वही, १.९४.

५२. वही, २.१६४.

५३. वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तपस्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।। वही, २.१६६.

५४. वही, २.१६७.

५५. तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्।। वही, २.२२९.

५६. मैत्रेय्युपनिषद्, २.२३७.

५७. व्यासयोगभाष्य, २.४३.
५८. मनुस्मृति ५.१०५.
५६. वही, ६.२३–२४.
६०. तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः।। वही, ११.२३४.
६१. वही, ११.२३५; ५.१०७.
६२. यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः।। वही, ११.२४१.
६३. वेदाभ्यासतपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्।। वही, १२.८३.
६४. तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।। वही, १२.१०४.
६५. ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि।। वही, ११.२२७.
६६. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.५२; मनुस्मृति, ६.२४.
६७. यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति।
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च।। वही, ३.५३.
६८. वही, ३.५५.
६६. वही, ३.६२.
७०. वही, ३.६६.
७१. औशनसस्मृति, १४३.
७२. अत्रिस्मृति, १३–१४.
७३. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानाञ्चैव पालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते।। वही, ४३.
७४. वही, ४६.
७५. शंखस्मृति, ५.६.
७६. व्यासस्मृति, ३.११.
७७. बालकाण्ड, १.१.
७८. वही, २.१६.
७६. वही, ६३.२१.
८०. आदिपर्व, अध्याय ३.
८१. आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति।। वही, ८२.७
८२. वही, ८२.८.
८३. इमं भौमं नरकं ते पतन्ति लालप्यमाना नरदेव सर्वे।
ये कङ्कगोमायुबलाशनार्थं क्षीणा विवृद्धिं बहुधा व्रजन्ति।। वही, ८५.४.
८४. तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः।। आदिपर्व, ८५.२२.

८५. दानं तपः सत्यमथापि धर्मो ह्रीः श्रीः क्षमा सौम्य तथा तितिक्षा।
राजन्नेतान्यप्रतिमस्य राज्ञः शिवेः स्थितान्यनृशंसस्य बुद्ध्या।
एवंवृत्तो ह्रीनिषेधश्च यस्मात्तस्माच्छिबिरत्यगाद्वै रथेन।। आदिपर्व, ८८.१६.

८६. वही, १७६.१२.

८७. मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना।
प्रशान्ते मानसे दुःखे शारीरमुपशाम्यति।। आरण्यकपर्व, २.२५.

८८. वही, २.४६–५६; शंखस्मृति, ५.६.

८९. इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयानपथे स्थितः।
कर्तव्यमिति यत्कार्यं नाभिमानात्समाचरेत्।। वही, २.७१–७२.

९०. वही, १७८.४३.

९१. धर्मः परः पाण्डव राज्यलाभात्तस्यार्थमाहुस्तप एव राजन्।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं जितस्त्वयायं च परश्च लोकः।। वही, १८०.१६.

९२. दानं च सत्यं च तपश्च राजञ्श्रद्धा च शान्तिश्च धृतिः क्षमा च।
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगानेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते।। वही, १८०.१९.

९३. वही, १८१.२८–२९.

९४. वही, १८१.३६.

९५. वही, १८१.३८.

९६. प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत्कृत्वा कर्म शोभनम्।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुषु।।
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः।
मयाभिभूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः।। वही, १८७.२१–२२.

९७. वही, १९८.६२.

९८. वही, १९८.७३.

९९. मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति।
कामं हित्वाऽर्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत्।। वही, २९७.५७.

१००. उद्योगपर्व, ३३.१०.

१०१. न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते।
गांगो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते।। वही, ३३.२६.

१०२. उद्योगपर्व, ३३.६२; मनुस्मृति, १.२२८–२२९.

१०३. उद्योगपर्व, ३३.६३; शंखस्मृति, ५–६.

१०४. यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान्।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्प्रियं सदा तं कुरुते जनोऽपि।। वही, ३३.९२.

१०५. रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशलः सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः।। वही, ३४.५७.

१०६. उद्योगपर्व, ४०.२२.

१०७. वही, ४२.३.

१०८. उद्योगपर्व, ४२.१०.

१०६. अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र दृश्यते।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि संयताः।। वही, ४३.५.

११०. वही, ४३.७–८.

१११. धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य।। वही, ४३.१२.

११२. येऽस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान्ब्राह्मीं स्थितिमनुतितिक्षमाणाः।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहान्मुञ्जादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः।। वही, ४४.४.

११३. य आशयेत्पाटयेच्चापि राजन्सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः।
एतेनासौ बाल्यमत्येति विद्वान्मृत्युं तथा रोधयत्यन्तकाले।। वही, ४४.१६.

११४. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। भीष्मपर्व, २८.२६.

११५. जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।। वही, २६.६

११६. वही, ३०.२८.

११७. अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।। वही, ३२.५.

११८. वही, ३३.५३.

११६. वही, ३५.६–११.

१२०. वही, ३८.३.

१२१. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। वही, ३६.१४.

१२२. वही, ३६.१५–१७.

१२३. वही, ३६.१८–१६.

१२४. तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।। वही, ३६.२४.

१२५. वही, ३६.२८.

१२६. वही, ४०.३.

१२७. यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।। वही, ४०.५.

१२८. शान्तिपर्व, ४७.६.

१२६. वही, ७२.२५.

१३०. वही, १५३.५–७.

१३१. वही, १५४.१४–१७.

१३२. वही, १५४.३६.

१३३. वही, १५५.१३.

१३४. धर्मो राजन्गुणश्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति प्र वदन्ति मनीषिणः।
तस्माद्धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।। वही, १६१.८.

१३५. यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक्प्रणिहिते सदा।
तपस्त्यागश्च योगश्च स वै सर्वमवाप्नुयात्।। शान्तिपर्व, १६६.३२.

१३६. यद्यत्त्यजति कामानां तत्सुखस्याभिपूर्यते।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते।। वही, १७१.४८.

१३७. दम्यनाशकृते मंकिरमरत्वं किलागमत्।
अच्छिनत्काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम्।। वही, १७१.५४.

१३८. परिच्छिद्यैव कामानां सर्वेषां चैव कर्मणाम्।
मूलं रुन्धीन्द्रियग्रामं शकुन्तानिव पञ्जरे।। वही, १७३.२७.

१३६. दीर्घकालेन तपसा सेवितेन तपोवने।
धर्मनिर्धूतपापानां संसिध्यन्ते मनोरथाः।। वही, १७४.१८.

१४०. सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
तयक्त्वेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः।। वही, १८२.७.

१४१. वही, १८२.१०.

१४२. तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सगेष्वसंगिना।। वही, १८२.१४.

१४३. वही, १८५.१ (२)

१४४. नियतो जप चैकाग्रो धर्मस्त्वां समुपैष्यति।। वही, १६२.१६.

१४५. वही, १६५.१२.

१४६. वही, २०५.१५.

१४७. सत्ये स्थितास्मि दाने च व्रते तपसि चैव हि।
पराक्रमे च धर्मे च पराचीनस्ततो बलिः।। वही, २१८.१२.

१४८. यमर्थसिद्धिः परमा न हर्षयेत्तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरंधरो नरः।। वही, २१६.१६.

१४६. मोक्षधर्मेषु नियतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम्।। वही, २२२.२.

१५०. वही, २२२.८–१६.

१५१. तपसा वा सुमहता विद्यानां पारणेन वा।
इज्यया वा प्रदानैर्वा विप्राणां वर्धते यशः।। वही, २२६.६.

१५२. वही, २३२.४–५.

१५३. वही, २३२.११.

१५४. वही, २३४.१२–२५.

१५५. वही, २३४.२६.

१५६. वही, २३५.११.

१५७. शंखस्मृति, ५.६.

१५८. शान्तिपर्व, २३६.२६.

१५६. मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते।। वही, २४२.४.

१६४. यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक्प्रणिहिते सदा।
वेदास्तपश्चं त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात्।। शान्तिपर्व, २८८.२४.

१६८. मासार्धमासौ नोपवसेद्यत्तपो मन्यते जनः।
आत्मतन्त्रोपघाती यो न तपस्वी न धर्मवित्।
त्यागस्यापि च संपत्ति शिष्यते तप उत्तमम्।
सदोपवासी च भ्वेद्ब्रह्मचारी तथैव च।। वही, ६३.४–५.

१५६. वही, २४२.४.

१६०. वही, २४३.१४.

१६१. वही, २४६.१–५.

१६२. वही, २६१.७.

१६३. वही, २८८.१४.

१६४. वही, २८८.२४.

१६५. वही, ३०६.३.

१६६. अनुशासनपर्व, ३७.८–६.

१६७. वही, ४२.१–२४

१६८. वही, ६३.४–५.

१६६. वही, ६३.१५, शंखस्मृति, ५.६.

१७०. प्रतिग्रहे संयमो वै तपो धारयते ध्रुवम्।
तद्धनं ब्राह्मणस्येह लुभ्यमानस्य विस्रवेत्।। वही, ६४.३१.

१७१. वही, १००.१–२५.

१७२. वही, १०७.३७.

१७३. वही, ११२.१६.

१७४. प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
आत्मौपम्येन पुरुषः समाधिमधिगच्छति।। वही, ११४.६.

१७५. वही, १२८.४६.

१७६. वही, १२८.३६.

१७७. वही, १२६.११–१३.

१७८. युक्तैर्योगवहैः सदग्निग्रीष्मे पञ्चतपैस्तथा।
मण्डूकयोगनियतैर्यथान्यायनिषेविभिः।। वही, १३०.६.

१७६. वही, १३१.३०.

१८०. वही, १३२.२.

१८१. वही, १३२.७.

१८२. अथर्ववेद, १८.२.१६.

एकादश अध्याय

स्वाध्याय

प्राणी द्वारा उत्कृष्ट आचार के पालन के लिए किसी उत्तम आदर्श का आश्रय आवश्यक है। पूर्वजों द्वारा किए गए सत्कर्मों का उनकी उत्तरवर्ती सन्तानों द्वारा पालन ही परम्परा कहलाता है। हम सभी के लिए सत्कर्म की प्रेरणा तथा निकृष्ट कर्मों से निवृत्ति के निर्वाह का संभाव्य पूर्ववर्ती साहित्य में उपलब्ध तद्विषयक मान्यताओं के अध्ययन में ही संभव है। किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए उसके शब्दाख्यात आकार का परिचय आवश्यक है। तदनुसार ही स्वाध्याय को चतुर्थ नियम स्वीकार किया गया है। स्वाध्याय दो अर्थों का परिचायक है। एक अर्थ के अनुसार स्वाध्याय वेद-वेदांगों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के अध्ययन द्वारा इसके उपार्जन का द्योतक है। दूसरा अर्थ इसे मनुष्य के निजी स्वरूप को विवेकज ज्ञान के लिए किए गए पुरुषार्थ का द्योतक घोषित करता है। व्यासभाष्य में स्वाध्याय मोक्षधर्मशास्त्रों के अध्ययन तथा प्रणव जप का पर्याय स्वीकार किया गया है।[1] एक निरुक्ति के अनुसार **'स्वस्य अध्ययनम्'** अर्थात् आत्मचिन्तन ही स्वाध्याय है। मानवजीवन में इसकी अपरिहार्यता वेदों में बीज रूप में प्रतिपादित हुई है। ऋग्वेद को वाणी की शरणस्थली घोषित किया गया है।[2] इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि वेदाध्ययन मनुष्य के चतुर्विध परिष्कार का मूल साधन है।

वेदों में स्वाध्यायविषयक संकेत

ऋग्वेद में जिस वाणी में मंगलमयी लक्ष्मी का निवास स्वीकार किया गया है, वह वास्तव में वेदवाणी है। इसका ज्ञान वैचारिक परिष्कार द्वारा ही संभव है। जैसे सत्तू की स्वच्छता के लिए सूप का आश्रय आवश्यक है, उसी प्रकार वाचिक परिष्कार के लिए ऋचाज्ञान।[3] वेदज्ञान को गुह्य स्वीकार करते हुए कहा गया है कि यह वाणी मन से देखी जाती हुई भी अज्ञानता

के कारण अदृष्ट है, सुनी जाने पर भी अश्रव्य है।[४] स्वाध्याय को परिष्कार का मूल घोषित करते हुए कहा गया है कि जो विद्वान् उपकारी, वेदों के अधिष्ठाता, वेत्ता तथा परम मित्र को त्यागता है, उसकी वाणी में कोई फल नहीं है।[५] मनुष्यों में ज्ञानविषयक असमानता की चर्चा करते हुए कहा गया है कि सभी लोग जानने योग्य ज्ञान में एक समान नहीं होते। उनमें न्यूनता तथा आधिक्य स्वाभाविक है।[६] इस ऋचा में स्वाध्याय की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए ज्ञानोपार्जन हेतु स्वाध्याय का आश्रय आवश्यक घोषित किया गया है। मानवजीवन के परिष्कार के लिए स्वाध्याय को आवश्यक दर्शाते हुए कहा गया है कि इससे वियुक्त मनुष्य अज्ञानी होता है।[७] यह सूक्त ज्ञान देवता को समर्पित है। इसके अनुसार वेदाध्ययन ज्ञान का मूल स्रोत सिद्ध होता है। वेदाध्ययनविषयक स्वाध्याय मनुष्य में शास्त्रीय ज्ञान का प्रादुर्भाव कराता है और उसमें विवेकज ज्ञान की जिज्ञासा जगाता है। वास्तव में स्वाध्याय वह आश्रय है जो प्राणी को सद्वृत्ति और दुर्वृत्ति के निर्वाहजन्य सत्परिणामों और दुष्परिणामों से अवगत कराकर उसे सन्मार्ग का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करता है।

यजुर्वेद को प्रशस्त कर्म का शास्त्र घोषित किया गया है। इसमें निर्दिष्ट प्रशस्त कर्मसम्बन्धी साधनों का उपार्जन इसके अध्ययन द्वारा ही संभव है। तदनुसार ही यजुर्वेद में मनुष्यों से आग्रह किया गया है कि वे मन से यजुर्वेद की शरण ग्रहण करें।[८] यजुः शब्द का अर्थ सत्कार, संगति और उपकारमय कर्म की प्रेरणा करने वाला है।[९] इन कर्मों की प्रेरणा इसमें प्रतिपादित तद्विषयक साधनों के बिना असंभव होने के कारण ही यजुर्वेद को मन से ग्रहण करने का परामर्श दिया गया है। यजुर्वेद का ३६वां अध्याय स्वाध्याय को ही समर्पित है। इसमें पुनः पुनः स्वाध्याय को मनुष्य की आत्मोन्नति का साधन दर्शाया गया है। यजुर्वेद का विश्वास है कि स्वाध्याय मनुष्य की समस्त शक्तियों के छिद्रों को निर्दोष करने और समस्त इन्द्रियों को सशक्त बनाने में समर्थ है। बृहस्पति की एक स्तुति में यह संकेत उपलब्ध होता है–

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।।[१०]

इससे अगले मन्त्र में आत्मचिन्तन अर्थ का द्योतन करने वाले स्वाध्याय को मनुष्य की सच्चिदानन्द-प्राप्ति का स्रोत घोषित किया गया है।

यह मन्त्र विश्वविख्यात गायत्री मन्त्र है। इसमें प्रयुक्त भूः भुवः तथा स्वः को जिन विविध अर्थों का द्योतक माना गया है, उनके अनुसार भूः–सत्ता, सत्, प्राणः, जीवन तथा प्रयत्न का द्योतक है, भुवः से अभिप्राय चिन्तन, चित्, अपान, दुष्टतानाश तथा संगति है। जबकि स्वः को प्रकाश, आनन्द, व्यान, शान्ति तथा समता का पर्याय स्वीकार किया गया है। अतः भूः, भुवः तथा स्वः में रमण ही सच्चा स्वाध्याय है। यही समता की प्राप्ति का मूल है। इस मन्त्र के उत्तरार्ध में प्राणियों से ईश्वर का वह तेज वरण करने की कामना की गई है जो सबकी बुद्धियों का प्रेरक है।[११] यजुर्वेद में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि स्वाध्याय के परिणामस्वरूप ज्ञाननेत्र का उदय, शतवर्षीय आरोग्य, अदीन तथा आनन्दयुक्त जीवन सर्वथा संभव है।[१२] यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में स्वाध्यायविषयक दोनों निर्वचनों को एक दूसरे का पूरक घोषित किया गया है। यजुर्वेद के अनुसार वैदिक स्वाध्यायजन्य ज्ञान अविद्या है तथा आत्मचिन्तनजन्य विवेकज ज्ञान विद्या। इनमें से किसी भी एक का अन्धा अनुकरण मनुष्य को अन्धकार के गर्त की ओर ले जाता है।[१३] स्वाध्यायप्रवीणता मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की योग्यता से ही युक्त नहीं करती, अपितु अमरत्वप्राप्ति का अधिकारी भी बनाती है।[१४] इसी अध्याय में मनुष्य को दिया गया **'ओम् क्रतो स्मर'** का उपदेश कर्मठ पुरुष द्वारा सर्वरक्षक परमात्मा के सदा सर्वदा ध्यान की आवश्यकता की ओर निर्दिष्ट है। **'कृतं स्मर'** का परामर्श उसके द्वारा किए गए कर्मों को स्मरण रखने का आग्रह प्रस्तुत करता है।[१५] यदि मनुष्य अपने कर्मों को स्वयं याद रखता है तो वह अपना परीक्षक स्वयं बन जाता है। आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय का अभिप्राय भी मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों का स्वयं परीक्षण, निरीक्षण तथा समीक्षण है। यह प्रयत्न उसे अपने कर्मों की निरख-परख की योग्यता से युक्त करता है।

स्वाध्याय उस परिष्कृत जीवन का आधार है, जिसका निर्वाह विश्व को परिवार में परिणत करने में सर्वथा समर्थ है। तदनुसार ही सामवेद में विविध देवों से प्राणियों के संरक्षण करने की कामना की गई है।[१६] सामवेद में इन्द्र को समस्त स्थावर-जंगम जगत् का स्वामी मानते हुए सबको देखने वाला स्वीकार किया गया है।[१७] जैसा कि पहले कहा गया है वैदिक संहिताओं में मनुष्य द्वारा वांछित वैयक्तिक संयमों को देवगुण दर्शाकर प्राणियों में उनके पालन के संस्कार जगाए गए हैं, उसी प्रकार इस स्तुति में आत्मचिन्तन द्वारा सभी में अपनी आत्मा को स्थित और सभी को अपनी

आत्मा में अवस्थित मानने का परामर्श उपलब्ध होता है। सामवेद में इकट्ठे बैठकर स्तुति करने का आग्रह स्वाध्यायजन्य संघचिन्तन की आवश्यकता को स्पष्ट करता है।[१८] सामवेद में पूर्वप्रतिपादित मान्यताओं को उपासनाविषयक सामों से अनुमोदित करने का प्रयास किया गया है।

अथर्ववेद में स्पष्टतः कहा गया है कि परम आकाश में रहने वाले सब देव वेदमन्त्रों के अक्षरों में बैठे हुए हैं। जो इस बात को नहीं जानता वह वेदमन्त्र लेकर क्या करेगा? जो इस बात को जानते हैं वे संगठित होकर उच्च स्थान पर बैठते हैं।[१९] वस्तुतः इसमें ऋग्वेद के उसी सत्य का अनुरणन होता है जिसके अनुसार समस्त देवता, सभी दिव्य गुण, प्रकृति, परमेश्वर तथा जीवात्मा ऋचा के अत्यन्त अविनाशी अक्षरों में निवास करते हैं। जो मनुष्य इस बात को नहीं जानता, वह न जानने वाला पुरुष वेदमन्त्रों से क्या करेगा? जो मनुष्य निश्चय से इस बात को समझते हैं वे एक होकर उत्तमता से स्थिर होकर बैठ सकते हैं–

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।।[२०]

अथर्ववेद के 'ब्रह्मविद्या' नामक सूक्त में स्पष्टतः कहा गया है कि ज्ञान ब्रह्म तथा उसके प्रकाश की मर्यादाओं की विद्या का मूल है। ज्ञान द्वारा ही सत् और असत् के उत्पत्तिस्थान के विषय में सत्य उपदेश संभव है। इस मन्त्र में स्वाध्याय की उभयार्थक मान्यताओं के निर्वाह की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[२१] 'अपनी शक्ति का विस्तार' नामक सूक्त में यज्ञ के हेतु मन, चित्त, बुद्धि, संकल्प, स्मृति, मति, श्रवण और दर्शनशक्ति की वृद्धि दर्शाए गए हैं। वस्तुतः इससे अभिप्राय संगतिकरण और दान को इन सभी शक्तियों का संवर्धक घोषित करना है। यह संवर्धन आत्मचिन्तनरूपी स्वाध्याय द्वारा ही संभव है।[२२] निष्कर्षतः वैदिक वाङ्मय में स्वाध्यायसमर्थक संकेत स्वाध्यायसम्बन्धी दोनों धारणाओं के समर्थन को निर्दिष्ट हैं। इनमें जहाँ वेदाध्ययन द्वारा वेदोक्त ज्ञान के उपार्जन को अपरिहार्य दर्शाया गया है, वहीं आत्मचिन्तनजन्य विवेकज ज्ञान को असंदिग्ध घोषित किया गया है। स्वाध्याय के दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का निर्वाह संभव नहीं और किसी का भी एकांगी निर्वाह सार्थक स्वीकार नहीं किया गया। वस्तुतः स्वाध्याय से अभिप्राय वेदोक्त ज्ञान को आत्मचिन्तन द्वारा आत्मसात् करने का प्रयास है।

उपनिषदों में स्वाध्यायविषयक परामर्श

उपनिषत्साहित्य में वेदार्थ हेतु आध्यात्मिक अर्थप्रक्रिया का आश्रय लिया गया है। तदनुसार ही उपनिषत्साहित्य में तत्त्वज्ञान का प्राधान्य है। कठोपनिषद् में विश्वविख्यात यम तथा नचिकेता के आख्यान के अन्तर्गत यम नचिकेता को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं। इस उपदेश के अनुसार ब्रह्मानुभूति प्रवचन, बुद्धि तथा बहुश्रुति के आश्रित न होकर परम ब्रह्म की कृपाश्रित है। वह जिसे स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही उसकी प्राप्ति संभव है। यह परमात्मा उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है। परमात्मा द्वारा वही लोग स्वीकार्य माने जाते हैं जो बाह्यान्तर रूप से पूर्णरूपेण ईश्वरनिष्ठ हैं। यह निष्ठा आत्मचिन्तन द्वारा प्राप्त विवेकज ज्ञान पर निर्भर करती है। अतः इस मन्त्र में आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[२३] यम के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति तब तक संभव नहीं, जब तक मनुष्य अपनी इन्द्रियों को मन में, मन को ज्ञानस्वरूप बुद्धि में तथा ज्ञानस्वरूप बुद्धि को महान् आत्मा में, तदुपरान्त महान् आत्मा को शान्तस्वरूप परमात्मा में विलीन नहीं कर देता। चित्तवृत्तिनिरोध, इन्द्रियसंयम तथा स्थितप्रज्ञता के लिए आत्मचिन्तन आवश्यक है। इस मन्त्र में आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय को ईश्वर की प्राप्ति का स्रोत दर्शाकर इसकी आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[२४] कठोपनिषद् के अनुसार स्वाध्याय से निवृत्ति प्राणियों को मृत्यु के पाश की ओर खींच ले जाती है, जबकि बुद्धिमान् मनुष्य विवेक द्वारा अमृत पद को जानकर अनित्य भोगों से पूर्णतया निवृत्त हो जाता है–

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।।[२५]

आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि परमात्मतत्त्व की प्राप्ति मानसिक परिष्कार द्वारा ही संभव है। आत्मचिन्तन-सम्बन्धी स्वाध्याय मानसिक परिष्कार का परम साधन है।[२६] इसी उपनिषद् में ईश्वरानुभूति मन में स्थित समस्त कामनाओं के समूल विनाश में निहित स्वीकार की गई है। यह विनाश मनुष्य द्वारा अर्जित सत् और असत् के विवेकज ज्ञान द्वारा ही संभव है। आत्मचिन्तनसम्बन्धी स्वाध्याय मानसिक परिष्कार का परम साधन है। इसी उपनिषद् में ईश्वरानुभूति मन में स्थित समस्त कामनाओं के समूल विनाश में निहित स्वीकार की गई

है। यह विनाश मनुष्य द्वारा अर्जित सत् और असत् के विवेकज ज्ञान द्वारा ही संभव है। यह मन्त्र आत्मचिन्तनसम्बन्धी स्वाध्याय की महत्ता को स्पष्ट करता है।[२७]

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार प्राणी जब आत्मचिन्तन द्वारा समस्त प्राणों, पंच भूतों, समस्त इन्द्रियों और विज्ञानरूप आत्मा को निरुद्ध करके ईश्वर में प्रवेश करने की योग्यता से युक्त हो जाता है तो वह सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है।[२८] प्रणवजपसम्बन्धी स्वाध्याय के आश्रय को अमरत्व का साधन दर्शाते हुए कहा गया है कि एक मात्रा की उपासना से उपासक ऋचाओं द्वारा मनुष्य लोक को प्राप्त कर लेता है। दो मात्राओं की उपासना करने वाला अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त हो जाता है। पूर्णरूप से ओंकार की उपासना करने वाला ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। इस मन्त्र में केवल ओंकार की उपासना को अमरत्वप्राप्ति, अभयप्राप्ति, शान्तिप्राप्ति तथा परब्रह्म की प्राप्ति का साधन दर्शाकर स्वाध्याय हेतु प्रणवजप की महत्ता को स्पष्ट किया गया है।[२९] वेदाध्ययनविषयक स्वाध्याय का स्पष्टीकरण करते हुए मुण्डकोपनिषद् में वेदों को प्राणियों की जागतिक उन्नति के साधनों से युक्त घोषित किया गया है और उन्हें उनका आश्रय लेने का परामर्श दिया गया है।[३०] इसी उपनिषद् में यजुर्वेद द्वारा प्रतिपादित विद्या-अविद्या की चर्चा के माध्यम से अविद्या के आश्रय को पतन का कारण दर्शाया गया है।[३१] प्रणवजप को परब्रह्म का साधक दर्शाते हुए प्रणवजप को धनुष, आत्मा को बाण तथा परमेश्वर को उसका लक्ष्य स्वीकार किया गया है और इस लक्ष्य की सिद्धि प्रमादरहित मनुष्य द्वारा संभव दर्शायी गयी है–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन बेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।[३२]

ईश्वरप्राप्ति के साधनों की चर्चा करते हुए इस उपनिषद् में ब्रह्मानुभूति के लिए सत्य, तप, ब्रह्मचर्य तथा यथार्थ ज्ञान (स्वाध्यायजन्य) का आश्रय आवश्यक माना है।[३३] इस उपनिषद् के अनुसार उभयविध स्वाध्याय का निर्वाह मोक्षप्राप्ति का परम साधन है। इसमें ईश्वर की प्राप्ति के लिए वेदाध्ययन और आत्मचिन्तनजन्य विवेकज ज्ञान को समान रूप से आवश्यक माना गया है।[३४] इस उपनिषद् के अनुसार आत्मनिरीक्षण-सम्बन्धी स्वाध्याय के बिना वेदाध्ययन असंभव दर्शाया गया है।[३५]

माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म को ओंकार की तीन मात्राओं में युक्त

स्वीकार किया गया है। ये मात्राएं हैं–अ, उ, म्। इनमें से पहली मात्रा ब्रह्म का वैश्वानर नामक पहला पाद है। दूसरी मात्रा तैजस पाद तथा तीसरी मात्रा प्राज्ञ पाद है। इनका सम्यक् ज्ञान ही मनुष्य को मोक्ष का पद प्राप्त कराने में समर्थ है। इसका चतुर्थ पाद मात्रारहित, प्रपञ्चरहित और कल्याणमय पूर्ण ओंकार है। इस उपनिषद् के अनुसार जो प्राणी इस ज्ञान से युक्त है, वह परब्रह्म परमात्मा में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है।[३६] तैत्तिरीयोपनिषद् में ओम् की महिमा का वर्णन जिस अनुवाक में किया गया है, उसके अनुसार समस्त मन्त्रों का आरम्भ ओम् से होता है। इसके अनुसार वेदाध्ययन का शुभारम्भ भी ओम् के उच्चारण से किया जाता है। इस माध्यम से प्रणवजप को वेदाध्ययन सम्बन्धी स्वाध्याय का स्रोत घोषित किया गया है।[३७] नवम अनुवाक में समस्त कर्मों के अनुष्ठान तथा समस्त नियमों के पालन के लिए स्वाध्याय का योग आवश्यक दर्शाकर इसका महत्त्व स्पष्ट किया गया है। इसके अनुसार सदाचार तथा स्वाध्याय, सत्य तथा स्वाध्याय, तप तथा स्वाध्याय, दम तथा स्वाध्याय, शम तथा स्वाध्याय, अग्निचयन तथा स्वाध्याय, अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय, अतिथिसेवा तथा स्वाध्याय, मनुजोचित लौकिक व्यवहार तथा स्वाध्याय, गर्भाधान संस्काररूप कर्म तथा स्वाध्याय, स्त्रीसहवास तथा स्वाध्याय, कुटुम्बवृद्धि रूप कर्म तथा स्वाध्याय का साथ-साथ पालन अभीष्ट है।[३८] इस उपनिषद् के अनुसार यज्ञों का विस्तार तथा कर्मों का विस्तार ज्ञानाश्रित स्वीकार किया गया है तथा समस्त देव ज्ञान की ही उपासना करते हैं। यदि कोई ज्ञान को जानता है, उससे प्रमाद नहीं करता, इस निश्चय से कभी विचलित नहीं होता वह पापसमुदाय को शरीर में ही छोड़कर समस्त भोगों का अनुभव करता है। इस अनुवाक में आत्मचिन्तनजन्य विवेकज ज्ञान की प्रतिष्ठा के माध्यम से स्वाध्याय के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।[३९] श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार आत्मचिन्तन वह माध्यम है जो प्राणी को आत्मा और परमात्मा के द्वैत के ज्ञान से युक्त कराकर इसे परमात्मा से स्वीकृत होने की योग्यता से सम्पन्न कराता है।[४०] इस उपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि प्रकृति विनाशशील है। इनको भोगने वाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है और परमात्मा जड़तत्त्व तथा चेतन आत्मा को अपने शासन में रखता है। उसका निरन्तर ध्यान करने से, मन को उसी में लगाए रहने से तथा तन्मय हो जाने से अन्त में प्राणी उसी को प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है।[४१] इस उपनिषद् में आत्मचिन्तन को मोक्ष का साधन

दर्शाकर स्वाध्याय की आत्मचिन्तन-सम्बन्धी आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है। बुद्धिमान् मनुष्य के लिए स्थितप्रज्ञता के द्वारा भवसागर से पार होने के लिए ओंकार रूप नौका का आश्रय लेने का आग्रह किया गया है। इस परामर्श में आत्मचिन्तन तथा प्रणवजप-सम्बन्धी स्वाध्याय की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[४२] आत्मचिन्तन को आत्मशुद्धि का स्रोत दर्शाकर आत्मविषयक मल से मुक्ति का साधन सिद्ध करते हुए इसे मोक्ष का राजमार्ग कहा गया है—

यथैव विम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।।[४३]

इस उपनिषद् में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद द्वारा प्रतिपादित स्वाध्यायविषयक मान्यता का अक्षरशः अनुरणन सिद्ध होता है। इनके अनुसार विवेकज ज्ञान के बिना वेदाध्ययन सर्वथा फलहीन है।[४४]

छान्दोग्योपनिषद् में बक एवं ग्लाव के स्वाध्याय के निमित्त ग्राम से बाहर जाकर जल के समीप बैठने की चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें स्वाध्याय को ऋष्युचित दर्शाकर प्राणियों द्वारा इसके अनुसरण के संस्कार जगाए गए हैं।[४५] इस उपनिषद् के अनुसार जो व्यक्ति नियमानुसार आचार्य के घर से गुरुकार्य का निर्वाह करके वेदाध्ययन समाप्त करने के पश्चात् कुटुम्ब में प्रविष्ट होता है तथा पवित्र देश में स्वाध्याय करता हुआ पुत्र तथा शिष्य आदि को धर्मशिक्षा देता है वह पुरुष समस्त इन्द्रियों को ब्रह्म की ओर लगाता हुआ शास्त्रानुकूल अन्य प्राणियों को पीड़ा न देता हुआ देहान्त होने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[४६] वस्तुतः यह उक्ति स्वाध्याय के उभयविध पालन को स्पष्ट करती है। कौषीतकी-उपनिषद् के अनुसार स्वाध्याय के बिना यज्ञविषयक आचार का ज्ञान असंभव है। इसकी पुष्टि के लिए उद्दालक चित्र आख्यान का आश्रय लिया गया है।[४७] परमहंसोपनिषद् में परम हंसाचार का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। संन्यास आश्रम मनुष्य की पूर्णत्वप्राप्ति का चतुर्थ तथा अन्तिम चरण माना जाता है। इसमें सर्वस्व त्याग ही वांछित स्वीकार किया जाता है। परमहंसी के लिए कोई भी नैमित्तिक कर्म वांछित नहीं माना जाता। परमहंसी द्वारा त्याज्य कर्मों में से स्वाध्याय (वेदाध्ययन) एक दर्शाया गया है।[४८] आरुण्युपनिषद् में मनुष्यों की आचारविषयक मान्यताओं का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। इसमें सर्वस्व त्याग को सर्वस्व प्राप्ति का साधन दर्शाया गया है तथा कहा गया है कि

ईश्वरमय होने के पश्चात् मनुष्य के लिए जागतिक कर्म एवं यम-नियमों का पालन आवश्यक नहीं रह जाते। इनमें से स्वाध्याय भी एक है।[४९] उपनिषदों में तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन के माध्यम से स्वाध्याय के उभयविधनिर्वाह को मोक्ष तथा ब्रह्मप्राप्ति का साधन दर्शाकर जनसाधारण में इसके पालन के संस्कार जगाए गए हैं। उपनिषत्साहित्य में प्रतिपादित स्वाध्याय प्रणवजप सम्बन्धी भी है, वेदाध्ययन सम्बद्ध भी एवं आत्मचिन्तन सम्बन्धी भी। इन सभी को समान रूप से आवश्यक दर्शाकर एक दूसरे के पूरक सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। इनमें से किसी एक भी एकांगी निर्वाह उचित स्वीकार नही किया गया।

स्मृतियों में स्वाध्याय-निदर्शन

श्रौत साहित्य में मनुष्य से जो शिष्टाचार अपेक्षित था, उसे देवगुण दर्शाकर स्तुतियों द्वारा आत्मसात् करने का आग्रह उपलब्ध होता है। इसके लिए विशिष्ट साधनों का आश्रय लिया गया है, जो इसके आचरण को स्वाभाविक बनाने में सर्वथा समर्थ हैं। किन्तु श्रौत साहित्य का सम्बन्ध बहुधा ब्राह्मण वर्ग से रहने के कारण ये परोक्ष साधन उसे सार्वजनिक व्यावहारिकता प्रदान करने में असमर्थ रहे। हमारी संस्कृति में मनु का जन्म अराजकताजन्य दुर्वृत्तियों के परिहार के लिए दर्शाया गया है। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म ही मानव धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं से स्मार्त साहित्य का श्रीगणेश होता है। मनुष्य में व्याप्त संकुचित वृत्ति के परिहार के लिए जो कर्म यथेष्ट स्वीकार किए गए वे इसमें यम-नियमों के नाम से प्रख्यात हैं। स्मार्त साहित्य के अन्तर्गत वह सभी साहित्य अन्तर्निहित माना जाता है जिसमें प्राणियों को दायित्वबोध कराते हुए उनके कर्तव्यों तथा अकर्तव्यों का विवेचन उपलब्ध होता है। इसमें सर्वसम्मति से स्वीकृत वैयक्तिक व्यवहार के लिए जिन कर्तव्यों का अनुसरण वांछित दर्शाया गया है वे नियम धर्मलक्षण, धर्ममर्यादाएँ, योगांग तथा धर्मवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें स्वाध्याय के निर्वाह को अभीष्ट स्थान प्राप्त है। मनुष्य के आचारविषयक ज्ञान के लिए जिन दो मुख्य आश्रयों की शरण सर्वोपरि मानी गई है, वे हैं—तद्विषयक साहित्यप्रतिपादित मान्यताओं का पालन एवं अनुभवजन्य ज्ञान के माध्यम से दुष्कृतों का परिहार। अनुभव का आदर्शाश्रित होना स्वाभाविक है। मनुष्य को अपने जीवन के यथेष्ट निर्वाह के लिए किसी न किसी आदर्श का अवलम्बन अवश्यम्भावी है। इसका ज्ञान साहित्य के ग्रहण द्वारा ही संभव है। मनुष्य साहित्य में उपलब्ध आदर्शों का अनुसरण करने

में तभी समर्थ हो सकता है जब उसे इनके जीवन तथा धर्म का पूर्ण परिचय प्राप्त हो चुका है। तदनुसार ही स्वाध्याय के मात्र मौखिक आश्रय को अपूर्ण स्वीकार किया गया है।

स्मार्त साहित्य में श्रौत साहित्य द्वारा प्रतिपादित उस विश्वास को अक्षरशः अनुमोदन दिया गया है, जिसके अनुसार मानवजीवन का लक्ष्य ब्रह्म (विश्वरूप) प्राप्ति है। इसके लिए जो आचार-संहिता निर्दिष्ट की गई है, वह प्राणियों द्वारा वेदाध्ययन, व्रताचार, नियमाश्रय, ब्रह्मचर्य अवस्था में देव-ऋषि-पितृ-तर्पण, गृहस्थ अवस्था में पुत्र की उत्पत्ति, महायज्ञ एवं ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के सेवन को अपेक्षित दर्शाती है।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।।[५०]

मनु ने जितेन्द्रिय होकर शौचपूर्वक विधिवत् स्वाध्याय को मनुष्य की धर्मविषयक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन दर्शाया है।[५१] किसी भी सद्वृत्ति के पालन को पुरस्कार्य दर्शाना प्राणियों में उसके स्वेच्छित निर्वाह के संस्कार जगाने का मनोवैज्ञानिक साधन स्वीकार किया जाता है। मनु ने आत्मचिन्तनविषयक ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्याय को अनध्याय के दोष से सर्वथा मुक्त माना है।[५२] उनके अनुसार स्वाध्याय का आश्रय मनुष्य द्वारा तपस्या के निर्वाह के समान है।[५३] मनु ने स्वाध्याय को ऋषियों की, हवन को देवताओं की, श्राद्ध को पितरों की, अन्न को मनुष्यों की तथा बलि कर्म को भूतों की तृप्ति का मूल माना है और प्राणियों से इसके सदा सर्वदा निर्वाह का आग्रह किया है।[५४] इससे पूर्व कहा गया है कि यदि अतिथिसेवा संभव न हो तो स्वाध्याय (ब्रह्मयज्ञरूप वेदपाठ) तथा देवकर्म कभी नहीं छोड़ना चाहिए। ये समस्त चराचर जगत् के धारण (पोषण) की शक्ति से सम्पन्न हैं।[५५] मनु के अनुसार पितृ-श्राद्ध में वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान तथा इतिहास एवं खिल का पाठ वांछित है।[५६] इसके अनुसार स्वाध्याय का क्षेत्र मात्र ऋचाओं, कण्डिकाओं, सामों एवं मन्त्रों तक सीमित न होकर समस्त धार्मिक साहित्य के अध्ययन तक व्यापक है। वानप्रस्थी के लिए स्वाध्याय में रति अपेक्षित दर्शाकर मनु ने इसे आश्रम धर्म की मूल आवश्यकता घोषित किया है।[५७] स्वाध्याय के अन्तर्गत दाहिनी भुजा को कपड़े से बाहर रखने का विधान स्वाध्यायविषयक शौच के निर्वाह की ओर निर्दिष्ट है।[५८] गृहस्थ आश्रमी के लिए वेदाभ्यास, द्वन्द्वसहनशीलता, इन्द्रियसंयम, मित्रभाव, शम, दानशीलता, अपरिग्रह तथा

सब प्राणियों के प्रति दया का निर्वाह अनिवार्य स्वीकार किया गया है।[५९] स्नातक धर्मानुयायी से स्वाध्यायविरुद्ध कर्मों का त्याग करने का आग्रह करते हुए स्नातक ब्राह्मण की कृतकृत्यता स्वाध्याय की तत्परता में निहित दर्शायी गयी है।[६०] मनु ने स्वाध्याय को सर्वथा अपरित्याज्य दर्शाकर इसके सदा सर्वदा पालन को यथेष्ट दर्शाया है। मनुस्मृति का संक्षिप्त विवेचन इसमें उपलब्ध स्वाध्यायविषयक निर्देशों को स्वाध्याय के उभयविध पालन के समर्थन की ओर निर्दिष्ट सिद्ध करता है।

याज्ञवल्क्य को स्मृतिकारों में दूसरा स्थान प्राप्त है। इसके अनुसार शिष्य को स्वाध्यायरत करना गुरु का दायित्व है। गुरु से अपेक्षित है कि वह शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे महाव्याहृतियों के साथ वेद पढ़ाए तथा शौच के नियमों की शिक्षा दे।[६१] ब्रह्मचारी के लिए गायत्री के नित्यप्रति जाप को अपरिहार्य दर्शाकर याज्ञवल्क्य ने स्वाध्याय की प्रणवजपविषयक मान्यता को समर्थन दिया है।[६२] याज्ञवल्क्य ने गुरु का महत्त्व शिष्य को वेदज्ञान से युक्त कराने की योग्यता में निहित स्वीकार किया है।[६३] याज्ञवल्क्य ने वेद को यज्ञ तथा तपस्या आदि शुभ कर्मों का अवबोधक मानते हुए उसे द्विज जातियों के लिए उपकारक दर्शाया है। इस माध्यम से अन्य व्रतों और नियमों के यथेष्ट पालन को स्वाध्याय के आश्रित दर्शाया है।[६४] मनु की भाँति याज्ञवल्क्य भी स्वाध्याय को धर्मसाधनसम्बन्धी सम्पन्नता का स्रोत स्वीकार करते हैं। याज्ञवल्क्य ब्रह्मचर्य आश्रम में वेदाध्ययन को आश्रमपर्यन्त आवश्यक स्वीकार करते हैं।[६५] मनु की भाँति याज्ञवल्क्य ने भी स्वाध्याय में रति को वानप्रस्थ आश्रम धर्म का अंग घोषित किया है–

दान्तस्त्रिषवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात्।
स्वाध्यायवान्दानशीलः सर्वसत्त्वहिते रतः।।[६६]

याज्ञवल्क्य ने वेदों, पुराणों, अंगविद्याओं, उपनिषदों, इतिहासात्मक श्लोकों, सूत्रों, भाष्यों और दूसरे वाङ्मय की रचना का श्रेय ऋषियों को दिया है। तदनुसार उसने वेदसम्मत वचन, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, दम, श्रद्धा, उपवास और आत्मा की स्वतन्त्रता को ज्ञान के हेतु माना है। स्वाध्याय को ज्ञान का कारण दर्शाकर याज्ञवल्क्य ने वेद को समस्त धर्म का मूल घोषित किया है।[६७] याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रतिपादित स्वाध्याय-माहात्म्य मनु का समर्थन सिद्ध होता है। इसमें स्वाध्याय की अपरिहार्यता इसको धर्म का लक्षण मानकर स्पष्ट की गई है।

गौतम आदि अन्य स्मृतिकारों ने मनु तथा याज्ञवल्क्य की तरह वर्णाश्रम धर्मपालन में स्वाध्याय को आश्रम तथा वर्णधर्म का अनन्य लक्षण घोषित किया है। गौतमस्मृति के ब्रह्मचारी के धर्मवर्णन में जहाँ ब्रह्मचारी के लिए स्वाध्याय का सेवन अपेक्षित है, वहीं ग्रहणीय कर्मों में देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा स्वाध्याय को वांछित घोषित किया गया है।[६८] गौतमस्मृति के अनध्याय वर्णन के अन्तर्गत शौच को स्वाध्याय का परम आश्रय दर्शाया गया है। इसमें स्वाध्याय तभी यथेष्ट माना गया है, जब वह सभी प्रकार के विघ्नों और प्रदूषणों से मुक्त हो।[६९] औशनसस्मृति में स्वाध्याय के लिए न्यूनतम आयु आठ वर्ष घोषित की गई है।[७०] ब्रह्मचारी के लिए प्रणवजपविषयक स्वाध्याय को उसकी परम गति का साधन दर्शाते हुए कहा गया है कि जो प्राणी वेदमाता गायत्री देवी का दिन में मानरहित नित्य जप करता है और इसके अर्थ को समझते हुए जप का आश्रय लेता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।[७१] इससे पूर्व वेद को समस्त प्राणियों का सनातन चक्षु स्वीकार करते हुए उसके स्वाध्याय को अपेक्षित दर्शाया गया है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से सिद्ध होता है क्योंकि मनीषियों के अनुसार अथर्ववेद ही चक्षुर्वेद है। तदनुसार ही यजुर्वेद में प्राणियों से अपनी श्रवणशक्ति को चक्षुर्वेदार्पित करने का परामर्श दिया गया है।[७२] इस स्मृति में ब्राह्मणत्व स्वाध्याय प्रवृत्ति में निहित दर्शाया गया है। अन्यथा आचरण करने वाले प्राणी को ब्राह्मणत्व से हीन दर्शाया गया है। औशनस का विश्वास है कि ऋचाओं का अध्ययन देवतृप्ति का स्रोत है। उसे देवों की वही अनुकम्पा प्राप्त होती है, जो याज्ञिकों को देवार्पित क्षीर की हवि से होती है। यजुर्वेद के नित्यप्रति अध्ययन को दधियज्ञ दर्शाया गया है। नित्यप्रति साधारण स्वाध्याय घी की आहुतियों के समान माना गया है। आंगिरस अथर्ववेद के नित्य अध्ययन को देवों की प्रसन्नता का स्रोत दर्शाया गया है। इस स्मृति में स्वाध्याय का क्षेत्र वेदाध्ययन तक सीमित नहीं रखा गया, अपितु इसे धर्म के सभी अंगभूत शास्त्रों, पुराणों, मीमांसा तथा दर्शनग्रन्थों तक व्यापक स्वीकार करते हुए कहा गया है कि इनका स्वाध्याय देवताओं की तृप्ति का मूल है।[७३] प्रणवजप को समस्त अशुभ कर्मों के नाश का परम साधन दर्शाया गया है।[७४] इसके लिए भी कृष्ण पक्ष में वेदांग, निरुक्त तथा पुराणों का अध्ययन अपेक्षित माना गया है।[७५] तदुपरान्त अनध्यायविषयक प्रसंग गौतमस्मृति का समर्थन सिद्ध होते हैं। स्वाध्याय के लिए वेदार्थ का ग्रहण तथा वेदाचार अपेक्षित माना गया है। एक निर्देश के अनुसार द्विजोत्तमों को केवल वेदपाठ

से संतुष्ट नहीं होना चाहिए। केवल मौखिक पाठ तक सीमित रहने वाला ब्राह्मण कीचड़ में फंसी हुई गौ की तरह दुःखी होता है–

न वेदपाठमात्रेण सन्तुष्टो वै द्विजोत्तमः।
पाठमात्रावसानस्तु पंके गौरिव सीदति।।[७६]

स्मार्त साहित्य में स्वाध्याय को सर्वग्राह्यता प्रदान करने के लिए मात्र स्वाध्यायविषयक पूर्वप्रतिपादित मान्यताओं के समर्थन का ही आश्रय नहीं लिया गया, अपितु उनके संवर्धन के माध्यम से उन्हें व्यापकता प्रदान करने हेतु पुरुषार्थ भी किया गया है। वसिष्ठस्मृति के अनुसार वेदाध्ययन के अधिकार की प्राप्ति के बिना ब्राह्मण वृत्ति से शूद्रतुल्य होता है। यह अधिकार उसे मेखलाबन्धन संस्कार से प्राप्त होता है, जो उसे द्विज की संज्ञा से युक्त कराता है। इस स्मृति के अनुसार वेदाध्ययन का अधिकार उसी को प्राप्त है जो अकुटिल, असूयारहित तथा संयम से युक्त हो। उसके लिए स्वाध्यायविषयक मेधा तथा शौच का उपार्जन आवश्यक है।[७७] वसिष्ठस्मृति में ब्राह्मण के लिए छः कर्म अपरिहार्य दर्शाए गए हैं, वे हैं–स्वाध्याय, अध्यापन, यज्ञकर्म करने में प्रवृत्ति, यज्ञकर्म कराने में तत्परता, दान देना और दान लेना। वसिष्ठ ने स्वाध्याय को क्षत्रिय का धर्म घोषित करके क्षत्रिय धर्म के पालन के लिए इसकी आवश्यकता स्पष्ट की है।[७८] इस स्मृति के अनुसार आचार्य एवं उपाध्याय की पदवी स्वाध्याय पर आश्रित है। उपनयन संस्कारोपरान्त समस्त वेदों का अध्ययन ब्राह्मण को आचार्य की पदवी से विभूषित करता है। जबकि वेद के एक भाग तथा निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष आदि छः अंगों का अध्यापन उसे उपाध्याय की पदवी से अलंकृत करता है।[७९] दानविषयक पात्रता के लिए स्वाध्याय को अपेक्षित दर्शाकर इसे ब्राह्मण धर्म का अंग दर्शाया गया है।[८०] स्वाध्याय को ब्राह्मणों की शिष्टता का स्रोत दर्शाकर जीवन में इसकी आवश्यकता की महत्ता स्पष्ट की गई है।[८१] वसिष्ठ ने गृहस्थाश्रम वर्णन में गृहस्थविषयक दायित्वों के यथेष्ट निर्वाह के लिए गार्हस्थ्यों को स्वाध्याययुक्त रहने का आग्रह किया है। इस स्मृति में संन्यासी के लिए वेद का त्याग न करने का आग्रह उपलब्ध होता है। वसिष्ठ के अनुसार वेद का संन्यास कर देने से मनुष्य शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।[८२] वसिष्ठ ने स्वाध्यायप्रशस्ति के लिए विशिष्ट प्रकरण की रचना की है जो 'वेदाध्ययन-प्रशंसावर्णनम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय द्वारा प्राप्त ज्ञानाग्नि समस्त पापों का परिहार करने में समर्थ है। उनके अनुसार समस्त तपस्याएँ ऋचा के अध्ययन के

बराबर हैं।[८३] वसिष्ठ का मत है कि वेदनिर्दिष्ट कर्तव्य कर्म का जितेन्द्रियतापूर्वक पालन परम गति का दायक है।[८४] विविध स्मृतियों में किया गया स्वाध्याय-विषयक परिशीलन इसके प्रति सभी धर्मप्रवर्तकों के मतैक्य को सिद्ध करता है।

पराशरस्मृति में ब्राह्मण के लिए जो छः कर्म नित्य व्यवहार्य दर्शाए गए हैं, वे हैं—सन्ध्या, स्नान, जप, स्वाध्याय, देवपूजा, वैश्वदेव तथा अतिथिसत्कार।[८५] इसी का पुनरुद्धरण गृहस्थ आश्रम-धर्म के वर्णन में उपलब्ध होता है।[८६] सम्वर्तस्मृति में वेद के स्वाध्याय से पूर्व प्रणव के प्रयोग का परामर्श स्वाध्याय को उभयविध निर्वाह की अपेक्षा को स्पष्ट करता है।[८७] ब्रह्मचारी के लिए प्रणवजप को शौच का साधन दर्शाकर प्रणवजप-सम्बन्धी स्वाध्याय की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। दक्षस्मृति के अनुसार गृहस्थी के लिए सन्ध्या, उपासना, जप, होम देवार्चन, यथाशक्ति अतिथिसेवा अपेक्षित दर्शायी गयी है—

सन्ध्यास्नानं जपोहोमः स्वाध्यायो देवतार्च्चनम्।
वैश्वदेवं तथातिथ्यमुन्धृतञ्चापि शक्तितः।।[८९]

व्यासस्मृति में ब्रह्मचारी के लिए वेदाध्ययन से पूर्व प्रणवजप का आश्रय अपेक्षित दर्शाया गया है। तदुपरान्त स्वाध्यायरत होकर वेदोक्त कर्म करने का आग्रह किया गया है।[९०] व्यास के अनुसार विधिवत् किया गया स्वाध्याय ब्राह्मण को शाप तथा वरदान देने की शक्ति से सम्पन्न कराने में समर्थ है। इसमें उसे ऋषियों के लोक की प्राप्ति का पात्र दर्शाया गया है।[९१] हारीतस्मृति के अनुसार स्वाध्याय की सिद्धि तत्रनिर्दिष्ट वेदव्रत के निर्वाह के बिना असंभव है। इससे अभिप्राय स्वाध्याय को वेद का मन से ग्रहण सिद्ध करना है।[९२] प्रणवजप को गृहस्थाचारियों की अपेक्षा सिद्ध किया गया है।[९३] इसमें जप का वाचिक, उपांशु तथा मानसिक वर्गीकरण किया गया है। मन्त्रों का आरोह-अवरोहयुक्त उच्चारण वाचिक जप दर्शाया गया है। मन्त्रों का श्रवणयोग्य उच्चारण उपांशु जप कहा गया है, जबकि मन्त्र का मनन मानसिक जप स्वीकार किया गया है।[९४] जप का यह त्रिविध वर्गीकरण प्रणवजप-सम्बन्धी स्वाध्याय की व्यापकता का परिचायक है। इस स्मृति में संन्यासी के लिए प्रणवजप अपेक्षित दर्शाया गया है। इसके अनुसार संन्यासी द्वारा किया गया प्रणवजप उसकी परम पद की प्राप्ति में सहायक होता है। योगसिद्धि को स्वाध्याय और तपश्चर्या के आश्रित दर्शाकर

हारीतस्मृतिकार ने स्वाध्याय को योगांग घोषित किया है। स्मार्त साहित्य में स्वाध्याय-निदर्शन का संक्षिप्त विवेचन स्वाध्याय को शिष्टाचार का अभिन्न अंग, आश्रम धर्म के यथेष्ट निर्वाह का मूल, वर्णधर्म के पालन का अभीष्ट तत्त्व, ब्रह्मपद की प्राप्ति का परम आश्रय तथा योगसाधना का आधार घोषित करता है। स्वाध्याय को स्मार्त साहित्य में प्राप्त विस्तार एवं व्यापकता इसको सार्वकालिक प्रासंगिकता प्रदान करने के लिए सुनियोजित की गई है।

रामायण में स्वाध्याय-प्रतिष्ठा

रामायण छिन्नमिथुन क्रौञ्च के वध पर व्यक्त वाल्मीकि के द्रवीभूत अन्तर्नाद का परिणाम है। वाल्मीकि की ऋषि पद की प्राप्ति का स्रोत भी उनके द्वारा नित्य निरन्तर किया गया राम महामन्त्र का प्रणवजप है। निषाद के लिए प्रयुक्त अयोग्य कथन पर उनका मन पश्चात्ताप से विह्वल हो उठता है और वे स्थितप्रज्ञ होकर ब्रह्मा से अपने अनिष्ट कथन को श्लोक रूप तक सीमित रखने का आग्रह करते हैं। उनकी इस शंका का समाधान राम के चरित्राख्यान की श्लोकबद्ध रचना के परामर्श में उपलब्ध होता है। वाल्मीकि ने राम को मर्यादा पुरुषोत्तम चित्रित करके उनके चरित्र-चित्रण में मानव धर्मविषयक समस्त मर्यादाओं को व्यवहृत दर्शाया है। इसमें स्वाध्यायविषयक संक्षिप्त परिशीलन का निष्कर्ष इस प्रकार उपलब्ध होता है–

रामायण का समारम्भ नारद की तप के प्रतिनिष्ठा और स्वाध्यायप्रशस्ति से होता है।[९५] वाल्मीकि के अनुसार मर्यादा का आदर्श दम, क्रोधराहित्य, कान्तिमत्ता तथा परनिन्दाराहित्य में निहित है।[९६] नारद ने राम के संक्षिप्त चरित्र-चित्रण में उन्हें वेद-वेदांगों का तत्त्ववेत्ता दर्शाया है। यह स्वाध्याय को राम के आदर्श चरित्र का एक अंग घोषित करता है। नारद के अनुसार राम अखिल शास्त्रों के तत्त्वज्ञ, स्मरणशक्ति से युक्त तथा प्रतिभासम्पन्न हैं। ये सभी गुण स्वाध्याय के नित्य निरन्तर पालन द्वारा ही प्राप्य हैं।[९७] अयोध्यापुरी के महत्त्व वर्णन में इसका महत्त्व इसमें वेदपारंगत ब्राह्मणों के निवास में निहित दर्शाया गया है, जो अयोध्या को स्वाध्यायोपयोगी वातावरण से सम्पन्न सिद्ध करता है।[९८] वहाँ के ब्राह्मणों को स्वाध्याय में रत तथा प्रतिग्रह से निवृत्त दर्शाकर सामान्य प्राणियों में स्वाध्याय की प्रेरणा जागृत करने का प्रयास किया गया है।[९९] रामायण में शृंगी मुनि की स्वाध्याय में रति के माध्यम से इसे ऋष्युचित गुण सिद्ध किया गया है।[१००] अरण्यकाण्ड में

राम द्वारा विविध ऋषियों को दिए गए रक्षा का आश्वासन उपलब्ध होता है, जिनमें वैखानस, वाल्खिल्य, समप्रक्षाल, मरीचिप, बहुसंख्यक, अश्मेकुट्ट तथा सजप आदि हैं। सजप से अभिप्राय निरन्तर जपयुक्त योगी है। जप स्वाध्याय के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। इस माध्यम से प्रणव जपरूप स्वाध्याय को ईश्वर द्वारा रक्षित दर्शाया गया है।[१०१] रामायण में स्वाध्याय-विषयक सन्दर्भ स्वाध्याय को विविध फलों की प्राप्ति में सहायक सिद्ध करते हैं। राम को स्वाध्याय का मूर्तिमान् रूप दर्शाकर वाल्मीकि ने स्वाध्याय को जनानुकरणीय बनाने का प्रयास किया है।

महाभारत में स्वाध्याय-संस्तुति

कोई भी ग्रन्थ रचनाकार द्वारा दिए गए भिन्न नाम से तब तक विख्यात नहीं होता जब तक वह उस नाम की सार्थकता का द्योतक न हो, जो उसे दिया गया है। महाभारत का दूसरा विख्यात नाम आचार-संहिता है। इसे दिए गए विश्वकोश आदि अन्य नाम उस ख्याति को प्राप्त नहीं कर सके, जो आचार-संहिता को प्राप्त है। इस नाम में इसका रचनोद्देश्य पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। व्यास द्वारा जो अन्य परम संहिता रची गई उसका नाम परमहंस संहिता है, जो श्रीमद्‌भागवतपुराण के नाम से प्रसिद्ध है। उसके बारे में विख्यात है कि व्यास ने उसकी रचना मुमुक्षुओं द्वारा प्रस्तुत आग्रह से प्रभावित होकर की थी। महाभारत की रचना के पश्चात् भक्त और संन्यासीगण व्यास के सामने उपस्थित हुए और उनसे आग्रह किया कि वे उनके लिए ऐसी ही आचार-संहिता का निर्माण करें जो उन्होंने गृहस्थियों के लिए महाभारत के रूप में किया था। व्यास ने महाभारत की रचना लोकपरित्राण हेतु की है। इसका उद्देश्य अन्य उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाओं की भाँति लोकमंगल की साधना है। अभ्युदयसाधक और निःश्रेयससमर्थक समस्त गुणों से सम्पन्न होने के कारण लोग इसे समस्त प्राणियों के धर्मविषयक संशयों के परिहार का स्रोत मानते हैं। उत्कृष्ट साहित्य का उद्देश्य प्राणियों को कान्तासम्मत उपदेश के माध्यम से चतुर्फल की प्राप्ति कराना है। ये हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से प्रथम तीन अभ्युदयसम्बन्धी है और अन्तिम निःश्रेयससम्बन्धी। इनकी प्राप्ति के लिए जो पुरुषार्थ वांछित है, उस पुरुषार्थ हेतु जो दायित्व निर्वाह्य हैं, उन सभी का विशद निरूपण महाभारत का प्रतिपाद्य विषय है। महाभारत के शान्तिपर्व में व्यास ने स्मार्त धर्म द्वारा प्रतिपादित पाँच यमों तथा पाँच नियमों को धर्म की

दस मर्यादाओं की संज्ञा दी है और उनके सदा सर्वदा पालन को मनुष्य का परम कर्तव्य घोषित किया है। इन सभी मर्यादाओं का प्रतिपादन पूर्व प्राप्त तद्विषयक आश्रयों के आधार पर ही हुआ है। व्यास ने महाभारत में जिस धर्म का सम्पादन किया है, वह सनातन धर्म है। यह व्यक्ति द्वारा पूर्णरूपेण विहित होने पर समस्त लोक को धारण (पोषण) करने की योग्यता से युक्त हो जाता है। यह धर्म विविध रूपों से युक्त होने पर भी एकरूपात्मक है। महाभारत में विवेचित विविध धर्मों का परिशीलन ही वह साधन है जो इसमें प्रतिपादित धार्मिक मान्यताओं के स्वरूप-निर्धारण में सहायक सिद्ध हो सकता है।

अन्य यम-नियमों की भाँति महाभारत में स्वाध्यायविषयक सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। ययाति तथा अष्टक के संवाद में प्राप्त आश्रमधर्म के विवेचन के अन्तर्गत ब्रह्मचारी के लिए स्वाध्याय अनिवार्य दर्शाया गया है।[१०२] संन्यासियों द्वारा मौनव्रत का आश्रय उचित दर्शाकर उनके लिए प्रणवजपरूपी स्वाध्याय में प्रवृत्ति अपेक्षित स्वीकार की गई है।[१०३] व्यास के अनुसार तीर्थों के फल को भोगने की योग्यता से युक्त होने के लिए हाथ, पाँव, विद्या, तप तथा कीर्ति का वशीकरण आवश्यक है। इस माध्यम से स्वाध्याय-प्रवीणता के महत्त्व को विद्या पर अधिकार द्वारा स्पष्ट किया गया है।[१०४] उत्तम लक्षणों के विवेचन में स्वाध्याय, तपस्या, व्रतसेवा, गुरुपूजा तथा सत्यधर्म के निर्वाह को उत्तम लक्षण घोषित किया गया है। यह कथन उत्तमत्ता हेतु स्वाध्याय के निर्वाह को यथेष्ट घोषित करता है।[१०५] तपस्या तथा स्वाध्याय को परलोक में सुख का साधन दर्शाकर निःश्रेयससिद्धि स्वाध्याय के पालन में निहित दर्शायी गयी है–

ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान्।
जितेन्द्रिया मूतहिते निविष्टास्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकाः।।[१०६]

इसके विपरीत कहा गया है कि जो लोग न विद्या पढ़े, न तप करें, न दान करें, न सन्तानवृद्धि का उपाय करें उन दुर्भाग्यशालियों को इस लोक और परलोक में कहीं भी सुख नहीं मिलता।[१०७] स्वाध्याय में प्रवृत्ति को सुख का साधन तथा स्वाध्याय से निवृत्ति को दुःख का मूल दर्शाकर जनसाधारण को स्वाध्याय के प्रति उन्मुख करने का प्रयास किया गया है। धर्मव्याध द्वारा किए गए शिष्टाचारवर्णन में स्वाध्याय को शिष्टाचार का अंग दर्शाया गया है। इससे अभिप्राय इसके पालन को जनसाधारण में अनुप्रेरित

करना है।[१०८] इस वर्णन के अनुसार स्वाध्याय मनुष्य को सत्य से अवगत कराता है। सत्य से शम का प्रादुर्भाव होता है। शम से त्याग की भावना जन्म लेती है। इन सबका सार शिष्टाचार दर्शाया गया है।[१०९] इस माध्यम से स्वाध्याय को सद्वृत्तियों का उत्पत्तिस्थान दर्शाकर जीवन में इसके निर्वाह के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है। व्यास ने जिन तीन धर्मों को युक्तिसंगत माना है, वे हैं—वेदोक्त धर्म, धर्मशास्त्रोक्त धर्म एवं शिष्टों द्वारा विहित धर्म। इस माध्यम से स्वाध्याय के उभयविध निर्वाह की अपेक्षा स्पष्ट की गई है। इनमें से वेदोक्त धर्म परम धर्म घोषित करके स्वाध्याय द्वारा इसके ज्ञान को अपरिहार्य सिद्ध किया गया है—

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचीर्णश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्।।[११०]

स्वाध्याय में प्रवीणता को सज्जनों द्वारा विहित आचार का अंग घोषित करके जीवन में इसकी आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[१११] स्वाध्याय को परम धन दर्शाकर प्राणियों को इसके निर्वाह के लिए प्रेरित किया गया है।[११२] यक्ष तथा युधिष्ठिर के संवाद में विद्या को सर्वोत्तम धन दर्शाकर उत्तम जीवन के निर्वाह के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[११३] व्यास ने धर्मविषयक मान्यताओं के प्रतिपादन के लिए अभीष्ट स्रोतों का आश्रय लिया है। इसके लिए विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा दिए गए उपदेशों का उद्धृत किया है। आरण्यकपर्व में पाण्डवों की वनवास-अवधि में उन्हें मार्कण्डेय द्वारा दिया गया सत्ता की पुनर्प्राप्ति का आश्वासन अनेक आख्यानों से युक्त है। इसमें शिष्टाचार के प्रतिपादन के लिए धर्मव्याध के आख्यान को माध्यम बनाया गया है। धर्मव्याध आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय में पारंगत है। उनके द्वारा ब्राह्मण को दिया गया अनुभव पर आधारित उपदेश उसकी शंकाओं के समाधान की योग्यता से युक्त सिद्ध होता है। इसमें स्वाध्यायविषयक मान्यताओं को साधारणीकरण से सम्पन्न करने का सफल प्रयास उपलब्ध होता है।

उद्योगपर्व में विदुर ने पाण्डित्य को पदार्थों की सत्यता के ज्ञान, कार्यविधि ज्ञान तथा कार्योपाय ज्ञान में निहित स्वीकार किया है। यह पाण्डित्य के लिए स्वाध्याय की अपेक्षा को स्वयं सिद्ध कर देता है।[११४] उनके अनुसार पण्डित के लिए ग्रन्थ के तात्पर्य का बोध आवश्यक है, जो स्वाध्याय द्वारा ही संभव है। उनका मत है कि पण्डित की संज्ञा का पात्र वही पुरुष है जिसकी विद्या बुद्धि का अनुसरण करती है और बुद्धि विद्या का

अनुसरण करती है। विद्या और बुद्धि के परस्पर आश्रय की चर्चा वेदाध्ययनविषयक स्वाध्याय और आत्मचिन्तनसम्बन्धी स्वाध्याय की आवश्यकता को स्वयं स्पष्ट कर देती है।[115] उनके अनुसार पण्डित धनसम्पन्न, विद्या में पारंगत तथा ऐश्वर्य से युक्त होकर भी उद्दण्डतारहित रहता है। वस्तुतः स्वाध्याय में प्रवीणता के लिए उद्दण्डता से रहित रहना आवश्यक दर्शाया गया है।[116] मनुष्य के शोभावर्धक गुण बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान पराक्रम, वाक्-संयम, यथाशक्ति दान तथा कृतज्ञता स्वीकार किए गए हैं। इससे स्वाध्याय प्राणियों की शोभावृद्धि का मूल सिद्ध होता है।[117] विदुर ने धृतराष्ट्र के लिए शान्ति के जिन उपायों को यथेष्ट माना है, वे हैं–विद्या, तप इन्द्रियनिग्रह और लोभत्याग। इस माध्यम से विदुर ने धृतराष्ट्र को शान्ति की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय के त्रिविध निर्वाह (आत्मचिन्तन, वेदाध्ययन तथा जप) का परोक्ष परामर्श दिया है।[118] विदुर ने सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्य कर्म तथा उत्तम तपस्या को सुख की वृद्धि का मूल घोषित किया है। इस युक्ति में भी स्वाध्याय के निर्वाह की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[119] विदुर ने ऊर्ध्व लोक की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय को अपेक्षित स्वीकार किया है।[120] उनके अनुसार वैश्य द्वारा स्वाध्याय का निर्वाह उसके लिए स्वर्ग लोक में दिव्य सुखों की सिद्धि का साधन है।[121] ब्राह्मण के लिए स्वाध्याय को ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन सिद्ध करके महाभारतकार ने स्वाध्यायविषयक श्रौत तथा स्मार्त विश्वासों को पूर्ण समर्थन दिया है।[122] विदुर द्वारा किया गया वर्णधर्म का विवेचन स्वाध्याय को वर्णधर्म का अंग घोषित करता है। स्वाध्याय को ब्राह्मणों की परम निधि घोषित करके इसके आश्रय को उन्हें ब्रह्म की साक्षात् मूर्ति सिद्ध करने की योग्यता से युक्त दर्शाया गया है।[123] स्वाध्याय को ब्राह्मण के बारह व्रतों में से एक घोषित करके ब्राह्मण के लिए स्वाध्याय सर्वथा अपरिहार्य दर्शाया गया है।[124] सनत्सुजात ने आत्मचिन्तनजन्य स्वाध्याय द्वारा प्राप्त सत्य में स्थिति को ब्रह्मज्ञान का मूल दर्शाया है–

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति कश्चिद्वेदान्बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान्न स वेद वेद्यं सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्।।[125]

सनत्सुजात ने स्वाध्याय के माध्यम से ब्रह्मसाक्षात्कार को संभव दर्शाकर स्वाध्याय की अपेक्षा को स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त की है।[126] सनत्सुजात द्वारा किया गया आश्रमधर्म का विवेचन स्वाध्याय को ब्रह्मचर्य आश्रमधर्म का अंग घोषित करता है। यह कथन तद्विषयक स्मार्त निर्देशों

का सर्वथा अनुमोदन है।[१२७] उद्योगपर्व का मुख्य विषय यद्यपि पाण्डवों और कौरवों द्वारा सैन्यसंग्रह तथा सन्धिप्रयास है, तो भी धृतराष्ट्र के विषाद के परिहार के लिए इसमें विदुर के नीतिकथन तथा सनत्सुजात के तत्त्वज्ञान वर्णन के माध्यम से स्वाध्याय की अपेक्षा स्पष्ट करने का प्रयास सर्वथा सफल सिद्ध होता है। विदुर के नीतिकथन में स्वाध्यायविषयक स्मार्त मान्यताओं का अनुमोदन उपलब्ध होता है जबकि सनत्सुजात द्वारा प्रतिपादित स्वाध्याय महत्ता तद्विषयक औपनिषदिक तत्त्वज्ञान का समर्थन सिद्ध होती है।

भीष्मपर्व में स्वाध्यायविषयक मान्यताओं की सार्थकता की सिद्धि के लिए कृष्णार्जुन उपदेश का आश्रय लिया गया है। भीष्मपर्व का यह अंश एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रतिपाद्य विषय औपनिषदिक तत्त्वज्ञान की संश्लिष्टता को सरलता से युक्त करना है, ताकि साधारण प्राणी उपनिषदों में प्रतिपादित मोक्षसाधनों का अवलम्बन लेने के योग्य हो सकें। तदनुसार ही श्रीमद्भगवद्गीता 'गीतोपनिषद्' के नाम से विख्यात है।[१२८] भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार वेदवाक्य का ज्ञान आत्मचिन्तन के योग के बिना एकांगी है। स्थितप्रज्ञता के लिए स्वाध्याय का उभयविध आश्रय आवश्यक है। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार ज्ञानपूर्वक अर्जित जितेन्द्रियता तथा निष्काम कर्मानुष्ठान सर्वोत्तम है। इसमें निष्काम कर्मानुष्ठान के लिए आत्मचिन्तनसम्बन्धी स्वाध्याय की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[१२९] भीष्मपर्व में स्वाध्याय को सम्यक्दर्शी महात्माओं तथा ज्ञानियों से सत्संग द्वारा प्राप्य दर्शाकर ज्ञानविषयक जिज्ञासा के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।[१३०] ज्ञान को संसार की पवित्रतम वस्तु दर्शाते हुए आत्मज्ञान को कर्मयोग की सिद्धि में निहित दर्शाया गया है।[१३१] आत्मचिन्तन-विषयक स्वाध्याय से जन्य ज्ञान के लिए संयम, जितेन्द्रियता, श्रद्धा तथा तद्विषयक निष्ठा का आश्रय अपेक्षित घोषित किया गया है।[१३२] इस पर्व के अनुसार स्वयं पर विजय ही स्वयं से बन्धुत्व है और स्वयं से पराजय ही स्वयं से शत्रुता। यह युक्ति आत्मचिन्तन की अपेक्षा को स्वयं सिद्ध कर देती है।[१३३] श्रीकृष्ण ने आत्मज्ञानियों को अपनी आत्मा स्वीकार किया है, जो आत्मचिन्तन की अपरिहार्यता का निर्देश सिद्ध होता है।[१३४] भीष्मपर्व में वेदत्रयी में उक्त कर्मों के सम्पादन को स्वर्गलोक की प्राप्ति का साधन दर्शाते हुए स्वाध्याय को स्वर्गसिद्धि का मूल घोषित किया है।[१३५] इस पर्व में प्रणवजप को ब्रह्मप्राप्ति का साधन दर्शाकर स्वाध्याय के प्रणवजपरूपी पक्ष को सुदृढ़

किया गया है।[136] ज्ञानात्मक त्रिगुणविवेचन के अनुसार वही ज्ञान सात्त्विक घोषित किया गया है, जिससे यह ज्ञात होता हो कि सभी प्राणियों में एक ही अविभक्त तत्त्व विद्यमान है। वस्तुतः इसमें अद्वैत समर्थनविषयक आत्मचिन्तन की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[137] भीष्मपर्व में उपलब्ध स्वाध्यायचर्चा स्वाध्याय को आत्मचिन्तन सिद्ध करने को समर्पित है। इसमें आत्मज्ञान को शास्त्रज्ञान से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। ज्ञानविषयक औपनिषदिक मान्यताओं को समर्थन देकर व्यास ने श्रौत साहित्य द्वारा प्रतिपादित स्वाध्याय का अनुमोदन करते हुए इसे समस्त प्राणियों के संशयजन्य विषाद के परिहार का परम आश्रय सिद्ध किया है।

महाभारत की रचना में शान्तिपर्व को शीर्षस्थान प्राप्त है। इसमें मनुष्य के पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए जिस साधनसामग्री के समुच्चय का संकलन हुआ है, वह सचमुच ही इसे पंचम वेद की संज्ञा का पात्र सिद्ध करता है। इसमें व्यास ने समस्त वेदशास्त्रों के ज्ञान, पूर्ववर्ती कपिल तथा पतञ्जलि जैसे दार्शनिकों तथा योगियों के अनुभव का सार, अष्टावक्र, जनक, मंकि तथा अन्य विवेकज ज्ञानियों के ज्ञान का सार एवं याज्ञवल्क्य तथा मनु जैसे धर्मप्रवर्तकों के धर्मनिर्देशों को एकत्रित करके उन सभी में साम्यसिद्धि का मनोवैज्ञानिक प्रयास किया है। धर्म तथा जीवनविषयक कोई भी ऐसा पक्ष नहीं जिसकी चर्चा शान्तिपर्व में उपलब्ध नहीं होती। व्यास का उद्देश्य प्राणियों को सर्वथा धर्मोन्मुखी बनाना था। उनका विश्वास है कि धर्म का आश्रय ही परम आश्रय है। उन्होंने विविध आश्रयों से यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए निर्दिष्ट विविध पथ एक ही लक्ष्य को समर्पित है और वह लक्ष्य है—मनुष्य में ईश्वर की कण-कण में विद्यमानता के प्रति अटल विश्वास की जागृति। इसके लिए जिन विविध आश्रयों की आवश्यकता है वे हैं—समबुद्धि की प्राप्ति, समदृष्टि की उपलब्धि, समभाव का प्रादुर्भाव, ब्रह्मभाव में विश्वास तथा भगवन्मयता का लाभ। इसके लिए मनुष्य से जो पुरुषार्थ वांछित है उसकी प्रतिष्ठा इनके लिए किए गये प्रयत्नों को पुरस्कार्य दर्शाकर की गई है। व्यास ने धर्म के जिन लक्षणों को धर्ममर्यादा की संज्ञा दी है, शान्तिपर्व में विविध अवलम्बनों के माध्यम से उन सभी का विशद विवेचन तथा तर्कसंगत प्रस्तुतीकरण उपलब्ध होता है। इसमें प्रतिपादित स्वाध्याय का स्वरूप सचमुच ही सरल, सर्वबोधगम्य और सर्वग्राह्य होकर मुखरित हुआ है।

शान्तिपर्व के राजधर्म वर्णन में राजा के लिए जिस आचार का आश्रय

स्वर्गलाभदायक सिद्ध किया गया है उसके अन्तर्गत स्वाध्याय, राष्ट्र का उत्तम पालन, समस्त वर्णों का स्वधर्म के स्थापन तथा प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए पुरुषार्थ में रति अपेक्षित दर्शायी गयी है।[१३८] आश्रमधर्म की चर्चा के अन्तर्गत वेदाध्ययन, क्षमा, आचार्य की पूजा और गुरुसेवा ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मलोक की प्राप्ति के साधन दर्शाए गए हैं।[१३९] स्वाध्याय में तत्पर और स्वधर्म में रत समस्त प्राणियों की रक्षा तथा पालन राजा का धर्म दर्शाकर भीष्म ने राजधर्म में स्वाध्यायविषयक दायित्व की अपेक्षा स्पष्ट की है।[१४०] राजा के लिए दानशीलता, यज्ञशीलता, तपस्या तथा वेद-वेदांगों का ग्रहण आवश्यक दर्शाया गया है। इस माध्यम से स्वाध्याय को राजधर्म का अंग सिद्ध करने का सफल प्रयास किया गया है।[१४१] राजा के लिए धर्म में निष्ठा, वेदयज्ञ एवं वेदव्रत में परायणता तथा ब्राह्मणों की सदा सर्वदा पूजा व्यवहार्य दर्शाए गए हैं।[१४२] वेदव्रत में परायणता स्वाध्याय द्वारा ही संभव है। अतः इस निर्देश में भी स्वाध्याय के पालन का आग्रह उपलब्ध होता है। ऋत्विजों के लक्षणों की चर्चा के अन्तर्गत उनके लिए छन्द, ऋक्, यजुः, साम तथा श्रुत अर्थात् मीमांसाशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य दर्शाया गया है।[१४३] इस दृष्टि से स्वाध्याय ऋत्विज का परम धर्म सिद्ध होता है। सच्चरित्र, सुशील, प्रसन्नचित्त और आत्मवित् पुरुष के लिए इस लोक में साधुता तथा परलोक में सद्‌गति सुलभ दर्शायी गयी है।[१४४] इस परामर्श में आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय के निर्वाह को सद्‌गति का साधन दर्शाया गया है। भीष्म ने ज्ञान को आत्मचिन्तन के माध्यम से प्राणियो के उदय और लय का ज्ञान घोषित किया है और इसे शोक से निवृत्ति का मूल माना है।[१४५] उनके अनुसार जो लोग तत्त्वज्ञ नहीं हैं, वे सुख-दुःख आदि हर्ष-विषादों में घिरे रहते हैं।[१४६] आत्मचिन्तनजन्य आत्मज्योति तथा आत्मसाक्षात्कार की योग्यता के लिए व्यास ने कामनाओं के परिहार के लिये प्राणियों से कच्छप वृत्ति का आश्रय लेने को कहा है—

यदा संहरते कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदात्मज्योतिरात्मा च आत्मन्येव प्रसीदति।।[१४७]

आत्मचिन्तन को सब कुछ प्राप्त करने का साधन दर्शाते हुए कहा है कि जिसका वचन, मन, तपस्या, त्याग तथा योग सदा परब्रह्म में परिणत होते हैं, उसे सब कुछ सुलभ है।[१४८] विद्या को प्राणी का परम बल दर्शाकर स्वाध्याय को मनुष्य की प्रथम अपेक्षा दर्शाया गया है।[१४९] मंकि गीता का सार आत्मचिन्तन द्वारा वैराग्य की उपलब्धि के माध्यम से कैवल्य की प्राप्ति है। इसके लिए उसने विदेह जनक तथा नहुष के पुत्र ययाति के आदर्शों का

अनुकरण किया है।[१५०] शान्तिपर्व में प्रह्लाद के आत्मचिन्तनजन्य ज्ञान को अजगर व्रत के निर्वाह में निहित दर्शाया गया है। स्वाध्याय के लिए अग्निसंस्कार, सत्य कथन, इन्द्रियदमन, दान तथा ईर्ष्याराहित्य का निर्वाह आवश्यक माना गया है।[१५१] स्वाध्याय को अमंगल की चिन्ता से मुक्ति का एकमात्र स्रोत दर्शाया गया है।[१५२] आत्मचिन्तन को आत्मदर्शन की योग्यता से युक्त दर्शाकर इसका उदय पाप से निवृत्ति में निहित स्वीकार किया गया है।[१५३] मनु तथा बृहस्पति के संवाद में वैदिक स्वाध्याय तथा शास्त्रस्वाध्याय की सार्थकता आत्मचिन्तनसम्बन्धी स्वाध्याय में निहित दर्शायी गयी है।[१५४] गुरु-शिष्य-संवाद में आश्रमधर्म के विवेचन के अन्तर्गत गुरु ने वेदविषयक स्वाध्याय को उत्तम ज्ञान की प्राप्ति का मूल दर्शाया है। इसके लिए आत्मचिन्तन का योग अपरिहार्य सिद्ध किया है।[१५५] आत्मचिन्तनजन्य ब्रह्मधर्मभाव के ज्ञान को परब्रह्म का ज्ञान दर्शाते हुए वेदविषयक स्वाध्याय तथा आत्मचिन्तनसाधक स्वाध्याय का पारस्परिक समाश्रय आवश्यक स्वीकार किया गया है।[१५६] ब्राह्मी श्री की उपलब्धि आन्तरिक तथा बाह्य शौच, सन्तोष, तपस्या, वेदाध्ययन तथा ईश्वरप्रणिधान में निहित दर्शायी गयी है–

श्रियं दिव्यामभिप्रेप्सुर्ब्रह्म वाङ्मनसा शुचिः।
शारीरैर्नियमैरुग्रैश्चरेन्निष्कल्मषं तपः।।[१५७]

महाभारतकार ने धर्मज्ञों के दो भेद स्वीकार किए हैं जो वेदज्ञ तथा अवेदज्ञ के नाम से प्रसिद्ध है।[१५८] इनमें से वेदज्ञों को उत्तम स्वीकार किया गया है। वस्तुतः इस माध्यम से धर्म के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वाध्याय को परम आश्रय माना गया है। इस वर्गीकरण में मनु के अमर विश्वास **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** का अनुरणन उपलब्ध होता है। व्यास ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि महाभारत का रचनोद्देश्य वैदिक धर्म को सरलीकरण से संयुक्त करना है। व्यास के अनुसार ब्राह्मण के लिए ब्रह्मज्ञान के विषय में प्रतिष्ठा तथा वेदशास्त्रों में निष्ठा अपरिहार्य है।[१५९] इस दृष्टि से स्वाध्याय के सम्यक् निर्वाह के लिए वेदाध्ययन तथा आत्मचिन्तन का योग परम आवश्यक दर्शाया गया है। द्विज और ब्राह्मण का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसने सशाखोक्त वेदाध्ययन के द्वारा सब कार्यों को समाप्त किया है, वह द्विज है और जो सब भूतों के प्रति समदर्शी है, वह ब्राह्मण है।[१६०] इस अन्तर विवेचन में ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए वेदाध्ययनविषयक स्वाध्याय तथा आत्मचिन्तनजन्य विवेकज ज्ञान के योग को अभीष्ट दर्शाया गया है। शुक तथा भीष्म के संवाद में उपलब्ध

आश्रमधर्म विवेचन में स्वाध्याय को ब्रह्मचारी का धर्म घोषित करके इसकी अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[१६१] गृहस्थ आश्रमी के लिए स्वाध्याय का सेवन अपरिहार्य दर्शाया गया है।[१६२] वानप्रस्थ आश्रम में यज्ञ के समस्त अंगों का सम्पादन आवश्यक दर्शाकर स्वाध्याय का आश्रय स्पष्ट किया गया है।[१६३] संन्यास आश्रम के लिए समस्त कर्मों के त्याग को यथेष्ट मानते हुए आत्मवित् होना आवश्यक दर्शाया गया है। उसके लिए वेदविषयक स्वाध्याय को आत्मसात् करने का प्रयास यथेष्ट दर्शाकर स्वाध्याय का त्रिविध निर्वाह (वेदाध्ययन, आत्मचिन्तन तथा प्रणवजप) आवश्यक दर्शाया गया है।[१६४] इस विवेचन में व्यास ने उपनिषदों में प्रतिपादित धर्म को समस्त आश्रमों के लिए साधारण धर्म स्वीकार किया है। इससे महाभारत की संरचना में औपनिषदिक धार्मिक मान्यताओं का पुनरुल्लेख स्वयं सिद्ध हो जाता है।[१६५] जाजलि तथा तुलाधार के संवाद में स्वाध्यायजन्य ब्रह्मभाव की प्राप्ति मनसा, वाचा, कर्मणा प्राणिमात्र के विषय में पापभाव से सर्वथा निवृत्ति में स्वीकार की गई है। इसका प्रादुर्भाव विवेकज ज्ञान के माध्यम से सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि के आभास में निहित है।[१६६] स्वाध्याय की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए वेद को अप्रामाण्य सिद्ध करने के दुस्साहस को नरक का द्वार घोषित किया गया है।[१६७] वेदविरोधी को कुत्सित गति का पात्र दर्शाकर प्राणियों में स्वाध्याय में प्रवृत्त रहने के संस्कार जगाए गए हैं।[१६८] कपिल तथा स्यूमरश्मि के संवाद में ओंकार को वेद का मूल दर्शाया गया है और यज्ञ की सम्पन्नता के लिए इसका समारम्भ प्रणव के उच्चारण से ही सार्थक स्वीकार किया गया है। इस परामर्श में स्वाध्याय के प्रणवजपविषयक पक्ष की महत्ता स्पष्ट की गई है।[१६९] वेदोक्त कर्म में अनादर, शठता तथा माया को त्याज्य दर्शाते हुए इन्हें स्वाध्याय के दोष स्वीकार किया गया है।[१७०] ब्राह्मण के लिए आत्मचिन्तनजन्य विवेकज ज्ञान को आवश्यक दर्शाते हुए जगत् की नश्वरता के ज्ञान, प्रकृति और विकृति के परिचय, ब्रह्म, द्वैत तथा समस्त भूतों के आश्रयस्थान से भिज्ञता को ब्राह्मण के गुण घोषित करके विवेकज ज्ञान के लिए आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय की अपेक्षा स्पष्ट की गई है। स्यूमरश्मि ने वेदवाक्य, वेदार्थनिर्णायक पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, पातञ्जल तथा तर्कशास्त्रों को आगम दर्शाकर आश्रमधर्म के नित्यप्रति पालन तथा आगम शास्त्रों की उपासना को फलसिद्धि का मूल स्वीकार किया है।[१७१] कपिल ने वेद को समस्त लोगों की धर्मशिक्षा में प्रमाण घोषित करके **'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्'** में विश्वास व्यक्त किया है तथा वेद के कर्मोपासना

काण्ड तथा ज्ञान काण्ड के ज्ञान को अपेक्षित दर्शाकर मानवजीवन में स्वाध्याय के निर्वाह की महत्ता को स्पष्ट किया है।[१७२] कपिल द्वारा स्वाध्यायप्रशस्ति महाभारत की संरचना में पूर्ववर्ती सांख्य दर्शन के योग को स्वयं सिद्ध कर देती है। आत्मचिन्तन द्वारा प्राप्त आत्मपरिष्कार के बिना वेद, तपस्या तथा त्याग की प्राप्ति असंभव दर्शायी गयी है।[१७३] यह निष्कर्ष स्वाध्याय के उभयपक्षीय निर्वाह को यथेष्ट सिद्ध करता है। हंस तथा साध्यगण के संवाद में वेदों के स्वाध्याय को ब्राह्मणों का देवत्व स्वीकार किया गया है तथा साधुता उत्तम व्रतों के पालन में निहित दर्शायी गयी है। इस माध्यम से स्वाध्याय की सर्वविध उपयोगिता सिद्ध करने का सफल प्रयास किया गया है।[१७४] भीष्म ने सांख्य मत और योग मत की यथार्थता की स्वीकृति के माध्यम से वेदाध्ययनविषयक स्वाध्याय और आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय को यथार्थ घोषित किया है। दोनों को परम गति का साधन दर्शाते हुए दोनों मतों के ज्ञान के द्वारा शास्त्ररीति से उनके आचरण को यथेष्ट दर्शाया गया है।[१७५]

वसिष्ठ तथा करालजनक के संवाद में वही स्वाध्याय यथेष्ट माना गया है, जो शास्त्रों के मर्म के यथावत् ग्रहण द्वारा प्राप्त हो, अन्यथा वेदाभ्यास निष्फल स्वीकार किया गया है। मात्र बौद्धिक परिश्रम हेतु स्वाध्याय ग्रन्थ के बोझ ढोने के बराबर माना गया है।[१७६] व्यास उसी स्वाध्याय को सार्थक मानते हैं, जिससे प्राणी तद्विहित ज्ञान को अनुभूत करने की योग्यता से युक्त है। आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति की सार्थकता के लिए शास्त्र का अर्थयुक्त ज्ञान आवश्यक माना गया है।[१७७] याज्ञवल्क्य ने स्वाध्याय का अभिप्राय आत्मज्ञान दर्शाकर आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय के निर्वाह के लिए स्वाध्याय का आश्रय आवश्यक दर्शाया है।[१७८] याज्ञवल्क्य के अनुसार स्वाध्याय का परम उद्देश्य वेद्य पुरुष का साक्षात्कार है, जो वेदार्थ के मनसा, वाचा ग्रहण द्वारा ही संभव है।[१७९] याज्ञवल्क्य ने अपना अनुभव विवेकज ज्ञान से सम्पन्न जिन आत्मविदों के मत पर आधारित स्वीकार किया है, उनके नाम हैं जैगीषव्य, असित, देवल, विप्रर्षि पराशर, बुद्धिमान् वार्षगण्य, भिक्षु, पंचशिख, कपिल, शुकदेव, गौतम, आर्ष्टिषेण, महात्मा गर्ग, नारद, आसुरि, धीमान् पुलस्त्य, सनत्कुमार, महानुभाव शुक्र तथा कश्यप।[१८०] यह उद्धरण महाभारत में यम-नियमों की संरचना में विवेकज ज्ञानियों के योगदान को स्वप्रमाणित सिद्ध करता है। भीष्म ने सब शास्त्रों के स्वाध्याय में रति को परम पद की प्राप्ति का साधन स्वीकार किया है।[१८१] जनक ने

मोक्षलाभ ज्ञान तथा विज्ञान के बिना असंभव दर्शाया है। इस उक्ति में यजुर्वेदोक्त उसी परम विश्वास का अनुरणन उपलब्ध होता है, जिसमें प्राणियों को मृत्युञ्जयता के लिए अविद्या के आश्रय का परामर्श दिया गया है तथा मोक्षलाभ हेतु विद्या के आश्रय का।[१८२] इससे पूर्व अन्य मनीषियों की भाँति जनक ने भी ब्रह्मचर्य के निर्वाह के लिए स्वाध्याय को अपेक्षित स्वीकार किया है।[१८३] नारद द्वारा निर्दिष्ट विविध मलों की चर्चा के अन्तर्गत वेद पढ़कर उसका अभ्यास न करना ही मल स्वीकार किया गया है।[१८४] इस दृष्टि से स्वाध्याय से अभिप्राय वेदज्ञान को आत्मसात् करना है। व्यास ने शुकदेव को अन्तःकरण वृत्ति के विचार हेतु स्वर्ग में वेदों को विभावित करने का परामर्श दिया है।[१८५] भीष्म ने भगवद्प्राप्ति के लिए विद्या, कर्म, शौर्य तथा विस्तृत ज्ञान का आश्रय अनिवार्य माना है, जो स्वाध्याय के उभयविध निर्वाह की आवश्यकता को स्पष्ट करता है।[१८६]

शान्तिपर्व में स्वाध्यायविषयक विश्लेषण के अनुसार स्वाध्याय का त्रिविध पालन ही परम श्रेयस्कर है। स्वाध्याय की सार्थकता वेदोक्त गुणों तथा प्रशस्त कर्मों को व्यवहृत करने में निहित है। स्वाध्याय के लिए कर्म और ज्ञान का अनुसरण यथेष्ट है। महाभारत में निरूपित स्वाध्याय सर्वथा वेदानुकूल, उपनिषत्सम्मत और स्मार्त पोषित है। इसके स्वरूप-विवेचन में व्यास ने समस्त पूर्व प्राप्त आश्रयों का आवश्यकतानुसार भरसक प्रयोग करके मनु की भाँति वेद को समस्त धर्मों का मूल सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है। महाभारतोक्त स्वाध्याय सार्वकालिक और सार्वभौमिक प्रासंगिकता से युक्त है

अनुशासनपर्व का मुख्य विषय दान के महत्त्व का वर्णन, विवाह-पद्धतिविषयक विविध प्रसंगों की व्याख्या तथा श्राद्धकर्म वर्णन आदि है। इसमें स्वाध्यायविषयक मर्यादाओं के अतिक्रमण के भयावह दुष्परिणामों की व्याख्या के माध्यम से कहा गया है कि जो मनुष्य झूठे मुँह से बोलता है, स्वाध्याय पाठ करता है और जो ब्राह्मण अध्ययन के लिए अनुचित समय में मोहवश वेदाभ्यास करता है उसकी आयु और वंश का नाश हो जाता है।[१८७] महाभारत का आचारवर्णन सर्वदा स्मार्त आचारवर्णन के अनुकूल है। महाभारत में प्रतिपादित स्वाध्यायविषयक मर्यादाएँ व्यासस्मृति, दक्षस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा मनुस्मृति में यथारूप उपलब्ध होती है। स्वाध्याय के त्रिविध निर्वाह को शुचिकारक घोषित करते हुए कहा गया है कि ज्ञानजन्यशुद्धि, चरित्रशुद्धि, मनशुद्धि तथा तीर्थशुद्धि से श्रेयस्कर है। भीष्म के अनुसार जो लोग

ज्ञानदीप से निर्मल हुए मन और ब्रह्मज्ञान के बल के सहारे मानस तीर्थ में स्नान करते हैं, वे ही ब्रह्मदर्शी तथा क्षेत्रदर्शी हैं।[१८८] अनुशासनपर्व के अनुसार शास्त्रज्ञान ब्राह्मणत्व का कारण माना गया है।[१८९] यह उक्ति ब्राह्मणों के लिए स्वाध्याय के निर्वाह को अपेक्षित दर्शाती है। केवल अध्ययनयुक्त ब्राह्मणों को पूज्य स्वीकार किया गया है।[१९०] व्यास ने वेदज्ञान और तपस्या को समस्त फलों का दायक घोषित किया है।[१९१] उमा तथा महेश्वर के संवाद में उपलब्ध आश्रमधर्म के विवेचन में देवपूजा, स्वाध्याय तथा अभ्यास को ब्राह्मणधर्म के अंग घोषित किया गया है।[१९२] ब्राह्मणों के लिए स्वाध्यायपाठ और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अपरिहार्य दर्शाया गया है।[१९३] गृहस्थियों के लिए अध्ययनशीलता को अपरिहार्य दर्शाकर इस पर्व में गृहस्थ आश्रम में स्वाध्याय की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। सशाखोक्त वेदपाठ, अग्निहोत्र, दान और अध्ययन को राजा का परम धर्म घोषित करके स्वाध्याय की आवश्यकता स्पष्ट की गई है। सशाखोक्त वेदपाठ, अग्निहोत्र, दान और अध्ययन को राजा का परम धर्म घोषित करके स्वाध्याय की उपादेयता सिद्ध की गई है।[१९४] स्वाध्यायपाठ को ब्राह्मण का मुख्य धर्म दर्शाया गया है। यज्ञकर्म को उसका सनातन धर्म माना गया है और यथाशक्ति विधिपूर्वक उत्तम दान को प्रशस्त धर्म।[१९५] उमा तथा महेश्वर के संवाद में आत्मज्ञान के साधन को ऋषिधर्म घोषित किया गया है, जो उनके द्वारा आत्मचिन्तनरूप स्वाध्याय के पालन का परिचायक है।[१९६] तदनन्तर ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय और शौचयुक्त वैश्य द्वारा की गई यज्ञक्रिया उसे ब्राह्मणत्व का लाभ कराने में समर्थ दिखाई गई है।[१९७] इसी प्रकार क्षत्रिय को ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय में रति अपेक्षित दर्शायी गयी है। महेश्वर ने ब्राह्मणत्व संस्कार, शास्त्रज्ञान और सन्तति में निहित नहीं स्वीकार किया, अपितु पूर्णतया पवित्र चरित्र के निर्वाह में निहित स्वीकार किया है।[१९८] गृहस्थ ब्राह्मण के लिए घर में संहिता अध्ययन उचित कहा गया है तथा स्वाध्याय में रत होकर दान और अध्ययन आवश्यक माना गया है।[१९९] शास्त्रज्ञान, शौच, दया, सत्यप्रतिज्ञता तथा निज धन से सन्तुष्टि को स्वर्ग का मार्ग दर्शाकर इस संवाद में स्वाध्याय की उपादेयता स्पष्ट की गई है।[२००] महाभारतकार ने उमा तथा महेश्वर के संवाद के माध्यम से समस्त लोगों के धर्म-कर्म एवं समस्त मर्यादाओं को पहले से ही आगम शास्त्रों में वर्णित माना है तथा दृढव्रती मनुष्यों को शास्त्रों के प्रमाण के अनुसरणकर्ता स्वीकार किया है।[२०१] यह

उक्ति व्यास द्वारा महाभारत की संरचनात्मक पृष्ठभूमि की स्वीकारोक्ति सिद्ध होती है।

महाभारत में विवेचित स्वाध्यायविषयक सन्दर्भों में आद्यन्त श्रौत एवं स्मार्त मान्यताओं का अनुरणन उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से महाभारत में स्वाध्यायनिरूपण सर्वथा वेदसम्मत, उपनिषदों के अनुकूल तथा स्मार्त साहित्य द्वारा अनुमोदित दिखाई देता है। व्यास ने इस नियम को सरलता, सर्वग्राह्यता तथा सर्वबोधगम्यता से सम्पन्न करके समस्त प्राणियों के लिए सदा सर्वदा निर्वाह्य सिद्ध करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

सन्दर्भ

१. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। योगव्यासभाष्य, २.३२.

२. ऋचं वाच प्र पद्ये। यजुर्वेद, ३६.१.

३. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अंत्रा सरवायः सरव्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।। ऋग्वेद, १०.७१.२

४. उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृणोत्येनाम्।
उतो तवस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।। वही, १०.७१.४.

५. यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।। वही, १०.७१.६.

६. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमां बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे।। वही, १०.७१.७.

७. इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।। वही, १०.७१.६.

८. यजुर्वेद, ३६.१.

६. वही, सुबोध भाष्य, पृ० ५६१.

१०. यजुर्वेद, ३६.२.

११. वही, ३६.३., सुबोध भाष्य, पृ. ६०१–६०२.

१२. तच्चंक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं शृणुयाम।
शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।
यजुर्वेद, ३६.२४.

१३. अन्धं तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।। वही, ४०.१२.

१४. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। वही, ४०.१४.

१५. वही, ४०.१५.

१६. सामवेद, ४५.

१७. सामवेद, २३३.

१८. वही, २४२.

१६. अथर्ववेद, ६.१०.१८.

२०. ऋग्वेद, १.१६४.३६.

२१. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः।। अथर्ववेद, ४.१.१.

२२. वही, ६.४१.१–३.

२३. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। कठोपनिषद्, १.२.२३.

२४. वही, १.३.१३.

२५. वही, २.१.२.

२६. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।। वही, २.१.११.

२७. वही, २.३.१४.

२८. विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति।। प्रश्नोपनिषद्, ४.११.

२६. ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमयं पर चेति।। वही, ५.७.

३०. मुण्डकोपनिषद्, १.२.१.

३१. वही, १.२.६.

३२. वही, २.२.४.

३३. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।। वही, ३.१.५.

३४. वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।। वही, ३.२.६.

३५. वही, ३.२.११.

३६. माण्डूक्योपनिषद्, ८–१२.

३७. तैत्तिरीयोपनिषद्, १.८.

३८. वही, १.६.

३६. वही, २.५.

४०. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.६.

४१. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।। वही, १.१०.

४२. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।। वही, २.८.

४३. वही, २.१४.

४४. वही, ४.८.; ऋग्वेद १.१६४.३६; अथर्ववेद, ६.१०.१८.

४५. अथातः शौव उदगीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज।।
छान्दोग्योपनिषद्, १.१२.१
४६. वही, ८.१५.१.
४७. कौषीतकी-उपनिषद्, १.१.
४८. परमहंसोपनिषद्, १.
४९. आरुण्योपनिषद्, १.
५०. मनुस्मृति, २.२८.
५१. यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि धृतं मधु।। वही, २.१०७.
५२. वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।। वही, २.१०५.
५३. आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्।। वही, २.१६७.
५४. स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितृन्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा।। वही, ३.८१.
५५. स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्माणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्।। वही, ३.७५
५६. वही, ३.२३२.
५७. वही, ४.३५.
५८. वही, ४.५८.
५९. स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।। वही, ६.८.
६०. वही, ४.१७.
६१. याज्ञवल्क्यस्मृति, १.१५.
६२. स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः।। वही, १.२२.
६३. वही, १.३४.
६४. यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम्।
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः।। वही, १.४०.
६५. वही, १.५१.
६६. वही, ३.४८.
६७. वही, ३.१८९–१९०.
६८. गौतमस्मृति, ब्रह्मचारी-धर्मवर्णन तथा गृहस्थाश्रम-वर्णन
६९. वही, अनध्याय वर्णन
७०. कृतोपनयनो वेदानधीयीत द्विजोत्तम।
गर्भाष्टमे व्यष्टमे वा स्वमंत्रोक्त विधानतः।। औशनसस्मृति, ४.
७१. योऽधीतेऽहन्यमाने तां गायत्रीं वेदमातरम्।
विज्ञायार्थं ब्रह्मचारी स याति परमांगतिम्।। वही, १६१.

७२. कुर्यादध्ययनं नित्यं ब्रह्माञ्जलिकृतस्थितिः।
सर्वेषामेव भूतानां वेदश्चक्षु सनातनः।। औशनसस्मृति, १४६.

७३. वही, १५०–१५२.

७४. पुराकल्पे समुत्पन्ना भूर्भूवः स्वर्गनामतः।
महाव्याहृतयस्तिस्त्रः सर्वाशुभनिबर्हणाः।। वही, १५८.

७५. वही, १६३.

७६. वही, १८६.

७७. वसिष्ठस्मृति, ५८–६१.

७८. वही, ६४–६५.

७९. वही, १२५–१२८.

८०. स्वाध्यायोत्थं योनिमन्तं प्रशान्तं वैतास्थं पापभीरुं बहुज्ञम्।
स्त्रीषु क्षान्तं वार्धिकं गोशरण्यं व्रतैः शान्तं तद्वशं पात्रमाहुः।। वही, १६३.

८१. वही, २०४.

८२. संन्यसेत् स सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।।
वेदसन्यंसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्।। वही, २४८.

८३. वही, ३५७–३६१.

८४. वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्त्या प्राप्नोति परमां गतिम्।। वही, ३६४.

८५. पाराशरस्मृति, ३८–३९; हारीतस्मृति, १.१९.

८६. वही, ७०–७१.

८७. सम्वर्तस्मृति, १.८–९.

८८. भिक्षाटनं न कृत्वा स्वस्थो ह्येकात्मनः श्रुतिः।
अस्नात्वा चैव यो भुङ्क्ते गायत्र्यष्टशतं जपेत्।। वही, १.२९.

८९. दक्षस्मृति, ३.८.

९०. व्यासस्मृति, २४.

९१. वही, ३७.

९२. तस्माद् वेदव्रतानीह चरेत् स्वाध्याय सिद्धये।
शौचाचारमशेष शिक्षयेद् गुरुसन्निधौ।। हारीतस्मृति, ३.४.

९३. वही, ४.४१.

९४. वही, ४.४२–४४.

९५. बालकाण्ड, १.१.

९६. रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता
वेदवेदांगतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः। वही, १.१४.

९७. सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिवान् प्रतिभावान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः।। वही, १.१५.

९८. वही, ५.२३.

९९. स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे।। वही, ६.१३.

१००. ऋष्यशृङ्गो वनचरस्तपः स्वाध्यायसंयुतः।
अनभिज्ञस्तु नारीणां विषयाणां सुखस्य च।। बालकाण्ड, १०.३.
१०१. अरण्यकाण्ड, ६.२–५.
१०२. आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी।। आदिपर्व, ८६.२.
१०३. वही, ८६.१४.
१०४. यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते।। आरण्यकपर्व, ८०.३०.
१०५. सुशीलाः शुक्लजातीयाः क्षान्ता दान्ताः सुतेजसः।
शुभयोन्यन्तरगताः प्रायशः शुभलक्षणाः।। वही, १८१.२६.
१०६. वही, १८१.३६.
१०७. वही, १८१.३८.
१०८. न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम्।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम्।। वही, १६८.५६.
१०६. वही, १६८.६२.
११०. वही, १६८.७८.
१११. पारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम्।
क्षमा सत्यार्जवं शौचं शिष्टाचारनिदर्शनम्।। वही, १६८.७६.
११२. सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः।
दाननित्याः सुखाँल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम्।। वही, १६८.८४.
११३. धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम्।
लाभानां श्रेयमारोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा।। वही, २६७.५३.
११४. तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते।। उद्योगपर्व, ३३.२७.
११५. श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः।। वही, ३३.२६.
११६. अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते।। वही, ३३.३६.
११७. अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च।। वही, ३५.४५.
११८. यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः।
दमः सत्यमार्जवानृशंस्यं चत्वार्येतान्यन्ववयन्ति सन्तः।। वही, ३५.४८.
११६. स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते।। वही, ३६.५२.
१२०. अधीत्य वेदान्परिसंस्तीर्य चाग्नीनिष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।
गोब्राह्मणार्थे शस्त्रपूतान्तरात्मा हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति।। वही, ४०.२४.
१२१. वैश्योऽधीत्य ब्राह्मान्क्षत्रियांश्च धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं प्रेत्य स्वर्गे देवसुखानि भुङ्क्ते।। वही, ४०.२५.

१२२. नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
ऋतं ब्रुवन्गुरवे कर्म कुर्वन्न ब्राह्मणसाश्च्यवते ब्रह्मलोकात्।। उद्योगपर्व, ४०.२३.
१२३. अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या वेदेषु ये द्विजाः।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्या विद्यात्तान्ब्रह्मणस्तनुम्।। वही, ४२.२६.
१२४. धर्मश्च सत्यं च दमस्तश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च महाव्रता द्वाद्वश ब्राह्मणस्य।। वही, ४३.१२.
१२५. वही, ४३.३१; श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४.८; ऋग्वेद, १.६४.४६; अथर्ववेद, १.१५.१८.
१२६. वही, ४३.३७.
१२७. वही, ४४.८.
१२८. श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। भीष्मपर्व, २४.५३.
१२६. यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। वही, २५.७.
१३०. वही, २६.३४.
१३१. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। वही, २६.३८.
१३२. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। वही, २६.३६.
१३३. बन्धुरात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। वही, २८.६.
१३४. उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवाऽनुत्तमां गतिम्।। वही, २६.१८.
१३५. वही, ३१.२०.
१३६. तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।। वही, ३६.२४.
१३७. सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।वही, ४०.२०.
१३८. शान्तिपर्व, २६.३५.
१३६. वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाथाचार्यपूजनम्।
तथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत्।। वही, ६६.१०.
१४०. वेदाध्ययनशीलानां विप्राणां साधुकर्मणाम्।
पालने यत्नमातिष्ठ सर्वलोकस्य चानघ।। वही, ६६.३४.
१४१. वेदवेदांगवित्प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत्।
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत।। वही, ६६.३०.
१४२. धर्मनिष्ठाञ्श्रुतवतो वेदव्रतसमाहितान्।
अर्चितान्वासयेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान्।। वही, ७२.३.
१४३. वही, ८०.२.
१४४. वही, १५४.२३.

१४५. बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम्।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम्।। शान्तिपर्व, १६८.३२.

१४६. वही, १६८.२७.

१४७. वही, १६८.४०.

१४८. वही, १६६.३२.

१४६. नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति विद्यासमं बलम्।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्।। वही, १६६.३३.

१५०. वही, १७१.१–६१.

१५१. स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय।
सत्यं दमं च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित्।। वही, १७३.४१.

१५२. ये केचन स्वध्ययनाः प्राप्ता यजनयाजनम्।
कथं ते जातु शोचेयुर्ध्यायेयुर्वाप्यशोभनम्।। वही, १७३.४२.

१५३. ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
अथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि।। वही, १६७.८.

१५४. वही, १६४.८.

१५५. वही, २०८.६.

१५६. वही, २१०.१.

१५७. वही, २१०.१४.

१५८. धर्मज्ञानि द्वयान्याहुर्वेदज्ञानीतराणि च।
वेदज्ञानि विशिष्टानि वेदो ह्येषु प्रतिष्ठितः।। वही, २२६.१७.

१५६. धर्मज्ञानप्रतिष्ठं हि तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
शब्दब्रह्मणि निष्णातं परे च कृतनिश्चयम्।। वही, २२६.२२.

१६०. परिनिष्ठितकार्यो हि स्वाध्यायेन द्विजो भवेत्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।। वही, २३०.१३.

१६१. वही, २३४.१७.

१६२. वही, २३५.४.

१६३. वही, २३६.६.

१६४. वेदांश्च वेद्यं तु विधिं च कृत्स्नमथो निरुक्तं परमार्थतां च।
सर्वं शरीरात्मनि यः प्रवेद तस्मै स्म देवाः स्पृध्यन्ति नित्यम्।।वही, २३७.३०.

१६५. वही, २३८.१५.

१६६. यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा।। वही, २५४.१७.

१६७. मा स्म पापकृतां लोकान्गच्छेदशुभकर्मणा।
प्रमाणमप्रमाणेन यः कुर्यादशुभं नरः।
पापात्मा सोऽकृतज्ञः सदैवेह द्विजोत्तम।। वही, २५५.१४.

१६८. वही, २५५.३४.

१६६. ओमिति ब्रह्मणो योनिर्नमः स्वाहा स्वधा वषट्।
यस्यैतानि प्रयुज्यन्ते यथाशक्ति कृतान्यपि।। वही, २६१.३४.

१७०. शान्तिपर्व, २६१.१८.
१७१. वही, २६१.४०.
१७२. वेदा प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृता।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।। वही, २६२.१.
१७३. यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक्प्रणिहिते सदा।
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात्।। वही, २८८.२४.
१७४. स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुषमुच्यते।। वही, २८८.४४.
१७५. वही, २८६.७–८.
१७६. वही, २६३.२४–२५.
१७७. निर्णयं चापि छिद्रात्मा न तं वक्ष्यति तत्त्वतः।
सोपहासात्मतामेति यस्माच्चैवात्मवानापि।। वही, २६३.२८.
१७८. सांगोपांगानि यदि पञ्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः।। वही, ३०६.४८.
१७६. तथा वेद्यमवेद्यं च वेदविद्यो न विन्दति।
व केवलं मूढमतिर्ज्ञानभारवहः स्मृतः।। वही, ३०६.५०.
१८०. वही, ३०६.५७–६०.
१८१. ये त्वव्यक्तात्परं नित्यं जानते शास्त्रतत्पराः।
जन्ममृत्युवियुक्तं च वियुक्तं च वियुक्तं सदसच्च यत्।।वही, ३०६.१०४.
१८२. न बिना ज्ञानविज्ञानं मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न बिना गुरुसंबन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः।। वही, ३१३.२२.
१८३. वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च।
अभ्यनुज्ञानमथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः।।वही, ३१३.१६.
१८४. अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम्।
मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं मलम्।। वही, ३१५.२०.
१८५. आदर्शे स्वामिवं छायां पश्यस्यात्मानमात्मना।
न्यस्यात्मनि स्वयं वेदान्बुद्धया समनुचिन्तय।। वही, ३१५.२६.
१८६. विद्या कर्म च शौर्य च ज्ञानं च बहुविस्तरम्।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थस्तु विमुच्यते।। वही, ३१६.३६.
१८७. अनुशासनपर्व, १०७.३६–४०.
१८८. वही, १११.१२–१३.
१८६. वही, १२२.७.
१६०. ये योनिशुद्धाः सततं तपस्यभिरता भृशम्।
दानाध्ययनसंपन्नास्ते वै पूज्यतमाः सदा।। वही, १२२.१५.
१६१. यद्यद्धि किंचित्संधाय पुरुषस्तप्यते तपः।
सर्वमेतदवाप्नोति ब्राह्मणो वेदपारगः।। वही, १२३.६.

१६२. गुरुदैवतपूजार्थं स्वाध्यायाभ्यसनात्मकः।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसंभवः।। अनुशासनपर्व, १२८.३३.

१६३. भैक्षचर्यापरो धर्मो धर्मो नित्योपवासिता।
नित्यस्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा।। वही, १२८.३६.

१६४. तत्र सङ्गः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च।। वही, १२८.४६.

१६५. नित्यस्वाध्यायता धर्मो धर्मो यज्ञः सनातनः।
दानं प्रशस्यते चास्य यथाशक्ति यथाविधि।। वही, १२६.६.

१६६. वही, १२६.४८.

१६७. ऋतवागनहंवादी निर्द्वन्द्वः शमकोविदः।
यजते नित्ययज्ञैश्च स्वाध्यायपरमः शुचिः।। वही, १३१.३०.

१६८. वही, १३१.४६.

१६६. संहिताध्यायिना भाव्यं गृहे वै गृहमेधिना।
नित्यं स्वाध्याययुक्तेन दानाध्ययनजीविना।। वही, १३१.५५.

२००. श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः।
स्वैरर्थैः परिसंतुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः।। वही, १३२.३४.

२०१ आगमाल्लोकधर्माणां मर्यादाः पूर्वनिर्मिताः।
प्रामाण्येनानुवर्तन्ते दृश्यन्ते हि दृढव्रताः।। वही, १३३.६०.

द्वादश अध्याय

ईश्वर-प्रणिधान

भारतीय संस्कृति में मानवजीवन का परम लक्ष्य उसके **'अहम्'** का **'सर्वम्'** में स्वेच्छित विलय, उसके पिण्डरूप की ब्रह्माण्डरुप में परिणति, उसकी व्यष्टि का समष्टि तक विस्तार, उसके आध्यात्मिक स्तर (व्यक्तिगत) का आधिदैविक तक विकास तथा उसके जीवरूप की ब्रह्मरूपप्राप्ति स्वीकार किया गया है। इसका हेतु समस्त भेदों में अभेद की स्थापना, सभी विषमताओं में समता की प्रतिष्ठा तथा सभी प्राणियों में अन्योन्य अभेद के आभास की आवश्यकता है। हमारे समस्त यम और नियम इसी लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट हैं। हमारी संस्कृति के अनुसार परिधि की अनन्तता केन्द्र के पूर्ण विलय पर ही आश्रित है। बूँद का महासागर में विसर्जन ही उसे महासागररूप से सम्पन्न कर सकता है। तदनुसार ही हमारे यहाँ ईश्वर-प्रणिधान को समस्त नियमों में सर्वोत्तम दर्शाया गया है। पातञ्जल योगशास्त्र में निर्दिष्ट योगांगों में ईश्वर-प्रणिधान अन्तिम है। वस्तुतः नियमों का क्रमनिर्धारण मनुष्य के विकास के सोपान के विविध चरणों के रूप में हुआ है। इस दृष्टि से ईश्वर-प्रणिधान का निर्वाह क्रमसंख्या में इससे पूर्व आने वाले नियमों के समग्र निर्वाह द्वारा ही संभव है। इसको परिभाषित करते हुए व्यास भाष्य में **'तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्'**[1] का भाव ही ईश्वर-प्रणिधान स्वीकार किया गया है। उन्होंने इसे **'कर्मफलाभिसन्धिशून्यता'** एवं **'ईश्वरे सर्वकर्मार्पणम्'** का पर्याय स्वीकार किया है। इसका निर्वाह तभी संभव है जब मनुष्य ईश्वर की कण-कण में विद्यमानता के आभास में इतना तन्मय हो जाए कि उसे सृष्टि का कारण और परिणाम ईश्वर ही आभासित होने लगे। चरितार्थ होने पर यह नियम मनुष्य में समस्त

सद्वृत्तियों का उत्पत्तिस्थान सिद्ध होता है। इसमें विवेकज विश्वास समस्त दुरिताओं का स्वयं परिहार कर देता है। मनुष्य के आचार, विचार, आहार, व्यवहार तथा ज्ञान सर्वथा दोषमुक्त हो जाते हैं। अन्य नियमों की भाँति इसका प्रादुर्भाव भी वेदों में उपलब्ध तद्विषयक संकेतों से स्वीकार किया गया है।

वेदों में ईश्वरप्रणिधान-विषयक संकेत

ऋग्वेद में अग्नि को समर्पित एक स्तुति में **'बोधाति मनसा यजाति'**[२] के माध्यम से अग्नि के सर्वज्ञ होते हुए भी उसे मन से देवपूजा में रत दर्शाया गया है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में वाणी को ईश्वर का वरदान सिद्ध करके ईश्वर-प्रणिधान से सम्बन्धित संस्कार जगाए गए हैं।[३] इस माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि जिस परम सत्ता ने हमें चेतन शक्ति से सम्पन्न किया है उसमें पुनः रमण ही हमारे जीवन का दायित्व है। एक अन्य ऋचा में वाणी के चतुष्पाद होने की चर्चा है। इसके तीन पाद गुप्त स्वीकार किए गए हैं और एक मनुष्यों द्वारा व्यवहृत।[४] यह माध्यम भी ईश्वर द्वारा दिए गए वाक्शक्ति के वरदान के सदुपयोग का आग्रह सिद्ध होता है। इससे अभिप्राय सबके प्रति ईश्वरवत् संभाषण के संस्कारों को जागृत करना है। इसी का समर्थन एक अन्य ऋचा में किया गया है जो प्राणियों में पारस्परिक सम्मानपूर्वक संभाषण का आग्रह प्रस्तुत करता है।[५] ऋग्वेद में स्तुतियों को वांछित धनलाभ का साधक दर्शाकर स्तुति सम्बन्धी ईश्वर-प्रणिधान की आवश्यकता स्पष्ट की गई है।[६] वेदोक्त स्वस्तिवाचन का वर्तमान समय में सभी मांगलिक कार्यों पर सस्वर उच्चारण वेद द्वारा प्रतिपादित ईश्वर-प्रणिधान को सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक सम्पन्नता से युक्त करता है–

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु:।।[७]

वेदोक्त विश्वविख्यात पुरुषसूक्त सभी वेदों में विद्यमान है। इसमें समस्त प्राणियों तथा उनके वैयक्तिक शरीरों के विविध अवयवों की उत्पत्ति पुरुष के विविध अंगों से दर्शायी गयी है। इसका अभिप्राय समस्त विश्व को एकपितृजात मानने तक सीमित न होकर सभी प्राणियों की ईश्वरमयता के बोध तक विस्तृत है। यह सूक्त मानवमन के विकास के चरमोत्कर्ष में पूर्णतया सहायक माना जाता है। इसमें व्यष्टि-समष्टि सम्बन्ध को तीन

विविध अवस्थाओं के माध्यम से सिद्ध किया गया है। पुरुषसूक्त में पुरुष के जिन अवयवों से मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। उन्हीं विविध अवयवों से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं की उत्पत्ति भी दर्शायी गयी है, इसका अभिप्राय व्यष्टि और समष्टि में तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में साम्यसिद्धि है। इसका उद्देश्य समस्त प्राणियों में आत्मतत्त्वविषयक समानता के आधार पर पारस्परिक अभेद का संस्थापन है। इस विश्वास का कार्यान्वयन ही सच्चा ईश्वर-प्रणिधान है।[८] ऋग्वेद की एक ऋचा में प्रजापति को सर्वव्यापक देव मानते हुए उनसे स्तुति की गई है कि वह समस्त प्राणियों को प्राप्त हो।[९] स्तुति की सार्थकता स्तोत्र के कण्ठस्थ होने में निहित न होकर स्तुत्यरूप की प्राप्ति में निहित स्वीकार की गई हे। तदनुसार ही ईश्वर-प्रणिधान संख्याक्रम में अन्तिम होते हुए भी महत्त्व में सर्वोपरि है। ऋग्वेद को 'स्तुति-वेद' कहा जाता है। इसमें संकलित स्तुतियों में ईश्वर-प्रणिधान समर्थक संकेत ईश्वर-प्रणिधान को वैयक्तिक आचार की सर्वोपरि आवश्यकता सिद्ध करते हैं। यह वह माध्यम है जो **'अहम्'** के **'सर्वम्'** में स्वेच्छित विसर्जन को सार्थकता प्रदान करने में समर्थ है।

यजुर्वेद में ईश्वर-प्रणिधान का समर्थन सर्वत्र उपलब्ध होता है। इसके समर्थक विशिष्ट संकेतों का विवेचन यह सिद्ध करता है कि जब मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है तो उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं रहता। यजुर्वेद की एक स्तुति में शिव से आग्रह किया गया है कि वह समस्त विश्व को आरोग्यता और सुमनस्कता से सम्पन्न करें।[१०] इसमें ईश्वर-प्रणिधान-विषयक मान्यता को पराकाष्ठा प्रदान करने हेतु प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे वाणी से ऋग्वेद की शरण ग्रहण करें।[११] यजुर्वेद का शान्ति पाठ आज भी पूर्णरूपेण प्रासंगिक सिद्ध होता है क्योंकि आज भी समस्त मांगलिक कार्यों से पूर्व इसका पाठ अपरिहार्य माना जाता है–

> **द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः**
> **वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व**
> **शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।**[१२]

इसी अध्याय के एक मन्त्र में सर्वव्यापक प्रभु से सभी को अभयदान देने की कामना भी समस्त जगत् की ईश्वरमयता में विश्वास की जागृति में

सहायक होकर मानवमन में ईश्वर-प्रणिधान के प्रादुर्भाव में सहायक सिद्ध होती है।[१३] यजुर्वेद में स्वाहान्तक मन्त्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। स्वाहा शब्द विविधार्थबोधक स्वीकार किया गया है। यह आहुति का पर्याय होने के साथ-साथ उत्तम कथन का द्योतक भी है। इसकी एक व्युत्पत्ति स्व-आ-हा से स्वीकार की गई है, जो आत्मसमर्पण अर्थ का बोध कराती है। स्वाहा को आत्मसमर्पण का द्योतक मानते हुए ईश्वर-प्रणिधान आत्मज्योति की प्राप्ति तथा स्वर्ग की प्राप्ति में सहायक दर्शाया गया है।[१४]

अथर्ववेद में 'उपासना' नामक सूक्त में स्तोता सर्वोत्पादक प्रभु के सामने उत्तम बुद्धि ग्रहण करने का संकल्प लेता दर्शाया गया है।[१५] किसी भी देव के व्रत का संकल्प उसके प्रति प्रणिधान का द्योतक है। इससे पूर्व पूषा देवी की एक स्तुति में भी पूषा देवी के उत्तम व्रत का पालन करने वालों की अनश्वरता की कामना की गई है।[१६] प्राणियों की बुद्धि की देवानुकूलता की चर्चा भी प्रणिधान के भाव की प्रेरक है।[१७] 'प्रकाश का मार्ग' नामक सूक्त में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह मनुष्य के समस्त मार्गों को अपने प्रकाश के मार्गों से युक्त करे।[१८] वस्तुतः इससे अभिप्राय ईश्वर के प्रकाश मार्गों से मन को युक्त करने का संकल्प है, जो ईश्वर–प्रणिधान का सूचक है। **'ब्रह्म'** सूक्त में उसको सर्वत्र व्याप्त दर्शाते हुए स्तोता उसकी प्राप्ति की कामना करता है।[१९] इस सूक्त में यजुर्वेदोक्त **'ईश्वास्यमिदं सर्वम्'** की भावना पूर्णरूपेण अनुरणित होती है। 'आत्मोन्नति का साधन' नामक सूक्त में कहा गया है कि मनुष्य की आत्मोन्नति मन से ध्यान लगाकर वाणी की उत्पत्तिस्थान को देखने, सर्वदा सत्य वचन का पालन करने, ज्ञान से सम्पन्न होने और ईश्वर नाम का मनन करने में ही निहित है।[२०] 'आत्मा की उपासना' नामक सूक्त में प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वह सर्वविद्यमान समस्त प्राणियों में विभु ईश्वर को स्तुतिवचनों द्वारा प्राप्त करे।[२१] अन्यत्र प्राण को नमस्कार के साथ-साथ उसकी गर्जना से आनन्दित होने की चर्चा की गई है, जो प्रणिधान का मार्गदर्शन कराती है।[२२] एक स्तुति में समस्त वेदों से आग्रह किया गया है कि वे प्राणियों को सुरक्षित रखें।[२३] वस्तुतः इस माध्यम से समस्त प्राणियों को विविध शक्तियों से सम्पन्न होने के लिए विविध वेदों का आश्रय लेने का परामर्श दिया गया है। समस्त वैदिक वाङ्मय मनुष्य के कर्मक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र को ईश्वरोन्मुखी बनाने की ओर निर्दिष्ट है। अतः वेदरक्षित मनुष्य का ईश्वर-प्रणिधान में विश्वास जागृत होना स्वाभाविक है। 'शरीर की रचना' सूक्त में मानवशरीर

में विविध देवों का वास दर्शाया गया है। इसमें मनुष्य की संकल्प-शक्ति उसकी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन के अधिष्ठाता देवताओं का वरदान दर्शायी गयी है। वस्तुतः इसमें भी ईश्वर-प्रणिधान समर्थक संकेत उपलब्ध होता है।[२४] सरस्वती के आह्वान को देवरुप की प्राप्ति का मूल, हिंसारहित यज्ञों का साधक तथा प्रशस्त कर्मानुष्ठान का सम्पादक दर्शाकर प्राणियों में ईश्वर-प्रणिधान-समर्थक संस्कारों को जागृत करने का प्रयास किया गया है।[२५] अथर्ववेद में उपलब्ध ईश्वर-प्रणिधान-सम्बन्धी संकेत ईश्वर-प्रणिधान को मनुष्य के पूर्णत्व की प्राप्ति में सहायक सिद्ध करते हैं।

उपनिषदों में ईश्वरप्रणिधान-विषयक परामर्श

उपनिषत्साहित्य का मुख्य विषय तत्त्वज्ञान के माध्यम से मानव की पूर्णत्व की प्राप्ति का साधन संयोजन है। इसमें वैदिक गुह्यता को तात्त्विक ज्ञान के आश्रय से स्पष्ट करने की चेष्टा उपलब्ध होती है। इसमें मनुष्य के समग्र विकास के लिए जो मार्ग उत्कृष्ट दर्शाया गया है, उसी के विवेचन में उन सामाजिक अनुशासनों तथा वैयक्तिक संयमों के निर्वाह का आग्रह उपलब्ध होता है, जो उसके विकास में सदा सर्वदा सहायक स्वीकार किए गए हैं। ईशावास्योपनिषद् के एक मन्त्र में स्तोता कामना करता है कि उसके प्राण और इन्द्रियाँ अविनाशी वायु तत्त्व में प्रविष्ट हो जाएं, उसका स्थूल शरीर अग्नि में मिलकर भस्म रूप हो जाए। वह ईश्वर से आग्रह करता है कि वह अपने भक्त को याद करे और उसके कर्मों का स्मरण करें।[२६] इस मन्त्र में ईश्वर-प्रणिधान का स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है। कठोपनिषद् में तत्त्वज्ञान का स्पष्टीकरण यम तथा नचिकेता के संवाद के माध्यम से उपलब्ध होता है। यह उपदेश यम गीता के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें ईश्वर-प्रणिधान सम्बन्धी संकेतों के माध्यम से समस्त विश्व का उदय और लय उसी परम पिता परमेश्वर में दर्शाया गया है। इसमें नचिकेता की ब्रह्मविद्या विषयक जिज्ञासा को शान्त करते हुए यम कहते हैं कि ब्रह्मविद्या की जिज्ञासु बुद्धि तर्क बुद्धि से उपलब्ध नहीं। यह दूसरे के द्वारा कही गई आत्मज्ञान में निमित्त होती है।[२७] इससे पूर्व जिज्ञासु नचिकेता को यम द्वारा प्रस्तुत स्वर्गलाभ आदि के प्रस्ताव नचिकेता द्वारा अस्वीकृत कर दिए जाते हैं।[२८] इस माध्यम से यही दर्शाने की चेष्टा की गई है कि मानवजीवन का परम श्रेय अपने **'अहम्'** के **'सर्वम्'** में लय द्वारा **'सोऽहम्'** के स्वाभाविक उच्चारण की योग्यता की प्राप्ति है। यह त्रिविध ईश्वर-

प्रणिधान द्वारा ही संभव है। इसमें यजुर्वेद का वही सन्देश अनुरणित होता है, जिसमें प्राणी को यह विश्वास हो जाता है कि सम्पत्ति और शोभा परम पिता परमेश्वर की दो पत्नियाँ हैं। दिन और रात्रि उसकी दोनों भुजाएँ हैं। नक्षत्र उसका रूप हैं। द्यौ और पृथिवी उसका खुला हुआ मुख है। यदि इच्छा हो तो उसे किसकी इच्छा हो। उसकी सर्वश्रेष्ठ इच्छा यही व्यक्त की गई है कि उसे सब लोकों की (ईश्वर के ब्रह्माण्डस्वरुप) प्राप्ति हो। जब प्राण इस रूप को प्राप्त कर लेता हे तो उसकी समस्त कामनाओं का स्वयं परिहार हो जाता है। वस्तुतः वैदिक संहिताओं में ईश्वर के प्रति सर्वस्व प्रणिधान को मानवजीवन का परम उद्देश्य दर्शाया गया है।[२९] कठोपनिषद् में ब्रह्मानुभूति मनुष्य के हृदय में स्थित समस्त कामनाओं के स्वेच्छित परिहार द्वारा अमरत्व की प्राप्ति में निहित दर्शायी गई है। कामनाओं का उदय और अस्त इनमें आसक्ति तथा इनके प्रति अनासक्ति भाव के आश्रित होता है। आसक्ति का दुराग्रह मनुष्य को पिण्डरूप तक संकीर्ण रहने के लिए विवश कर देता है जबकि अनासक्ति उसके उत्तरोत्तर विकास की परिचायिका है। इसकी पराकाष्ठा इसके सर्वविध लाभ में निहित है। जब मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्णतया विरक्त हो जाता है तो उसमें ईश्वर के प्रति अनुराग स्वयं उदित हो जाता है। तदनुसार ही हमारी संस्कृति में वैरागियों को कर्मसंन्यास का पात्र स्वीकार किया गया है–

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।[३०]

कठोपनिषद् में ईश्वर-प्रणिधान का स्पष्ट संकेत देते हुए कहा गया है कि सबका अन्तर्यामी, अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला परम पुरुष सदैव मनुष्यों के हृदय में स्थित है। जो उसको मूँज से सींक की भाँति पृथक् करके देखते हैं, उसी को विशुद्ध अमृतस्वरुप समझते हैं, वह उन्हें लभ्य है।[३१]

मुण्डकोपनिषद् में मनुष्य द्वारा किए गए इष्ट तथा पूर्त कर्मों को स्वर्ग का द्वार तो दर्शाया गया है परन्तु मोक्षसाधक स्वीकार नहीं किया गया। उन्हें स्वर्गलाभ के उपरान्त पुनः जन्म लेना पड़ता है, भले ही वह इस मनुष्यलोक में हो अथवा इससे भी हीन योनि में। मनुष्य के लिए मोक्ष का जो विधान निर्धारित किया गया है उसके लिए वन में निवास, शान्त स्वभाव का आश्रय, विवेकज ज्ञान को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ, भिक्षाचरण, तप तथा श्रद्धा का निर्वाह अपेक्षित स्वीकार किया गया है।[३२] श्रद्धा से अभिप्राय

वह परम भाव है जो प्राणी में समस्त जीवों को ब्रह्ममय मानकर उनके प्रति ईश्वरवत् नतमस्तक होने का भाव जगाता है। यही ईश्वर-प्रणिधान का आचरण में क्रियान्वयन है। प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे कर्म द्वारा प्राप्य लोकों की परीक्षा करके निर्वेद् हो जाएं, (वैराग्य को प्राप्त हो जाएं), क्योंकि किए जाने वाले कर्मों से स्वतः सिद्ध नित्य परमेश्वर का साक्षात्कार संभव नहीं। उन्हें परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हाथ में समिधा लेकर वेद को पूर्णरूपेण जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास विनयपूर्वक जाना चाहिए।[३३] तदुपरान्त मनसा, वाचा, कर्मणा गुरु के प्रति समर्पित शिष्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश गुरु का दायित्व माना गया है ताकि वह शिष्य अविनाशी, नित्य परम पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो।[३४] वस्तुतः इस माध्यम से यही दर्शाने की चेष्टा की गई है कि जब तक मनुष्य का अहम् ब्रह्म में विसर्जित नहीं हो जाता तब तक उसके लिए वेदोक्त लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह, भोजन, जलपान तथा वर्षा को सजीव शरीर के जन्म और वृद्धि का कारण माना गया है। तदनुसार ही इसे कर्मानुसार अनुक्रम से भिन्न-भिन्न शरीर बार-बार प्राप्त होते रहते हैं। जीव अपने कर्मों के संस्काररूप गुणों से, शरीर के गुणों से, अहंता तथा ममता आदि अपने गुणों के वशीभूत होकर बहुत से स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों को स्वीकार करता है।[३५] इनसे मुक्ति का पथ निर्दिष्ट करते हुए प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वह आवागमन के बन्धन से मुक्त होने के लिए श्रद्धा और भक्तिभाव से प्राप्त होने योग्य, आश्रयरहित, जगत् के उत्पत्तिकारक और संहारक, कल्याणस्वरूप तथा षोडश कलासर्जक परम देव परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करे।[३६] परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रद्धा का योग मानवजीवन में ईश्वरप्रणिधान के निर्वाह की आवश्यकता को स्वयं सिद्ध कर देता है। इसी उपनिषद् ने ईश्वर को समस्त जगत् का कारण और परिणाम स्वीकार किया है और प्राणियों से आग्रह किया है कि वे इसी प्रकार उसका चिन्तन करें।[३७] इसी उपनिषद् के अनुसार जो साधक सत्त्व आदि गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके उनको समस्त भावों सहित परमात्मा में लगा देता है वे सभी कर्म और भाव समाप्त हो जाते हैं। इनके साथ-साथ पूर्व संचित कर्म समुदाय का भी क्षय हो जाता है। कर्मों का नाश होने पर साधक परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।[३८] श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वरप्राप्ति गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा और ईश्वर के प्रति परम निष्ठा में स्वीकार की गई है। इस उपनिषद् के अनुसार

जिसकी परम देव परमेश्वर में परम भक्ति है तथा जिसकी गुरु में भी उतनी ही भक्ति है जितनी कि ईश्वर में, उसी महात्मा पुरुष के हृदय में बताए हुए रहस्यमय अर्थ का प्रकाश होता है।[३९] वस्तुतः हमारी संस्कृति में निर्धारित नियमक्रम मनुष्य की पालन करने की योग्यता के आधार पर ही निर्धारित किया गया है। इसका निर्धारण किसी विशिष्ट वर्ग के लिए नहीं, अपितु जनसामान्य के लिए हुआ है। जिस प्रकार माँ अबोध बालक को चलने से पहले बैठने का अभ्यास कराती है तथा चलने की योग्यता से युक्त करने के लिए झुककर उसे अपने अंगुल का सहारा देती है तथा अपने पाँव पर चलाने के लिए उससे कुछ दूर बैठकर उसे अपनाने के लिए अपनी भुजाएँ फैला देती है, तब वह शिशु उसकी ममता के वशीभूत होकर अपने पाँव के बल उसकी गोद की ओर अग्रसर होने के लिए पुरुषार्थ करना आरंभ कर देता है। उसी प्रकार मनुष्यों में ईश्वर के प्रति अनन्यभाव को जागृत करने के लिए क्रमानुसार शौच, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान का प्रावधान हुआ है।

छान्दोग्योपनिषद् में पिता अपने पुत्र में श्रद्धा के संस्कार जगाने के लिए उसे वट वृक्ष का एक फल लाने का आग्रह करता है। फल के आ जाने पर उसे तोड़ने का परामर्श देता है। तोड़ने पर उस फल के निरीक्षण का आग्रह करता है। पुत्र की अनभिज्ञता से परिचित होकर पिता पुत्र को बताता है कि विशाल वट वृक्ष का उद्‌भव फल में निहित सूक्ष्म बीज द्वारा ही संभव है। अतः तुम श्रद्धा का आश्रय लो।[४०] वस्तुतः इस माध्यम से मनुष्य को ईश्वर की कण-कण में विद्यमानता का आभास कराकर समस्त कर्मों, संकल्पों तथा ज्ञान को ईश्वरार्पित करने का आग्रह उपलब्ध होता है। इसी उपनिषद् में सनत्कुमार तथा नारद के संवाद में श्रद्धा को मनन की जननी कहा गया है। इसके अनुसार मनन श्रद्धा के आश्रय द्वारा ही संभव है। अश्रद्धा से मनन संभव नहीं। अतः श्रद्धा का विशेष ज्ञान अनिवार्य है। नारद की श्रद्धाविषयक जिज्ञासा को शान्त करते हुए सनत्कुमार ने श्रद्धा को निष्ठा में निहित स्वीकार किया है। उनका मत है कि निष्ठा के प्रादुर्भाव के बिना श्रद्धा का उद्‌भव संभव नहीं। निष्ठाविषयक जिज्ञासा को शान्त करते हुए सनत्कुमार जी कहते हैं कि निष्ठा का प्रादुर्भाव कृति में निहित है। कृतिविषयक विश्लेषण करते हुए सनत्कुमार ने कृति सुख की प्राप्ति में निहित दर्शायी है। उनके अनुसार सुख की उपलब्धि पिण्ड की ब्रह्माण्ड में परिणति के परिणामस्वरूप सर्वव्यापकता के विश्वास में निहित है। उनका

मत है कि ज्ञानी न मृत्यु को देखता है, न रोग को और न दुःख को। वह सबको आत्मरूप देखता है और सब कुछ प्राप्त कर लेता है। छान्दोग्योपनिषद् में पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए ईश्वर-प्रणिधान को सर्वोपरि साधन सिद्ध किया गया है–**'न पश्यो मृत्यु पश्यति न रोगं नोत दुःखता सर्व पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः।'**[४१]

कैवल्योपनिषद् में भगवद्भाव की प्राप्ति के लिए श्रद्धा, शक्ति, ध्यान तथा योग का अनुसरण अनिवार्य दर्शाया गया है।[४२] इन उपायों में श्रद्धा को प्रथम स्थान देकर मोक्ष की प्राप्ति के लिए इसकी अनन्यता सिद्ध की गई है। श्रद्धा ही ऐसा अवलम्बन है जो मनुष्य के अहम् को सर्वथा परिष्कृत करने में समर्थ है। इसके बिना न तो समभाव की प्राप्ति ही संभव है और न ही समदृष्टि की। ब्राह्मी स्थिति का आभास भी सर्वथा श्रद्धा के आश्रित है। जिस प्रकार लोहकण को चुम्बक शक्ति ग्रहण करने के लिए स्वयं को चुम्बक के प्रति समर्पित करना पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा की सर्वात्मरूप की प्राप्ति आत्मा के सर्वात्मा में स्वेच्छित एवं सतत विसर्जन द्वारा ही संभव है। जब मनुष्य के समस्त कर्म तथा ज्ञान ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाते हैं, तब वह स्वभावतः ब्रह्मभाव से युक्त हो जाता है। इस उपनिषद् में ज्ञानी लोगों से आग्रह किया गया है कि ज्ञानाग्नि की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण को नीचे की अरणि बनाएं और प्रणव को ऊपर की।[४३] इन दोनों के मन्थन के अभ्यास से जिस ज्ञानाग्नि का जन्म होता है, वह मनुष्य के सारे दोषों को जलाकर उसे संसार के बन्धन से मुक्त कराने में सर्वथा समर्थ है। प्रणवजप का आश्रय तभी संभव है, जब मनुष्य का अन्तःकरण पूर्णतया ईश्वरार्पित हो जाए। अतः इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति ईश्वर-प्रणिधान के क्रियात्मक अनुकरण में ही निहित है। ब्रह्मविद्योपनिषद् में अहम् के सर्वम् में लय को अमरत्वप्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन दर्शाया गया है। इसके अनुसार कांस्य के घण्टे का शब्द जिस प्रकार शान्ति में लीन हो जाता है, उसी प्रकार ॐ कार की योजना द्वारा समस्त इच्छाएं शान्त हो जाती हैं। शब्द जिसमें लीन होता है वह परब्रह्म है और ब्रह्मलीन बुद्धि ही अमृतस्वरुपा है–

कांस्यघण्टनिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता।।[४४]

नृसिंहपूर्वतापनी-उपनिषद् में नृसिंह गायत्री को समस्त देवों और वेदों

का जन्मस्थान मानकर इसके सतत जप को प्राणी द्वारा ब्रह्मत्वलाभ का साधक दर्शाया गया है।[४५] मन में प्रणवजप के प्रति आस्था के उदय के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर शरणागति अपेक्षित है। वस्तुतः प्रणवजप के लिए ईश्वर-प्रणिधान का निर्वाह जापक की मूलभूत आवश्यकता सिद्ध होता है। महानारायणोपनिषद् में समस्त सदाश्रय तत्सम्बन्धी भावों को आत्मसात् करने में निहित दर्शाए गए हैं।[४६] वस्तुतः इससे अभिप्राय तत्सम्बन्धी संकल्प का तद्भाव के प्रति पूर्ण समर्पण है। श्रद्धा का प्रादुर्भाव मनसा, वाचा, कर्मणा स्तुत्यार्पित हुए बिना असंभव है। जब स्तोता पूर्णरूपेण स्तुत्याश्रित हो जाता है तो उसके समस्त संकल्प, कर्म और ज्ञानविषयक जिज्ञासाएँ स्तुत्य पर केन्द्रीभूत हो जाती हैं। तदनन्तर स्तुत्य उसके ग्रहण के लिए प्रेरित होकर उसके समस्त दायित्वों के निर्वाह का भार स्वीकार कर लेता है।

उपनिषत्साहित्य में ईश्वर-प्रणिधान विवेचन ईश्वर-प्रणिधान को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का मुख्य साधन घोषित करता है। वस्तुतः शब्दज्ञान की विवेकज ज्ञान में परिणति तब तक संभव नहीं, जब तक अध्येता इसको आत्मसात् करने में समर्थ न हो। विविध शास्त्रों द्वारा हमें ब्रह्म के जिस स्वरूप का ज्ञान होता है, वह शब्दब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध है। शास्त्रों में उसकी सर्वव्यापकता की व्याख्या, उसकी सर्वविद्यमानता की प्रतिष्ठा तथा वासुदेव रूप में उसका चित्रण मनुष्य को उसके अस्तित्व के साक्षात्कार के लिए प्रेरित करते हैं। इस भाव को कार्यान्वयन की आवश्यकता होती है। कार्यान्वयन की योग्यता से युक्त कराने के लिए हमारे वाङ्मय में जो साधन उपलब्ध होते हैं, उन्हें उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का नाम दिया गया है। समस्त उपनिषदों ने ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के जो साधन निर्दिष्ट किए हैं, वे सभी वैविध्य से मुक्त हैं। सभी उपनिषत्कारों ने अपने-अपने इष्ट को ब्रह्म मानकर उसकी प्राप्ति के लिए उन्हीं अवलम्बनों को उचित दर्शाया है, जिनका आश्रय अन्य उपनिषत्कारों ने लिया है। वस्तुतः इष्टवैविध्य ब्रह्मज्ञान में बाधक न होकर सहायक सिद्ध होता है। लक्ष्यविषयक एकता से सम्पन्न उपनिषत्साहित्य ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन को समर्पित है। इसकी प्राप्ति की पात्रता के लिए सभी उपनिषदों में समान निर्देश उपलब्ध होते हैं और वे हैं–मनुष्य की संकीर्णताओं के उत्तरोत्तर परिहार के लिए तदोचित साधनों का प्रावधान तथा संकीर्णताओं के पूर्ण परिहार के उपरान्त उसको विकास की पराकाष्ठा की योग्यता से युक्त करना। तदनुसार ही शौच को नियमों में प्रथम स्थान प्राप्त है। सद् ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य का स्वच्छ

विचार, शुचि (पवित्र) संकल्पयुक्त, सत्कर्मनिष्ठ और शुद्धज्ञान का जिज्ञासु होना आवश्यक है। तदनुसार ही हमारे वाङ्मय में त्रिविध शौच को मानवजीवन की प्रथम आवश्यकता घोषित किया गया है।

मनुष्य द्वारा शुचियुक्त पथ का अनुसरण सुगम न होकर दुर्गम है। यह पथ लोलुपता, कामवासना, स्वार्थ-तत्परता आदि दुराग्रहों की बाधाओं से अटा हुआ है। जब तक यह पथ समतल नहीं हो जाता तब तक शौच का गुण कर्म नहीं बन सकता। इसके परिहार के लिए प्राणियों को 'तुष् तुष्टौ एवं तुष् प्रीतौ' के साधनों से सम्पन्न कराने का प्रयास किया गया है। यह आश्रय सन्तोष नामक नियम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार मनुष्य की अन्य दुरिताओं के परिहार तथा आगामी शंकाओं के समाधान के लिए द्वन्द्वसहनशीलतारूपी तप, शास्त्रज्ञानसम्बन्धी स्वाध्याय एवं इसके अनन्य अंग आत्मचिन्तन तथा प्रणवजप के निर्वाह का परामर्श उपलब्ध होता है। ईश्वर-प्रणिधान पूर्णत्वप्राप्ति के सोपान का अन्तिम चरण है। जब इससे पूर्व निर्दिष्ट नियम प्राणी द्वारा स्वभावतः विहित होने लगते हैं, तब वह इस परम आश्रय को ग्रहण करने की योग्यता से युक्त होकर **'सोऽहम्'** के स्वाभाविक उच्चारण का पात्र हो जाता है।

स्मृतियों में ईश्वरप्रणिधान-निदर्शन

स्मार्त साहित्य में धर्म का प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक विवेचन उपलब्ध होता है। प्रवृत्तिमूलक विवेचन का उद्देश्य मनुष्य को इहलौकिक सम्पन्नता और सामर्थ्य से युक्त करना है। इसके संग्रह के लिए उसके लिए धर्म का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। उसके लिए अर्थसेवन से सम्बन्धित संयमों का संयोजन करके समाज को आर्थिक विषमताओं से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है। मनुस्मृति में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की समस्या के समाधान के लिए सन्तोष तथा अपरिग्रह का प्रतिपादन हुआ है। इसमें मनुष्य के लिए मात्र उदरम्भरिता का आश्रय निषिद्ध दर्शाया गया है। धन की अनधिकार चेष्टा त्याज्य घोषित की गई है। उसे अपनी सम्पन्नता से हर्षयुक्त तथा विपन्नता से शोकग्रस्त न रहने का परामर्श दिया गया है। आश्रमधर्म विवेचन के अन्तर्गत विविध आश्रमों में दुरिताओं के त्याग का परामर्श उपलब्ध होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी के लिए माता-पिता और गुरु के प्रति श्रद्धायुक्त व्यवहार को उचित दर्शाया गया है। गृहस्थों के लिए अतिथिधर्म को सर्वोपरि दर्शाकर उन्हें अतिथिसेवा में

श्रद्धापूर्वक संलग्न रहने का परामर्श देते हुए अतिथि को दी गई सभी वस्तुओं में ईश्वरीय भाव रखने का परामर्श दिया गया है। इसके लिए अतिथिसेवाजन्य विविध लाभों और पुरस्कारों का विधान उपलब्ध होता है।

मनुस्मृति में प्राणियों से आग्रह किया गया है वे मन में चन्द्रमा को, कानों में दिशाओं को, चरणों में विष्णु को, बल में शिव को, वचन में अग्नि को, गुदा में मित्र को एवं शिश्न में प्रजापति को लीन समझकर एकत्व की भावना करें। तदुपरान्त आत्मा में लीन बाह्य भूतों की भावना करते हुए सम्पूर्ण चराचर जगत् के शासक, सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म, प्रसन्न मन से ग्रहण करने योग्य उस परम पुरुष का चिन्तन करें।[४७] वस्तुतः इस माध्यम से प्राणियों को ईश्वर-प्रणिधान का परामर्श दिया गया है क्योंकि ध्यान की अनन्यता के लिए इष्ट से एकरुपता की प्राप्ति अनिवार्य है। मनु ने मनुष्य का पूर्णत्व उसी विश्वास में निहित स्वीकार किया है जो यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में मनुष्य के संशयराहित्य के लिए दिया गया है, वह है–सम्पूर्ण जीवों में स्थित आत्मा को आत्मा में देखना अर्थात् जो अनुभव से सब आत्माओं को अपनी आत्मा में अवस्थित जानता है और अपनी आत्माओं को सभी आत्माओं में स्थित स्वीकार करता है वह सभी संशयों से मुक्त हो जाता है। मनु ने उसे ब्रह्मरूप परम पद की प्राप्ति का पात्र घोषित किया है–

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्।।[४८]

याज्ञवल्क्य के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति आचार्य की सेवा, वेदशास्त्रों के ज्ञान, तत्र प्रतिपादित ध्यान कर्म के अनुष्ठान, सत्संगति, प्रियवादिता, स्त्रियों के दर्शन तथा स्पर्श के त्याग, जितेन्द्रियता, आलस्यराहित्य, अशौच परिष्कार, पापभाव से निवृत्ति, रजोगुण एवं तमोगुण का परित्याग, भावशुद्धि, निःस्पृहता तथा अन्तःकरण के संयम में निहित है।[४९] वस्तुतः इस विवेचन में विविध निषेधों तथा निर्देशों के माध्यम से पूर्णत्वप्राप्ति का पथ प्रशस्त किया गया है। इनका योग मनुष्य में जिस विश्वास का प्रादुर्भाव कराता है उसके अनुसार वेद, शास्त्र, अनुभव, जन्म, मृत्यु, पीड़ा, गति, अगति, सत्य, असत्य, श्रेय, सुख और दुःख, शुभ एवं अशुभ कर्म, निमित्त, शकुन का ज्ञान, ग्रह और उनके संयोग से उत्पन्न फल, तारों और नक्षत्रों की गति, जागते और सोते समय देखी गई वस्तुओं, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, मन्वन्तर की

प्राप्ति, युग का परिवर्तन, मन्त्रों और औषधियों का फल आत्मा के अस्तित्व के बोधक हैं।[५०] इन सभी में अन्योन्य अभेद में विश्वास ही मोक्ष है। यह अभेद त्रिविध ईश्वर-प्रणिधान द्वारा संभव है। याज्ञवल्क्य का परामर्श है सभी आश्रमवासी आत्मा के विषय में जिज्ञासा करें, श्रवण द्वारा उसका निर्णय करें, उसका मनन करें तब ध्यान द्वारा उसका साक्षात्कार करे। जो द्विज अत्यन्त श्रद्धा से युक्त होकर निर्जन प्रदेश में वास करते हुए उपरिलिखित विधि से परामर्शभूत आत्मा की उपासना करते हैं, वे ही इसे प्राप्त करते हैं।[५१] याज्ञवल्क्य ने ईश्वर-प्रणिधान को वही महत्त्व प्रदान किया है जो इसे वेदों और उपनिषदों में प्राप्त है। श्रौत और स्मार्त साहित्य में ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण को मोक्षप्राप्ति का साधन घोषित किया है। जब सभी में सबके प्रति समभाव, समान रूप से जागृत हो जाता है तो प्राणियों के पारस्परिक भेद स्वयं लुप्त हो जाते हैं और विश्व एकभाव होकर उन्नति की पराकाष्ठा के पथ पर अग्रसर हो जाता है।

रामायण में ईश्वरप्रणिधान प्रतिष्ठा

प्राच्य साहित्य की कोई भी कृति ऐसी नहीं है, जिसका शुभारम्भ मंगलाचरण से न हुआ हो। यह केवल रचनाकार की श्रद्धा का ही द्योतक नहीं, अपितु जीवन के सभी अभीष्ट कार्यों के शुभारम्भ में ईश्वर की अनुमतिप्राप्ति का भी सूचक है। स्मार्त साहित्य के उपरान्त वाल्मीकि-रामायण ही एक ऐसा महाकाव्य है जो लोकप्रियता की पराकाष्ठा को छूने में सर्वथा समर्थ रहा है। इसमें महर्षि वाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र-चित्रण के माध्यम से उन मर्यादाओं की अपेक्षा स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है जो व्यक्तिगत रूप में पालित होकर धर्म की सार्थकतासिद्धि में सहायक होती हैं और उन सभी का समूचे समाज द्वारा पालन धर्म को विश्व को धारण करने की क्षमता से युक्त करता है। ईश्वर-प्रणिधान मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण का वाचक है। वस्तुतः इससे अभिप्राय आत्मसमर्पण के माध्यम से तद्रूपप्राप्ति है। इस दृष्टि से ईश्वर-प्रणिधान स्थितप्रज्ञता का प्राणतत्त्व सिद्ध होता है। बालकाण्ड के आरम्भ में नारद तथा वाल्मीकि के संवाद में वाल्मीकि नारद से अनुरोध करते हैं कि वे उन्हें समस्त मर्यादाओं से युक्त पुरुष से परिचित कराएं। इसके उत्तर में नारद जी उन्हें राम का संक्षिप्त चरित्र सुनाते हैं। इस चरित्र-चित्रण में स्थितप्रज्ञता (मानसिक एकाग्रता) राम का गुण दर्शायी गयी है।[५२] रामायण के अरण्यकाण्ड में श्रीराम तथा शबरी के संवाद में तपस्या

की सार्थकता और मानवजीवन की सफलता ईश्वर के साक्षात्कार में निहित दर्शायी गयी है। यह साक्षात्कार तभी संभव होता है जब प्राणी मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाए–

अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः।।[५३]

वस्तुतः मानवजीवन का परम श्रेय स्तुत्यरूप की प्राप्ति ही स्वीकार किया गया है। इसके लिए अनन्य श्रद्धा की आवश्यकता है। वाल्मीकि ने ईश्वर-प्रणिधान को जो समर्थन दिया है, उसके अनुसार इस नियम का पालन मनुष्य द्वारा पूर्णत्व प्राप्ति के लिए सर्वथा अनिवार्य है।

महाभारत में ईश्वरप्रणिधान-संस्तुति

अन्य यमों तथा नियमों की भाँति महाभारत में ईश्वर-प्रणिधान-विषयक अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। ये सभी ईश्वर-प्रणिधान सम्बन्धी पूर्वप्रतिपादित मान्यताओं का समर्थन, संवर्धन तथा अनुमोदन सिद्ध होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि महाभारत में संकलित समस्त सामग्री का मूल उत्स महाभारत से पूर्व रचित प्राच्य साहित्य है। वस्तुतः व्यास का अभिप्राय समस्त मानवसमाज को जीवन को जीने योग्य बनाने वाली अपेक्षाओं से अवगत कराना ही नहीं अपितु उनके पालन के लिए उद्यत करना था। इस उद्देश्य की सार्थकता उनकी समग्रता की सिद्धि में निहित थी। इसके लिए उन्होंने उन सभी आश्रयों का अवलम्बन लिया है जो जनसाधारण को धर्मोन्मुखी बनाने में समर्थ है। ईश्वर-प्रणिधान से अभिप्राय मनुष्य के अहम् का सर्वथा सर्वम् में विलय है। जब तक मनुष्य परम पिता परमेश्वर को परम आश्रय मानकर जीने की योग्यता से युक्त नहीं हो जाता तब तक उसका अहं भाव उसकी पूर्णत्व की प्राप्ति में बाधक होता रहता है। ययाति तथा अष्टक के संवाद में अहंकार को आत्मशक्ति के क्षय का कारण माना गया है। ययाति ने अपने पुण्यरूपी प्रचुर धनसंचय के विनाश का कारण अपना अहंकार स्वीकार किया है।[५४] ययाति के अनुभव के निष्कर्ष के अनुसार अग्निहोत्र, मौनव्रत, अध्ययन और यज्ञ शुभ होते हुए भी अहंकार से दूषित होकर भयजनक हो जाते हैं।[५५] उनका विश्वास है कि जो मुनि सम्पूर्ण कर्म और कामनाओं को त्यागकर जितेन्द्रिय होकर मौनव्रत का आश्रय लेता है वह लोक में सिद्धि को प्राप्त करता है।[५६] ब्राह्मण तथा धर्मव्याध के संवाद में धर्म को पापों के नाश का कारण मानते हुए कहा गया

है कि जैसे सूर्य निकलकर अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कल्याणकारी कर्मों को करता हुआ धर्म उदित होकर पापों को नष्ट कर देता है।[५७] धर्मव्याध के अनुसार अहिंसा, सत्यवचन, कृतज्ञता, किसी से वैर न करना, अभिमान न करना, लज्जा, सहिष्णुता, दम, शम बुद्धि, धारणा, सब प्राणियों के प्रति दया, काम तथा द्वेष का त्याग साधु के लक्षण हैं।[५८] धर्मव्याध में मनुष्य ने क्रियाफल को पराधीन स्वीकार किया है। अन्यथा जो व्यक्ति जिस वस्तु की कामना करता, वह उसे प्राप्त हो जाती।[५९] इस उक्ति में वही सत्य अनुरणित होता है जिसके अनुसार मनुष्य का हानि-लाभ, यश-अपयश ईश्वराधीन है। ईश्वर-प्रणिधान की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जब मनुष्य अपने शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों का संयमन करके आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करता है तो वह तपस्या ही करता है। ईश्वर-प्रणिधान को सभी अशुभ कार्यों से निवृत्ति का मूल दर्शाते हुए कहा गया है कि जो सब अवस्थाओं में सब प्राणियों को आत्मरूप देखने वाला है, उस ब्रह्म के समान महात्मा को अशुभ कर्म प्राप्त नहीं होते—

> **पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा।**
> **ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते।।**[६०]

वास्तव में ईश्वर-प्रणिधान हमारी सनातन मान्यता है, क्योंकि जब तक मनुष्य का मन भेदभाव से युक्त रहता है वह समबुद्धि, समदृष्टि तथा समभाव से युक्त नहीं हो सकता। न ही उसके संशयों का निवारण हो सकता है। मनुष्य के अहं भाव का पराभव तभी संभव है जब उसमें समभाव का प्रादुर्भाव हो जाए। इसके लिए हमारे मनीषियों ने पुरुषसूक्त में समस्त सृष्टि को एकपितृजात और एकगर्भजात दर्शाया है। समूची सृष्टि का निर्माण विराट् के शरीर से दर्शाकर उसमें इन्द्रियगत समानता को सिद्ध किया गया है। अंश-अंशी सम्बन्ध के आधार पर यही दर्शाने की चेष्टा की गई है कि आत्मतया सभी प्राणी एक हैं। कठोपनिषद् में इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो परमात्मा सदा सबमें अन्तरात्मा रूप से स्थित है, जो सर्वथा स्वतन्त्र, अद्वितीय और सर्वनियामक है, वे ही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अपने एक ही रूप को अपनी लीला से बहुत प्रकार का बना लेते हैं, उन परमात्मा को जो महापुरुष निरन्तर अपने अन्दर स्थित देखता है उसी को परमानन्द की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं। ब्राह्मण तथा धर्मव्याध के संवाद में कठोपनिषद् में संकलित रथ के रूपक का

यथारूप पुनरुल्लेख उपलब्ध होता है।[६१]

उद्योगपर्व में ईश्वर-प्रणिधान-विषयक जो संकेत उपलब्ध होते हैं, उनके अनुसार देवपूजा, पितृपूजा, मानवपूजा, संन्यासीपूजा तथा अतिथिपूजा अपने आप में यज्ञ के समान हैं।[६२] वस्तुतः इससे अभिप्राय यही सिद्ध करने की चेष्टा करना है कि श्रद्धापूर्वक की गई इन सभी की सेवा श्रेष्ठ कर्म है। विदुर ने एकाग्रता को कान्ति में सूर्य की शोभा के बराबर माना है।[६३] चित्त की एकाग्रता ईश्वर-प्रणिधान के बिना असंभव है। विदुर के अनुसार मनुष्य से अपेक्षित है कि वह मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने अधीन कर स्वयं ही अपनी आत्मा को जानने की इच्छा करे। क्योंकि आत्मा ही मनुष्य का बन्धु है और यह ही उसका शत्रु।[६४] इस माध्यम से विदुर ने धृतराष्ट्र के विषाद का कारण पुत्रमोह दर्शाया है। इसका परिष्कार आत्मज्ञान में निहित घोषित किया है। आत्मज्ञान से सम्पन्न प्राणी स्वयं को सर्वथा ईश्वर के प्रति समर्पित मानता है। विदुरनीति के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान समस्त दोषों का निवारक है। उनके अनुसार किसी को कष्ट न देना, सहनशीलता, धर्मपरायणता, वचन की रक्षा तथा दान उत्तम पुरुषों के गुण हैं।[६५] विदुर ने निष्काम भाव तथा राग-द्वेष से रहित आचार को मोक्षप्राप्ति का मूल स्वीकार किया है। उनके अनुसार मोक्ष मात्र इन्हीं के आश्रय से सुलभ है। उसके लिए न तो दान के पुण्य का आश्रय पर्याप्त है और न ही वेद के पुण्य का–

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः।।[६६]

उनके अनुसार पारस्परिक अभेद समस्त समस्याओं का परम समाधान है। इसके बिना न तो धर्म का आचरण संभव है और न ही सुख की प्राप्ति। न ही गौरव प्राप्त हो सकता है और न ही शान्ति वार्ता सफल हो सकती है।[६७] विदुर ने ईश्वर-प्रणिधान जन्य अभेद को समस्त समस्याओं का समाधान घोषित करके मानवजीवन में इसके आचरण की महत्ता स्पष्ट की है। विदुर के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों के प्रति ऐसा आचरण कभी न करे, जो उसे अपने प्रतिकूल लगे। उन्होंने इस प्रकार के आचरण को धर्म घोषित किया है। उनके अनुसार मनुष्य जिस आचरण में कामवश होकर प्रवृत्त होता है, वह अधर्म है।[६८] ईश्वर-प्रणिधान की महत्ता को स्पष्ट करते हुए सनत्सुजात ने प्रमाद को मृत्यु घोषित किया है और अप्रमाद को अमृत।[६९] इससे अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि मनुष्य के लिए

अप्रमाद का आश्रय परम आवश्यक है। उनके अनुसार मृत्युञ्जयता के लिए ईश्वर-प्रणिधान का आश्रय परम आवश्यक है। उनका मत है कि मृत्युञ्जयी वही है जो परमात्मा का ध्यान करके विषयों को तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओं को उत्पन्न होते ही नष्ट कर दें।[७०] सनत्सुजात का विश्वास है कि मौन रहने अथवा जंगल में निवास करने से कोई मुनि नहीं बनता। जो उस अविनाशी परमात्मा के स्वरूप को जानता है वही श्रेष्ठ मुनि है।[७१] सनत्सुजात ने ईश्वर-प्रणिधान को ब्रह्मप्राप्ति का स्रोत घोषित करते हुए कहा है कि पूर्ण परमेश्वर से पूर्ण चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। पूर्ण सत्ता से स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं। पूर्ण से ही पूर्ण ब्रह्म में उनका उपसंहार अर्थात् विलय होता है तथा अन्त में एकमात्र पूर्ण ब्रह्म ही शेष रह जाता है। उस सनातन परमात्मा का योगी लोग साक्षात्कार करते हैं।[७२] उनके अनुसार अंगुष्ठमात्र अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदय के भीतर स्थित है। परन्तु सबको दिखाई नहीं देता। वह अजन्मा, चराचर स्वरुप, दिन-रात सावधान रहने वाला है। जो उसे जान लेता है, वह ज्ञानी परम आनन्द में निमग्न हो जाता है। वास्तव में यह विश्वास हमारी सनातन परम्परा का अनन्य अंग है। कठोपनिषद् में इसकी चर्चा समान रूप से उपलब्ध होती है। अन्तर केवल इतना है कि सनत्सुजात ने आत्मस्थित अंगुष्ठमात्र पुरुष के विवेकज ज्ञान को परमानन्द की प्राप्ति का साधन घोषित किया है जबकि यम तथा नचिकेता के संवाद में इसके ज्ञान को निन्दा से मुक्ति का स्रोत घोषित किया है–

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा न दृश्यतेऽसौ हृदये निविष्टः।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः।।[७३]

महाभारत के जिस अंश को विश्वख्याति प्राप्त है, जिसकी विश्व में सर्वाधिक टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं, जिसे विश्व की दो सौ भाषाओं में अनुवादित होने का गौरव प्राप्त है, वह भीष्मपर्व में संकलित कृष्ण-अर्जुन-संवाद है। यह स्वतंत्र रूप से श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लोकप्रियता महाभारत की सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिक प्रासंगिकता की सूचक है। इसकी विशिष्टता इस सत्य की सिद्धि में निहित है कि मनुष्य किसी भी वाद, मत अथवा सिद्धान्त को मानने वाला क्यों न हो प्रत्येक परिस्थिति में उसका कल्याण अपेक्षित है। वास्तव में गीता सर्ववाद की पक्षधर है। इसमें ईश्वर-प्रणिधान को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। इसमें मनुष्य की पूर्णत्वप्राप्ति के लिए जिन तीन आश्रयों के

अवलम्बन का परामर्श दिया गया है, वे मनुष्य की अपनी तीन अन्तःशक्तियाँ हैं, जो कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा विश्वासशक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं। मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर का संसार के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। जब प्राणी इन तीनों को दूसरों की सेवा में समर्पित कर देता है, तो कर्मयोगी कहलाता है। इनसे असंग होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना प्राणी में ज्ञानयोग के प्रादुर्भाव का परिचायक है। जब मनुष्य स्वयं को मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है तब उसे भक्तियोग प्राप्त होता है। इनमें अन्तर उत्तरोत्तर कम होता चला जाता है। इन सभी का लक्ष्य मनुष्य को जड़ता से सम्बन्ध-विच्छेद करने की योग्यता से युक्त करना है। वास्तव में योग से अभिप्राय जड़ता से सम्बन्ध विच्छेद है। कृष्ण ने कर्मयोग की उपलब्धि योगस्थ कर्म में स्वीकार की है। तदनुसार ही उन्होंने अर्जुन को साम्य बुद्धि की शरण लेने का आग्रह किया है–

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।[७४]

वस्तुतः इस माध्यम से कर्मजन्य फल की इच्छा, कामना, ममता तथा वासना के त्याग का परामर्श दिया गया है। श्रीकृष्ण ने कर्मयोग सम्पादन के लिए स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति सर्वोपरि सिद्ध की है। इसके लिए मन का सर्वथा निसंग होना अपरिहार्य है। इसके साथ-साथ यथाप्राप्त शुभ और अशुभ में आनन्द एवं विषादराहित्य अपेक्षित है।[७५] शुभ और अशुभ में आनन्द एवं विषादराहित्य तभी संभव है जब प्राणी दोनों को ईश्वर का प्रसाद मानकर समान रूप से ग्रहण करने के लिए तत्पर हो जाए। वास्तव में जब तक बुद्धि परमात्मा में प्रतिष्ठित नहीं हो जाती तब तक मनुष्य को स्थितप्रज्ञतालाभ असंभव है। भीष्मपर्व में कर्मयोग व्याख्या को परम्परा से प्राप्त दर्शाकर व्यास ने महाभारत की संरचनात्मक पृष्ठभूमि के बारे में स्वयं स्वीकार किया है कि महाभारत की रचना का उद्देश्य युगान्तर की धूलि से धूसरित जीवनविषयक मान्यताओं को प्रक्षालित करके उनकी पुनर्स्थापना का प्रयत्न करना है।[७६] भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने कर्मयोग का उपदेश सर्वप्रथम विवस्वान् आदित्य सूर्य को दिया था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु को दिया और मनु ने इक्ष्वाकु को। ईश्वर-प्रणिधान को ब्रह्मरूप प्राप्ति का साधन दर्शाते हुए कहा गया है कि बहुत से पुरुष राग एवं द्वेष तथा क्रोध को जीतकर ब्रह्म में निष्ठा रखते हुए ब्रह्म का आश्रय लेकर ज्ञानरूप तप से शुद्ध होकर ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हुए हैं।[७७]

ईश्वर-प्रणिधान के विवेकज ज्ञान के लिए समस्त कर्मों की ब्रह्ममयता में विश्वास की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मविद् प्राणी के द्वारा यज्ञ के निमित्त किए गए कर्मों के आचरण में अर्पण करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है अग्नि भी ब्रह्म है, होता भी ब्रह्म है। इस प्रकार कर्मात्मक ब्रह्म में जिसके चित्त की एकाग्रता है उसका फल भी ब्रह्म है।[७८] इसमें अथर्ववेदोक्त उस अमर विश्वास का अनुरणन उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार होता, यज्ञ, स्वरू, अध्वर्यु, हवि, स्रुचाएँ, वेदी, यज्ञतत्त्व, ऋत्विज सभी कुछ ब्रह्म है–

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः।।
ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः।।

ईश्वर-प्रणिधान को कर्मयोग का प्राणतत्त्व घोषित करते हुए कहा गया है कि जो फलासक्ति त्यागकर कर्मफल ब्रह्म को समर्पित करते हुए कर्म करता है वह जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।[७९] भगवान् श्रीकृष्ण ने समभाव की प्राप्ति को विश्वविजय का स्रोत घोषित करते हुए कहा है कि जिनका मन समान भाव से स्थिर हो जाता है वे इसी जन्म में संसार को जीत लेते हैं। उनके अनुसार स्वयं ब्रह्म भी समभाव से युक्त और निर्दोष है। इसीलिए समदर्शी ज्ञानीजन ब्रह्मभाव से युक्त होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं।[८०] श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के संवाद में कर्मयोगसम्बन्धी यजुर्वेद की उसी मान्यता के पालन का आग्रह किया गया है, जिसके अनुसार संशयराहित्य अनुभव से अपनी आत्मा को सभी आत्माओं में स्थित देखने और सभी आत्माओं को अपनी आत्मा में अवस्थित मानने में निहित है।[८१] इसकी पुष्टि करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि समस्त भूतों में आत्मविषयक एकता में विश्वास से युक्त होकर किया गया ईश्वरभजन मनुष्य को ईश्वरस्थित करने में सर्वथा समर्थ है।[८२] इससे अभिप्राय यही स्पष्ट करना है कि ईश्वर मात्र प्राणियों में ही नहीं अपितु समस्त भूतों में स्थित है। वास्तव में इस माध्यम से इसी सत्य को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य को शास्त्र और वर्णाश्रम की मर्यादा के अनुसार खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते तथा अन्य सभी क्रियाएँ करते हुए ईश्वर में स्थित रहना चाहिए। जब भक्त की दृष्टि में ईश्वर को छोड़कर कोई सत्ता उपस्थित ही नहीं रहती तो वह जो कुछ भी करता है, ईश्वर में रमकर ही करता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मयोगी के लिए

ईश्वरप्राप्ति का साधन सर्वथा आसक्ति से रहित होकर ईश्वरभजन घोषित किया है।[८३] ईश्वर-प्रणिधान की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो प्राणी भक्तिभाव से एक-आध पत्र, पुष्प, फल अथवा यथाशक्ति थोड़ा सा जल भी अर्पण करता है, ईश्वर उस नियत चित्त भक्त की भेंट को सहर्ष स्वीकार करते हैं।[८४] भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार ईश्वर सभी में समान रूप से विद्यमान है। न तो उसे कोई प्रिय है और न ही अप्रिय। भक्तिभाव से युक्त होकर जो उसका भजन करते हैं, भगवान् उनमें रहते हैं और वे भगवान् में।[८५] ईश्वर-प्रणिधान की महत्त्वप्रशस्ति करते हुए कहा गया है कि ईश्वर-प्रणिधान समस्त अन्त्यजों की परम गति का साधन है।[८६] इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि ईश्वर की ओर गति के लिए भाव की प्रधानता आवश्यक है, जन्म की नहीं। जो आदमी जन्म की प्रधानता में विश्वास रखता है उसमें भाव की प्रधानता का प्रादुर्भाव असंभव है। वस्तुतः ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अहम् का सर्वम् में विलय परम आवश्यक है, क्योंकि ब्रह्मभाव में जीवभाव नहीं होता और जीवभाव में ब्रह्मभाव नहीं होता। तदनुसार ही इससे पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने यज्ञ के ब्रह्म होने, हवि के ब्रह्म होने और होता के ब्रह्म होने की बात की है। यह भाव बृहदारण्यकोपनिषद् में स्पष्टरूपेण उपलब्ध होता है–**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।**[८७] ईश्वर-प्रणिधान को निर्मल बुद्धि का स्रोत दर्शाते हुए कहा गया है कि प्रीतिपूर्वक ईश्वर में चित्त लगाने वालों को ईश्वर ऐसी निर्मल बुद्धि देते हैं जो उन्हें ईश्वरप्राप्ति की योग्यता से युक्त करने में समर्थ है।[८८] इतना ही नहीं, ईश्वर-प्रणिधाने को विवेकज ज्ञान का परम स्रोत दर्शाकर प्राणियों में इसके पालन के संस्कार जगाए गए हैं।[८९] श्रीकृष्ण द्वारा किया गया विभूतिवर्णन उनको सब भूतों में स्थित ही सिद्ध नहीं करता, अपितु प्राणियों में समस्त भूतों को ब्रह्ममय मानने के संस्कार भी जगाता है।[९०] ईश्वर-प्रणिधान को सिद्धि का स्रोत घोषित करते हुए कहा गया है कि जब प्राणी के समस्त कर्म ईश्वरार्पित हो जाते हैं तो सिद्धि उसे स्वयं मिल जाती है।[९१] भावतः इससे अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि सम्पूर्ण कर्मों अर्थात् वर्णाश्रम धर्म के अनुसार शरीर-निर्वाह, आजीविका लौकिक कर्म तथा निःश्रेयसविषयक पुरुषार्थ का उद्देश्य भोग और संग्रह नहीं, अपितु भगवद-प्राप्ति ही होना चाहिए। मत् कर्म से अभिप्राय भगवद-प्राप्ति हेतु भगवदाज्ञा के अनुसार किए जाने वाले कर्म हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने ईश्वर की कण-कण में विद्यमानता सिद्ध करते हुए कहा है कि मनुष्य को समस्त भूतों में ईश्वर का आभास होना ही सच्चा ईश्वर-प्रणिधान है।

उन्होंने ब्रह्म को समस्त भूतों के हृदय में विद्यमान दर्शाकर महाभारत में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को औपनिषदिक तत्त्वज्ञान का समर्थन सिद्ध किया है।[९२] भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति समस्त स्थावर-जंगम आदि सृष्टि को पृथक् रूप से आत्मा में देखने तथा उसी आत्मा से समस्त संसार की उत्पत्ति में विश्वास करने में निहित है।[९३] भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को परामर्श दिया है कि वह मन से सब कर्मों को कृष्णार्पित करके कृष्ण में चित्त लगाए और साम्य बुद्धियोग का आश्रय लेकर निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करे।[९४] इस माध्यम से सभी प्राणियों से ईश्वर में मन लगाने, ईश्वर की भक्ति करने, ईश्वरपूजा और ईश्वरयज्ञ करने तथा ईश्वर को प्रणाम करने का आग्रह किया गया है। इसे ईश्वर-प्राप्ति का परम साधन दर्शाया गया है।[९५] भीष्मपर्व में ईश्वर-प्रणिधान की पराकाष्ठा अर्जुन को दिए गए उस आश्वासन में पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है जिसके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि उसे धर्म के निर्णय का विचार छोड़कर केवल उन्हीं की शरण ग्रहण करनी चाहिए। धर्म के निर्णय से अभिप्राय कर्तव्य-अकर्तव्यविषयक जिज्ञासा है। इस परामर्श में धर्म कर्तव्य कर्म का वाचक है। भीष्मपर्व में ईश्वर-प्रणिधान को विवेकजज्ञान का स्रोत सिद्ध किया गया है। यह मनुष्य को कर्तव्य धर्म की स्मृति कराने में सर्वथा समर्थ दर्शाया गया है।[९६] अर्जुन की यह स्वीकारोक्ति ईश्वर-प्रणिधान को संशयराहित्य का मूल स्रोत घोषित करती है।

भीष्मपर्व में प्रतिपादित ईश्वर-प्रणिधान के अनुसार ईश्वरप्राप्ति के हेतु भक्त का अनन्य चेता होना अनिवार्य है।[९७] परम पुरुष की अनन्य भक्ति ही परम पुरुष की प्राप्ति का परम आश्रय है।[९८] ईश्वर-प्रणिधान ईश्वर को भक्तों के योग क्षेम के दायित्व से युक्त कर देता है।[९९] ईश्वर-प्रणिधान ईश्वरानुभूति और ईश्वरप्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन है।[१००] अनन्य भक्त का उद्धार ईश्वर का अपना दायित्व हो जाता है।[१०१] गुणातीत अवस्था की प्राप्ति अनन्य भक्ति में निहित है।[१०२] भीष्मपर्व के ४०वें अध्याय में **'मामेकं शरणं व्रज'** से अभिप्राय केवल मन, बुद्धि द्वारा शरणागति की स्वीकृति नहीं, अपितु समग्ररूपेण ईश्वरशरणागति है जो मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर-प्रणिधान की द्योतक है। जब प्राणी पूर्णरूपेण ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है तो उसे अपनी अयोग्यता, अनधिकारिता तथा निर्बलता की चिन्ता नहीं रहती। क्योंकि इन सभी का परिहार ईश्वर का दायित्व हो जाता है। मनुष्य का दायित्व तो केवल निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक होकर स्वयं को

ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना है। तदनुसार ही इससे पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को विषाद के परिहार के लिए परामर्श देते हैं– **'मद्भक्तोभव, मन्मना भव, मद्याजी भव, मां नमस्कुरु।'** भीष्मपर्व में ईश्वर-प्रणिधान विषयक मान्यताओं का विवेचन उन्हें तत्सम्बन्धी श्रौत और स्मार्त विश्वासों का समर्थन सिद्ध करता है। गीता की गणना उपनिषदों में आती है। यह गीतोपनिषद् के नाम से विख्यात है। भीष्मपर्व में आत्मा के अजन्मा और अमर होने की जो बात कही गई है, कठोपनिषद् में उसकी यथारूप चर्चा उपलब्ध होती है। ईश्वर-प्रणिधान-विषयक जिन मान्यताओं का उल्लेख भीष्मपर्व में हुआ है, उनके अनुसार ब्रह्मभाव की प्राप्ति अनासक्ति के समग्र निर्वाह तथा अहंकार आदि दोषों के पूर्ण परिहार द्वारा संभव है। इसमें भी तत्त्वज्ञानविषयक औपनिषदिक मान्यताओं का समर्थन दृष्टिगत होता है। व्यास ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि उनका महाकाव्य उपनिषदों के तत्त्वज्ञान से सम्पन्न है। उनका मौलिक योगदान उस ज्ञान को सर्वग्राह्यता, सर्वबोधगम्यता तथा सरलता से युक्त करके व्यवहार्य बनाना है।

मोक्षधर्मपर्व में परम सुख को लाभ-हानि एवं मान-अपमान आदि विषयों में समभाव, धन आदि के निमित्त व्यर्थ आयास के अभाव, सत्य कथन, वैराग्य और कर्म में अनासक्ति में निहित स्वीकार किया है।[१०३] इसके लिए मंकि आख्यान का सुनियोजन उपलब्ध होता है, जो सुख को कामनाओं के परित्याग में निहित मानते हैं।[१०४] मंकि की मोक्षप्राप्ति त्यागभाव के आश्रय में निहित दर्शाकर महाभारत में ईश्वर-प्रणिधान को समर्थन दिया गया हे। कछुए के रूपक के माध्यम से विश्व की उत्पत्ति और संहार ईश्वर के अधीन दर्शाकर महाभारत में ईश्वर-प्रणिधान की अपेक्षा स्पष्ट की गई है।[१०५] शान्तिपर्व में ध्यान मार्ग का आरम्भ इन्द्रियों सहित मन की एकाग्रता प्राप्ति से स्वीकार किया गया है।[१०६] जपाश्रित ईश्वर-प्रणिधान के निर्वाह की योग्यता से युक्त होने के लिए राग-मोहराहित्य, सुख-दुःख, द्वन्द्वहीनता, निःशोक तथा अनासक्ति का आश्रय आवश्यक घोषित किया गया है, जो मनुष्य इन सभी से युक्त होकर कर्म करता है, वह स्वयं को कर्मकर्ता अथवा कर्मभोक्ता नहीं मानता।[१०७] व्यास के अनुसार अमृतरूप परमेष्टीभाव की प्राप्ति से बढ़कर कैवल्यरूप अमृत की प्राप्ति है। तदुपरान्त मनुष्य के लिए निष्काम, अहंकारराहित्य, द्वन्द्वहीन, नित्य सुखी, शान्त और रोग एवं शोक से रहित ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति है।[१०८] मनु के अनुसार प्राणी को चाहिए कि आलोचना से ध्यानजनित साक्षात्कार, मनन नामक बुद्धि का अनुसन्धान,

शम, दम आदि गुणागुण, वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल, स्वधर्म प्रतिपालन तथा वेदान्तवाक्य श्रवण एवं शुद्ध अन्तःकरण द्वारा परम ब्रह्म को जानने की इच्छा करे।[109] वस्तुतः इसमें ईश्वर-प्रणिधान को ब्रह्मप्राप्ति का साधन दर्शाया गया है। इससे अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर में अनुरक्त नहीं हो जाता, तब तक उसके लिए ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति साध्य नहीं। महाभारत में कहा गया है कि परब्रह्म का ज्ञान मात्र ध्यान द्वारा की गई निर्मल, शुद्ध तथा सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही संभव है। वह वर्णनातीत है। उसका ग्रहण मन से ही संभव है। वह ज्ञान द्वारा ही ज्ञेय है।[110] शान्तिपर्व में ईश्वर-प्रणिधान को ईश्वरप्राप्ति का साधन दर्शाया गया है–

भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम्।
भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः।।[111]

महाभारत के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति के लिए समस्त कर्मों, अहंता, ममता और विभव का त्याग अपरिहार्य है।[112] इसमें वही भाव अनुरणित होता है जो भीष्मपर्व में श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद में मुक्ति का साधक दर्शाया गया है। ईश्वर-प्रणिधान को प्राणी की पूजनीयता का स्रोत घोषित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने नारद की सर्वत्र पूजनीयता का श्रेय उनकी दृढ भक्ति, अनिंद्य स्वभाव, शास्त्रज्ञता, दयालुता, संमोहहीनता तथा दोषराहित्य को दिया है।[113] योग को ब्रह्मप्राप्ति का साधन घोषित करने के लिए रथ के रूपक का प्रयोग किया गया है। योग को रथ मानते हुए यज्ञ आदि धर्म कर्म को इसके ज्ञानसारथि का उपवेशन स्थान स्वीकार किया गया है। अकार्यों से निवृत्ति रूपी लज्जा को इसकी रथगुप्ति माना गया है और उपाय तथा अपाय को इसके धुरीदण्ड। अपान और धरा को इसके पहिए, प्राण को इसका जुआ, प्रज्ञा और आयु को इसका जीवनबन्धन स्थान, सावधानता को इसके दोनों फलकों का संश्लेष स्थल, आचार तथा स्वीकार को इसकी नेमि, दर्शन, स्पर्शन, घ्राण और श्रवण को इसके अश्व, शम एवं दम को इसकी नाभि, शास्त्रों को इसके कोड़े, शास्त्रार्थ निश्चित ज्ञान को इसका सारथि, क्षेत्रज्ञ को इसका अधिष्ठाता तथा श्रद्धा और दम को इसके आगे चलने वाले रक्षक।[114] इस रूपक में श्रद्धा और दम को इसके आगे चलने वाला रक्षक घोषित करके ईश्वर-प्रणिधान की महत्ता को स्पष्ट किया गया है। हृदयाश्रित जीव जब सब भूतों में आत्मा को परिपूर्ण देखता है और निष्कलंक आत्मा में सब भूतों को लीन देखता है तो उसे उसी समय

ब्रह्मलाभ होता है।[११५] व्यास ने विविध अवलम्बनों के माध्यम से ईश्वर-प्रणिधान की महत्ता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तुतः ईश्वर-प्रणिधान से अभिप्राय **अहम्** का **सर्वम्** में स्वेच्छित विसर्जन है। यह विसर्जन ही प्राणी को वासुदेवरूप की प्राप्ति में सहायक होता है। इसी के परिणामस्वरुप उसके मन में **'वासुदेव इदं सर्वम्'** में अदम्य विश्वास का प्रादुर्भाव होता है।

शान्तिपर्व में यम-नियमों के समग्र निर्वाह को मोक्ष की प्राप्ति का परम आश्रय दर्शाया गया है। इसके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूपी यम एवं शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान रूपी नियमों का सहर्ष पालन प्राणी को आत्मज्ञान से सम्पन्न करने में सर्वथा समर्थ है। आत्मयाजी प्राणी के लिए मुक्ति के विषय में किसी संशय की आवश्यकता नहीं होती–

यमेषु चैवात्मगतेषु न व्यथेत्स्वशास्त्रसूत्राहुतिमन्त्रविक्रमः।
भवेद्यथेष्टा गतिरात्मयाजिनो न संशयो धर्मपरे जितेन्द्रिये।।[११६]

व्यास के अनुसार ब्रह्मिष्ठ होने के लिए मनुष्य का जीवन धर्म के निमित्त, धर्माचरण के निमित्त, भक्तजनों की शिक्षा के निमित्त, समाधि और व्युत्थान लोगों की शिक्षा के निमित्त तथा दिन और रात धर्मपालन के निमित्त होने चाहिएं।[११७] ये सभी कुछ मनुष्य की समस्त क्रियाओं के ईश्वरार्पण द्वारा ही संभव है। भीष्म के अनुसार ईश्वर परम गुरु है। उनमें चित्त-प्रणिधान तथा वृद्ध आचार्यों की उपासना ही मोक्षप्राप्ति के मुख्य साधन हैं।[११८] इस पर्व के अनुसार वही पुरुष मुक्त है जो सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, इच्छा-द्वेष तथा भय-उद्वेग में समान ज्ञान से युक्त है। यह ज्ञान समस्त प्रकार से ईश्वर की शरणागति द्वारा ही संभव है।[११६] पराशर मुनि का विश्वास है कि जिसका मन किसी अवलम्ब का सहारा न करके इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति से रहित होकर निवास करता है, उपासना करता है उस वृत्तिहीन पुरुष का ईश्वर-प्रणिधान सबसे श्रेष्ठ है।[१२०] इस उल्लेख में ईश्वर-प्रणिधान की श्रेष्ठता चित्तवृत्तियों के निरोध तथा मन के संयम में निहित दर्शायी गयी है। शान्तिपर्व में चर्चित ईश्वर-प्रणिधान-विषयक सन्दर्भ ईश्वर-प्रणिधान के संभाव्य को सभी यमों और शौच, सन्तोष, तप तथा स्वाध्याय रूपी नियमों के समग्र निर्वाह में निहित दर्शाते हैं। वस्तुतः इनके पालन के बिना मनुष्य में भगवद्भाव का उदय असंभव है। वैयक्तिक संयम मनुष्य के आचार और व्यवहार को परिष्कृत करते हैं। उसके परिणामस्वरुप सर्वभूतहितेरत

जीवनयापन उसका स्वभाव बन जाता है। वह राग-द्वेष, सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, आह्लाद-विषाद आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर जीना सीख लेता है। जब मनुष्य स्वयं को किसी भी कर्म का कर्ता नहीं मानता और किसी भी कर्म को अपने लिए नहीं करता तब वह निष्काम भाव से युक्त हो जाता है। इसके परिणामस्वरुप उसकी कर्मशक्ति, ज्ञानशक्ति और मननशक्ति उस जगत् को समर्पित हो जाती है जो ईशावास्य है। उससे किसी भी ऐसे कर्म की अपेक्षा नहीं की जा सकती जो सबके लिए हितकर न हो। मनुष्य की तीनों शक्तियों का ईश्वर-प्रणिधान उसे समबुद्धि, समदृष्टि और समभाव से युक्त करने में सर्वथा समर्थ है। जब प्राणी इस समत्रिक् से युक्त हो जाता है तो उसके कर्तव्यों तथा अकर्तव्यों का दायित्व ईश्वर का हो जाता है। वास्तव में व्यष्टि की समष्टि रूप को प्राप्ति, पिण्ड की ब्रह्माण्ड में परिणति तथा अध्यात्म का आधिदैविक तक विकास पूर्णतया ईश्वर-प्रणिधान के आश्रित हैं। शान्तिपर्व में इस सनातन मान्यता को जो समर्थन, संवर्धन तथा सरलीकरण प्राप्त हुआ है, उसने इसे सार्वकालिक और सार्वभौमिक प्रासंगिकता से सम्पन्न कर दिया है। यही कारण है कि आज भी विश्व के मनीषी अपनी शंकाओं के समाधान गीता में खोजने के लिए प्रयत्नरत हैं।

अन्य यमों तथा नियमों की भाँति महाभारत के ईश्वर-प्रणिधान सम्बन्धी सन्दर्भों का विवेचन यह सिद्ध करता है कि व्यास ने इस नियम के लिए भी सनातन आश्रयों का अवलम्बन लिया है। ईश्वर-प्रणिधान की जो व्याख्या महाभारत में उपलब्ध होती है उसके अनुसार जब तक प्राणी अपने **अहम्** को **सर्वम्** में विसर्जित नहीं कर देता तब तक उसे पूर्णत्व की प्राप्ति असंभव है। इसमें इसके लिए ईश्वर की कण-कण में विद्यमानता को स्पष्ट करने का जो सफल प्रयास किया गया है वह पूर्णतया परम्परागत है। पुनः पुनः प्राणियों से आग्रह किया जाता है कि वे अपनी आत्मा को समस्त आत्माओं में स्थित देखें तथा समस्त आत्माओं को अपनी आत्मा में अवस्थित स्वीकार करें। इसमें इस भाव को सर्वात्मैक्य भाव का नाम दिया गया है। वस्तुतः इस विश्वास का श्रीगणेश यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय से स्वीकार किया जाता है। उपनिषदों में इसकी गुह्यता को स्पष्ट करने का जो आध्यात्मिक प्रयास उपलब्ध होता है, उसमें भी इसी को मनुष्य की पूर्णत्वप्राप्ति का परम आश्रय दर्शाया गया है। स्मार्त साहित्य में ईश्वर-प्रणिधान सम्बन्धी संकेत भी यही सिद्ध करते हैं कि **अहम्** का **सर्वम्** में स्वेच्छित

विसर्जन तब तक संभव नहीं, जब तक प्राणी में सब भूतों में अंश-अंशी सम्बन्धरूपी ऐक्य का विश्वास नहीं जागता। जब वह समूची सृष्टि को अपना ही मान लेता है तो अपने स्व के केन्द्र को उत्तरोत्तर संकुचित करता हुआ निस्व की परिधि को समर्पित करता चला जाता है। अन्ततः उसके स्व का केन्द्र विलीन होकर परिधि के असीम आकार को ग्रहण कर लेता है। ईश्वर के लिए समस्त भूत समान है। सब भूतों के प्रति समभाव की प्राप्ति ब्रह्मभाव की प्राप्ति मानी गई है। यह तभी संभव है जब मनुष्य विश्व की ब्रह्ममयता को मनसा, वाचा, कर्मणा स्वीकार कर ले। इसके लिए उससे जो कुछ अपेक्षित है वह है—बाह्य तथा आन्तरिक शौच, अपनी समस्त उपलब्धियों को ईश्वर का न्याय मानकर सन्तोषपूर्वक जीवन-यापन, जीवन में आने वाले समस्त द्वन्द्वों को सहर्ष सहन करने की योग्यता तथा वेदशास्त्रोक्त ब्रह्म के शब्दज्ञान का परिचय प्राप्त कर आत्मचिन्तन द्वारा विवेकज ज्ञान के लिए प्रयत्नरत रहना। इन सभी के प्राप्त होने पर समभाव का उदय होता है। समभाव का निर्वाह ही सच्चा ईश्वर-प्रणिधान है—

तेजोमयो नित्यतनुः पुराणो लोकाननन्तानभयानुपैति।
भूतानि यस्मान्न त्रसन्ते कदाचित्स भूतेभ्यो न त्रसते कदाचित्।।[१२१]

सन्दर्भ

१. व्यासयोगभाष्य, २.३२.
२. ऋग्वेद, १.७७.२.
३. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः।। वही, १.१६४.३७.
४. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।। वही, १.१६४.४५.
५. वही, १.१६४.४५.
६. असाम यथा सुषखाय एन स्वभिष्टयो नरां न शंसैः।
असद् यथा न इन्द्रो वन्दनेष्ठास्तुरो न कर्म नयमान उकथा।। वही, १.१७३.६.
७. वही, १.८६.६.
८. ऋग्वेद, १०.६०. १—१६, यजुर्वेद, ३१.१—१८, अथर्ववेद, ११.८.३१.
९. प्रजापते न त्वेदतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत कामास्ते जुहुमस्तन्नों अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।। वही, १०.१२.१०.

१०. शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत।। यजुर्वेद, १६.४.
११. यजुर्वेद, ३६.१.
१२. वही, ३६.१७.
१३. यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।। वही, ३६.२२.
१४. वही, २२.३३.
१५. अथर्ववेद, ७.१५ (१६). १.
१६. पूषन्तव व्रते वयं न रिक्ष्येम कदा चन।
स्तोतारस्त इह स्मसि।। वही, ७.६(१०). ३.
१७. अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्। वही, ७.२० (२१). १.
१८. ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः।
तेभि सुमन्या धेहि नो वसो।। वही, ७.५५ (५७२).१.
१९. वही, ७.६६ (६८) .१.
२०. वही, ७.१.१.
२१. समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्तं वर्तयनिरनु वावृत एकमित्पुरु।। वही, ७.२१ (२२).१.
२२. वही, ११.४.४.
२३. ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उछिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि।। वही, ११.७.५.
२४. वही, ११.८.४.
२५. सरस्वती देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्।। वही, १८.१.४१.
२६. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।। ईशावास्योपनिषद्, १७.
२७. कठोपनिषद्, १.२.६.
२८. वही, १.१.२६.
२९. यजुर्वेद, ३१.२२.
३०. कठोपनिषद्, २.३.१४.
३१. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। ....वही, २.३.१७
३२. मुण्डकोपनिषद्, १.२.११.
३३. वही, १.२.१२.
३४. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।। वही, १.२.१३
३५. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५.११–१२.
३६. वही, ५.१४.
३७. वही, ६.२.

३८. आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् निनियोजयेद् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः।। मुण्डकोपनिषद्, ६.४.

३९. वही, ६.२३.

४०. तं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति। छान्दोम्योपनिषद्, ६.१२.२.

४१. वही, ७.१६.२६.

४२. कैवल्योपनिषद्, २.

४३. वहीं, ११,

४४. ब्रह्मविद्योपनिषद्, ७२.

४५. नृसिंहपूर्वतापन्युपनिषद्, ४.३.

४६. महानारायाणोपनिषद्, २३.१.

४७. प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्।। मनुस्मृति, १२.१२२.

४८. वही, १२.१२५.

४९. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३.२५६–२५६.

५०. वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैर्जन्मनां मरणेन च।
आर्त्या गत्या तथाऽगत्या सत्येन ह्यनृतेन च।।
....
वित्तात्मानं वेद्यमानं कारणं जगतस्तथा। वही, ३.१७०–१७३.

५१. स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः समस्तैरेवमेव तु।
द्रष्टव्यस्त्वथ मनतव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः।
य एनमेवं विन्दन्ति ये वारण्यकमाश्रिताः।
उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः।। वही, ३,१६१–१६२.

५२. बालकाण्ड, १.१२.

५३. अरण्यकाण्ड, ४७.११.

५४. अभूद्धनं मे विपुलं महदै विचेष्टमानो नाधिगन्ता तदस्मि।
एवं प्राधार्यात्महिते निविष्टो यो वर्तते स विजानाति जीवन्।। आदिपर्व, ८४.५.

५५. वही, ८५.२४.

५६. वही, ८६.१४.

५७. आरण्यकपर्व, १९८.५३.

५८. वही, १९८.८७–८८.

५९. संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वमकर्मभिः।। वही, २००.६.

६०. वही, २०२.१४. यजुर्वेद, ४०.६. कठोपनिषद्, २.२.७२.

६१. वही, २०२.२१–२२, कठोपनिषद्, १.३.६., उद्योगपर्व, ३४.५७.

६२. उद्योगपर्व, ३३.६३.

६३. य आत्मनापत्रपते भृशं नरः स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः स्वतेजसा सूर्य इवावभासते।। वही, ३३.१०२.

६४. आत्मनात्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। उद्योगपर्व, ३४.६२.

६५. आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
वाक्चैव गुप्ता दानं च नेतान्यन्त्येषु भारत।। वही, ३४.७०.

६६. वही, ३५.५१.

६७. असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृन्नरः।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति नचिरात्पापमाचरन्।। वही, ३५.५४.

६८. न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते।। वही, ३६.५७.

६६. वही, ४२.४.

७०. योऽभिध्यायन्नुत्पतिष्णून्निहन्यादनादरेणाप्रतिबुध्यमानः।
स वै मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा एवं विद्वान्यो विनिहन्ति कामान्।। वही, ४२.६.

७१. मौनाद्धि स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।
अक्षरं तत्तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते।। वही, ४३.३५.

७२. पूर्णात्पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णत्पूर्णानि चक्रिरे।
हरन्ति पूर्णात्पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।। वही, ४५.१०.

७३. वही, ४५.२४., कठोपनिषद्, २.१.१२.

७४. भीष्मपर्व, २४.५१.

७५. यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। वही, २४.५७.

७६. एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तपः।। वही, २६.२.

७७. वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।। वही, २६.१०.

७८. ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। वही, २६.२४.

७६. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्ववा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। वही, २७.१०.

८०. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।। वही, २७.१६.

८१. यजुर्वेद, ४०.६.

८२. सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। वही, २८.३१.

८३. अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तसय योगिनः।। वही, ३०.१४.

८४. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो में भक्तया प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। वही, ३१.२६.

८५. समोऽहं सर्वभूतेषुं न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय।
ये भजन्ति तु मां भक्त्यां मयि ते तेषु चाप्यहम्।। यजुर्वेद, ३१.२६.

८६. वही, ३१.३२.

८७. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.४.६.

८८. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। वही, ३२.१०.

८९. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभवस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। वही, ३२.११.

९०. वही, ३२.२०.

९१. अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि। वही, ३४.१०.

९२. वही, ३५.१७.

९३. यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।। वही, ३५.३०.

९४. वही, ४०.१८.

९५. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। वही, ४०.६५.

९६. वही, ४०.७३.

९७. अन्नयचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। वही, ३०.१८.

९८. पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।। वही, ३०.२२.

९९. अन्नयाश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। वही, ३१.२२.

१००. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। वही, ३३.५४.

१०१. वही, ३४.६–७.

१०२. वही, ३६.२६.

१०३. शान्तिपर्व, १७१.२.

१०४. वही, १७१.४८.

१०५. प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः।
तद्वद्भूतानि भूतात्मा संहरते पुनः।। वही, १८७.६.

१०६. वही, १८८.१०.

१०७. अरागमोहो निर्द्वन्द्वो न शोचति न सज्जते।
न कर्ताकरणीयानां न कार्याणामिति स्थितिः।। वही, १८६.१६.

१०८. वही, १६२.२२.

१०९. तपसा चानुमानेन गुणैर्जात्या श्रुतेन च।
निनीषेत्तत्पर ब्रह्म विशुद्धेनात्रात्मना।। वही, १६८.११.

११०. सूक्ष्मेण मनसा विद्मो वाचा वक्तुम् न शक्नुमः।
मनो हि मनसा ग्राह्यं दर्शनेन च दर्शनेन च दर्शनम्।। शान्तिपर्व, १६६.२४.

१११. शान्तिपर्व, २१०.३०.

११२. वही, २१२.१७.

११३. दृढभक्तिरनिन्द्यात्मा श्रुतवाननृशंसवान्।
वीतसंमोहदोषश्च तसमात्सर्वत्र पूजितः।। वही, २२३.१५.

११४. वही, २२८.८–१०.

११५. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म संपद्यते तदा।। वही, २३१.२१.

११६. वही, २३६.२६.

११७. जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मोऽरत्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।। वही, २३७.२३.

११८. गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम्।
श्रवणं चैव विद्यानां कूटस्थं श्रेय उच्यते। वही, २७६.२.

११९. सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ।
इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः।। वही, २७७.३७.

१२०. सेवाश्रितेन मनसा वृत्तिहीनस्य शस्यते।
द्विजातिहस्तान्निर्वृत्ता न तु तुल्यात्परस्परम्।। वही, २८०.२.

उपसंहार

व्यास ने महाभारत की रचना की विशिष्टता का परिचय इसके शुभारम्भ से ही देने का सफल प्रयास किया है। अन्य सभी ग्रन्थों की भाँति इसका श्रीगणेश भी मंगलाचरण से होता है। इसकी अनन्यता इस सत्य में निहित है कि अन्य ग्रन्थों में मंगलाचरण मात्र इष्टविशेष की स्तुति के माध्यम से ग्रन्थविशेष की निर्विघ्न सम्पन्नता की कामना तक सीमित होता है। उसमें मात्र इष्टविशेष अथवा वाणी की देवी सरस्वती एवं गणेश की वन्दना उपलब्ध होती है। जबकि व्यास ने महाभारत के मंगलाचरण में भारतीय संस्कृति के अनादि पुरुष और वेदचतुष्टय तथा स्मार्त साहित्य में सहस्रशीर्ष के नाम से प्रसिद्ध पुरुष की वन्दना के साथ-साथ नर तथा देवी सरस्वती का आह्वान भी किया है। उन्होंने इस मंगलाचरण में सरस्वती को प्रणाम करने के उपरान्त 'जय' की घोषणा को उचित स्वीकार किया है। वस्तुतः यह विजयघोष युद्ध में विजय तक सीमित न होकर प्राणिमात्र के जीवनसंघर्ष में विजय की सार्थकता तक व्यापक है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि व्यास का लक्ष्य मात्र युद्ध-चित्रण, सैन्य संग्रह-वर्णन, बाणविद्या-दक्षता तथा खड्ग-कौशल एवं गदायुद्ध-प्रवीणता के चित्रण तक सीमित न होकर उन सभी साधनों, उपायों एवं परामर्शों को समन्वित तथा सुनियोजित करना था, जो साधारण प्राणी को जीवनसंघर्ष में विजयश्री लाभ कराने में समर्थ हो। नारायण पुरुषसूक्त के ऋषि भी है और देवता भी। नार (जल) में शयन करने के कारण ही वे नारायण के नाम से प्रसिद्ध हैं। हमारी संस्कृति के अनुसार वे ही सृष्टि के आदिस्रोत हैं और वे ही इसका लयाधिष्ठान। पुरुषसूक्त में वे पुरुष के नाम प्रसिद्ध हैं। समस्त लोक एवं सर्ग उन्हीं के अंगों से प्रादुर्भूत दर्शाए गए हैं। सभी में साम्यसिद्धि के लिए पिण्ड और ब्रह्माण्ड में अभेद की स्थापना हेतु जहाँ उनके अंगों से मनुष्य

की विविध इन्द्रियों की उत्पत्ति दर्शायी गयी है, वहीं से सृष्टि में व्याप्त भूतगणों की तथा वहीं से विश्व के नियन्ता विविध देवों की। वस्तुतः इस पुरुष से जिन तीन विविध पुरुषों की उत्पत्ति दर्शायी गयी है, वे हैं–अध्यात्म, (व्यक्तिपुरुष) आधिभौतिक (समाजपुरुष) तथा आधिदैविक (विश्वपुरुष)। इनमें पूर्ण अभेद की स्थापना का प्रमाण इनके उत्पत्तिस्थानविषयक अभेद में स्वयं उपलब्ध हो जाता है। यहाँ तक कि चारों वर्णों की उत्पत्ति भी इसी पुरुष के विभिन्न अंगों से दर्शायी गयी है। इसका उद्देश्य व्यक्ति, समाज और विश्व को अन्योन्याश्रित सिद्ध करना है। इसमें मानव का पूर्णत्व उसकी अध्यात्म की आधिदैविक रूपप्राप्ति में निहित दर्शाया गया है। यह पूर्णत्व ही जीवनसंघर्ष में विजय का द्योतक है। व्यास ने जनसाधारण को इस संघर्ष के लिए प्रयत्नरत रहने का परामर्श ही नहीं दिया, अपितु उसे निर्विघ्न सम्पन्न करने के साधनों से भी युक्त कराया है। इन साधनों का सुनियोजन ही महाभारत का उद्देश्य है और प्राणियों को इन साधनों से सर्वथा सम्पन्न करने का सफल प्रयास व्यास का सत्संकल्प। जीवन-संघर्ष में विजयप्राप्ति के लिए व्यास ने किसी क्लिष्ट, संश्लिष्ट अथवा जटिल साधन का आश्रय नहीं लिया। उन्होंने मात्र धर्म के आश्रय को विजय का एकमात्र स्रोत घोषित किया है। यद्यपि हमारे यहाँ जीवन का लक्ष्य चतुष्फल प्राप्ति माना गया है। ये चारों फल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। तो भी व्यास अर्थ, काम और मोक्ष को धर्म के आश्रय में सन्निहित मानते हैं। धर्म के आश्रय के पक्ष में उनका सिंहनाद हमारे धर्मशास्त्रों में विद्यमान एकमात्र उद्घोष है–

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्यैष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।।

(स्वर्गारोहण पर्व, ५.४६.)

जब व्यक्ति धर्म को धारण कर लेता है तो धर्म के लिए लोकमंगलसाधक होना स्वाभाविक हो जाता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का स्वप्न स्वतः साकार हो उठता है। वैदिक संहिताओं में जिन शान्तियों की उपलब्धि मानवजीवन का उद्देश्य दर्शायी गई है वे एक-एक करके स्वयं संगृहीत होने लगती हैं। व्यक्ति के लिए धर्म से अभिप्राय उन सभी सद्गुणों का कार्यान्वयन है, जो संहिताओं में भद्रताओं, स्मार्त साहित्य में सत्त्वगुणों, आरण्यकपर्व में धर्म के विविध रूपों तथा उसके प्रियों एवं भगवद्गीता में दैवी सम्पत्तियों और मोक्षधर्मपर्व में ईश्वर के अपने ही रूपों के नाम से आख्यात है।

हमारी संस्कृति के अनुसार दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियाँ सहजन्मा हैं। अथर्ववेद में मानवशरीर में असुरों और देवताओं का प्रवेश एक ही समय दर्शाया गया है। इन विरोधी शक्तियों में संघर्ष स्वाभाविक है। दैवी शक्तियों द्वारा आसुरी शक्तियों के पराभव का सतत प्रयत्न ही मानवधर्म है। तदनुसार ही वेदों में पुनः पुनः **'यद्‌मद्रं तन्न आ सुव'** की कामना उपलब्ध होती है। स्तुति की तन्मयता वह शक्ति है जो मनुष्य के लिए किसी भी अभीष्ट फल को सुलभ बना देती है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यहाँ तक आश्वासन दिया है कि वह सभी धर्मों को छोड़कर उनकी शरण ग्रहण कर ले। वे उसे समस्त पापों से मुक्त कर देंगे, परन्तु ईश्वर की शरणप्राप्ति के लिए भी तो पात्रता चाहिए। अमृतसंग्रह के लिए घट का परिमार्जन आवश्यक है, अन्यथा अमृत के अमृतत्वदायिनी शक्ति से वंचित होने की आशंका हो जाती है। तदनुसार ही व्यास ने ब्रह्मभाव की प्राप्ति हेतु वांछित दायित्वों का पुनः पुनः उल्लेख किया है। निःश्रेयस एकाकी संभव है, अभ्युदय नहीं। अभ्युदय के लिए सामूहिक प्रयत्न आवश्यक होता है। उन प्रयत्नों में सफलताप्राप्ति के लिए प्राणियों को सामूहिक दायित्वों से अवगत कराया गया है। तदनुसार ही यजुर्वेद में अभ्युदय और निःश्रेयसविषयक ज्ञान को समन्वित करने का परामर्श दिया गया है। कालान्तर में अभ्युदय और निःश्रेयसविषयक कर्तव्य प्रवृत्तिमूलक धर्म और निवृत्तिमूलक धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रवृत्ति से अभिप्राय इहलौकिक सम्पन्नता के साधनों का सुनियोजन है और निवृत्ति से अभिप्राय पारलौकिक शान्ति हेतु प्रशस्तकर्म प्रयत्न। हमारी संस्कृति प्रवृत्ति में अनासक्ति की समर्थक रही है। क्योंकि इसमें आसक्ति मनुष्य के वृत्तिविषयक अधोपतन का कारण बनती है। वह उत्तरोत्तर संकीर्णतोन्मुखी होता चला जाता है। अन्ततः यह आत्मसंकीर्णता उसको पाषाणी वृत्ति का आश्रय लेने के लिए विवश कर देती है। इसके परिहार के लिए हमारे मनीषियों ने वैयक्तिक धर्मनियमों की स्थापना की है जो शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान के नाम से प्रसिद्ध है। इन संयमों का पालन प्राणी-प्राणी में पारस्परिक अभेद का संस्थापक होकर एक दूसरे के हितचिन्तन के संस्कार जगाता है। उन सभी दुराग्रहों के परिहार में सहायक सिद्ध होता है, जिनके परिणामस्वरुप वैयक्तिक दुराचार सामाजिक सुव्यवस्था में बाधक होने का दुस्साहस कर सकें।

पर्वतों का गगनचुम्बी उत्कर्ष, विश्व की विशालता तथा सागर का

गाम्भीर्य तत्सम्बन्धी अंशों के अंशी में स्वेच्छित विसर्जन का परिणाम है। यह बात व्यष्टि और समष्टि की अभेद-संस्थापना में अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है। जिस प्रकार एक बूँद का जल से पूर्ण घट में स्वेच्छित विसर्जन उसको घटाकार देने में समर्थ होता है तदुपरान्त घट का सागर में आत्मविसर्जन उसके सागर रूपप्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है उसी प्रकार अंश का अंशी को पूर्णतयाा समर्पण जीव की ब्रह्मप्राप्ति का बोधक सिद्ध होता है। यह मार्ग इतना दुःखद नहीं, जितना जान पड़ता है, न ही इतना कण्टकमय है जितना दिखाई देता है। न ही उन बाधाओं से आपन्न है जिनकी इसमें होने की आशंका विद्यमान रहती है। इसके लिए तो वेदोक्त, स्मृतिनिर्दिष्ट एवं व्याससंस्तुत शिष्टाचार का आश्रय ही पर्याप्त है। जब प्राणी अपने प्रति प्रतिकूल लगने वाले आचरण को दूसरों के प्रति न अपनाने का दृढ संकल्प लेकर उसे अपने आचार का अंग बना लेता है, तो उसकी सभी शंकाएं निर्मूल हो जाती हैं। यही मानवजीवन का लक्ष्य है और यह ही ब्रह्मप्राप्ति। भेद का परिहार ही अभेद का संस्थापक है–

आप में सब और सबमें आप आएंगे नजर।
दिल के शीशे से दुई का मैल धोकर देखिए।।

यह मान्यता सनातन, शाश्वत, सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकता से युक्त है। यही भारतीय धर्म है। इसी के पालन का आग्रह व्यास के सिंहनाद में उपलब्ध होता है। समस्त वेद, सभी स्मृतियां एकस्वर होकर इसी के समर्थन को समर्पित हैं।

इसकी उपलब्धि के लिए हमारे मनीषियों ने जनसाधारण का मार्ग ही प्रशस्त नहीं किया, अपितु उसे उन साधनों से भी सम्पन्न कराया है, जो इसके लिए वांछित हैं। वैदिक संहिताओं में ये साधन संकेत रूप में देवगुण के नाम से प्रसिद्ध रहे। स्मार्त साहित्य में इन्हें सैद्धान्तिक स्वरूप देकर यमों तथा नियमों की संज्ञा से अभिहित किया गया। यमों का सम्बन्ध पारस्परिक व्यवहार के परिष्कार से है और नियमों का सम्बन्ध वैयक्तिक आचार के परिष्कार से। ये संख्या में पाँच-पाँच हैं। यमों के नाम हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। नियमों के नाम हैं–शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान यमपरिगणना में अहिंसा को प्रथम स्थान प्राप्त है। अनादिकाल से ही इसका आश्रय पूर्णत्वसाधक माना जाता रहा है। संहिताओं में जहाँ विविध देवताओं को हिंसारहित यज्ञों का रक्षक

दर्शाकर इसे सांकेतिक समर्थन दिया गया है, वहीं धर्मग्रन्थों में इसे योगांगों में से एक तथा परम धर्म घोषित किया गया है। इससे अभिप्राय निज स्वार्थ हेतु अन्य लोगों के प्रति अनिष्ट चिन्तन, आत्मप्रशस्ति हेतु परनिन्दा तथा स्वार्थलोलुपतावश दूसरों के प्रति निकृष्ट कर्म से निवृत्ति है। जीवनमूल्य के रूप में इसकी प्रतिष्ठा सर्वथा सार्थक तथा उपादेयतायुक्त हैं। हमारे भाग्य की सबसे बड़ी विडम्बना यही रही है कि हमारे विद्वान् विद्या को विवाद का साधन मान लेते हैं। धनाढ्य सम्पन्नता को परोत्पीड़न का और बलिष्ठ बाहुबल को कम बलशालियों के विरुद्ध अन्याय का। अहिंसा रूपी यम की औचित्यविषयक भ्रान्तियाँ भी इसी भ्रम की देन हैं। यम के रूप में प्रतिष्ठित यह सनातन मान्यता न तो पलायनवादिता की पक्षधर है और न ही कायरता की पर्यायवाची। न ही शब्दाडाम्बर का आश्रय लेकर इसका तथाकथित कुतर्कजन्य विरोध ही उचित है। प्रायः लोग इसके शब्दार्थ में उलझकर इसके महत्त्व के प्रति उदासीन हो जाते हैं। वास्तव में अहिंसा का आश्रय समाज में सद्भावना, सदाचार, अविद्वेष, अभेद, अदोषदृष्टि तथा निन्दाराहित्य आदि के लिए आवश्यक है। जब कभी अहिंसा कायरता का पर्यायवाची सिद्ध हुई है और स्वार्थी तत्त्वों ने इसका दुरुपयोग करने की चेष्टा की है तब-तब इस देश को अधोगति से दो-चार होना पड़ा है। यदि व्यास अहिंसा को कायरता का पर्यायवाची मानते तो कृष्ण अर्जुन को धर्मयुद्ध हेतु किए गए संघर्ष में लोगों के हनन को कभी पापरहित घोषित न करते। जो कर्म धर्म की संस्थापना हेतु होता है, यदि उस संघर्ष में रक्तपात भी हो तो वह हिंसादोष से ग्रस्त नहीं होता। इसका प्रमाण हमारे समूचे साहित्य में आद्यन्त विद्यमान है। हिंसा वही है, जो अकारण नृशंस घात-प्रतिघात से सम्बन्ध रखती हो। भले ही वह मानसिक हो, वाचिक हो अथवा कायिक हो। रामायण जैसे महाकाव्य का जन्म एक व्याध द्वारा निरपराध छिन्नमिथुन क्रौञ्च की जघन्य हत्याजन्य हिंसा का प्रतिशोध माना जाता है। रामायण वीर रस का काव्य है तो भी इसकी नींव अहिंसा की तरल मर्यादा पर आश्रित है। भीष्मपर्व में श्रीकृष्ण ने उन्हीं निषिद्ध कर्मों को हिंसक घोषित किया है जो किसी न किसी स्वार्थ से प्रेरित हों, अन्यथा नहीं। धर्मयुद्ध से अभिप्राय अधर्म के उन्मूलन तथा धर्म की संस्थापना हेतु संघर्ष है, भले ही इसमें रक्तपात अनिवार्य हो। उत्तरवर्ती काल में जैन और बौद्ध मत में अहिंसा पर दिया गया बल अपने आप में उचित था, परन्तु कुछ स्वार्थलोलुप व्यक्तियों द्वारा इसे कायरता का पर्यायवाची घोषित करना अनुचित। हमारा

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी अहिंसा के कायरता के पर्यायवाची होने की आशंका उत्पन्न हुई तो इसके विरुद्ध जनमानस कन्धे से कन्धा मिलाकर उठ खड़ा हुआ। गुरु गोविन्द सिंह अठारहवीं शताब्दी के इतिहास पुरुष माने जाते हैं। वे कवि भी थे और सेनानी भी। उनकी समस्त साहित्यिक रचनाएँ हमारे श्रौत, स्मार्त तथा महाकाव्यों से प्रसूत सिद्ध होती हैं। जब उन्होंने देखा कि भारत का जनमानस कृष्ण के शैशव की किलकारी और राम की पैजुनियों की झुनक के आनन्द को धर्म मानकर राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों से उदासीन है तो उन्होंने ऐसे कृष्ण-चरित्र का सर्जन किया जो केवल वीरता से युक्त है। ऐसे राम का वर्णन किया जो शैशवकाल से ही धनुष्बाण धारण कर अन्याय के विरोध के लिए कृतसंकल्प है। उनके नृसिंह अवतार कथा में युद्ध-वर्णन का प्राधान्य प्रह्लाद की भक्तिभावना को गौण सा कर देता है। इसका कारण है–समय की माँग तथा अहिंसा को कायरता की पर्यायवाची बनने से बचाने का संकल्प। विचित्र नाटक में भीष्मपर्व में की गई कृष्ण की धर्म की संस्थापना और दुष्कृतों के विनाश के लिए पुनः पुनः जन्म लेने की प्रतिज्ञा यूँ अनुरणित हो उठती है–

हम एहि काज जगत में आए धर्महेत गुरुदेव पठाए।
सन्त उबारन दुष्ट निवारण भक्तजनन के काज संवारन।

उन्होंने भी भगवान् श्रीकृष्ण की भाँति धर्मयुद्ध के लिए खड्ग के आश्रय को सर्वथा उचित दर्शाया था। साहिबजादों की नृशंस हत्या के पश्चात् औरंगजेब को लिखे गए एक पत्र में उनका सिंहनाद यूँ गूँज उठा था–

चुकारज़ हमीं हीलतो दरगुज़श्त।
हलालस्य बुर्द्दन बशमशीर दस्त।।

अर्थात् सभी साधन विफल हो जाएं तो खड्गहस्त होकर अत्याचार का उन्मूलन सर्वथा उचित है।

आज के युग में अहिंसा की उपादेयता भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में अहिंसा की हिंसा पर विजय के द्वारा स्वयं सिद्ध हो जाती है। यही कारण है कि आज अहिंसा का आश्रय विश्वव्यापी समस्त समस्याओं के समाधान का मान्य स्रोत सवीकार किया जाता है। इसका प्रमाण हमें सायमन कमीशन विरोधी आन्दोलन में अंग्रेजों द्वारा लाला लाजपतराय के शरीर पर

किए गए नृशंस लाठीप्रहारों के दुष्परिणाम से मिल जाता है। आहत होकर उन्होंने कहा था कि मेरे शरीर पर किया गया लाठी का एक-एक प्रहार अंग्रेजी साम्राज्य के कफन में एक-एक कील सिद्ध होगा। अन्ततः अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा। आज के युग में राजनैतिक समस्याओं के समाधान के मान्य आश्रय के रूप में प्रतिष्ठित होकर अहिंसा उन सब भ्रान्तियों से मुक्त हो जाती है, जो इसके बारे में प्रचलित हैं।

सत्य का स्थान द्वितीय है। इसकी व्यापकता और अनिवार्यता इसे निखिल ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान घोषित करके की गई है, वैदिक साहित्य में सत्य के लिय ऋत का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु ऋत का सम्बन्ध अटल प्राकृतिक सत्य से है। इसे विविध परिभाषाओं में बाँधने की चेष्टा की गई है। एक मत के अनुसार दृष्टि, अनुमान और श्रवण की यथार्थ कथन ही सत्य है। इस कथन के लिए भ्रान्तिमुक्त तथा उल्टा बन्धन करने से निवृत्त होना आवश्यक है। सत्य को समस्त भूतोपकारक स्वीकार किया गया है। यदि कोई कथन इससे अन्यथा हो, तो वह सत्य नहीं है। मनु की सत्यविषयक मान्यता **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'** इसी से निःसृत है। इसका महत्त्व इस बात से स्वयं सिद्ध हो जाता है कि चारों वेदों का प्रतिपाद्य विषय प्राणियों में सत्य का आभास कराना है। हमारी संस्कृति व्यवहार को कथनप्रसूत मानती है और कथन को चिन्तनप्रसूत। हमारे यहाँ **'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति, तदभिसंपद्यते'** को हमारे व्यवहार का प्राणतत्त्व माना गया है। तदनुसार ही हमारे विचारविषयक, कर्मविषयक, वाग्विषयक तथा ज्ञानविषयक परिष्कार के लिए ऋषियों ने हमें वैदिक संहिताओं के वरदान से सम्पन्न किया। उनके स्वाध्याय का परामर्श यही सिद्ध करता है कि ऋग्वेद में प्रतिपादित सत्संकल्प-विधान मात्र पाठ या स्तुति तक सीमित न होकर चरितार्थ किए जाने तक व्यापक है। सभी वेदों के स्वाध्याय का अभिप्राय यही है। वस्तुतः सत्य का यथार्थ परिचय उसे चरितार्थ करने से ही प्राप्त होता है। सत्य के आश्रय के लिए प्राणी को जीवन में विविध अग्निपरीक्षाओं से उत्तीर्ण होना पड़ता है। किन्तु यदि उसकी निष्ठा सच्ची है तो विश्व की कोई भी बाधा उसके सत्यपथ-अनुसरण में बाधक नहीं हो सकती। सत्याचार से अभिप्राय एक ऐसा व्यवहार है जो समस्त कलुषों से मुक्त है। इसका आश्रय लेने के लिए मनुष्य को उन समस्त दुरिताओं को त्यागना पड़ता है, जो मनुष्य के पाँच घातक शत्रुओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये हैं–काम, क्रोध,

लोभ, मोह तथा अहंकार। शान्तिपर्व में इनमें आसक्ति की वृद्धि प्राणी के सर्वनाश का कारण मानी गई है। ये मनुष्य को सन्मार्ग से च्युत करके विनाश के पथ पर घसीट लेते हैं। भीष्मपर्व में तो इनका आश्रय मनुष्य की समस्त उत्कृष्ट प्रवृत्तियों के नाश का कारण दर्शाया गया है। उन प्रवृत्तियों के नाश के परिणामस्वरूप मनुष्य का सर्वनाश अवश्यम्भावी स्वीकार किया गया है। सत्य को सत्त्वगुण, दैवी सम्पत्ति, ईश्वरविभूति, धर्म का रूप और ज्ञान का प्रवर्तक सिद्ध करके प्राणियों में इसके पालन के संस्कार जगाए गए हैं। वास्तव में सत्य समाज की कल्याण मार्ग पर सद्‌गति का एकमात्र साधन है। यदि हम मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का समग्र पालन नहीं करते, न तो हमें दूसरों का ही विश्वास प्राप्त होता है और न ही हम आत्मविश्वास की सामर्थ्य से युक्त हो सकते हैं। उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद में सत्यप्रशस्ति भीष्मपर्व में कृष्ण द्वारा की गई सत्यसंस्तुति तथा शन्तिपर्व के विविध गीताख्यानों एवं धर्मप्रतिपादनविषयक सन्दर्भों में किया गया सत्य के महत्त्व का स्पष्टीकरण इसे मानवाचार का मूल घोषित करता है। महाभारत में एक नहीं, अनेक सन्दर्भ मिलते हैं जिनमें सत्य को जगत् की धारक शक्ति घोषित किया गया है। वस्तुतः सत्य सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रासंगिकता से युक्त है। इसका अवलम्बन समाज में प्रतिष्ठा का स्रोत है और इससे निवृत्ति भर्त्सना का कारण। आज भी सच्चरित्र पुरुषों की देवों की भाँति पूजा होती है। सत्य का आश्रय ही मनुष्य का सच्चा गौरव है। प्रगति के अन्धे अनुकरण के युग में भी सत्य अडिग है, निश्चल है और ध्रुव है। इसका आश्रय पारस्परिक विश्वास, सद्‌भावनाजन्य अभेद का जनक है। इसकी आवश्यकता साक्षी में भी अनुभव की जाती है। तदनुसार ही साक्षियों को साक्षी देने से पहले सत्य और केवल सत्य बोलने की तथा सत्य के सिवाय कुछ भी न कहने की सौगन्ध दिलाई जाती है। यदि इस पर भी साक्षी झूठ बोलकर सत्य को झुठलाने का दुस्साहस करे तो पकड़े जाने पर आज भी वह दण्ड का भागी होता है। वस्तुतः व्यास ने इस पारम्परिक यम की संस्तुति में समस्त उपलब्ध साधनसामग्री को संजोने का सफल प्रयास किया है। सत्य की महत्ता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि तराजू के एक ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञों का फल रखा जाए तथा दूसरी ओर अकेला सत्य रख दिया जाए तो सत्य का भार एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों के फल से अधिक सिद्ध होगा। उन्होंने इसे परम धर्म और परम तीर्थ घोषित करके प्राणियों से सत्यपथ पर सदा सर्वदा आरूढ रहने का आग्रह किया है। आज के युग में

बहुधा समस्याएँ समाज के बहुत से लोगों द्वारा सत्यभ्रष्ट होने के कारण उत्पन्न हुई हैं। इसका कारण मनुष्य का वृत्तिविषयक ह्रास है। यदि मनुष्य सचमुच मानवजीवन जीना चाहता है, यदि समाज समस्त सामाजिक निधियों से सम्पन्न होना चाहता है, यदि हम राष्ट्र की भावनात्मक एकता और भौगोलिक अखण्डता के सच्चे इच्छुक हैं तो आज भी हम सभी को सत्य का संकल्प लेकर चलना होगा। अन्यथा पारस्परिक वैमनस्य और द्वेष की जिन चिनगारियों को कुछ विघटनकारी तत्त्व हवा देने का दुस्साहस कर रहे हैं तो वे दावानल का रूप धारण कर अपना ताण्डव आरम्भ कर देंगी। अतः सत्य ही आज के पारस्परिक व्यवहार की परम आवश्यकता है। क्योंकि समाज की नींव पारस्परिक विश्वास पर आधारित होती है और विश्वास सत्य से ही उत्पन्न होता है।

हमारी सनातन परम्परा की अनन्यता निकृष्ट वृत्तियों के निषेधार्थ, उनके विपरीतार्थक शब्दों को विशिष्ट जीवनमूल्य का रूप देकर मानवजीवन में उसकी अपरिहार्यता सिद्धि के सफल प्रयास में निहित है। अस्तेय यम भी इसी भावना से प्रसूत है। अस्तेय स्तेय का विपरीतार्थक है और स्तेय चौरकर्म का द्योतक। चोरी समाज के मस्तक का कलंक है। यह मनुष्य के पुरुषार्थ में अविश्वास की ही द्योतक नहीं, अपितु उसके द्वारा किए गए चौरकर्म से दूसरे प्राणियों के भी कुपथगामी होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। यह समाज की सुव्यवस्था में बाधक तथा प्रगति में विघ्नकारी सिद्ध होती है। इसे यमपरिगणना में तृतीय स्थान देकर हमारे मनीषियों ने समाज को इस दुर्वृत्ति के पाश से मुक्त कराने का प्रयास किया है। हमारे प्राच्य साहित्य में स्तेय का सर्वत्र निषेध मिलता है। इस निषेध के माध्यम से ही अस्तेय का समर्थन किया गया है। अथर्ववेद में तो इसके लिए एक पूरा सूक्त समर्पित है, जो 'चौर-नाशन' सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में वही राज्य समृद्ध माना जाता था, जहाँ के लोग खुले दरवाजे सोते हों अर्थात् जो स्तेय के अभिशाप से पूर्णतया मुक्त हो। वाल्मीकि-रामायण कें अयोध्या-वर्णन में अयोध्या को पूर्णतया स्तेयमुक्त दर्शाया गया है। यम के रूप में अस्तेय का क्षेत्र मात्र चौरकर्म से निवृत्ति तक सीमित न होकर उन सभी दुराग्रहों से निवृत्ति तक व्यापक है, जो प्राणी को स्वार्थवश अपने पड़ोसियों, सहयोगियों तथा अन्य प्राणियों की वस्तुओं को उनकी अनुमति के बिना अधिग्रहण के लिए कुप्रोत्साहित करते हैं। स्तेय का अधिष्ठान लोभ, काम तथा मोह है। इससे निवृत्ति मनुष्य के निजी पुरुषार्थ के प्रति आत्मविश्वास

तथा अनधिकार ग्रहण को दोष स्वीकार करने में निहित है। स्मार्त साहित्य में अस्तेय मर्यादा के अतिक्रमण को मात्र राजदण्ड से ही दण्डनीय नहीं दर्शाया गया, अपितु इसे नरक का द्वार तथा आगामी जन्म में तिर्यक् योनि में जन्म का कारण भी दर्शाया गया है। महाभारत में भी इसके सम्बन्ध में स्मार्त मान्यताओं का अनुमोदन उपलब्ध होता है। यह दुर्वृत्ति प्राणी को विश्वास का पात्र नहीं रहने देती। लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यहाँ तक कहने के लिए उद्यत हो जाते हैं कि चोर को नहीं, चोर की माँ को मारो। यह लोकोक्ति पूरे समाज द्वारा स्तेय रुपी दुष्कर्म के समूल उन्मूलन के लिए दिये गये अभीष्ट योगदान द्वारा ही संभव है। व्यास ने स्तेय को अराजकता का कारण घोषित किया है। इस दुर्वृत्ति में आसक्त शिशुपाल को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। स्तेय का अधिष्ठान लोभ है। इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि युगक्षय का कारण बन सकती है। वस्तुतः स्तेय एक सामाजिक कलंक ही नहीं, अपितु नैतिक अभिशाप भी है। तदनुसार ही प्राच्य साहित्य में इसका व्यापक विरोध मिलता है। हमारे चारित्रिक ह्रास का सबसे बड़ा कारण शताब्दियों की परतन्त्रता रही है। यवनों के आक्रमण के पश्चात् इस दुर्वृत्ति को प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा। बाह्य आक्रमणकारियों द्वारा स्थानीय लोगों के सर्वस्व अपहरण की बढती हुई दुर्वृत्ति ने स्थानीय लोगों में इसके दुराग्रह के संस्कार जगा दिए। परिणामतः अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए अनधिकार ग्रहण का भूत लोगों के सिर पर सवार होता चला गया। यहीं से राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक एवं नैतिक भ्रष्टाचार के युग का समय आरम्भ हुआ। सरकारी भण्डारगृहों से भण्डारसामग्री का स्तेय भण्डारकर्मियों तथा अधिकारियों का जन्मजात अधिकार माना जाने लगा। भवननिर्माण में निर्धारित मात्रा से कम निर्माणसामग्री का प्रयोग स्तेय के नए रूप में उभरा। व्यापारियों द्वारा करस्तेय, अधिकारियों द्वारा सरकारी अधिकारस्तेय तथा सामान्य कर्मचारियों द्वारा समयस्तेय एक सामान्य सी वृत्ति का रूप धारण कर गया। वस्तुतः हम में ये कुसंस्कार हमारे शासकों ने जगाने की चेष्टा की थी ताकि हमारा चारित्रिक ह्रास हो जाए। हम अन्याय का विरोध करते समय जब अपने अन्दर झांके तो हमारी आत्मा हमें धिक्कारती हुई अपने परम अधिकार की प्राप्ति का अपात्र घोषित कर दे। इतिहास बदलता रहता है। पतनोत्थान के अध्याय चक्र के अरों की भाँति ऊपर-नीचे होते रहते हैं। जब अन्याय और दुराचार अपनी सीमा को पार करने लगते हैं तो पदाक्रान्त मस्तिष्क भृकुटिसम्पन्न हो जाते हैं। जीवन और अजीवन में एक नया संग्राम

शुरु हो जाता है। लेकिन इस संघर्ष में विजय तब तक संभव नहीं होती जब तक मनुष्य सर्वप्रकारेण आचारयुक्त नहीं होता। भारत में भी बाल गंगाधर तिलक जैसे निर्भीक, सच्चरित्र, दृढ निश्चयी और धर्म में पूर्णतया निष्ठावान नेताओं नें स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया और जनमानस में इसकी प्राप्ति का ओज फूंकं दिया। सत्याग्रह और हिंसारहित आन्दोलन भारतीय जनमानस को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त कराने में सफल रहे। अंग्रेजी सत्ता तो भारतीय सम्पदा को पराई समझकर लूटती रही परन्तु जाते जाते हमारी मानसिकता को रुग्ण बना गई।

स्वतन्त्रता प्राप्त करना सरल है, इसकी रक्षा करना कठिन। जो संघर्ष इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है, उससे कई गुणा अधिक संघर्ष इसकी रक्षा के लिए। इसकी रक्षा के लिए जो चारित्रिक उत्कर्ष की आवश्यकता है उससे हम कोसों दूर हैं। हममें से प्रत्येक स्तेयी है। भले ही वह सरकारी कर्मचारी हो, छोटे दर्जे का व्यापारी हो, लघु उद्योगपति हो, शिल्पकर्मी हो, किसी बड़े औद्योगिक संस्थान का प्रबन्ध शिल्पकर्मी हो, किसी बड़े औद्योगिक संस्थान का प्रबन्ध महानिर्देशक हो अथवा शेयर दलाल। आज यह देश विन चड्डा तथा हर्षद मेहता जैसे कुख्यात बहुरूपियों तथा बहुत सारे कुख्यात तस्करों से भरा पड़ा है। बहुत से रजानेता भी इसका अपवाद नहीं। आज हमारी सभी समस्याएँ स्तेयदुर्वृत्ति से जनित हैं। आइए, एक उज्जवल भविष्य तथा स्वस्थ समाज के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा इस दुर्वृत्ति के निषेध के महायज्ञ में अपना योगदान अपना धर्म समझें इसके निवारण हेतु जन-जागरण अभियान में भाग लेना अपना कर्तव्य माने। तभी व्यास द्वारा की गई अस्तेय-संस्तुति आज के युग में प्रासंगिक सिद्ध होगी–

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति।।

(अथर्ववेद, ११.५.१.)

हमारी संहिताओं में ब्रह्मचर्य आयु के विशिष्ट अंश (आश्रम) के रूप में भी उद्‌धृत है तथा यम के रूप में भी इसका पालन सर्वथा यथेष्ट दर्शाया गया है। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य-प्रशस्ति से सम्बन्धित अनेक सूक्त विद्यमान हैं। इनमें ब्रह्मचारी की संज्ञा का पात्र वही व्यक्ति माना गया है, जो ब्रह्मवत् आचरण की योग्यता से सम्पन्न हो। अर्थात् सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार ब्रह्मचारी के लक्षणों में से एक स्वीकार किया गया है। आश्रम रूप में ब्रह्मचर्य

धर्म के निर्वाह के लिए शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान आदि नियमों का पालन, गुरु-सेवा तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, जितेन्द्रियता एवं अपरिग्रह का नित्य प्रति पालन ब्रह्मचर्य आश्रम के अंग दर्शाए गए हैं। यमों में यह जितेन्द्रियता का पर्याय स्वीकार किया गया है। अतः इसका पालन दम के आश्रय में निहित है। यह यम महत्त्व में सर्वोपरि है। अन्य सभी यमों का पालन इसके पालन की योग्यता पर आश्रित है। वस्तुतः मानवशरीर में पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, ग्यारहवां मन, बुद्धि तथा जीव (आत्मा) की उपस्थिति स्वीकार की गई है। कठोपनिषद् में स्पष्टतया स्वीकार किया गया है कि मानव शरीर एक रथ है। जीवात्मा उसका स्वामी है। मन सारथि है। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियरूपी दस घोड़े इसे वहन करते हैं। इसका सत्पथोन्मुखी अथवा अधोगत्युन्मुखी होना सारथि के चालन-कौशल पर निर्भर करता है, जब मनरूपी सारथि इन्द्रियरूपी घोड़ों को पूरी तरह नियन्त्रित करके अपनी इच्छा के अनुकूल दिशानिर्देश देने में समर्थ हो जाता है तो यह रथ स्वतः ही मुक्तिपथ का अनुगामी हो जाता है। यह संसार कामनाओं का महासागर माना जाता है। विविध इन्द्रियों को ग्रसने वाली वासनाएं चारों ओर मुँह फैलाए उपस्थित रहती हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य का मन कामनासक्त होता जाता है त्यों-त्यों उसकी शक्ति क्षीण होती चली जाती है। काम समस्त दुर्वृत्तियों का जनक है। तदनुसार ही श्रौत तथा स्मार्त साहित्य में इसके परिहार के संसाधन जुटाए गए हैं। इन्द्रिय-परतन्त्रता ही समस्त विषादों की जननी स्वीकार की गई है। उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र के विषाद के कारणान्वेषण के अनुसार उसका मूल दुर्योधन का मोह है। इसी प्रकार अर्जुन का विषाद भी सम्बन्धीजन मोहजन्य है। अन्त में युधिष्ठिर भी इसी रोग से ग्रस्त दिखाई देता है। वास्तव में जब तक मनुष्य वासनाओं पर विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो जाता, तब तक उसकी प्राथमिकताएँ विस्तार को प्राप्त नहीं हो सकती। उसकी रुचियाँ एवं जीवनोद्देश्य उस परिवारविशेष अथवा सम्प्रदायविशेष तक सीमित रहते हैं, जिससे वह सम्बद्ध है। वस्तुतः वासना ही समस्त भेदों की जननी है। इसी से आदमी मोहग्रस्त होता है। इसका परिहार होने पर सभी अपने जैसे दिखाई देने लगते हैं। यही पूर्णत्वप्राप्ति के पथ का समारम्भ है।

व्यास ने महाभारत में जितेन्द्रियता पर विशेष बल दिया है तथा इसे मानव की समस्त विषादहारिणी शक्ति घोषित किया है। तृष्णा से अभिप्राय लोलुपता है। इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि मनुष्य को पाशविक वृत्तियों का आश्रय लेने को बाध्य करती है। इसके जाल में फंसकर मनुष्य मात्र लक्ष्यभ्रष्ट ही

नहीं होता, अपितु मरुभृग की भाँति गन्तव्यहीन, लक्ष्यहीन और दिशाहीन होकर तृष्णातृप्ति के लिए इधर-उधर भटकता रहता है। व्यास ने इसे मानव का सर्वाधिक घातक शत्रु घोषित किया है। उन्होंने इसकी अनन्यता सिद्ध करते हुए कहा है कि मनुष्य का दैहिक क्षय तो संभव है परन्तु तृष्णा के परिहार के बिना तृष्णाक्षय संभव नहीं। जितेन्द्रियता (ब्रह्मचर्य) यम का परम आश्रय ही इस समस्या का श्रेष्ठतम समाधान है।

आज मनुष्य जिन भीष्ण समस्याओं से दो चार है, जो समस्याएँ मानव जाति को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा करने के लिए दोषी हैं, उन सभी का मूल कारण प्राणियों द्वारा इस यम के पालन का अभाव है। इन समस्याओं का जन्म प्रभुसत्ता की अन्धी होड़ के पारिवारिक स्तर से होता है। सर्वप्रथम यह भाई-भतीजावाद को जन्म देती है, तदुपरान्त सम्प्रदायवाद, प्रदेशवाद, विविध राष्ट्रवाद, अन्तर्राष्ट्रीय गुटवाद जैसी भीष्ण समस्याओं का कारण बनती है। इसका कारणान्वेषण यह सिद्ध करता है कि इसके लिए भौतिक प्रगति का अन्धा उन्माद उत्तरदायी है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रगति के अन्धे अनुकरण के दुष्परिणामों की जघन्यता का चित्रण करते हुए अपने एक निबन्ध **'सम्यता और उन्नति'** में लिखा था कि यदि प्रगति की दौड़ में सभ्यता की अवहेलना जारी रही, तो वह दिन दूर नहीं जब सबसे बड़ा मनुष्य वही माना जाएगा जिसके गले में नरमुण्डों की सबसे बड़ी माला होगी। उनका यह तर्क आज के युग में जितेन्द्रियता यम के निर्वाह की आवश्यकता को स्वयं स्पष्ट कर देता है। आज का प्राणी उदरम्भरिता को अपना धर्म मानने लगा है। संयुक्त राष्ट्र संघ और तथाकथित समाज सेवी संस्थाओं द्वारा जो भी जनहित कार्य किए जा रहे हैं, उनके द्वारा इस समस्या का स्थायी समाधान संभव नहीं। वे तो मात्र अस्थायी उपचार तक सीमित हे। वास्तव में जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जनमानस का स्वेच्छित एवं सामूहिक योगदान अपेक्षित हो, उसकी पूर्ति न तो आंशिक योगदान द्वारा संभव है और न ही विशिष्ट आपत्कालीन परिस्थितियों में उसके अस्थायी उपचार द्वारा। वस्तुतः जितेन्द्रियता का निर्वाह आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है और यह वैयक्तिक, पारिवारिक, साम्प्रदायिक, प्रादेशिक, राष्ट्रीय एवं विश्वव्यापी स्तर पर सर्वथा अपेक्षित है। जब तक सारी मानवता एक दूसरे के लिए सर्वस्व त्याग के लिए स्वेच्छित रूप से उद्यत नहीं हो जाती, तब तक युगों से संजोए **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के स्वप्न का साकार होना तथा चिर-प्रत्याशित विश्वसमाज की स्थापना मृगतृष्णा मात्र

है। हमारी संस्कृति के अनुसार संशयराहित्य ही मानवजीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसके लिए पारस्परिक पूर्ण अभेद का आभास अनिवार्य है। अतः जीवन के वास्तविक महत्त्व से अवगत होने के लिए हमारे लिए निजी स्वार्थों, कामनाओं तथा अन्य संकोचों से ऊपर उठकर जीना ही आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है और इसका सरलतम साधन है–इन्द्रियनिग्रह का सदा सर्वदा पालन।

यजुर्वेद को प्रशस्त कर्म का शास्त्र कहा जाता है। उसके अन्तिम अध्याय में लोकमंगल की साधना का महामन्त्र भोग्य सामग्री का त्यागपूर्वक उपभोग तथा लोभ का निषेध घोषित किया गया है–

ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।
(यजुर्वेद, ४०.१)

मानवसमाज में अशान्ति और असमानता के लिए जो दुष्कृत्य दोषी हैं, उनमें से परिग्रह एक है। परिग्रह से अभिप्राय आवश्यकता से अधिक संग्रह है। भले ही यह अनुचित लाभ के लिए हो अथवा विपन्नों के शोषण के लिए। हमारी संस्कृति में इसके निषेध के लिए अपरिग्रह को यम स्वीकार किया गया है। अपरिग्रह त्यागपूर्वक भोग का परामर्श देता है। यम के रूप में इसकी प्रतिष्ठा भले ही स्मार्त साहित्य में हुई हो, तो भी श्रौत साहित्य में इसके समर्थक संकेत उपलब्ध होते हैं। इसकी व्युत्पत्ति 'ग्रह उपादाने' धातु से परि उपसर्गपूर्वक स्वीकार की गई है। अतः परिग्रह सर्वतः ग्रहण का सूचक सिद्ध होता है। साधारण शब्दों में अपरिग्रह से अभिप्राय विषयासक्ति में पूर्णतया निवृत्ति है। परिग्रह की दुर्वृत्ति का आश्रय सर्वतः हानिकारक है। इसमें फंसकर व्यक्ति, परिवार, सम्प्रदाय, प्रदेश और राष्ट्र के विकास के पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य दूसरों को दास बनाने का प्रयत्न करना, दूसरों का नाश करने की योजना बनाना और दूसरों को लूटने का कुप्रयत्न करना है। यदि ध्यान से देखा जाए तो महाभारत के युद्ध का मूल कारण दुर्योधन की परिग्रहासक्ति थी। द्यूतक्रीड़ा के पश्चात् पाण्डवों द्वारा तेरह वर्ष बनवास की प्रतिज्ञापूर्ति के बाद जब दुर्योधन से अनुरोध किया गया कि वह पाण्डवों का हारा हुआ राज्यभाग उन्हें वापस कर दे तो उसने इन्कार कर दिया। स्मार्त साहित्य में सभी स्मृतिकारों ने एकमत होकर इसे त्याज्य दर्शाया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मानव

को अमृतानन्द का सच्चा भागी बनने के लिए दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार अपनाना चाहिए, जो उसे अपने प्रतिकूल न लगे। ऐसा करने से समस्त दुरिताएँ स्वयं परिहारित हो जाती हैं। हमारे मनीषियों ने एक-एक करके हमें उन सभी दुष्कृत्यों के परिणामों से अवगत कराकर उनसे निवृत्त रहने की चेष्टा की है जो समाज के समग्र विकास और शान्तिप्राप्ति के पथ में बाधक सिद्ध हो सकते हैं।

हमारी संस्कृति में प्राणियों से जिस अलोभ, अकार्पण्य और अदोषदृष्टि का आश्रय लेना अनिवार्य माना गया है, अपरिग्रह के आश्रय में उन सभी का पालन अन्तर्निहित सिद्ध होता है। परिग्रह का क्षेत्र हिंसा की तरह व्यापक है। अतः अपरिग्रह भी मानसिक, वाचिक तथा कायिक के नाम से जाना जाता है। मानसिक अपरिग्रह का पालन अन्य प्राणियों के अहितचिन्तन से निवृत्ति में स्वीकार किया जाता है। वाचिक अपरिग्रह का पालन परनिन्दाराहित्य द्वारा सर्वथा संभव है। कायिक अपरिग्रह छीना-झपटी के दुस्साहस से निवृत्ति है। वास्तव में जब तक समाज आपा-धापी, छीना-झपटी तथा लोलुपताजन्य अन्य दुरिताओं से ग्रस्त रहेगा, तब तक इसके सदस्यों में समबुद्धि, समदृष्टि, समभाव, सामंजस्य तथा अभेद बुद्धि के संस्कार नहीं जगाए जा सकते। तदनुसार ही धनोपार्जन का अन्तिम लक्ष्य दान स्वीकार किया गया है। दान ही त्यागपूर्वक उपभोग का प्राणतत्त्व है। परिग्रह सामाजिक असमानता का जनक है। समस्त आर्थिक विषमताएं इसी का परिणाम है। यदि मनुष्य मन से इसे त्याग दे तो वह ऐसी अन्य दुरिताओं से बचने में समर्थ हो सकता है जैसे कि खाने-पीने की चीजों में मिलावट, अनुचित लाभ की दुर्वृत्ति तथा वस्तुओं के अनुचित संग्रह के पश्चात् उनकी काले बाजार में बिक्री। आज सभी राष्ट्र परिग्रह की दुर्वृत्तिजन्य समस्याओं से दो चार हैं। इसका आश्रय ही शीतयुद्ध के लिए दोषी है। विश्व वस्तुतः एक है। जब हम आर्थिक दृष्टि से विकसित और विकासशील देशों में अन्तर मानते हैं और तीसरे विश्व की बात करते हैं तो हमें अनुभव होता है कि इस दुष्कृत्य का आश्रय कितना भयानक है। अतः अपरिग्रह का पालन वैयक्तिक, पारिवारिक, प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय स्तर तक ही नहीं, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्वव्यापी स्तर पर भी सर्वथा अपेक्षित है। यदि सभी संपन्न राष्ट्र साधनहीन देशों के लिए कुछ त्याग करने के लिए तत्पर हो जाएं तो आर्थिक विषमता की समस्या का समाधान स्वतः हो जाता है। वस्तुतः अपरिग्रह वह माध्यम है, जो मनुष्य में त्याग के सत्संस्कारों का प्रादुर्भाव

कराता है। मानवजीवन का लक्ष्य समस्त संकीर्णताओं के घेरों को तोड़कर उस निस्सीम परिधि की प्राप्ति है, जो आधिदैविक के नाम से प्रसिद्ध है। जब तक व्यक्ति आधिपत्यासक्त रहेगा, तब तक वह त्याग के राजमार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः अपरिग्रह यम आज के युग में पूर्णतया प्रासंगिक है और इसका पालन प्राणियों में सौहार्द, सद्भावना तथा सद्बुद्धि का प्रादुर्भाव कराने में सर्वथा सक्षम है।

हमारी संस्कृति व्यक्ति, समाज और विश्व को अन्योन्य अभेदयुक्त ही नहीं मानती, अपितु अन्योन्याश्रित भी मानती है। जब तक इनमें पारस्परिकता की पराकाष्ठा उपलब्ध न हो, तब तक समस्त अभ्युदयसाधक प्रयत्न एवं निःश्रेयससाधक पुरुषार्थ सफल नहीं हो सकते। हमारा अनन्य विश्वास है कि समुद्र का अस्तित्व विविध जलकणों के समुच्चय के पारस्परिक अभेद और अनन्त सहयोग पर आश्रित है। उसी प्रकार बूँद का गौरव स्वयं को सागर का अभिन्न अंश मानने में निहित है। समाज को एक ऐसे औद्योकिक यन्त्र से उपमित किया जा सकता है जिसकी कार्यकुशलता और उत्पादनक्षमता उसको यन्त्राकार प्रदान करने वाले सभी कलपुर्जों की कार्यकुशलता और उत्पादनक्षमता पर आश्रित है। आदर्श समाज की कल्पना तब तक संभव नहीं, जब तक उसके सदस्य आदर्श आचार से युक्त न हो। जिस प्रकार समाज की प्रगति, शान्ति, सम्पन्नता, सुव्यवस्था तथा वैभव इसके सदस्य व्यक्तियों के दायित्वनिर्वाह तथा योगदान पर आश्रित है, उसी प्रकार व्यक्ति के अधिकार समाज द्वारा दिए गए आश्वासन पर आश्रित हैं। जहाँ व्यक्ति समाज के हित के लिए उत्तरदायी है, वहीं समाज भी उसे पूर्णत्वप्राप्ति के साधनों से सम्पन्न करने के लिए जिम्मेवार है। इनका हित और कल्याण परस्पर आश्रित है। मानव द्वारा मर्यादापालन सामाजिक मर्यादाओं की आधारशिला है। क्योंकि जिस प्रकार किसी सरोवर के जल का मालिन्यराहित्य होना उसमें संगृहीत समस्त जलकणों के मालिन्यराहित्य होने पर निर्भर करता है, उसी प्रकार समाज की सुव्यवस्था इसके सदस्य व्यक्तियों के वैयक्तिक आचार पर। हमारे यहाँ अधिकारप्राप्ति दायित्वनिर्वाह में निहित दर्शायी गयी है। तदनुसार ही दायित्वबोध को अधिकारबोध पर प्राथमिकता का प्रावधान उपलब्ध होता है। हमारी संस्कृति के अनुसार मानवजीवन का उद्देश्य खाने-पीने, सोने-जागने और साँस लेने तक सीमित न होकर समस्त जीवों के कल्याण हेतु निजी योगदान देने तक व्यापक है। तभी वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है और तभी वह ईश्वर द्वारा दी गई चेतन

शक्ति के वरदान का सदुपयोग कर सकता है। यह योगदान तभी संभव है जब वह इसके लिए पूर्णरूपेण परिष्कृत हो। जिन साधनों पर वैयक्तिक आचार का परिष्कार आश्रित है, वे शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी साधन व्यवहृत होकर उसके जीवन को जीने की योग्यता से सम्पन्न करते हैं। वह स्वार्थ के अन्धे गर्त से निकलकर परमार्थ के आलोक का आनन्दलाभ करता हुआ हँसते-हँसते पूर्णत्व के पथ पर स्वाभाविक रूप से अग्रसर हो उठता है। वस्तुतः व्यक्ति समाज एवं विश्व की सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई है। समाज के समस्त मांगलिक कर्म और विश्व के अभेदविषयक समस्त पुरुषार्थ व्यक्ति के कर्मकौशल, सहनशक्ति, सत्यनिष्ठा, विवेकज ज्ञान तथा सर्वस्व त्याग की भावना पर निर्भर करते हैं। स्वच्छता मानवजीवन की सर्वप्रथम आवश्यकता है। जब तक उसका विचार, उच्चार और आचार पूर्णतया निर्मल नहीं हो जाता, तब तक उसके द्वारा पाषाणी वृत्ति का त्यागा जाना असंभव है। मनोमालिन्यराहित्य के परिणामस्वरूप उसके मन में अपनी उपलब्धि से तुष्ट रहने के सत्संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है। यह उसे अपने जीवनोद्देश्य की पूर्ति के पथ में आने वाली समस्त बाधाओं को हँसते-हँसते झेलने की प्रेरणा देता है। तदुपरान्त वह अपने मार्गदर्शन के लिए उपलब्ध उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन के लिए अनुप्रेरित होता है। यह अध्ययन उसे शब्दब्रह्म के जिस रूप और आकार से परिचित कराता है, वह उसी रूप और आकार को हृदयस्थ करने का प्रयास करता है। यह प्रयास उसके समस्त मानसिक कलुषों को धो डालता है। अन्ततः वह ब्रह्मभाव को प्राप्त कर अपने समस्त कर्मों को ईश्वरार्पित करना अपना धर्म मानने लगता है। तदनुसार ही प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे यमों का सदा सर्वदा पालन करते रहे और नियमों का ईश्वर-प्रणिधान।

मालिन्यराहित्य होना मानव, समाज तथा विश्व की सर्वप्रथम आवश्यकता है। शुद्धि पर ही सब कुछ आश्रित है। हमारे यहाँ इसे नियमों में प्रथम दर्शाकर इसके निर्वाह की स्वाभाविकता स्पष्ट की गई है। हमारा विश्वास है कि विविध चरणों में मालिन्यराहित्य विविध साधनों द्वारा संभव है–

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।

(मनुस्मृति, ५.१०६.)

यही कारण है कि प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे वागिन्द्रिय से ऋग्वेद की, मन से यजुर्वेद की तथा श्रोत्रेन्द्रिय से अथर्ववेद की शरण ग्रहण करें। ईश्वर के लिए प्राणी तभी स्वीकार्य हो सकता है, जब वह मनसा, वाचा, कर्मणा, शुचियुक्त हो। किसी भी परम पवित्र वस्तु की प्राप्ति के लिए स्वयं पवित्र होना परम आवश्यक है। महाभारतकार ने शौच को बहुविध अपरिहार्य दर्शाकर प्रणिमात्र में इसके पालन के संस्कार जगाने ही में सफलता प्राप्त नहीं की, अपितु वे इसकी सार्वभौमिक महत्ता को स्पष्ट करने में भी सर्वथा सफल रहे हैं। व्यास ने समस्त आधि-व्याधियों के परिहार का स्रोत मानसिक शौच स्वीकार किया है। इसे समस्त वर्णों तथा आश्रमधर्मों की आधारभूत आवश्यकता सिद्ध किया गया है। उनके अनुसार लोभ और काम के वश होकर शौचाचार की अवहेलना दण्डनीय है। आरण्यकपर्व में शौच को धर्म का शरीर घोषित करके व्यास ने इसकी अनुपस्थिति में किसी भी धर्म का निर्वाह असंभव दर्शाया है। यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद में शौच को धर्म की प्राप्ति का साधन घोषित करके व्यास ने इसकी महत्ता को अभिव्यक्त किया है। महाभारत में जहाँ कहीं धर्मचर्चा उपलब्ध है, वहीं शौच-संस्तुति का प्रसंग समाहित है। विदुर ने धृतराष्ट्र की शान्ति असत् उपायों, अन्याययुक्त युद्ध तथा कपटपूर्ण कर्मों के त्याग द्वारा ही संभव दर्शायी है। वस्तुतः इससे अभिप्राय पाण्डवों के प्रति समस्त असत्य धारणाओं एवं भावों का त्याग है। विदुर ने धर्म की रक्षा के लिए सत्य का आश्रय ग्रहण करने, विद्या की रक्षा हेतु योग का आश्रय लेने तथा कुल की रक्षा हेतु सद्वृत्ति को अपनाने का जो परामर्श दिया है, वह मानवजीवन में शौच के निर्वाह की अपेक्षा को स्वयं सिद्ध कर देता है। कृष्ण-अर्जुन-संवाद में शौचसंस्तुति में इसे भक्तियोग का आधार, ब्राह्मणधर्म का विशेष गुण, दैवी सम्पत्ति तथा ईश्वर का अपना स्वरूप घोषित किया गया है। अन्य पर्वों की भाँति शान्तिपर्व में भी शौच को मानवजीवन की आधारभूत आवश्यकता स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि शान्तिपर्व में सन्निहित समस्त धर्म-प्रसंगों के माध्यम से करायी गयी है। वस्तुतः शौच का अवलम्बन स्वस्थ समाज की आधारभूत आवश्यकता है। जब तक हम पारस्परिक व्यवहार में असद् भावों के दुराग्रह से ग्रस्त रहेंगे तब तक न तो लोकमंगल की साधना का स्वप्न साकार हो सकता है और न ही हमारी अपनी उन्नति संभव है। आज के युग में बढती हुई सच्चरित्रता की अवहेलना ही विविध दोषों की जन्मदायिनी सिद्ध हो रही है। असत् का कुचक्र तीव्र गति से चल रहा है।

इसने हमारी सामाजिक, नैतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर चारों ओर से भीष्ण आक्रमण का दुस्साहस किया है। इसके परिणामस्वरूप हमारी सामाजिक व्यवस्था ही दूषित नहीं होती जा रही, अपितु नैतिक स्थिति भी कलुषित होती जा रही है। इतना ही नहीं, राजनीति के अपराधीकरण के रोग से ग्रस्त होने का मुख्य कारण भी यही है। यदि हम लगातार शौच की अवहेलना करते रहे तो वह दिन दूर नहीं, जब हम मनुष्य न रहकर मात्र चलती-फिरती, साँस लेती लाशों में परिणत होकर रह जाएंगे।

हार्दिक तुष्टि और मानसिक प्रसन्नता मानवजीवन की श्रेष्ठतम निधि है। यह उसे समस्त शंकाओं, दुविधाओं तथा दुर्भावों से सर्वथा मुक्त रखती है। मानवजीवन में 'तुष् तुष्टौ' एवं 'तुष् प्रीतौ' का आश्रय परम आवश्यक घोषित किया गया है। यदि सभी प्राणी इस नियम के निर्वाह के लिए कृतसंकल्प हो जाएं तो समाज में अपरिग्रह का पालन स्वाभाविक हो जाता है और वे सभी समस्याएं स्वयं सुलझ जाती हें जो परिग्रह के दुराग्रह से जन्म लेती हैं। वस्तुतः यदि मनुष्य किए गए पुरुषार्थ की सफलता या असफलता को ईश्वर का न्याय मानकर हर्षोद्वेगरहित रहना सीख ले तो यह वसुधा सचमुच एक परिवार का रूप धारण कर सकती है। वेदों में सन्तोष की सांकेतिक श्लाघा के अनन्य प्रसंग उपलब्ध होते हैं। यज्ञ का विस्तार सन्तोष द्वारा ही संभव है। यज्ञ के विस्तार को आत्मज्योति का स्रोत तथा स्वर्गसुख का साधक घोषित किया गया है–

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।।

(अथर्ववेद, ४.१४.४.)

सन्तोष वह परम आश्रय है, जिसके आलोक में स्तेय का अन्धकार स्वयं नष्ट हो जाता है। अतः एक ही नियम का समग्र पालन प्राणी को दो यमों के पालन की योग्यता से युक्त करता है। हानि-लाभ, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि को दैव का न्याय मानकर प्रसन्नतापूर्वक सह लेने की वृत्ति ही सन्तोष है। इसे जीवन के संघर्ष पथ से पलायनवाद कहना जघन्य भ्रान्ति है। क्योंकि हमारी संस्कृति में व्यक्ति का अधिकार कर्मसम्पादन तक सीमित है, फल की प्राप्ति की लालसा तक नहीं। हमारा कर्मयोग हमें कर्म में अनासक्त रहने के लिए प्रेरित करता है। तदनुसार ही प्राणियों से आग्रह किया गया है कि वे न तो मात्र फलप्राप्ति हेतु कर्म करें, न ही अकर्मण्यताग्रस्त

हों। सन्तोष एक ऐसा माध्यम है, जिसका पालन मनुष्य को तृष्णाक्षय के परम शिखर पर आरुढ कराने में सहायक हो सकता है।

हमारे यहाँ मनुष्य का पूर्णत्व आजगर वृत्ति के निर्वाह में निहित दर्शाया गया है। परन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य बिना प्रयास किए ईश्वर की अनुकम्पा की पात्रता का भागी होने का आडम्बर करता रहे। अनायास प्राप्ति उन्हीं के लिए सुलभ है जो मनसा, वाचा, कर्मणा भगवन्मना हो गए हों। सन्तोष के निर्वाह के लिए कामनाओं का परिहार अनिवार्य है। जब तक मनुष्य हस्तचापल्य, पादचापल्य, नेत्रचापल्य तथा कुटिल वाक्चापल्य से पूर्णतया निवृत्त नहीं हो जाता, तब तक उससे सन्तोष के निर्वाह की अपेक्षा नहीं की जा सकती। व्यास ने अन्य नियमों की भाँति सन्तोष की अपरिहार्यता सिद्धि के लिए भी उन्हीं विविध अवलम्बनों का आश्रय लिया है जिनका अन्य यम-नियमों की संस्तुति के लिए। उनके अनुसार असन्तोष मनुष्य की आत्मशक्ति के क्षय का कारण बनता है। उन्होंने असन्तोषी पुरुषों को मूढ घोषित किया है और सन्तोषाश्रितों को पण्डित। वास्तव में असन्तोष ही मनुष्य की अधोगति का मुख्य कारण है। समस्त मानसिक विकार और नैतिक दुराग्रह असन्तोष से ही जन्म लेते हैं। यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद में सन्तोष को परम सुख दर्शाकर उसे मानवजीवन की परम उपलब्धि घोषित किया गया है। विदुर के नीति-उपदेश में भी यही कहा गया है कि जो वृक्ष से कच्चे फल तोड़ता है। वह उन फलों के रस से ही वंचित नहीं होता अपितु उस वृक्ष के बीज के नाश का भी कारण बनता है। उन्होंने जितेन्द्रियता के निर्वाह को सन्तोषाश्रित दर्शाकर मानवजीवन में सन्तोष के निर्वाह को अनन्यता प्रदान की है। विदुर के अनुसार धृतराष्ट्र के विषाद का मूल कारण पुत्रमोहजन्य असन्तोष है। भीष्मपर्व में असन्तोष को समस्त मानसिक विकारों का मूल और बुद्धि के क्षय का कारण दर्शाकर इसे मनुष्य के सर्वनाश के लिए उत्तरदायी सिद्ध किया है। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार असन्तोष अर्जुन के समस्त विषाद का कारण ही नहीं अपितु यदि वह इससे निवृत्त न हुआ तो यह उसके सर्वनाश का भी कारण बन सकता है। सन्तोष को स्थितप्रज्ञता का मूल दर्शाकर उसे भक्तियोग सिद्धि का आधारतत्त्व घोषित किया गया है। व्यास ने राजा द्वारा सन्तोषनिर्वाह को राजधर्म का अंग घोषित किया है। जो राजा सन्तोष का आश्रय ही नहीं लेता, उसके धर्म और अर्थ दोनों का मिथ्या हो जाना निश्चित दर्शाया गया है। सन्तोष मानसिक तृष्णा, शोक और संकल्प जैसी आत्मघाती व्याधियों के लिए अमृतसंजीवनी क्षुधा के समान है।

आज के युग में यह मानवजीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता सिद्ध होता है। क्योंकि भौतिक सम्पन्नता की लालसा एवं तृष्णा मनुष्य को उत्तरोत्तर अधोगति के गर्त की ओर खींचती जा रही है। इसके लिए हर युग में हमारे सन्त लोगों को सन्तोष के महत्त्व से अवगत कराते रहे हैं। कबीर ने जनमानस को इसके महत्त्व से अवगत कराते हुए कहा था–

क्या पराई चोपड़ी क्यों ललचाए जी।
रुखी मिस्सी खाय के ठण्डा पानी पी।।

एक पाश्चात्य दार्शनिक ने आधुनिक युग में इसकी प्रासंगिकता स्वीकार करते हुए कहा है–

No gem compares character,
No wish fulfilled with health,
No treasure equais charity,
Content is real wealth.

मानव द्वारा सत्पथ पर पदार्पण, तदुपरान्त उस पर सतत निर्बाध गमन के लिए जो योग्यता परम आवश्यक है वह उस पथ में आने वाली बाधाओं, शंकाओं, दुविधाओं, अवरोधों तथा विसंगतियों को सहर्ष सहने कर लेने की शक्ति है। यह द्वन्द्वसहनशीलता के नाम से ही प्रसिद्ध है। धर्मशास्त्रों की भाषा में इसे तप कहा जाता है। पाणिनि-धातुपाठ में यह संताप, ऐश्वर्य तथा दाह की पर्याय स्वीकार की गई है। नियमपरिगणना में इसे तृतीय स्थान प्राप्त है। सन्तोष एवं शौच की भाँति यह भी मानसिक, वाचिक और स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार स्वर्ण की शुद्धिपरीक्षा के लिए अग्निपरीक्षा आवश्यक है, उसी प्रकार मनुष्य के चारित्रिक दोषराहित्य की परीक्षा के लिए द्वन्द्वसहनशीलता। साधारण भाषा में तप से अभिप्राय विकासपथ में आने वाली समस्त बाधाओं को हँसते-हँसते सहन कर उस पर सतत अग्रसर रहने की योग्यता से युक्त होना है। यजुर्वेद में– **'ऊर्ध्वचितः भृगूणां अंगिरसां तपसा तप्यध्वम्'** का अनुरोध द्वन्द्वसहनशीलता को मानवजीवन का अंग घोषित करता है। साधारण भाषा में दुराग्रह के निषेध के लिए वांछित मानसिक, वाचिक तथा कायिक संयम ही तप है। तदनुसार ही समस्त वर्णों तथा आश्रमों में इसका निर्वाह अपरिहार्य घोषित किया गया है। तप शीतोष्ण सहनशीलता तक सीमित न होकर समस्त विषमताओं, विसंगतियों एवं विडम्बनाओं से उत्पन्न द्वन्द्वों के सहर्ष सहन

तक व्यापक है। इसका प्रादुर्भाव अन्य नियमों की भाँति तद्विषयक संहिताओं में उपलब्ध संकेतों से स्वीकार किया गया है। वैदिक संहिताओं के अनुसार तप का आश्रय इहलौकिक यश तथा पारलौकिक पुण्योपलब्धि का साधक है। उपनिषदों में तप के सम्बन्ध में संहिताओं का अक्षरशः समर्थन उपलब्ध होता है। उपनिषद् सृष्टि को पुरुष के तप का परिणाम मानते हैं। यह विश्वास जनमानस में तप की अपरिहार्यता के संस्कार जगाने को समर्पित है। उपनिषदों का विश्वास है कि तप ज्ञान का श्रेष्ठतम स्रोत है–

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते।।

(मैत्रेय्युपनिषद्, १.१.)

स्मार्त साहित्य में तप को नियम घोषित करके समस्त धर्मों में इसके निर्वाह को अपेक्षित दर्शाकर इसकी अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। व्यास ने महाभारत में तपविषयक पूर्वप्रतिपादित मान्यताओं को सरलीकरण, सर्वग्राह्यता तथा सर्वबोधगम्यता से अलंकृत करके अपने उस संकल्प की पूर्ति की है, जिसको लेकर उन्होंने महाभारत की रचना की थी। विशिष्ट आख्यानों के माध्यम से समस्त जीवनमूल्यों की महत्तासिद्धि महाभारत की अनन्यता है। तप की संस्तुति के लिए उन्होंने धौम्य ऋषि तथा उनके शिष्य आरुणि, उपमन्यु, वेद तथा उत्तंक के आख्यान का आश्रय लेकर तप को ब्रह्मज्ञानप्राप्ति का साधन सिद्ध किया है। व्यास ने अतप को सुखक्षय का कारण दर्शाकर प्राणियों में इसके सदा सर्वदा निर्वाह के संस्कार जगाए हैं। विदुर के अनुसार तप पाण्डित्य का प्राणतत्त्व है। इस पर्व में द्वन्द्वसहनशीलता की संस्तुति के लिए कठोपनिषद् में उपलब्ध रथ के रूपक का पुनरुद्धरण महाभारत के यम-नियम-विधान को श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि से सम्पन्न ही नहीं करता, अपितु उन पारम्परिक मर्यादाओं के सतत निर्वाह का सदाग्रह भी प्रस्तुत करता है जो मानवजीवन को जीने की योग्यता से युक्त करती हैं। भीष्मपर्व में श्रीकृष्ण के विभूति वर्णन में तप को उन्हीं की विभूति स्वीकार करके पूर्वप्रतिपादित औपनिषदिक मान्यता को समर्थन दिया गया है। भीष्मपर्व में प्रतिपादित कायिक, वाचिक और मानसिक तप तथा इनका सात्त्विक, राजसी तथा तामसी वर्गीकरण मात्र सात्त्विक तप के आश्रय को ही उचित घोषित करता है। भगवान् कृष्ण के अनुसार सद् तपस्या के लिए सद्भाव का आश्रय अनिवार्य है। शान्तिपर्व में मनुष्य को ब्रह्मा के तप का

परिणाम दर्शाकर व्यास ने महाभारत में प्रतिपादित यम-नियम-विधान को श्रौत तथा स्मार्त पृष्ठभूमि से युक्त स्वीकार किया है। शान्तिपर्व में उपनिषदों में प्रतिपादित तपविषयक मान्यताओं का पुनरुद्धरण इस सत्य को स्वयं सिद्ध कर देता है। व्यास ने ब्रह्मलाभ के लिए निन्दा-स्तुति में समभाव, पुण्य कर्मों का गोपन, पर अहित से निवृत्ति, शोक-विषादराहित्य, क्रोधराहित्य, जितेन्द्रियता, ईर्ष्या तथा हिंसाराहित्य एवं अनासक्ति का आश्रय अवश्यम्भावी माना है। ये उपलब्धियाँ तप के समग्र निर्वाह द्वारा ही संभव हैं। व्यास ने गृहस्थ के धर्मपूर्वक निर्वाह को तप दर्शाकर इसे जनसाधारण के लिए अनिवार्य घोषित कर दिया है–

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते।।

(शान्तिपर्व, २६१.७.)

आधुनिक परिवेश में लोकमंगल की साधना के पथ में आने वाली समस्त बाधाओं को हँसते-हँसते झेलकर उसके प्रति योगदान में रत रहना ही तपस्या है। समाज की सुव्यवस्था, सुचारुता एवं विकास के लिए वांछित संयमों का निर्वाह भी तप है। तप की आधुनिक काल में प्रासंगिकता गुरु गोविन्दसिंह द्वारा रचित विचित्र नाटक में पूर्वजन्म में उनके द्वारा हेमकुण्ड में की गई तपस्या से स्वयं सिद्ध हो जाती है। भारतीय जीवनदर्शन के महत्त्व से पाश्चात्य जगत् को अवगत कराने और उसे इसकी महत्ता स्वीकार करने के लिए विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ द्वारा किए गए प्रयास भी आज के युग में लोकमंगल की साधनाहित तप के निर्वाह को प्रासंगिक घोषित करते हैं। वास्तव में तप से अभिप्राय मनुष्य को समस्त उद्वेगों, दुविधाओं, संशयों और विषमताओं को सहर्ष झेलते हुए अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर रहने के संकल्प का निर्वाह है। मेरे विचार से तपस्या आज भी अपरिहार्य है–

आठों पहर द्वन्द्वों में पिसना, प्रतिपल कुण्ठाओं का रिसना।
चित्रकूट पर तन्मय होकर, रामतिलक हित चन्दन घिसना।
तपस्या यही अगाध है प्यारे। हर.मानव की साध है प्यारे।

अध्ययन के लिए मनुष्य को जिस परिमार्जन की आवश्यकता होती है,

उसके तीन चरण हैं–शौच, सन्तोष तथा द्वन्द्वसहनशीलता। वस्तुतः अध्ययन मानव को शिखरारोहण की योग्यता से युक्त कराने वाला चौथा चरण है। इससे अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्तिविषयक शास्त्रोक्त ज्ञानसामग्री का उपार्जन है। शास्त्रीय भाषा में यह स्वाध्याय के नाम से प्रसिद्ध है और तीन अर्थों का द्योतक है। शास्त्रों में वर्णित शब्दब्रह्म के आकार, प्रकृति, स्वभाव, स्थान तथा भव्यता की पुस्तकीय परिचयप्राप्ति, तदुपरान्त उसके स्वरूप को हृदयस्थ करके उससे साक्षात्कार के अनुभव का प्रयत्न ही स्वाध्याय है। इससे जो तीसरा अर्थ ग्रहण किया जाता है, वह प्रणवजप है। इस दृष्टि से स्वाध्याय का क्षेत्र वेदाध्ययन अथवा शास्त्राअध्ययन तक सीमित न होकर आत्मचिन्तन तथा प्रणवजप तक विस्तृत है। एक निरुक्ति के अनुसार तो यह केवल **'स्वस्य अध्ययनम्'** का परिचायक है। मानवजीवन में सत्य की अनुभूति के लिए साहित्य का आश्रय आवश्यक है। तदनुसार ही साहित्य की आवश्यकता लेखनपरम्परा के श्रीगणेश से शताब्दियों पूर्व आरम्भ हुई है। विविध विशिष्ट विद्वानों द्वारा अपने शिष्यों को उपदेश के माध्यम से श्रवणेन्द्रिय द्वारा जिस शिक्षा का ज्ञान कराया गया, उसका एक पीढी से दूसरी पीढी को श्रुत्याश्रित अन्तरण श्रौत साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्वाध्याय का क्षेत्र मात्र श्रौत तथा स्मार्त साहित्य के अध्ययन तक सीमित न होकर तदुपरान्त रचे गए उस समूचे साहित्य के अध्ययन तक व्यापक है जो मानवजीवन को जीने की योग्यता से युक्त करने में समर्थ है। तदनुसार ही साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने महाभारत को स्मार्त साहित्य के अन्तर्निहित स्वीकार किया है। वास्तव में अध्ययन वह साधन है जो मनुष्य को वैचारिक, वाचिक तथा कायिक कर्मों के औचित्य एवं अनौचित्य से परिचित कराता है। इसका सम्बन्ध बहुधा मानवजीवन के लिए उत्कृष्ट आदर्शों के चित्रण के माध्यम से उसे जीवनोपयोगी दिशानिर्देश देना होता है। अन्य नियमों की भाँति स्वाध्याय का सूत्रपात भी वैदिक संहिताओं से स्वीकार किया गया है। इनमें स्वाध्यायविषयक अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद में मनुष्य को कर्मज्ञान से परिचित कराया गया है। इसका एक पूरा अध्याय स्वाध्याय को ही समर्पित है। इसके अनुसार स्वाध्याय मनुष्य की समस्त शक्तियों के छिद्रों को निर्दोष करने और समस्त इन्द्रियों को सशक्त करने में समर्थ है। जब व्यक्ति किसी आदर्श चरित्र का अध्ययन करता है, तो उसके आधार पर अपनी त्रुटियों को सुधारने के लिए प्रेरित हो जाता है। यही कारण है कि समूचे श्रौत तथा स्मार्त साहित्य में स्वाध्याय

के सर्वविध निर्वाह के अनेक आग्रह उपलब्ध होते हैं।

महाभारतकार ने अन्य यम-नियमों की भाँति इस नियम के विधान में श्रौत तथा स्मार्त मान्यताओं का समर्थन और सरलीकरण करके उन्हें जनानुकार्य बनाने का सफल प्रयास किया है। वेदाध्ययन का महत्त्व अध्ययन के उपरान्त अध्ययनजन्य शाब्दिक ज्ञान को अपने अनुभव के निकष पर कसकर सद् ज्ञान को विवेकज उत्कर्ष से सम्पन्न करना जहाँ मनुष्य के पूर्णत्वपथ को प्रशस्त करने में समर्थ है, वहीं प्रणवजप के माध्यम से स्तुत्य से तादात्म्य प्राप्त कर तद्रूपप्राप्ति भी प्रणवजप रूपी स्वाध्याय को पूर्णतया अपरिहार्य घोषित करती है।

व्यास ने स्मृतिकारों की भाँति ब्रह्मचारी के लिए वेदाध्ययन-सम्बन्धी स्वाध्याय अनिवार्य दर्शाया है और संन्यासियों द्वारा मौनव्रत का अवलम्बन लेकर प्रणवजप रूपी स्वाध्याय का आश्रय यथार्थ माना है। व्यास ने आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय की संस्तुति करते हुए कहा है कि स्वाध्याय मनुष्य को सत्य से अवगत कराता है, सत्य से शम का प्रादुर्भाव होता है। शम से त्याग की भावना जन्म लेती है और ये सभी मिलकर प्राणी में शिष्टाचार के पालन की योग्यता जगाते हैं। विदुर ने स्वाध्याय को पाण्डित्य का मूल घोषित किया है, क्योंकि पण्डित की उपाधि से अलंकृत होने के लिए मनुष्य का सत्यताज्ञान से सम्पन्न होना, कार्यविधि ज्ञान में विशेषज्ञ होना तथा कार्योपाय ज्ञान में कुशल होना अनिवार्य है। विदुर के अनुसार धृतराष्ट्र के विषाद का सरलतम परिहार आत्मचिन्तनविषयक स्वाध्याय का आश्रय है। भीष्मपर्व में आत्मचिन्तनवियुक्त कोरे वेदज्ञान को स्वाध्याय नहीं स्वीकार किया गया। भीष्मपर्व की विशिष्टता स्वाध्याय को सत्संग द्वारा प्राप्य दर्शाने में निहित है। इससे अभिप्राय यह है कि जो लोग लिपिज्ञान से विपन्न हैं, वे प्रवचनों के श्रवण द्वारा आत्मचिन्तन की योग्यता प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। वस्तुतः निरक्षरता को स्वाध्याय के पथ का बाधक नहीं स्वीकार किया गया है। वेद-वेदांग ग्रहण को राजधर्म का अंग दर्शाकर व्यास ने स्वाध्याय को राजोचित गुण घोषित करने में सफलता प्राप्त की है। शान्तिपर्व में धर्मज्ञों के जो दो भेद स्वीकार किए गए हैं। वे वेदज्ञ तथा अवेदज्ञ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से वेदज्ञों को उत्तम स्वीकार किया गया है। व्यास ने स्वाध्याय के समग्र निर्वाह पर ही बल दिया है। इसके लिए तत्सम्बन्धी पूर्वनिर्धारित मान्यताओं का आश्रय ग्रहण किया है।

आज के युग में अध्ययन कर्तव्य न होकर जीविकोपार्जन का साधन बनकर रह गया है और अध्यापन एक विशिष्ट व्यवसाय का रूप धारण कर गया है। हमारी शिक्षा-पद्धति को अधोगति के गर्त तक ले जाने का दोष उन साम्राज्ञी शक्तियों को जाता है जो शताब्दियों तक हम पर राज्य करती रहीं और हमारे विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों को विविध कर्मचारी वर्ग की उपलब्धि के स्रोतों में परिणत करते रहे। स्वतन्त्रता संग्राम ने हमारी शिक्षापद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन को आवश्यक सिद्ध किया। हम राजनैतिक दासता से तो मुक्त हो गए, परन्तु मानसिक दासता तथा शैक्षणिक दासता के चंगुल से अभी तक मुक्त नहीं हो पाए। यही कारण है कि हमारी शिक्षा युवा-पीढ़ी में दायित्वबोध, राष्ट्रीयता की भावना एवं अनुशासन-जागरूकता जगाने की बजाय उनमें अनुशासनहीनता, उद्दण्डता और स्वेच्छाचार जैसे दुर्वृत्तियों को प्रोत्साहित करती रही। यदि अध्ययन के क्षेत्र में नैतिकता, दायित्वबोध, शिष्टाचार और उच्च नागरिक आचार-संहिता को उच्च स्थान न दिया गया तो इस देश का भगवान् ही रक्षक होगा। अतः महाभारत-संस्तुत स्वाध्याय आज के युग में पूर्णतया प्रासंगिक है, आवश्यकता इसे व्यवहृत करने की है।

स्वाध्यायप्रसूत विवेकज ज्ञान प्राणी में अहंताराहित्य का प्रादुर्भाव कराने में सर्वथा समर्थ सिद्ध होता है। इसके परिणामस्वरूप प्राणी अपनी सभी उपलब्धियों को ईश्वर की अनुकम्पा का परिणाम मानने लगता है। यह विश्वास उसमें अपने समस्त कर्मों को ईश्वरार्पित करने की निष्ठा का प्रादुर्भाव कराता है। यह भावना ही ईश्वर-प्रणिधान के नाम से प्रसिद्ध है। व्यासभाष्य में **'तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्'** की भावना को ही ईश्वर-प्रणिधान स्वीकार किया गया है। इसका निर्वाह तब तक संभव नहीं, जब तक मनुष्य ईश्वर की कण-कण में विद्यमानता में अदम्य विश्वास से युक्त नहीं हो जाता। चरितार्थ होने पर यह नियम मनुष्य को भगवद्भाव से युक्त कर देता है और ईश्वर स्वयं उसके अच्छे-बुरे का भार वहन करने लगते हैं। वैदिक संहिताओं में ईश्वर-प्रणिधानसमर्थक अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। इसका श्रेष्ठतम उदाहरण पुरुषसूक्त में प्रतिपादित पिण्ड और ब्रह्माण्ड में साम्य तथा समस्त प्राणियों में आत्मतत्त्वविषयक अभेद में उपलब्ध होता है। संहिताओं में उपलब्ध शान्तिपाठ तथा स्वस्तिवाचन मानवजीवन में ईश्वर-प्रणिधान के निर्वाह की आवश्यकता के स्पष्टीकरण को समर्पित है। 'आत्मा की उपासना' नामक सूक्त में प्राणियों से आग्रह किया गया है कि

वे सर्वत्र विद्यमान समस्त प्राणियों में विभु ईश्वर को स्तुति द्वारा प्राप्त करें। उपनिषदों में भी पुनः पुनः ईश्वर-प्रणिधान-प्रशस्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है। ईश्वर-प्रणिधान के समर्थन हेतु उपनिषत्साहित्य में ईश्वर को मनुष्य की हृदय रूपी गुफा में अवस्थित दर्शाया गया है। मनुष्य के लिए मोक्ष का जो विधान निर्धारित किया गया है, श्रद्धा उसका अनन्य अंग दर्शायी गयी है। श्रद्धा की पराकाष्ठा समस्त जीवों को ब्रह्ममय मानकर उनके प्रति ईश्वरवत् नतमस्तक होने में निहित है। यही ईश्वर-प्रणिधान का कार्यान्वयन है। वस्तुतः जब तक प्राणी का अहम् ब्रह्म में विसर्जित नहीं हो जाता तब तक उसके लिए वेदोक्त लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं। वस्तुतः हमारी संस्कृति में निर्धारित यम-नियम मानवजीवन में माँ की भूमिका निभाते हैं। जिस प्रकार माँ अबोध बालक को चलने से पहले बैठने का अभ्यास कराती है तथा चलने की योग्यता से युक्त कराने के लिए झुककर अपनी अंगुली का सहारा देती है तथा उसे अपने पाँव पर चलाने के लिए उससे कुछ दूर बैठकर उसे अपनाने के लिए अपनी भुजाएँ फैला देती है, तब वह शिशु उसकी ममता के वशीभूत होकर अपने पाँव के बल उसकी गोद की ओर अग्रसर होने के लिए पुरुषार्थ करना शुरु कर देता है। इसी प्रकार शौच, सन्तोष, तप तथा स्वाध्याय प्राणियों में ईश्वर के प्रति अनन्य भाव को जागृत करने को समर्पित है।

श्रौत साहित्य की भाँति स्मार्त साहित्य में भी ईश्वर-प्रणिधान के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मानवजाति अपनी विविध कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों में इनके अधिष्ठाता देवताओं को लीन समझकर एकत्व की भावना करें। मनु ने सच्चा ईश्वर-प्रणिधान समस्त आत्माओं को अपनी आत्मा में स्थित और अपनी आत्मा को सभी आत्माओं में अवस्थित मानने में निहित स्वीकार किया है–

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्।।

(मनुस्मृति, १२.१२५.)

महाभारतकार ने ईश्वरप्रणिधान-विषयक मान्यताओं की संस्तुति सर्वथा श्रौत तथा स्मार्त साहित्य के अनुकूल की है। ईश्वर-प्रणिधान को सभी अशुभ कर्मों से निवृत्ति का मूल दर्शाते हुए कहा गया है कि जो सब अवस्थाओं में सब प्राणियों को आत्मरूप देखने वाला है, उस ब्रह्म के समान महात्मा को

अशुभ कर्म प्राप्त नहीं होते। विदुर ने पारस्परिक अभेद को सभी समस्याओं का परम समाधान घोषित करके जनमानस में पारस्परिक अन्योन्य अभेद में निष्ठा जगाने का सद् प्रयास किया है। ईश्वर-प्रणिधानविषयक औपनिषदिक मान्यताओं का अनुमोदन करते हुए सनत्सुजात ने आत्मस्थित अंगुष्ठमात्र पुरुष के विवेकज ज्ञान को परमानन्द प्राप्ति का साधन घोषित किया है। भीष्मपर्व में श्रीकृष्ण ने जिस स्थितप्रज्ञता की प्राप्ति को सर्वोपरि घोषित किया है, वह भी ईश्वर-प्रणिधान के बिना संभव नहीं। भीष्मपर्व में अथर्ववेद की ईश्वर-प्रणिधान-विषयक उस मान्यता का अक्षरशः अनुरणन होता है, जिसमें कहा गया है कि ब्रह्मविद् प्राणी द्वारा यज्ञ के निमित्त किए गए कर्मों के आचरण में अर्पण करने की क्रिया भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है तथा होता भी ब्रह्म है। इस प्रकार मात्र ईश्वर-प्रणिधान का महत्त्व ही स्पष्ट नहीं किया गया, अपितु तद्विषयक वैदिक विश्वास का अनुमोदन भी किया गया है। ईश्वरभजन को मनुष्य के ईश्वर-स्थित होने की योग्यता से युक्त दर्शाकर प्राणियों में इसके पालन का कान्तासम्मत प्रयास किया गया है। भीष्मपर्व में प्राणियों से सब कर्मों को ईश्वरार्पित करने और ईश्वर में चित्त लगाने का जो परामर्श दिया गया है, वह भी मानवजीवन में ईश्वर-प्रणिधान के पालन के महत्त्व को स्पष्ट करने को समर्पित है। वस्तुतः ईश्वर-प्रणिधान से अभिप्राय **अहम्** का **सर्वम्** में स्वेच्छित विसर्जन है। यह विसर्जन ही प्राणी की वासुदेव रूप प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके परिणामस्वरूप ही प्राणी में **'वासुदेव इदं सर्वम्'** में अदम्य विश्वास जागृत होना संभव है।

आज के युग में इसकी प्रासंगिकता प्राणियों में इसके प्रति बढती हुई उदासीनता के परिणामस्वरूप उत्पन्न मानसिक तनाव, भेदविषयक समस्याओं की जटिलता तथा पारस्परिक सौहार्द के अभावजन्य वैमनस्य की विभीषकाओं की उपस्थिति से स्वयं सिद्ध हो जाती है। स्वामी रामतीर्थ ने ईश्वर-प्रणिधान को ब्रह्मप्राप्ति का मूल मन्त्र दर्शाते हुए कहा था–

Whetever thou loveth man that thou be must
God if thou loveth God dust if thou loveth dust

प्रस्तुत परिशीलन व्यास द्वारा महाभारत में की गई यम-नियम-संस्तुति को सनातन परम्परा के सर्वथा अनुकूल सिद्ध करता है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के परिणामस्वरूप इन आचार और व्यवहार के उज्ज्वल रत्नों को जो जाज्वल्य उपलब्ध हुआ, उसके परिणामस्वरूप इन्हें सार्वभौमिक और

सार्वकालिक प्रासंगिकता ही उपलब्ध नहीं हुई अपितु ये वर्तमान तथा भावी, समस्त वैयक्तिक, सामाजिक और विश्वव्यापी समस्याओं के सर्वोत्तम समाधान भी सिद्ध हुए। महाभारत में व्यास ने स्वयं स्वीकार किया है कि महाभारत का प्रतिपाद्य विषय पूर्व प्रतिपादित मानवीय मान्यताओं को गुह्यता से मुक्त कराकर जनमानस में उनके पालन के संस्कार जगाना है। इसमें वे पूर्णतया सफल रहे हैं। जनसाधारण के लिए विशिष्ट मान्यताओं को सर्वग्राह्यता प्रदान करने का श्रेष्ठतम साधन उन मान्यताओं का दैवी सत्ताओं के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करना होता है। भारतीय जनमानस की विशिष्टता का आधारतत्त्व श्रद्धा है। जब तक प्राणी में किसी विशेष शिष्टता के प्रति श्रद्धा का प्रादुर्भाव नहीं होता, तब तक वह मनसा, वाचा, कर्मणा उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता। तदनुसार ही व्यास ने ऐसे अवलम्बनों का आश्रय लिया जो मानवाचारविषयक विशिष्टताओं का सम्बन्ध दैवी सत्ताओं से स्थापित करते हैं। इसका उदाहरण हमें यक्षरूपी धर्म के उस अमर उद्घोष से उपलब्ध हो जाता है, जिसमें उन्होंने मनुजोचित मर्यादाओं को या तो अपने रूप घोषित किया है या फिर धर्म की प्राप्ति का द्वार। उनकी युधिष्ठिरप्रियता का कारण युधिष्ठिर द्वारा धर्मविषयक मर्यादाओं का पालन घोषित किया गया है–

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम।।
अहिंसा समता शान्तिस्तपः शौचममत्सरः।
द्वाराण्येतानि में विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम।।

(आरण्यकपर्व, २९८.७.८)

व्यास द्वारा लिया गया यह अवलम्बन भी वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित धर्म में उनकी निष्ठा का द्योतक सिद्ध होता है। क्योंकि संहिताओं में भी सभी यम-नियमों को देवगुण दर्शाकर अपरिहार्य दर्शाने की चेष्टा की गई है। व्यास ने समस्त यम-नियम-समुच्चय के पालन को ही यथेष्ट स्वीकार किया है। तदनुसार ही लगभग इनके समर्थक सभी सन्दर्भों में इनके समुच्चय का वर्णन उपलब्ध होता है। किसी एक यम या नियम की महत्ताप्रशस्ति के लिए उन्होंने सभी की अपरिहार्यता सिद्ध करने के पश्चात् उसका उल्लेख किया है। यह इस सत्य की सिद्धि को समर्पित है कि इन सभी का समग्र निर्वाह ही धर्म है। इसी आधार पर इस परिशीलन में भी कुछ सन्दर्भों की

यम-नियम-विवेचन में पुनरुद्धरण की संभावना हो सकती है। इसे पुनरावृत्ति के दोष से मुक्त स्वीकार किया जाए। यदि व्यास जैसे कुशाग्र बुद्धि मनीषी किसी सत्य को जनानुकार्य बनाने के लिए धर्म-मर्यादा लक्षणों के समुच्चय को पुनः पुनः उद्धृत करते हैं, तो परिशीलक द्वारा उनके औचित्य के आधार पर उनका पुनरुद्धरण स्वाभाविक हो जाता है। व्यास द्वारा अपनायी गयी दूसरी अनन्यता विवेकज ज्ञान को आचारजनित घोषित करना है। आरण्यकपर्व का ब्राह्मणधर्मव्याध-संवाद तथा शान्तिपर्व का जाजलि-तुलाधार-संवाद इसके अनन्य उदाहरण हैं। ये यह सिद्ध करते हैं कि अहंकार मानव द्वारा अर्जित ज्ञान और तपस्या का नाश कर देता है जबकि अपने धर्म में रहकर ध र्ममर्यादाओं का निर्वाह मनुष्य को विवेकज ज्ञान से सम्पन्न कराने में सर्वथा समर्थ है। जनसाधारण में धर्मनिर्देशों के निर्वाह के प्रति अनन्य आस्था जगाने के लिए व्यास ने मनु तथा याज्ञवल्क्य जैसे धर्मप्रवर्तकों के धर्मसम्बन्धी अनुभव को उन्हीं के मुख से व्यक्त कराया है जो इनकी सर्वबोधगम्यता में सहायक सिद्ध होता है। श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद में समस्त यम-नियमों को दैवी सम्पत्ति, सत्त्व गुण तथा ईश्वर के अपने रूप दर्शाकर व्यास ने जनमानस को इनके पालन के प्रति अगाध श्रद्धा का प्रादुर्भाव कराने में सफलता प्राप्त की है। भीष्मपर्व में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान सर्वथा उपनिषत्साहित्याश्रित है। अन्तर केवल इतना है कि यह किसी गुरु द्वारा शिष्य को दी गई शिक्षा न होकर ईश्वर द्वारा अपने अनन्य भक्त को दिया गया उपदेश है। जो तत्र प्रतिपादित यम-नियम-विधान को संश्लिष्टता से ही मुक्त नहीं करता, अपितु ईश्वर का आदेश सिद्ध करके जनमानस में उसके श्रद्धापूर्वक पालन के संस्कारों का भी प्रादुर्भाव कराता है। शान्तिपर्व का राजधर्म-वर्णन, आपद्धर्म-वर्णन दोनों ही स्मार्त पृष्ठभूमि से सम्पन्न सिद्ध होते हैं। भीष्म ने युधिष्ठिर के लिए जो कर्तव्याकर्तव्य उचित तथा अनुचित घोषित किए हैं, वे सभी स्मार्त साहित्य में यथारूप विद्यमान है। अन्तर केवल इतना है मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि ने उनका सैद्धान्तिक विवेचन किया है जबकि व्यास ने उन्हें युधिष्ठर के ध र्मसंकट के परिहार के साधन सिद्ध किया है। आपद्धर्म विवेचन में भी व्यास ने यम-नियमों के पालन के औचित्य को सिद्ध किया है। वहाँ भी राजा के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन यथेष्ट दर्शाया गया है। शान्तिपर्व का उत्तरार्ध मोक्षधर्मपर्व के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें मनुष्य के निःश्रेयसविषयक पूर्णत्वप्राप्ति की साधनसामग्री का मनोवैज्ञानिक सुनियोजन उपलब्ध होता है। वास्तव में हमारे यहाँ प्रवृत्तिमूलक धर्म और निवृत्तिमूलक

धर्म का समन्वित पालन ही धर्म का समग्र पालन स्वीकार किया गया है। मोक्षधर्मपर्व में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि यम-नियमों का यथेष्ट पालन मनुष्य की दुरिताओं के परिहार का साधक बनकर उसे पूर्णत्व के पथ पर अग्रसर करने में सर्वथा सहायक होता है। इसके परिणामस्वरूप उसे व्यष्टि और समष्टि में अभेद का स्वाभाविक आभास होता रहता है तथा वह संशयराहित्य की पराकाष्ठा को छूने में सर्वथा समर्थ हो जाता है। व्यास ने इस विश्वास की सिद्धि भी वैदिक विश्वास के समर्थन के लिए की है–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकत्सति।। यजुर्वेद, ४०.६.
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते।। शान्तिपर्व, २०२.१४.

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अत्रिस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १६८७ ई०।

अथर्ववेद : (काण्ड १ से ३) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६८३ ई०।

अथर्ववेद : (काण्ड ४ से ६) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारड़ी, १६८३ ई०।

अथर्ववेद : (काण्ड ७ से १०) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६५८ ई०।

अथर्ववेद : (काण्ड ११ से १८) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६५८ ई०।

अथर्ववेद : (काण्ड १६ से २०) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६६० ई०।

अथर्वशिरोपनिषद् : (उपनिषत्संग्रह) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

अध्यात्मोपनिषद् : (उपनिषत्संग्रह) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

अभिधानचिन्तामणि : (हेमचन्द्र) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६४ ई०।

अमरकोष : (अमरसिंह) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १६७० ई०।

अष्टाध्यायी : (पाणिनि) चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १६७६ ई०।

आंगिरसस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, प्रथम खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १६८७ ई०।

आपस्तम्ब-धर्मसूत्र : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी १६६६ ई०।

आरुणिकोपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

ईशावास्योपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर, २०४० सं०।

ऋग्वेद : (मण्डल १) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६८३ ई०।

ऋग्वेद : (मण्डल २ से ५) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल,

पारड़ी, १६८५ ई०।

ऋग्वेद : (मण्डल ६ से ८) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६७८ ई०।

ऋग्वेद : (मण्डल ६) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६८० ई०।

ऋग्वेद : (मण्डल १०) सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६८१ ई०।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका : (सायण) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६७६ ई०।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका : (दयानन्द सरस्वती) रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, १६६७ ई०।

ऐतरेयोपनिषद् : गीता प्रेस गोरखपुर, २०४० सं०।

औशनसस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, प्रथम खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १६८७ ई०।

कठोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०४० सं०।

कृष्णोपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

केनोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०४० सं०।

कैवल्योपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

कौषीतक्युपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

गौतमस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, प्रथम खण्ड) संसृति संस्थान, बरेली, १६८७ ई०।

जाबालोपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

छान्दोग्यापनिषद : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०५० सं०।

तैत्तिरीयारण्यक : आनन्द आश्रम, पूना, १६६६ ई०।

तैत्तिरीयोपनिषद : गीता प्रेस, गोरखपुर २०४० सं०।

तैत्तिरीयब्राह्मण : आनन्द आश्रम, पूना, १६३४ ई०।

तैत्तिरीयसंहिता : आनन्द आश्रम, पूना, १६७८ ई०।

दक्षस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १६८७ ई०।

धर्मशास्त्र का इतिहास : (पी. वी. काणे) ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६६२ ई०।

निरुक्त :(यास्क) दुर्गवृत्तिसहित, प्रकाशक क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई,१६१२ ई०।

नीलरुद्रोपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

नृसिंहपूर्वतापन्युपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

परमहंसोपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

पातञ्जल योगदर्शन : (व्यासभाष्य) चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २०४१ सं०।

पातञ्जल योगप्रदीप : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०५१ सं०।

प्रश्नोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०४० सं०।

प्राणाग्न्युपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

बृहदारण्यकोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०५० सं०।

बृहदारण्यकोपनिषद एक अध्ययन : डॉ० मनुदेव बन्धु, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १६६० ई०।

बौधायनस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १६८७ ई०।

ब्रह्मविद्योपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

भागवतपुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं २०४२ ई०।

भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास : डॉ० भोखनलाल आत्रेय, उत्तर प्रदेश, सूचना विभाग, १६६४ ई०।

भारद्वाजस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १६८७ ई०।

मनुस्मृति : सम्पादक पण्डित गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २०३६ सं०।

महानारायणोपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

महाभारत : (व्यास) भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना, १६७१ ई०।

महाभारत : (व्यास) स्वाध्याय मण्डल पारड़ी, १६६८ ई०।

भाण्डूक्योपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०४० सं०।

मुक्तिकोपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

मुण्डकोपनिषद : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०४० सं०।

मैत्रयण्युपनिषद : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७० ई०।

यजुर्वेद : सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १६८५ ई०।

याज्ञवल्क्यस्मृति : (उमेशचन्द्र पाण्डेय) चौखम्बा संस्कृत संस्थान, १६८२ ई०।

वसिष्ठ-धर्मसूत्र : पूना, १६३० ई०।

बाल्मीकि-रामायण : (वाल्मीकि) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७७ ई०।
बाल्मीकि-रामायण : (वाल्मीकि) गीता प्रेस, गोरखपुर, २०४० सं०।
वेदों में योगविद्या : योगेन्द्र पुरुषार्थी, यौगिक शोध संस्थान, ज्वालापुर, १९८३ ई०।
वैदिक पदानुक्रमकोष : सम्पादक विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर,१९७६ ई०।
वैदिक साहित्य, संस्कृति और दर्शन : विश्वम्भर दयाल अवस्थी सरस्वती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८३ ई०।
व्यासस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १९८७ ई०।
शंखस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १९८७ ई०।
शतपथब्राह्मण : (गंगाप्रसाद उपाध्याय) प्राचीन वैज्ञानिकाध्ययन अनुसंधान संस्थान, दिल्ली, १९६७ ई०।
शातातपस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, प्रथम खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १९८७ ई०।
शिवसंकल्पोपनिषद् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७० ई०।
श्वेताश्वतरोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, २०४० सं०।
सम्वर्तस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १९८७ ई०।
सामवेद : सम्पादक दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १९८३ ई०।
सिद्धान्तकौमुदी : भट्टोजिदीक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६ ई०।
स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति : डॉ० राजदेव दूबे, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९८८ ई०।
स्मृतिचन्द्रिका : जे. आर. धारपुडे, पूना, १९४६ ई०।
स्मृति-सन्दर्भ : गुरुमण्डल ग्रन्थमाला प्रकाशन, कलकत्ता, १९५२ ई०।
हारीतस्मृति : (बीस स्मृतियाँ, द्वितीय खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली, १९८३ ई०।
हिन्दू धर्म मानव धर्म : (गो० कृ० भुस्कुटे) प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, १९८२ ई०।

सहायक ग्रन्थ

अथर्ववेद : (सायणभाष्य) सम्पादक विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६०–६१ ई०।

गीता-रहस्य : (बाल गंगाधर तिलक) तिलक मन्दिर, गायकवाड़, १९६६ ई०।

धर्म और समाज : (एस. राधाकृष्णन) राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली।

प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन : (लक्ष्मीदत्त ठाकुर) उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५।

प्राचीन भारतीय इतिहास : (विन्टरनित्ज) अनुवादक लाजपतराय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१ ई०।

वेदतत्त्व प्रकाश : (सुखदेव विद्यावाचस्पति) गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता, १९६२ वि. सं०।

वेद में पुनरुक्ति दोष नहीं : आर्यमर्यादा, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, २०२० वि. सं०।

वेदरश्मि : वासुदेवशरण अग्रवाल, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी, १९६४ ई०।

वेदसर्वस्व : हरिप्रसाद वैदिक मुनि, दिल्ली, १९१६ ई०।

वेदसार : सम्पादक विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर प्र० सं० ६१५१।

वेदों में ईश्वर का स्वरूप : (गंगाप्रसाद उपाध्याय) गंगा प्रसाद ट्रैक्ट विभाग, आर्य समाज चौक, प्रयाग, १९७४ ई०।

वेदों में भारतीय संस्कृति : (आद्यादत्त ठाकुर) हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्र० सं० १९६७।

वैदिक इण्डैक्स : अनुवादक रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२ ई०।

वैदिक धर्म एवं दर्शन : अनुवादक डा. सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५ ई०।

वैदिक वाङ्मय एक अनुशीलन : (ब्रजबिहारी चौबे) कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर, १९७२ ई०।

वैदिक विश्वदर्शन : (हरिशंकर जोशी) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६६ ई०।

वैदिक साहित्य एवं संस्कृति : (निर्मला भार्गव) देवनागर प्रकाशन, जयपुर, १९७२ ई०।

वैदिक साहित्य एवं संस्कृति : (बलदेव उपाध्याय) शारदा मन्दिर, काशी, १६५५ ।

वैदिक साहित्य एवं संस्कृति : (वाचस्पति गैरोला) संवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० सं. १६६८।

शुक्लयजुर्वेदभाष्य : मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली, १६७१।

A Comprehensive History of Vedic Literature by Saya Sharma, Pranava Prakashan, New Delhi, 1977.

A History of Indian Literature by Maurice Winternitz, Vol. I & II, Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1981.

A History of Indian Philosphy by S.N. Dass Gupta, Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1975.

Ghate's Lecturers on Ṛgveda by V.S. Sukthankar, Oriental Book Agency, 15 Shukrawarpeth, Poona-2, III Ed., 1959.

Glorious Thoughts of the Vedas by N. B. Sen, New Book Society of India, New Delhi, 1966.

Hyms of the Atharvaveda by R.T.H. Griffith, Chokhamba Sanskrit series, Vol. LXVI, Banaras.

Hyms of the Ṛgveda by Charlotte Manning, Sushil Gupta (India) Ltd., 35 Chittaranjan Avenue, Calcutta, 1952.

In Woods of God Realization by Swami Ram Tirtha, Rama Tirtha Pratishthan, Luknow, 1962.

Message of the four Vedas by B. Bissoondoyal, Orient Longmen Ltd., New Delhi-1, 1972.

On the Vedas by W.P. Whiney, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta-6, 1972.

Subject Matter of the Vedas by Swami Bhoomananda Saraswati, Ayodaya Hindi Weekly, 15 Hanuman Road, New Delhi-1.

The Hindu Believes by Yogi Raushan Nath, D.K. Publishers, Ansari Road, Darya Ganh, New Delhi, 1980.

The Principal Upanishadas by S. Radhakrishnan, Oxford University Press, Delhi, 1989.

The Religion and Philosphy of Veda and Upanishad by A.B. Keith, Motilal Banarsidass, Varanasi, 1965
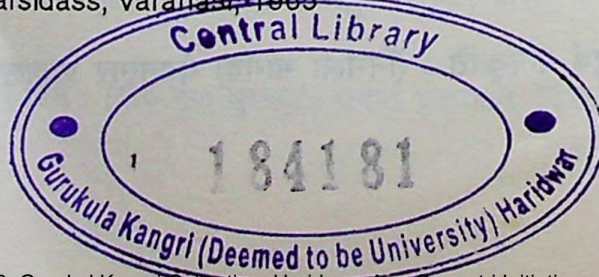
लेखिका-परिचय

नाम	:	डॉ० (श्रीमती) इन्दु शर्मा
जन्मतिथि	:	२३-२-१९५५
जन्मस्थान	:	अम्बाला (हरियाणा)
शिक्षा	:	एम० ए०, पीएच० डी०
सम्प्रति	:	प्रोफेसर, प्राच्य विद्या विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।
शोधकार्य	:	अनेक विद्यार्थियों को एम० फिल्० एवं पीएच० डी० की डिग्री के लिए निर्देशन दिया।
प्रकाशित ग्रन्थ	:	१. पाणिनीय सूत्रपाठ और जैनेन्द्र सूत्रपाठ का तुलनात्मक अध्ययन २. पौराणिक साहित्य में भ्रातृभाव ३. वेदों में विश्वबन्धुत्व